रोगविज्ञान ग्रन्थमाला

मूत्र के रोग

Diseases of urine, urinary system

and

allied diseases

लेखक

आयुर्वेदाचार्य

श्रीयुत् भास्कर गोविन्द घाणेकर

बी० एस्सी, एम्० बी० बी० एस्.

स्वास्थ्यशिक्षापाठावलि, स्वास्थ्य विज्ञान, जीवाणुविज्ञान
जीवनरसायनचिकित्साशास्त्र, रक्त के रोग,
औपसर्गिक रोग, आयुर्वेदरहस्यदीपिका
(सुश्रुत टीका), तुलनात्मक रोग-
विज्ञान, आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति
इत्यादि के लेखक ।



संवत् २०११ प्रथमावृत्ति मूल्य

प्रकाशक
डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर
हिन्दू विश्वविद्यालय
बनारस नं० ५

मुद्रक
श्री शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस, भदैनी,
बनारस नं० १

भूमिका

श्री विश्वनाथ जी की असीम कृपा से रोगविज्ञान ग्रन्थमाला का यह नया पुष्प चिकित्सक समाज की सेवा में समुपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। इसमें मूत्र, मूत्रणसंस्थान और उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण रोगों का समावेश किया गया है। प्रथम मूत्रणसंस्थान का शारीर और शारीरकार्यविज्ञान वर्णन किया है जो मूत्र रोगों के आकलन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। तत्पश्चात् वृक्ककार्यक्षमता कसौटियाँ दी गयी हैं जो मूत्रके अनेक रोगों के निदान तथा साध्यासाध्यता में बहुत उपयोगी होती हैं। तदनन्तर मूत्ररोगों का सामान्य विवरण, वृक्करोग, वृक्कसम्बन्धित रोग और मूत्राघात तथा प्रमेह इनका विस्तृत विवरण किया गया है। मूत्र रोगों के निदान का सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ मार्ग मूत्रपरीक्षण होता है। अतः रोगविवरण के पश्चात् मूत्रके संग्रहण और भौतिक, रसायनिक तथा सूक्ष्मपरीक्षण का विस्तृत विवरण दिया गया है। विषय और रोग इनके विवरण में महत्व की बातों पर ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से छोटे-बड़े अक्षरों का उपयोग किया गया है। जहाँ पर हो सकता है वहाँ पर प्राचीन आयुर्वेद के समानार्थक तथा मतभेदात्मक उद्धरण दिये गये हैं और उनका अर्थ विशद करने के लिए तुलनात्मक विचार प्रकट किये गये हैं। इसके अतिरिक्त विषय आकलन करने की दृष्टि से अनेक चित्र भी दिये गये हैं। अन्त में विषय सूची और हिन्दी अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दकोश दिया गया है। संक्षेप में उपयोगिता की दृष्टि से ग्रंथ सर्वाङ्गपरिपूर्ण करने का प्रयास किया गया है।

रोगविज्ञान ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के समान यह ग्रन्थ इस विषय के अनेक अँग्रेजी तथा संस्कृत ग्रन्थों का निचोड़ है। इसके लेखन में मैंने

जिन ग्रन्थों, ग्रन्थकारों और लेखकों से सहायता प्राप्त की है उन सबों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। उनमें से प्रधान ग्रन्थों तथा ग्रंथकारों के नाम स्वतन्त्रतया निर्दिष्ट किये गये हैं।

अन्त में मैं इस ग्रन्थ के मुद्रक, नया संसार मुद्रणालय के संचालक श्री शिवनारायण उपाध्याय तथा उनके कर्मचारियों को अनेक धन्यवाद देता हूं जिन्होंने आत्मीयता के साथ ग्रन्थमुद्रण का कार्य समाप्त किया। ग्रन्थ के मुद्रण में शुद्धता रखने का भरसक प्रयत्न करने पर भी कुछ दोष रह गये हैं। अतः पाठकों से नम्र निवेदन है कि पढ़ते समय उन पर ध्यान देकर ग्रन्थ का अध्ययन करें।

नागपञ्चमी
संवत् २०११
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

भास्कर गोविन्द घाणेकर

मूत्र के रोग

रोगानुक्रमणिका

मूत्र के रोग के मुख्य प्रमाण-ग्र

1. A text book of the Practice of Medicine F. W. Price.
2. Index of Differential Diagnosis, Herbert French.
3. Clinical methods, Hutchison Rainy.
4. Bedside Medicine, Majumdar.
5. Clinical Diagnosis by Laboratory Methods Todd and San ford.
6. Physiology in Health and Disease, Wiggers.
7. Clinical Pathology, Wells.
8. Medical Annuals 1946–1953.
9. Synopsis of clinical Laboratory Methods, Bray.
10. Textbook of clinical Pathology, R.R.Kracke.
11. Recent advances in Endocrinology, Cameron.

१ चरक
२ सुश्रुत
३ अष्टांग संग्रह
४ अष्टांग हृदय
५ चक्रपाणीदत्त टीका
६ डल्हण टीका
७ इन्दु टीका
८ सर्वाङ्गसुन्दरी टीका

मूत्रण संस्थान

शारीर और कार्य विज्ञान

मूत्र के रोग शरीर के अनेक संस्थानों तथा अंग-प्रत्यंगों की विकृतियों से उत्पन्न होते हैं। परन्तु मूत्रण संस्थान से मूत्र का उत्पादन, संग्रहण और निष्कासन होने के कारण मूत्ररोगविज्ञान के लिए इस संस्थान के शारीर तथा कार्य की जानकारी अत्यन्त आवश्यक होती है। इस संस्थान में दो वृक्क, दो गवीनियाँ, एक मूत्राशय और एक मूत्रस्रोत होते हैं।

(१) वृक्क (Kidneys)– ये उदर के कटिप्रदेश में पृष्ठवन्श के दोनों ओर उदरावरण (Peritoneum) के पीछे रहते हैं। इनकी शकल-सूरत लोबिये के बीज के समान होती है और इसका निर्देश शारीर में वृक्काकृति (Kidney shaped, Reniform) शब्द से किया जाता है। इनका लम्बाक्ष (Long axis) पृष्ठवन्श की लम्बाई की दिशा में होकर लम्बाई लगभग ४ इञ्च, चौड़ाई २ इञ्च और मोटाई १ इञ्च होती है। इनका ऊपर का सिरा १२ वें पृष्ठकशेरुका (Vertebra) के पास और नीचे का ३ रे कटिकशेरुका के पास होता है। ऊपर के सिरे पर अधिवृक्क्य या उपवृक्क्य (Saprarenal, adrenal) नामक ग्रन्थियाँ होती हैं। बीच में दबा हुआ इनका किनारा पृष्ठवन्श की ओर रहता है। इनका तोल १२५-१७५ धान्य (औसत १५० धान्य, ढाई छटाँक) होता है। इनके ऊपर पारभास (Translucent) तन्तुमय पतली झिल्ली होती है। जिसको आटोपिका (Capsule) कहते हैं। यह झिल्ली वृक्कों पर हलकी सी चिपकी रहती है जिसके कारण वह आसानी से निकाली जा सकती है। आटोपिका और ग्रन्थि के बीच में कुछ पेशीतन्तु, रक्तवाहिनियाँ

और अन्तरालीय (Areolar) धातु और वृक्कों के चारों ओर चरबी और अन्तराल धातु होते हैं। इनका बाहर का अर्थात् पार्श्व (Lateral) किनारा बाहर की ओर गोलाई लिए हुए और भीतर का अर्थात् अभिमध्य (Medial) किनारा दोनों सिरों पर गोलाई लिए हुए और बीच में दबा हुआ रहता है। इसी दबे हुए भाग में एक अनुलम्ब विदार (Fissure) रहता है। जिसको द्वार (Hilum) कहते हैं। इसमें रक्तवाहिनियाँ, सिराएँ, नाड़ियाँ, वृक्क के साथ लगी रहती हैं और इसी से गवीनी निकलती है।

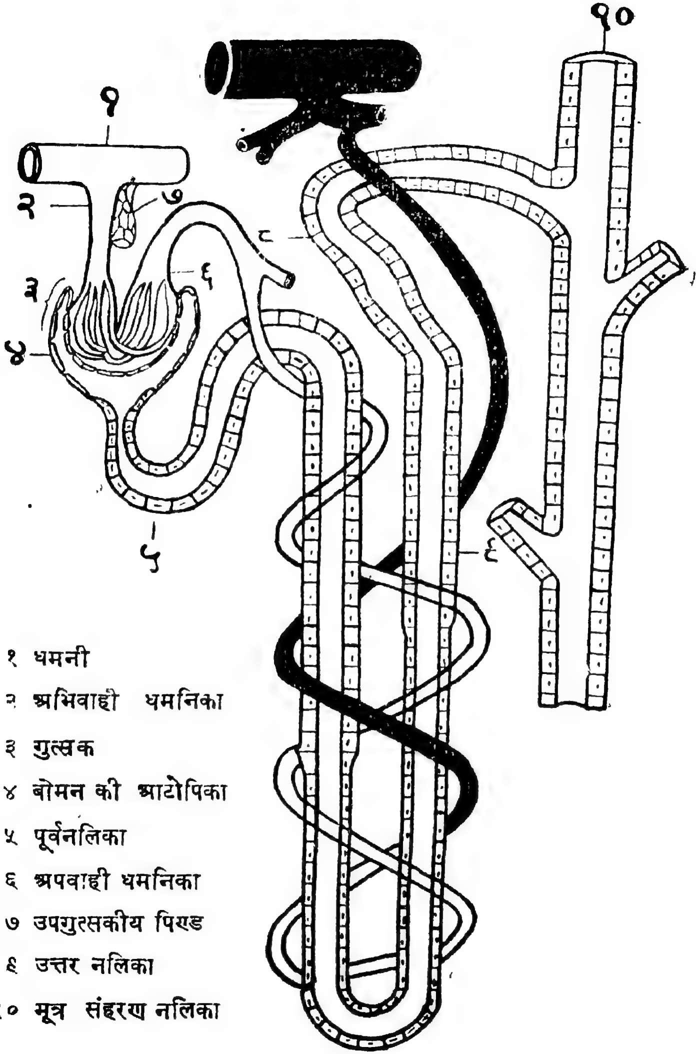
रचना—लम्बाई में बीचों बीच कटा हुआ वृक्क का छेद दो भागों में विभक्त सा दिखाई देता है। बाहर के गोलाई लिए हुए लम्बे किनारे की ओर :जो भाग होता है उसको बाह्यक या बाह्यवस्तु (Cortical substance) कहते हैं और भीतर के दबे हुए किनारे की ओर के भाग को मज्जक या अन्तर्वस्तु (Medullary substance) कहते हैं। अन्तर्वस्तु में बारह के लगभग पाण्डुरवर्ण धारीदार पुञ्ज होते हैं जो मूत्रनलिकाओं से बनते हैं। इनका आकृति टीले के समान होने के कारण इनको वृक्क्यस्तूप (Renal pyramid) कहते हैं। इन स्तूपों के पीठ (Bases) वृक्क के गोलाई लिए हुए किनारे की ओर और इनके शिखर (Apex) वृक्ककोटर (Sinus) की ओर रहकर दो-दो तीन-तीन शिखरों के अग्र (Papillae) एक एक आलवाल (Calyx) में प्रविष्ट होते हैं। बाह्यवस्तु ललाई लिए हुए भूरे रंग की, मृदु और दानेदार होती है। वह आटोपिका के नीचे रहकर स्तूपों के पीठों पर से उनके बीच वृक्ककोटर की ओर चली जाती है। स्तूपों के बीच के भागों को वृक्क्यस्तम्भ (Renal columns) और उनको जोड़नेवाले आटोपिका और पीठों के बीच में रहनेवाली भागों को वृक्क्यतोरण (Renal arch) कहते हैं। तोरण में बाह्यवस्तु की मोटाई ५ सहस्त्रिमान (मि०मि०) होती है।

मूत्रवहनलिकाएँ (Uriniferous tubules)—वृक्क नलिकामय संयुक्त (Compound tubular) ग्रन्थि है। इसकी बाह्य-तथा अन्तर्वस्तुएं नलिकाओं से निर्मित हैं। ये मूत्रवहनलिकाएं संयोजक धातु से आपस में बद्ध रहती हैं। बाह्यवस्तु में इनका टेढ़ामेढ़ा और स्तूपों

में सीधा भाग रहता है और जैसी जैसी ये शिखर की ओर बढ़ती हैं वैसी वैसी आकार में बड़ी होती जाती हैं। इनका प्रारम्भ बाह्यवस्तु में होकर बाह्य-तथा अन्तर्वस्तुओं में ये बहुत टेढ़ामेढ़ा रास्ता तय कर स्तूपों के शिखरों में खुलती हैं। प्रत्येक स्तूपों के शिखराग्र में खुलनेवाली इन नलिकाओं की संख्या १६-२० तक रहती है।

रचना- प्रत्येक मूत्रवह नलिका ३३ सहस्रिमान के लगभग लम्बी होकर उसके निम्न भाग होते हैं—(१) बोमन की आटोपिका (Bowman's capsule चित्र नं० १ में ४) नलिका का यह प्रारम्भिक सिरा है जो फूलकर बीच में दब जाने से लोटे के समान दिखाई देता है। इसके भीतर अभिवाही (Afferent) रक्तवाहिनी से बना हुआ केशिकाओं का गोल कुण्ड रहता है जिसको गुत्सक (Glomerulus चित्र नं० १ में ३) कहते हैं। इस गुत्सक के ऊपर भीतर दबा हुआ नलिका का अधिच्छदीय स्तर चिपका हुआ रहता है। इसके और बाहरी स्तर के बीच में कुछ अन्तर रहता है जिसको आटोपिकीय अवकाश (Capsular space) कहते हैं। यह अवकाश तद्गत द्रवराशि के अनुसार न्यूनाधिक होता है। सगुत्सक आटोपिका को माल्पीघिअन पिण्ड (Malpighian body) कहते हैं। ये पिण्ड $\frac{1}{5}$ सहस्रिमान (mm) के लगभग बड़े और रंग में गहरे लाल होते हैं। (२) कण्ठ (Neck)—आटोपिका के पश्चात् नलिका का यह संकुचित भाग है। (३) पूर्व कुण्डलित (Convulated) नलिका (चित्र नं० १ में ५)— कण्ठ से प्रारम्भ होनेवाला नलिका का पहला बहुत टेढ़ा मेढ़ा भाग है। (४) आवर्त (Spiral) नलिका—कुण्डलित भाग के पश्चात् का यह हलका चक्राकार भाग है जो मज्जक की ओर चलता है। (५) हेनल की अवरोही नलिका (Henle's descending tubule)—इसमें नलिका पहले की अपेक्षा संकुचित होकर मज्जक में प्रविष्ट होती है। (६) हेनल का पाश (Loop)—इसमें नलिका मोड मारकर अंग्रेजी यू (U) का आकार धारण करके फिर से बाह्यवस्तु की ओर चल पड़ती है। (७) हेनल की आरोही (Ascending) नलिका—मोड खाकर ऊपर की ओर बाह्यवस्तु में आई हुई नलिका। यह नलिका अवरोही की अपेक्षा अधिक चौड़ी होती है। (८) कुटिल (Zigzag) नलिका—आरोही भाग के पश्चात् का यह टेढ़ा भाग होता है। (९) उत्तर कुण्डलित नलिका (चित्र नं० १ में ८)—प्रथम कुण्डलित नलिका के समान यह नलिका होती है। (१०) संयोगी (Junctional)

चित्र नं० १ वृक्काणु (Nephron)



नलिका—नलिका का यह छोटा सा चौड़ा भाग होता है जो आगे के भागों को जोड़ता है। (११) संहरण(Collecting) नलिका—मूत्रवह नलिका का यह अन्तिम भाग है जो बाह्यवस्तु में प्रारम्भ होकर सीधा मज्जक में प्रविष्ट होता है। यह भाग सरल रहता है और मज्जक में इस प्रकार की अन्य नलिकाओं के साथ थोड़े थोड़े अन्तर मिलकर मूत्र का संग्रहण करता है। इनके आपस में मिलने से नलिका काफी चौड़ी होती है। इस भाग को बिलिनी की प्रणाली (Duct of Bellini) कहते हैं। ये ही प्रणालियाँ स्तूपों के शिखरों में खुलती हैं।

वृक्क की रक्तवाहिनियां - औदर्य महाधमनी से प्रत्येक वृक्क के लिए एक स्वतन्त्र धमनी निकलती है। यह धमनी वृक्कद्वार (Hilus) के पास चार पाँच शाखाओं में विभक्त होती हैं। ये शाखाएं भीतर जाकर वृक्क्य स्तम्भों में प्रवेश करती हैं जहां पर ये वृक्क्य निजधमनियां (Arterioe proprioe renales) कहलाती हैं। इनमें से दो दो धमनियां प्रत्येक वृक्क्य स्तूपों के पास पहुँचकर उनके पीठ और बाह्यवस्तु के बीच में मेहराबें (Arcades) बनाती हैं। इन मेहराबों से अन्तःखण्डकीय (Interlobular) धमनियाँ निकलकर वृक्क की आटोपिका में केशिका जाल बनाकर समाप्त होती हैं। अर्थात् ये अन्तर्धमनियाँ (Endarteries) होती हैं। इनसे बीच बीच में गुत्सकों की अभिवाही (Efferent) धमनिकाएँ (चित्र नं० १ में २) निकलती हैं, जो बोमन की आटोपिका में केशिकाओं का झुण्ड बनाती हैं। फिर सब केशिकाएँ मिलकर एक वाहिनी बनती है जिसको अपवाही (Efferent) धमनिका (चित्रनं० १ में ६) कहते हैं। यह वाहिनी आटोपिका के बाहर आकर फिर अनेक छोटी छोटी शाखा प्रशाखाओं में विभक्त होकर नलिकाओं के चारों ओर बहुत घना प्रतान (Plexus) बनाती है और नलिकाओं को रक्त की रसीद पहुंचाती है। उसके पश्चात् वह प्रतान एक सिरा में परिवर्तित होता है। यह सिरा अन्तःखण्डकीय धमनी के साथ होनेवाली अन्तःखंडिकीय सिरा में मिल जाती है।

वृक्काणु (Nephron) –प्रत्येक वृक्क में स्वतन्त्रतया मूत्रोत्सर्जन करनेवाला जो प्रत्यंग या एकक (unit) होता है उसको वृक्काणु (चित्र नं० १) कहते हैं। प्रत्येक वृक्काणु के अभिवाही धमनी, गुत्सक और मूत्रनलिका ये तीन संघटक होते हैं। नाडीकन्दाणु (Neuron, Nerve cell and nerve

fiber) के समान ये तीनों संघटक अपने कार्य के लिए एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। एक की विकृति का परिणाम दूसरे का विकृति में होता है। इसके अतिरिक्त मूत्रनलिकाओं को रक्त की रसीद गुल्सक से ही मिलने के कारण अभिवाही धमनी या गुल्सक के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होने से मत्रनलिकाओं में अपजनन (Degeneration) की विकृति हो जाती है।

वृक्कों की संचित शक्ति—प्रत्येक वृक्क में २० लाख के करीब वृक्काणु होते हैं। ये सब वृक्काणु मूत्रोत्पादन का कार्य किया करते हैं। परन्तु सब वृक्काणु एक समय काम नहीं करते। सामान्य स्थिति में एक समय पर उनकी चौथाई संख्या ही मूत्रोत्पादन का कार्य करती है और अवशिष्ट उस समय पर आराम करते हैं अर्थात् उस समय उनके भीतर रक्त का संचार नगण्य होता है। इस प्रकार पारी पारी से ये वृक्काणु कार्य करते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि वृक्कों में मूत्रोत्पादन की संचित शक्ति (Reserve power) चौगुनी होती। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि एक जवान स्वस्थ प्राणी में मूत्रोत्पादन का नैत्यिक कार्य केवल आधे ही वृक्क से हुआ करता है। इसलिए केवल अल्पकाल तक कार्य करनेवाले वृक्कविकार कारी विष से वृक्कों के असंख्य गुच्छक साफ साफ बच जाते हैं तथा वृक्कों का अधिकांश विकृत होकर बेकार होने पर भी अनेकों में कोई लक्षण या चिन्ह नहीं दिखाई देते। वृक्कों की यह संचयशक्ति आयुर्वृद्धि के साथ साथ धीरे धीरे घटती जाती है और तिस पर यदि कोई वृक्कविकार, उपसर्ग या विषमय अवस्था उत्पन्न हो तो वृक्कों का कार्य पूर्णतया बन्द होकर मूत्रविषमयता (Ureamia) उत्पन्न हो जाती है। वृक्कों की यह संचितशक्ति केवल तद्गत वृक्काणुओं की संख्याधिकता पर निर्भर नहीं होती। जब वृक्कों में धातुक्षय, अपजनन, तन्तूत्कर्ष इत्यादि के कारण स्वस्थ वृक्काणुओं की संख्या आवश्यकता से भी कम रह जाती है तब इन बचे हुए वृक्काणुओं में से अनेक वृक्काणु परमपुष्ट (Hypertrophied) होकर अधिक कार्य करने लगते हैं। चिरकालीन वृक्कशोथ में असंख्य वृक्काणुओं का क्षय होकर वे बेकार हो जाते हैं और जो बचते हैं उनमें अनेक ऐसे पाए जाते हैं कि जो क्षीण हुए वृक्काणुओं से आकार में १५ गुना अधिक बड़े होते हैं और इन परम-पुष्ट वृक्काणुओं के बल पर रोगी सजीव रहता है।

(२) **गवीनी** (Ureter)—प्रत्येक वृक्क से बस्ति तक जानेवाली यह मूत्र प्रणाली है। इसकी लम्बाई ९-१६ इञ्च होती है और मोटाई हंसपक्ष-नलिका (Goose quill) के बराबर रहती है। इनका ऊपर का सिरा कुछ फैला हुआ रहता है जिसको वृक्कालिन्द (Pelvis of the kidney) कहते हैं। भीतर की ओर यह अलिन्द दो तीन भागों में विभक्त होकर अन्त में ८-१२ विभागों में प्रविभक्त होता है जिसको आलवाल (Calyx) कहते हैं। इन आलवालों में असंख्य वृक्काणुओं में बना हुआ मूत्र बूँद बूँद करके बराबर आता रहता है। गवीनी का नीचे का सिरा मूत्राशय की प्राचीर को तिरछा छेद करके उसके भीतर खुलता है और ऊपर से आया हुआ मूत्र मूत्राशय में चला जाता है। इसके तान्तव, पैशिक (Muscular) और श्लैष्मिक करके बाहर से भीतर की ओर तीन आवरण होते हैं।

(३) **बस्ति** (Urinary bladder)—दोनों वृक्कों से आया हुआ मूत्र इसमें कुछ काल तक संचित होता है। इसलिए इसको मूत्राशय भी कहते हैं। इसका परिमाण तथा स्थिति तद्गत मूत्र की राशि तथा समीपवर्ति मलाशयादि अंगों की स्थिति पर न्यूनाधिक हुआ करती है। आकार में बस्ति पुण्डरीक सम या क्षुद्र तुम्बी फलसम (Pyriform) होती है। इसका चौड़ा भाग पीछे और ऊपर की ओर और इसका संकुचित भाग आगे की ओर होता है। इसको ग्रीवा (Neck) कहते हैं। इसी से मूत्रस्रोत का प्रारम्भ होता है। बस्ति की प्राचीर लसिक्य (Serous) पैशिक, अधःश्लैष्मिक और श्लैष्मिक इस प्रकार चार आवरणों की बनी है।

(४) **मूत्रस्रोत** (Urethra)—बस्ति से शरीर के बाहर मूत्र निकलने का यह मार्ग है। पुरुषों में यह मार्ग ५-८ इञ्च लम्बा होता है। शिथिलावस्था में दो विरुद्ध दिशा में होनेवाली दो वक्रताएं इसमें पायी जाती हैं। मूत्र त्यागने के समय के अतिरिक्त अन्य समय पर यह मार्ग दरी (Slit or cleft) के समान लम्बोतरा और संकरा होता है। इसके तीन भाग होते हैं। प्रथम अष्ठीलावृत (Prostatic) भाग होता है। इसकी लम्बाई १ इञ्च होती है। यह भाग अन्यों की अपेक्षा अधिक चौड़ा तथा अधिक अभिस्तरणशील (Dilatable) होता है। आकार में यह तर्कुसम (Spindle shaped) अर्थात् मध्य में चौड़ा और दोनों ओर

तंग रहता है। दूसरा कलावृत (Membranous) भाग होता है। यह सबसे छोटा, सबसे कम अभिस्तरणशील और बहुत तंग होता है। तीसरा पेश्यावृत (Cavernous) भाग होता है। यह सबसे लम्बा (५ इंच) और एकसा होता है। इसका व्यास ६ सहस्रिमान होता है। प्रारम्भिक और अन्तिम भाग कुछ अधिक विस्तृत होता है। मूत्रद्वार पर यह मार्ग सबसे अधिक संकुचित रहता है। अष्ठीलावृत भाग में मूत्रमार्ग की दरी कमानदार, कलावृत भाग में विषम या तारकासम (Stellate) पेश्यावृत भाग में आड़ी और मूत्रद्वार पर खड़ी होती है।

मूत्रस्रोत में अनेक तिर्यक गर्तिकाएँ (Lacunoe) अनेक श्लेष्म-ग्रन्थिकाएं (Littre's glands), दो संयुक्त एकवर्ध्यच (Racemose) ग्रन्थिकाएं, अष्ठीला की ग्रन्थिकाएं और रेतःप्रणाली (Ductus deferance) खुलती हैं। इन ग्रन्थिकाओं का स्राव वीर्य को पतला बनाता है। इनमें अष्ठीला सबसे महत्व की ग्रन्थि है। यह पेशीमय ग्रन्थिपुञ्ज (Muscular and glandular mass) है जो मूत्रमार्ग के प्रारम्भिक भाग को घेरता है। इसके कार्य का अभी तक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है। वृद्धावस्था में यह ग्रंथि अभिवृद्ध और चूर्णमय (Calcareous) होकर दुःखदायक और मूत्रण में पीड़ादायक तथा बाधक होती है।

स्त्रियों में मूत्रस्रोत बहुत छोटा सवा इञ्च के लगभग और केवल कलामय होता है। इसका द्वार भग शिश्निका के (Glans clitoris) के पीछे और योनि द्वार के आगे एक खड़ी दरी के रूप में रहता है। इस मार्ग का व्यास ६ सहस्रिमान के करीब होता है। इसमें भी अनेक छोटी छोटी ग्रंथिकाएं खुलती हैं।

मूत्रोत्पत्ति विज्ञान

उत्सर्जक संस्थान—शरीर अनेक धातुओं के समयोग से बना है और उनके सहयोग से चलता है। शरीर का प्रत्येक धातु अपनी अपनी कुछ न कुछ विशेषता रखता है और स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से शरीर में प्रत्येक धातु की आवश्यकता होती है। तथापि तुलनात्मक दृष्टि से रक्त सबसे महत्व का धातु है। यह महत्व उसके उचित भौतिक गुण और रसायनिक संगठन के स्थैर्य और शुद्धता पर निर्भर होता है। रक्त में प्रतिक्षण आहार समवर्त (Matabolism) से अनेक पोषक तथा विषैले द्रव्य बराबर आते रहते हैं। फिर भी स्वस्थावस्था में उसके संगठन में नगण्य अन्तर पड़ता है। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से रक्त का संगठन बनाये रखने के लिए शरीर में वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस इत्यादि अंगों का एक उत्सर्जक संस्थान (Excretory system) रक्खा गया है जिसके द्वारा रक्तगत विषैले द्रव्य पानी के साथ शरीर के बाहर उत्सर्गित किये जाते हैं।

उत्सर्जक संस्थान के अंगों में फुफ्फुस का कार्य केवल रक्त की स्वाभाविक प्रतिक्रिया बनाये रखने का होता है और यह कार्य बहिःश्वसन के समय रक्तगत प्रांगारद्विजारेय (CO_2) के उत्सर्जन से किया जाता है। इसके अतिरिक्त रक्त के रसायनिक संगठन से फुफ्फुस का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। यह कार्य वृक्क और त्वचा के द्वारा किया जाता है। अर्थात् इन दोनों अंगों के कार्य में बहुत कुछ साम्य होता है। इसलिए ये दोनों अंग एक दूसरे के पूरक भी होते हैं। जब मूत्र अधिक मात्रा में बनता है तब स्वेद बहुत कम होता है और त्वचा रूक्ष रहती है। जब स्वेद बहुत आता है तब मूत्र बहुत कम बनता है। मूत्रविषमयता में जब कि वृक्कों के द्वारा लवणों का उत्सर्ग भली भांति नहीं होता तब त्वचा से स्वेद द्वारा उनका उत्सर्ग होने लगता है। मिह (Urea) जिनका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा साधारणतया नहीं के बराबर होता है, मूत्रविषमयता में स्वेदन करने पर इतनी अधिक मात्रा में उत्सर्गित होता है कि स्वेद सूख जाने पर उसके छोटे छोटे कण, जिनको मिह तुषार (Urea frost)

कहते हैं, संपूर्ण त्वचा पर दिखाई देते हैं। इसलिए जब वृक्कशोथ में या मूत्रविषमयता में वृक्कों के ऊपर का बोझा कम करने की आवश्यकता होती है या रक्तगत विषले द्रव्य निकालने की जरूरत पड़ती है तब शुष्क या आर्द्र स्वेदन से त्वचा को उत्तेजित करके तद्द्वारा यह कार्य कराया जाता है। केवल यही नहीं। त्वचा की रक्तवाहिनियों और वृक्कों की रक्तवाहिनियों का सहानुभूतिक सम्बन्ध होता है। जब सर्दी से त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ती हैं उस समय वृक्कों की भी संकुचित हो जाती है और उनमें रक्ताल्पता पैदा होती है। तीव्र वृक्कशोथ की उत्पत्ति में बाह्य शैत्य और आर्द्रता (Cold and wet) का जो सम्बन्ध है उसका विवरण इन दोनों के इस सम्बन्ध के आधार पर ही किया जा सकता है।

वृक्क के कार्य (Functions of the kidney)— जैसे कि ऊपर बताया है वृक्कों का मुख्य व्यापार उत्सर्जन है। वृक्क का यह व्यापार रक्त की दृष्टि से निम्न तीन कार्य करता है—(१) आहार समवर्त (Metabolism) में मुख्यतया प्रोभूजिनों के समवर्त में उत्पन्न हुए अनेक विषैले या मलरूप द्रव्यों का निष्कासन (२) शरीरगत अम्ल-क्षार द्रव्यों का संतुलन (Acid–base balance) (३) रक्त के जलांश का नियमन। इन कार्यों को करने वाली वृक्क की कोशाएं (Cell) आश्चर्यजनक सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होती है और जिन परिवर्तनों का पता आधुनिक रसायनिक विश्लेषण से भी नहीं लग सकता उन रक्तगत परिवर्तनों का पता लगाकर वे रक्त के संगठन को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रयत्न में जो उत्सर्जन होता है वही मूत्र है। इस उत्सर्जन क्रिया में इस बात पर भी ये कोशायें ध्यान देती हैं कि शरीर के लिए उपयोगी तथा शरीर पोषक कोई भी द्रव्य उत्सर्गित न होने पावे। संक्षेप में मूत्रोत्पत्ति की प्रक्रिया निम्न प्रकार से बताई जाती है—वृक्कों में धमनी गत रक्त करके एक द्रव आता है और उससे सिरागत रक्त तथा मूत्र करके दो द्रव निकलते हैं। नीचे रक्तरस और मूत्र के संघटक की औसत मात्रा तथा रक्तरस की तुलना में मूत्र में मिलने वाले प्रत्येक संघटक का संकेन्द्रण दिया जाता है। इन मूत्रगत संघटकों की मात्रा रक्तरसगत इन संघटकों के संकेन्द्रण के अनुसार समय समय पर न्यूनाधिक हुआ करती है।

एक विशिष्ट संगठन के द्रव से दो विभिन्न संघटन के द्रव्यों की उत्पत्ति आप से आप नहीं हो सकती, उसके लिए ऊर्जा का व्यय (Expenditure of energy) करने की आवश्यकता होती है। यह ऊर्जा अभिवाहीवाहिनी गत रक्त निपीड से तथा वृक्ककोशाओं से उत्पन्न होती है। शरीर में ऊर्जा ज्वलन से उत्पन्न होती है, ज्वलन के लिए प्राणवायु आवश्यक रहता है और प्राणवायु रक्त के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए वृक्कों के कार्य सुचारुरूप से चलने के लिए उनको पर्याप्त मात्रा में प्राणवायु मिलना चाहिये या दूसरे शब्दों में तद्गत रक्त संचार अच्छी तरह बिना रोक टोक के चलता रहना चाहिए। जब वृक्कों में प्राणवायु की कमी हो जाती है तब उनका उत्सर्जन का व्यापार ठीक न चल कर रक्त अशुद्ध होने लगता है।

रक्तरस-मूत्र संघटन की सारणी

वस्तु	रक्तरस	मूत्र	सकन्द्रण	
प्रोभूजिन, स्नेह	७–९%	—	—	
जल	९०-९३ ,,	९५	—	
मधुम (Glucose)	·१ ,,	—	—	
क्षारातु (Na)	·३ ,,	·३५	१	गुण
नीरेय (Cl)	·३७ ,,	·६	२	,,
चूर्णातु (Cal)	·००८ ,,	·०१५	२	,,
भ्राजातु (Mg)	·००२५ ,,	·००६	२	,,
दहातु (K)	·०२ ,,	·१५	७	,,
भास्वीय (Ph4)	·००९ ,,	·१५	१६	,,
मिहिक अम्ल (Uric)	·००४ ,,	·०५	१२	,,
तिक्ताति (NH4)	·००१ ,,	·०४	४०	,,
मिह (Urea)	·०३ ,,	२·०	६०	,,
क्रव्यियी (Crea tinine)	·००१ ,,	·०७५	७५	,,
शुल्बीय (SO4)	·००२ ,,	·१८	९०	,,
अश्वमेहिक (Hippuric)अम्ल	०	·०७	—	

उपरि निर्दिष्ट सारणी का सूक्ष्म अवलोकन करने पर निम्न बातें स्पष्ट हो जायँगी—

(१) मूत्र में पानी, मिह और लवण (NaCl) इनकी मात्रा सबसे अधिक होती है।

(२) प्रोभूजिन, स्नेह, शर्करा ये रक्तरस के घटक मूत्र में उत्सर्गित नहीं होते हैं।

(३) अश्वमेहिक अम्ल जैसे कुछ द्रव्य जो रक्तरस में होते ही नहीं मूत्र में पाये जाते हैं।

(४) रक्त रस में मिलने वाले अनेक संघटकों की मूत्रगत मात्रा रक्त रसगत मात्रा की अपेक्षा अनेक गुण संकेन्द्रित रहती है—जैसे मिह ६० गुण।

मूत्रोत्पत्ति की प्रक्रिया—वृक्कों में मूत्र कैसे उत्पन्न होता है इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया। परन्तु जो भी जानकारी हुई है उसके आधार पर मूत्रोत्पत्ति दो अवस्थाओं में होती है ऐसा कह सकते हैं —

(१) *गुत्सकीय अवस्था*—इस अवस्था का मुख्य कार्य निस्यन्दन (Filtration) है। इसमें अभिवाही वाहिनियों से गुत्सकों में आया हुआ तरल और तद्गत विलीन द्रव्य गुत्सकों के ऊपर लगे हुए बोमन की आटोपिका के अधिच्छदीय स्तर में से निस्यन्दित होकर आटोपिकीय अवकाश में आ जाते हैं। आटोपिका का अधिच्छदीयस्तर केशिकाओं की प्राचीर के समान अर्धप्रवेश्य (Semipermeable) स्वरूप का होता है। परन्तु इसकी विशेषता यह होती है कि उसमें से प्रोभूजिन तथा स्नेह लेशमात्र भी निस्यन्दित नहीं होते, केवल स्फटिकाभ (Crystalloids) निकलते हैं। इसलिए इसको अतिनिस्यन्दन (Ultrafiltration) भी कहीं कहीं कहते हैं। जिस शक्ति के आधार पर यह निस्यन्दन होता है वह शक्ति अंशतः गुत्सकीय केशिकागत रक्तनिपीड है। यह निपीड निम्न दो साधनों पर निर्भर होता है—(१) अभिवाहीवाहिनी (धमनिका) की अपेक्षा अपवाहीवाहिनी का संकोचित या तंग होना (पृष्ठ ५) (२) उपगुत्सकीय पिण्ड (Juxtaglomerular body चित्र १ में ७)—गुत्सक के बाहर अभिवाहीवाहिनी के पास रहनेवाला कोशाओं का यह एक पिण्ड है। इन कोशाओं में दाने भरे रहते हैं। यद्यपि सर्वसम्मति से यह स्वीकृत नहीं हुआ है तथापि अनेकों का यह ख्याल है कि महाधमनी या मन्या

(Carotid) के कोटर (Sinus) के समान (आगे परमातति में विशेष विवरण) यह पिण्ड गुत्सकों के भीतर रक्त निपीडका नियमन करता है। गुत्सकों के भीतर रक्त निपीड बढ़ने से निस्यन्दन अधिक होता है और रक्तनिपीड घटने से निस्यन्दन कम होता है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि रक्तप्रवाह बन्द करके गुत्सकों के भीतर का निपीड बढ़ाया जाय तो निस्यन्दन कम होता है या होता नहीं। रक्तनिपीड के समान निस्यन्दन आसृतीय (Osmotic) निपीड पर भी निर्भर होता है। जब अतिस्वेदन तथा विसूचिका, प्रवाहिका, अतीसार, अतिवमन, इत्यादि में द्रवापहरण होता है तब आसृतीय पीडन बढ़ने से निस्यन्दन अर्थात् मूत्रोत्पादन बहुत कम हो जाता है।

(२ *नलिकागत अवस्था*--निस्यन्दन होने के पश्चात् यह दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में नलिकाओं के द्वारा निस्यन्दित द्रव के ऊपर निम्न संस्कार होते हैं और तदनन्तर जो द्रव बचता है वह मूत्र होता है।

(अ) पुनः प्रचूषण (Reabsorption)—जैसे पित्ताशय का कार्य पित्त को संकेद्रित या गाढ़ा बनाने का होता है वैसे मूत्र नलिकाओं का कार्य गुत्सकों में से निस्यन्दित द्रव को संकेन्द्रित या गाढ़ा बनाने का होता है। यदि नलिकाएं न होतीं या उनके द्वारा यह कार्य न होता तो मूत्र की दैनिक राशि डेढ़ प्रस्थ (Litre) के बदले ४०-६० प्रस्थ (४४-६६ सेर) हो जाती है। इस संकेन्द्रण शक्ति का लोप वृक्क कार्य नाश का सर्वप्रथम और सहजोपलब्ध चिन्ह होता है। इसके होने पर मूत्र की दैनिक मात्रा बढ़ती है, उसकी गुरुता घटती है तथा दिन-रात की उसकी मात्रा के अनुपात में फर्क हो जाता है। प्रचूषण का यह कार्य मूत्रनलिकाओं के प्रथम कुण्डलित भाग में ही अधिक होता है। निस्यन्दित द्रवगत विविध द्रव्यों का प्रचूषण एकसा न होकर संवरणात्मक (Seelective) अर्थात् विशेष दृष्टि से न्यूनाधिक हुआ करता है। यह संवरण कैसे होता है इसका ठीक विवरण नहीं किया जा सकता।

(आ;) प्रस्रवण (Secretion)—प्रथम कुण्डलिकाओं से क्रियेटिनीन (Creatinine) जैसे कुछ द्रव्य प्रस्रुत होकर ऊपर से आये हुए निस्यन्दित द्रव में मिलाये जाते हैं। ये सब द्रव्य रक्तगत ही होते हैं, केवल ऊपर से आटोपिका द्वारा निस्यन्दित होकर आने के बदले नीचे नलिकाओं से

प्रस्रुत होते हैं। तथापि यद्यपि दैहिक कार्य की दृष्टि से यह संस्कार बहुत ही कुतुहल जनक होता है तथापि वृक्कों के उत्सर्जन कार्य की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता, न इसके द्वारा उत्सर्गित द्रव्य की मात्रा बहुत अधिक होती है, न किसी मूत्ररोग के संप्राप्ति विवरण में इसका कोई महत्व होता है।

(इ) नवद्रव्य निर्मिति (Formation)—इसमें मूत्रनलिकाएं स्वयं नये द्रव्यों का निर्माण करके उनको निस्यन्दित द्रव में मिला देती हैं। तिक्ताति और अश्वमेहिकअम्ल इसके उदाहरण हैं। अश्वमेहिकअम्ल रक्तरस में बिल्कुल ही नहीं होता (ऊपर सारणी देखो) परन्तु मूत्र में पाया जाता है।

देहली द्रव्य (Threshold Substances)—निस्यन्दित द्रवान्तर्गत विविध द्रव्यों का पुनः प्रचूषण न्यूनाधिक मात्रा में कैसे होता है इसका विवरण यद्यपि ठीक तौर पर नहीं किया जा सकता तथापि न्यूनाधिक प्रचूषण क्यों होता है इसकी युक्ति निम्न प्रकार से बतायी जा सकती है। जो द्रव्य शरीर के लिए बहुत उपयोगी होते हैं उनका प्रचूषण पूर्णांश में या लगभग पूर्ण होता है। जो द्रव्य शरीर के लिए अनुपयोगी होते हैं उनका प्रचूषण नहीं के बराबर होता है। कुछ द्रव्य इन दोनों के बीच में होते हैं उनका प्रचूषण मध्यम मात्रा में होता है। इस दृष्टि से प्रचूषित होनेवाले द्रव्यों के निम्न तीन विभाग किये जाते हैं—

(१) *उच्च देहली द्रव्य* (High threshold substances)—ये वे द्रव्य होते हैं जो शरीर के धातु बनाने के लिए, जीर्णोद्धार के लिए या उर्जोत्पादन के लिए उपयोगी होते हैं। रक्त में इन द्रव्यों की मात्रा इसलिए अधिक भी रहती है। इनका उत्सर्ग बहुत कम होता है और होने पर पुनः प्रचूषण अधिक होता है। शर्करा, तिक्तिअम्ल (Amino acids), चूना, क्षारातु (Na), नीरजो (Cl) शोणवर्तुलि इत्यादि।

(२) *निम्न देहलीद्रव्य* (Low T. S.)—ये वे द्रव्य होते हैं जो शरीर में किसी काम के नहीं होते। रक्त में इनकी मात्रा बहुत कम होती है और उत्सर्गित होने पर इनका पुनः प्रचूषण भी नहीं के बराबर होता है। इस वर्ग में निम्न द्रव्य प्रधान हैं—मिह, क्रढियमी, शुल्बीय, तिक्ताति तथा अन्य विजातीय और विषैले द्रव्य।

(३) *मध्य देहली द्रव्य* (Medium T. S.)—इसमें दहातु, भास्वीय, मिहिक् अम्ल, पित्तलवण और रंगद्रव्य इत्यादि द्रव्य आते हैं।

वृक्कदेहली—किसी द्रव्य की वृक्कदेहली वह रक्तगत मात्रा होती है जिस पर या जिससे अधिक होने पर वह द्रव्य वृक्कों द्वारा मूत्र में उत्सर्गित होता है। मधुम की वृक्कदेहली १६०-१८० सहस्त्रिधान्य (mg) होती है। रक्त में इसकी मात्रा इससे सदैव कम रहती है। इसलिए उसका उत्सर्ग नहीं होता। मधुमेह या अन्य विकारों में जब शर्करा की रक्तगत मात्रा १८० सहस्त्रिधान्य से अधिक हो जाती है तब मूत्र में उसका उत्सर्ग होकर शर्करामेह उत्पन्न होता है। पित्तरक्ति (Bilirubin) की देहली ४ सहस्त्रिधान्य होती है। रक्त में इसकी मात्रा ½–१ सहस्त्रिधान्य रहती है। जब कामला में इसकी मात्रा देहली से अधिक होती है तब मूत्र में उसका उत्सर्ग होकर पित्तमेह उत्पन्न होता है। रक्त में स्वस्थावस्था में शोणवर्तुलि नहीं होती है। यह द्रव्य शर्करा के समान शरीर के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण इसकी देहली शर्करा के समान ऊँची (१३०–१५० सहस्त्रिधान्य) होती है। जब शरीर में अत्यल्पकाल में लालकणों का अत्यधिक नाश होता है तब रक्तगत शोणवर्तुलि की मात्रा उसकी देहली के बराबर या उससे अधिक हो जाती है और मूत्र में उसका उत्सर्ग होकर कारणानुसार कालमेहज्वर, सावेग (Paroxysmal) या नक्त (Nocturnal) शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि जिसको मूत्र कहते हैं वह द्रव दो स्वतन्त्र अवस्थाओं में दो स्वतन्त्र क्रियाओं के द्वारा दो स्वतन्त्र अंगों में उनके सहयोग से उत्पन्न होता है। इसमें गुत्सकों द्वारा होनेवाली निस्यन्दन की क्रिया, पूर्णांश में भले ही न हो अधिकांश में भौतिक (Physical) स्वरूप की होती है और नलिकाओं में होनेवाली पुनः प्रचूषण की क्रिया अधिकांश में दैहिकीय (Physiological) होती है। यह जीवनक्रिया (Vital activity) होने के कारण मूत्रोत्पत्ति के लिए वृक्कों में ऊर्जा का जितना व्यय होता है उसका अधिकांश इसी के लिए और बहुत थोड़ा गुत्सकीय निस्यन्दन के लिए खर्च होता है।

वृक्क-कार्यक्षमता विज्ञान

शरीर में वृक्कों द्वारा मूत्रोत्पत्ति होने के कारण मूत्र रोगविज्ञान में वृक्कों की कार्यक्षमता (Efficiency) की जानकारी एक बहुत आवश्यक साधन होता है। आजकल इसके लिए अनेक कसौटियाँ (Tests) आविष्कृत हुई हैं जिनके द्वारा वृक्कों के विविध कार्यों की निष्पत्ति का बहुत अच्छा ज्ञान हो जाता है। परन्तु इनके द्वारा प्राप्तज्ञान की उपयोगिता निम्न कारणों से बहुत कुछ मर्यादित हो जाती है—

(१) कभी कभी वृक्कों में या उनके विविध कार्यों में कुछ भी विकृति न होते हुए मूत्र में विकृति होती है। इसका कारण यह है कि हृदय, रक्त तथा वृक्केतर अंगों की विकृतियाँ वृक्कों के मूत्रोत्पत्ति के कार्य में या वृक्कों से उत्पन्न हुए मूत्र में खराबी कर देती हैं।

(२) वृक्कों में विकृति होते हुए भी मूत्र में कोई विकृति नहीं दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि वृक्कों की सञ्चितशक्ति बहुत अधिक (पृष्ठ ६) होने के कारण जब तक तद्गत विकृति बहुत प्रसृत (Diffuse) नहीं होती तथा उनका लगभग $\frac{२}{३}$ हिस्सा बेकार नहीं होता तब तक उनके कार्य पर अर्थात् उनमें उत्पन्न होनेवाले मूत्र पर कोई असर नहीं होता है।

(३) कभी कभी वृक्कों के विविध कार्यों में काफी खराबी मालूम होने पर भी उनमें कोई विशेष धातु विकृति नहीं होता है।

(४) वृक्कविकारों के प्रारम्भ में इन कसौटियों से कार्यक्षमता की जो हानि दिखलाई देती है वह प्रायः वास्तविकता से कहीं अधिक रहती है।

(५) केवल कार्यहानि की न्यूनाधिकता के बल पर रोग की साध्यासाध्यता का भविष्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्यहानि की न्यूनाधिकता का महत्त्व वृक्कगत धातुविकृति तथा उसकी नवीनता या जीर्णता (Chronicity) के ऊपर निर्भर होता है। जैसे, जीर्ण गुत्सकीय वृक्कशोथ (Glomerulonephritis) में उत्पन्न हुई अधिक कार्यहानि जितनी चिन्ताजनक होती है उतनी नवीन तीव्र (Acute) प्रकार में नहीं रहती है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट होगा कि वृक्क-कार्यक्षमता-निदान (Functional diagnosis) और वृक्क-विकृति-निदान (Disease diagnosis) में एकता नहीं होती है। फिर भी वृक्क-विकृति के कोई निश्चित चिन्ह या लक्षण न होने से तथा शुक्लिमेह (Albuminuria) शोणितमेह, निर्मोक (Casts), नक्तमेह, उच्च रक्तनिपीड (High blood Pressure) इत्यादि वृक्क विकृति के लक्षण वृक्क कार्यक्षमता में विशेष खराबी न होते हुए भी बरसों तक मिलने के कारण मूत्र रोगों में वृक्क कार्यक्षमता का ज्ञान आवश्यक होता है।

कायचिकित्सक के लिए दोनों वृक्कों की कार्यक्षमता का ज्ञान रोगनिदान और साध्यासाध्यता की दृष्टि से आवश्यक होता है। परन्तु शल्यचिकित्सक को प्रत्येक वृक्क की कार्यक्षमता के ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब अश्मरी, अर्बुद इत्यादि के कारण एक वृक्क बहुत ही बेकार हो जाता है तब उसकी चिकित्सा वृक्कोच्छेदन (Nephrectomy) से की जाती है। परन्तु उसके पहले दूसरा वृक्क कार्य की दृष्टि से दोनों का कार्य करने योग्य है कि नहीं इसका ज्ञान आवश्यक होता है।

वृक्ककार्य कसौटियाँ (Renal function tests)— वृक्कों के द्वारा जो मूत्र उत्सर्गित होता है वह रक्त के ऊपर होनेवाले उसके अनेकविधकार्यों का परिणत फल है। वृक्ककार्यक्षमता की जाँच करते समय उसके अनेकविधकार्यों की स्वतन्त्रतया जाँच करने की आवश्यकता होती है क्योंकि प्रत्येक कार्य का विशिष्ट अर्थ और विशेष महत्व होता है। आज तक कार्यक्षमता की जाँच करने के लिए ५० से भी अधिक कसौटियाँ आविष्कृत हुई हैं, परन्तु उपयोगिता की दृष्टि से उनमें बहुत थोड़ी कसौटियाँ स्वीकृत हुई हैं। कार्य के अनुसार इन सब कसौटियों के (१) संकेन्द्रण (२) अवमिश्रण और (३) निष्कासन करके तीन विभाग किये जाते हैं। रक्तगत प्रोभूजिन समवर्त जनित मिह, मिहिकअम्ल, क्रिच्यिनी इत्यादि द्रव्यों का निष्कासन भी वृक्कों का ही कार्य होने के कारण रक्तगत इन द्रव्यों की मात्रा का आगणन (Estmation) भी वृक्ककार्य की कसौटियों का ही एक भाग माना जाता है।

(१) संकेन्द्रण कसौटियाँ (Concentration tests)– रक्तगत सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय घन द्रव्यों का उत्सर्जन करना वृक्कों का

एक प्रधान कार्य होता है। ये द्रव्य प्रथम बहुत अधिक जल के साथ निस्यन्दित होते हैं, परन्तु मूत्रनलिकाओं के मार्ग में शरीर के प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक जल का पुनः प्रचूषण होकर मूत्र में इन घन द्रव्यों का आश्चर्यजनक संकेन्द्रण किया जाता है (११ पृष्ठ पर सारणी देखो)। उच्च संकेन्द्रण में घन द्रव्यों को उत्सर्गित करने की इस शक्ति के आधार पर ही स्वस्थ वृक्क इन द्रव्यों को घोलने के लिए उपलब्ध जलराशि की परवा न करके रक्तशुद्धि की दृष्टि से आवश्यक मात्रा में उनको निष्कासित कर सकता है। वृक्ककार्य की बढ़ती हुई हानि इस संकेन्द्रणशक्ति के बढ़ते हुए ह्रास में प्रकट होती है संकेन्द्रण कसौटियों द्वारा प्रमापीकृत (Standardized) अल्पद्रव सेवन की स्थिति में वृक्कों द्वारा होनेवाला मूत्र का अधिक से अधिक संकेन्द्रण देखा जाता है। यदि किसी रोगी को १४–१६ घण्टे तक पानी न दिया जाय तो उस काल के पश्चात् उत्सर्गित मूत्र का संकेन्द्रण वृक्क संकेन्द्रण शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक होता है। इस सिद्धान्त के आधार पर अनेक कसौटियाँ प्रयुक्त होती हैं जिनमें निम्न विशेष सरल हैं—शूनगात्र (Oedematous) रोगियों में केवल पानी बन्द करने से द्रवापवर्जन की स्थिति उत्पन्न न होने से ये कसौटियाँ उनमें उतनी विश्वसनीय नहीं होतीं।

(अ) *फिशबर्ग की कसौटी* (Fishberg's test) —
(१) संध्या के ६-७ के बीच में उच्च प्रोभूजिन युक्त भोजन के साथ २०० घ० शि० मा० (C. C.) जल का सेवन।

(२) दूसरे दिन कसौटी समाप्त होने तक जल या अन्य द्रव का सेवन न करना।

(३) रात्र में त्यक्त मूत्र को न ग्रहण करके प्रातःकालीन मूत्र को ग्रहण करके उस पर नं० १ मूत्र लिखें।

(४) मूत्र त्यागने के पश्चात् एक घण्टाभर बिस्तरे पर ही पड़े रहे और उस समय फिर मूत्र का ग्रहण करके उस पर नं० २ लिखें।

(५) उसके पश्चात् रोगी इधर उधर घूम सकता है। फिर १ घण्टे के पश्चात् मूत्र का ग्रहण करके उस पर नं० ३ लिखें।

(६) फिर तीनों की वि० गुरुता को देखें।

स्वस्थ व्यक्ति में तीनों में से कम से कम एक समय के मूत्र की गुरुता १०२२ से अधिक अवश्य होती है।

(आ) *पोषणिकी कसौटी* (Pituitrin test)—इसमें रोगी को त्वचा के नीचे पोषणिकी के ५--१० एकक या ½--१ घ० शि० मा० की सुई लगाने के समय से २ घण्टे तक रोगी को अन्न या जल नहीं दिया जाता। सुई लगाने के समय बस्ति खाली करने के लिए मूत्र का ग्रहण किया जाता है। उसके पश्चात् एक और दो घण्टे के अन्तर पर फिर मूत्र ग्रहण किया जाता है और तीनों की गुरुता देखी जाती है। स्वस्थ वृक्क में मूत्र की अल्पतम गुरुता १०२३ और अधिकतम गुरुता १०३० होनी चाहिए। इसमें बहुत पहले से रोगी की तयारी करने की आवश्यकता नहीं होती। फिशबर्ग कसौटी के समय रोगी को १४-१६ घण्टे तक पानी के बिना रहना पड़ता है। जो रोगी इस कार्य में सहकार्य नहीं कर सकते या जिन पर इस विषय में विश्वास नहीं किया जा सकता उनमें यह कसौटी व्यर्थ होती है। इनके लिए पोषणिकि कसौटी उपयुक्त होती है क्योंकि इसमें केवल दो तीन घण्टे तक ही पानी के बिना रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह कसौटी अल्पकाल में ही समाप्त होती है। शून गात्र रोगियों में यह कसौटी उपर्युक्त कसौटी की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है। परंतु इसमें प्रतिक्रिया का डर रहता है तथा दुर्बल और उच्च रक्तनिपीड युक्त रोगी में इसका उपयोग नहीं कर सकते हैं। इसलिए इसका प्रचार बहुत कम है। इन दोनों कसौटियों में मूत्र की गुरुता ही देखी जाती है। इसलिए इनको विशिष्ट गुरुता कसौटियां (Sp gravity tests) भी कहते हैं। यदि मूत्र में शुक्लि उपस्थित हो तो १% के पीछे गुरुता में से ·००३ कम कर देने चाहिएँ।

साधारणतया स्वस्थ वृक्कों से समय समय पर जो मूत्र उत्सर्गित होता है उसकी गुरुता में बहुत अन्तर हुआ करता है। यदि यह अन्तर अन्तिम दो अंकों में दस तक (१०१५--१०२५) रहे तो समझ सकते हैं कि कम से कम संकेन्द्रण शक्ति की दृष्टि से वृक्क स्वस्थ है। जब इस कार्य की हानि होने लगती है तब मूत्र की गुरुता घटने लगती है। जब उपर्युक्त कसौटियों में मूत्र की गुरुता १०२० से अधिक नहीं मिलती तब समझना चाहिए कि इस कार्य में हानि हो गयी है और गुरुता जितनी कम उतनी हानि अधिक समझनी चाहिए। जब इस कार्य की अधिक से अधिक हानि हो जाती है तब उच्च और नीच गुरुता में १ या २ अंकों से अधिक अन्तर नहीं रहता और गुरुता १०१० के आस-पास सदा के लिए स्थिर

रहती है। परन्तु जब रोगी मधुमेह से पीड़ित रहता है तब संकेन्द्रण शक्ति की हानि होते हुए भी शर्करा के कारण मूत्र की गुरुता अधिक रहती है। वैसे ही तीव्र वृक्कशोथ, चिरकालीन अन्तःसारीय (Parenchymatus) वृक्कशोथ, वृक्क की निष्क्रिय अधिरक्तता में पानी पर्याप्त मात्रा में न पीने के कारण तथा अतिस्वेद के कारण मूत्र की गुरुता ऊँची (१०१८--१०२०) रह सकती है। इसके विपरीत संकेन्द्रण शक्ति की हानि न होते हुए भी रोगी उदकमेह (Diabetes insipidus) से पीडित रहने पर तथा शोथ जन्य द्रव का उत्सर्जन होने के समय पर मूत्र की गुरुता कम रहती है।

(इ) *नक्तमेह* (Nocturia)—वृक्कों की संकेन्द्रणशक्ति क्षीण होने पर दैनिक मूत्र की राशि बढ़ने लगती है और इसका प्रथम परिणाम रात्रि की मूत्र राशि पर होता है। स्वस्थावस्था में दिन (प्रातः ८ से रात में ८ तक) की मूत्र राशि का रात्रि (रात के ८ से प्रातः ८ तक) की मूत्र राशि के साथ ४:१ या ३:१ अनुपात रहता है। रात्रि की मूत्र की राशि का ५०० घ० शि० मा० से अधिक होना और उसकी गुरुता का १०१८ से कम रहना संकेन्द्रणशक्ति की क्षीणता का सूचक होता है। जब यह शक्ति बहुत क्षीण हो जाती है तब दिन-रात्रि की राशि का अनुपात समान हो जाता है और कभी कभी रात्रि की राशि दिन से अधिक भी हो सकती है। इसलिए इसको नक्तमेह या नक्तबहुमूत्रमेह (Nocturnal polyuria) कहते हैं।

(२) **अवमिश्रण कसौटियां** (Dilution tests)—इनको जलकसौटियां (Water tests) भी कहते हैं। क्योंकि इनमें रोगी को पीने के लिए पर्याप्त मात्रा में केवल जल दिया जाता है और निश्चित समय में उत्सर्गित मूत्र की राशि और उसकी गुरुता देखी जाती है।

इसके लिए रोगी को प्रातः ८ बजे १३०० घ० शि० मा० जल आधे घण्टे में पीने के लिए दिया जाता है। पानी पीने से पहले मूत्रत्याग किया जाता है। तदनन्तर ६, १०, ११, १२ बजे का मूत्र अलग अलग इकट्ठा किया जाता है और प्रत्येक की राशि और गुरुता देखी जाती है। स्वस्थ व्यक्ति में उतने समय में १२०० घ० शि० मा० के करीब मूत्र उत्सर्गित होता है और उनमें से कम से कम एक समय के मूत्र की गुरुता १००३ के आस-पास

होती है। आधे से अधिक राशि प्रथम दो घण्टे में उत्सर्गित होती है। वृक्कविकार में जिसमें वृक्ककार्य में हानि हो गयी है, चार घण्टे में उत्सर्गित मूत्र की राशि बहुत कम होती है तथा गुरुता १०१० से कम नहीं होती।

संकेन्द्रण और अवमिश्रण कसौटियाँ वृक्कों के शरीरगत जल नियमन के कार्य पर निर्भर होती है। इसलिए दोनों के द्वारा वृक्ककार्य हानि के सम्बन्ध का अनुमान एक सा होता है। फिर भी संकेन्द्रण हानि अवमिश्रण हानि की अपेक्षा प्रथम प्रारम्भ होती है और अधिक स्पष्ट अतएव अधिक विश्वसनीय रहती है। इसलिए अवमिश्रण कसौटी की उतनी आवश्यकता नहीं होती। इसके अतिरिक्त आसन्न वृक्कातिपात (Impending renal failure) के रोगियों में इतने अधिक जल का सेवन भयावह होता है। यद्यपि अकेले संकेन्द्रण कसौटी के द्वारा वृक्क के जलनियमन के कार्य का अच्छा ज्ञान होता है तथापि संकेन्द्रण और अवमिश्रण कसौटियों द्वारा यह ज्ञान अधिक निश्चयात्मक होता है। इसलिए निषेध की कोई खास बात न हो तो प्रथम सकेन्द्रण कसौटी और एक दिन के पश्चात् अवमिश्रण :कसौटी इस क्रम से दोनों का उपयोग करें।

दशव शुल्बाव्युत्तैलिन कसौटी (Phenol sulphoneph thalein test)—दशव शुल्बाव्युत्तैलिन (द० शु० व्यु० P. S. P.) एक प्रकार का अक्रिय (Inert) रञ्जक है। इसके संकेन्द्रण और उत्सर्जन की शक्ति वृक्कों की कार्यक्षमता की निदर्शक होती है। इसलिए इसका उपयोग कार्यक्षमता के मापन के लिए किया जाता है। परन्तु इसके द्वारा वृक्कों के किस कार्य का बोध होता है इसको ठीक नहीं बता सकते। इस कसौटी को निम्न पद्धति से प्रयुक्त करते हैं।

रोगी को ४०० घ० शि० मा० जल पीने के लिए दिया जाता है। उस समय मूत्रत्याग करके या सलाई डाल करके बस्ति खाली की जाती है। २० मिनिट के पश्चात् इस रञ्जक के ६ सहस्रिधान्य (mg) १ घ० शि० मा० निर्जीवाणुक पानी में विद्रुत करके सिरा द्वारा दिये जाते हैं। ठीक १५ मिनिट के पश्चात् मूत्र इकट्ठा किया जाता है। यदि मूत्र विबन्ध हो तो सलाई से मूत्र निकालना चाहिए। फिर ४५ मिनट के पश्चात् और तदनन्तर

१ घण्टे के पश्चात् इस प्रकार दो बार अलग अलग मूत्र इकट्ठा किया जाता है। परन्तु इन एक और दो घण्टे के मूत्र का कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं होता। फिर मूत्र में उत्सर्गित हुए रञ्जक की मात्रा रसायनिक पद्धति से और रंगमान से (Colorimeter) निश्चित की जाती है।

स्वस्थ व्यक्ति में प्रथम १५ मिनिट में ३०-४५% और एक घण्टे में ६५-७५% रंजक उत्सर्गित होता है। प्रथम पन्द्रह मिनिट में २५% या उससे कुछ कम रंजक का उत्सर्जन वृक्ककार्यहानि का निदेशक होता है। कार्यहानि के साथ साथ उसका उत्सर्जन कम होता जाता है और हानि बहुत अधिक होने पर उत्सर्जन नगण्य होता है। मूत्रल द्रव्यों का प्रभाव इसके उत्सर्जन पर नहीं होता, न मूत्र की राशि से इसका उत्सर्जन सम्बन्ध रखता है। परन्तु मूत्र की राशि ४० घ. शि. मा या उससे अधिक जब तक नहीं होती तब तक इसकी मात्रा ठीक नहीं मालूम हो सकती। यह रंजक पेशी में या त्वचा के नीचे भी दे सकते हैं। उस समय रंजक देने के पश्चात् १ घण्टा १० मिनिट पर प्रथम मूत्र इकट्ठा किया जाता है। फिर रोगी को २०० घ. शि. मा. पानी पीने के लिए दिया जाता है और घण्टे भर के पश्चात् दूसरी बार मूत्र इकट्ठा किया जाता है। सिरा द्वारा रंजक देने पर उसका उत्सर्ग २ मिनिट में प्रारम्भ होता है। इसलिए प्रथम पद्धति में उसके लिए अलग समय नहीं दिया जाता है। पेशी द्वारा देने पर उत्सर्ग प्रारम्भ होने के लिए १० मिनिट लग जाते हैं। इसलिए दूसरी पद्धति में प्रथम मूत्र एक घण्टा १० मिनिट पर इकट्ठा किया जाता है।

रोगी सर्वांग शोथ से पीड़ित होने पर रंजक सिरा द्वारा ही देना चाहिए। यह एक बहुत उपयोगी कसौटी है। इसके द्वारा कभी कभी चिन्ताजनक वृक्कातिपात (Renal failure) की सूचना मिलती है जब कि संकेन्द्रणादि अन्य कसौटियों द्वारा इसका सन्देह तक नहीं हो सकता। अम्लोत्कर्ष (Acidosis), श्यावता (Cyanosis) होने पर तथा लवण विरेचन (जैसे Mag sulph) सेवन करने पर रंजक का उत्सर्ग ठीक नहीं होता। क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) की स्थिति में रंजक का उत्सर्ग अधिक होता है। इसलिए श्यावता की स्थिति में तथा लवण विरेचन या खाने का सोडा सेवन करने पर इस कसौटी को काम में न लाना चाहिए। तीव्र वृक्कशोथ में इसको प्रयुक्त न करें क्योंकि इसमें रंजक का उत्सर्ग कुछ

अधिक होने से वृक्ककार्यविकृति का ठीक ठीक अनुमान नहीं हो पाता। परन्तु चिरकालीन अन्तरालकीय (Interstitial) वृक्कशोथ में वृक्क की कार्यक्षमता मालूम करने के लिए यह बहुत ही उपयोगी कसौटी है। क्योंकि इसमें रंजक का उत्सर्ग वृक्कविकृति और रक्त में भूयाति के (Nitrogen) विधारण के अनुसार न्यूनाधिक रहता है। जब २ घंटे में रंजक का उत्सर्ग ४० प्रतिशत से कम मिलता है, तब रक्त में भूयाति का विधारण प्रारम्भ होता है और जब अप्रोभूजिन भूयाति (Non Protein Nitrogen) की रक्तगत मात्रा १०० सहस्रिधान्य (१०० घ. शि. मा. में) हो जाती है तब इसका उत्सर्ग करीब करीब बन्द हो जाता है। चिरकालीन निष्क्रिय अधिरक्तता (Passive congestion) में रंजक का उत्सर्ग कम होने पर भी रक्त में भूयाति का विधारण नहीं होता।

(३) **निष्कासन कसौटियाँ** (Clearance tests)—निष्कासन की कल्पना उन सब द्रव्यों के लिए प्रयुक्त हो सकती है जो रक्त में विद्यमान् होते हुए न्यूनाधिक मात्रा में वृक्कों के द्वारा बराबर मूत्र में उत्सर्गित हुआ करते हैं। जैसे, मिह, मिहिक अम्ल क्रियिर्यी इत्यादि। इस सिद्धान्त का उपयोग वान स्लाइक (Van Slyke) ने सर्व प्रथम मिह (Urea) के लिए किया और वही द्रव्य निष्कासन कसौटी के लिए देखा जाता है। मिहनिष्कासन रक्त की उस अल्पतम राशि को कहते हैं जिसमें मूत्र द्वारा एक मिनिट में उत्सर्गित होनेवाली मिह की राशि रहती है। या घनशतिमान संख्या (Number of c. c.) में प्रदर्शित रक्त की वह राशि होती है जो वृक्क द्वारा एक मिनिट में निर्मिह की जाती है। थोड़े में निष्कासन १ मिनिट में उत्सर्गित और उस समय रक्त में उपस्थित मिह की मात्रा का अनुपात (Ratio) होता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस प्रकार का अनुपात वृक्कविकृति की प्रगति के साथ केवल रक्तगत या केवल मूत्रगत मिह की मात्रा की अपेक्षा अधिक सम्बन्धित होता है और केवल उनमें से किसी एक के द्वारा वृक्कविकृति का पता जितना जल्दी लग सकता है उसकी अपेक्षा इसके द्वारा अधिक जल्दी लग जाता है।

इसके लिए मूत्र द्वारा १ मिनट में उत्सर्गित तथा उसी समय पर रक्त में उपस्थित मिह की मात्रा देखी जाती है। यदि विश्लेषण से यह मालूम हुआ कि १ मिनिट के मूत्र में मिह की मात्रा १५ सहस्रिधान्य और रक्त

में २० सहस्रिधान्य (प्रतिशत) है तो मिहनिस्तरण $\frac{15}{20}$ × १०० = ७५ घ. शि. मा. होता है। इसका अर्थ यह होता है कि वृक्क प्रति मिनट ७५ घ.शि.मा. रक्त को मिह से शुद्ध अर्थात् निर्मिह करता है। गुत्सकों से निस्यन्दित होने पर अन्शतः मिह का पुनः प्रचूषण मूत्र नलिकाओं द्वारा होता है और मिह का अन्तिम निष्कासन इन दो विरुद्ध प्रक्रियाओं का फल होता है। जब मूत्रोत्पत्ति प्रति मिनिट २ घ. शि. मा. या उससे अधिक रहती है तब मिह का पुनः प्रचूषण ४० प्रतिशत के करीब होकर मिह निष्कासन की मध्यम मात्रा ७५ घ. शि. मा. (Avarage normal clearance) होती है। जब मूत्रोत्पत्ति प्रति मिनिट २ घ. शि. मा. से कम रहती है तब मिह का पुनः प्रचूषण अधिक (५० प्रतिशत) होता है और निष्कासन की मध्यम मात्रा प्रति मिनिट ५४ घ. शि. मा. रहती है। जब मूत्र प्रवाह प्रति मिनिट २ घ. शि. मा. या उससे अधिक रहता है तब मिहका होनेवाला निष्कासन अध्यधिक (Maximum clearance) और जब प्रवाह इसस कम रहता है तक प्रमाप (Standatd) कहलाता है। अध्यधिक निष्कासन की न्यूनाधिक मात्रा ६०-९० घ. शि. मा. और मध्यम की ७५ घ. शि. मा. होती है। प्रमाप निस्तरण की न्यूनाधिक मात्रा ४१-५५ घ. शि. मा. होती है। इन दोनों को १००% मानते हैं और कसौटी का फल इन अंकों की प्रतिशतता में बताया जाता है। जो फल ७५ प्रतिशत से अधिक होते हैं वे स्वस्थावस्था के निदर्शक होते हैं। जो ४०--६० प्रतिशत के बीच में होते हैं वे मध्यम विकृति के निदर्शक माने जाते हैं। २० प्रतिशत से कम फल तीव्र विकृति के निदर्शक होते हैं और जब फल ५ प्रतिशत हो जाता है तब मूत्रविषमयता जरूर उत्पन्न हो जाती है।

प्रमाप निष्कासन के अंकों की अपेक्षा अध्यधिक निष्कासन के अंक अधिक विश्वसनीय होते हैं। इसलिए इस कसौटी के समय रोगी को कल्यवर्त के (Breakast नाश्ता) साथ चाय, कॉफी, पानी या फलों का रस देना चाहिए और यदि ९-१० बजे तक कसौटी प्रारम्भ न करना हो तो पश्चात् ४०० घ. शि. मा. जल फिर से दिया जाय।

वृक्क कार्यक्षमता मालूम करने की दृष्टि से यह कसौटी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। मिहनिष्कासन की हानि या तो वृक्कों में सचार करनेवाले रक्तराशि की निदर्शक होती है या वृक्क की मिह उत्सर्जनशक्ति की क्षीणता की सूचक होती है। इसलिए गुत्सकीय वृक्कशोथ में

(Glomerulonephritis) यह कसौटी गुत्सकीय कार्यक्षम धात्वंश को निदर्शित करती है और वृक्क जरठता (Nephro sclerosis) में वृक्कगत रक्तसंचार की तुलनात्मक पर्याप्तता (Relative adequacy) को या रक्तसंचार की स्थिति को सूचित करती है। तीव्रशोथ के प्रारम्भ के पश्चात् ४ मास के भीतर यदि मिह निष्कासन बढ़कर स्वाभाविक मर्यादा तक न आ जाय तो समझना चाहिए कि रोग जीर्ण हो रहा है या अन्तिम अवस्था में (मूत्रविषमयता की ओर) जा रहा है।

एक वृक्कपरीक्षण—अनेक बार वृक्कार्बुद, वृक्काश्मरी, वृक्कालिन्द शोथ, पूयवृक्कता इत्यादि विकारों में विकृत वृक्कोच्छेदन (Nephrectomy) अधिक श्रेयस्कर होता है। परन्तु दूसरे वृक्क की कार्यक्षमता का पता लगाये बिना यह शस्त्रकर्म नहीं किया जा सकता। संक्षेप में शस्त्रचिकित्सक को वृक्कों की कार्यक्षमता की जानकारी की अपेक्षा एक वृक्क की कार्यक्षमता की जानकारी अधिक आवश्यक होती है। उसके लिए निम्न पद्धतियाँ प्रयुक्त होती है।

(१) *सिरान्तर्य मूत्रचित्रण* (Intravenous urography)—इसमें परीक्ष्य मनुष्य को सिरा में निर्विष जम्बुकीयोग (Nontoxic iodine compound as uroselectan, uropac, Pyelectan) दिया जाता है। यह योग जब मूत्र द्वारा उचित संकेन्द्रण में उत्सर्गित होता है तब क्ष-रश्मि के लिए पारान्ध (Opaque) होता है। सिरा में औषधि देने के ५-१५, ३० मिनिट पर क्ष-रश्मि के द्वारा छाया देखी जाती है। यदि ठीक छाया न आवे तो ३० मिनिट से अधिक काल के पश्चात् भी छाया देखी जाती है। जिस वृक्क में खराबी होती है उस वृक्क से इस द्रव्य का उत्सर्ग उचित संकेन्द्रण में न होने के कारण उस ओर छाया (Shadow) अच्छी नहीं होती। इनसे वृक्क की अकार्यक्षमता का पता लगाया जाता है। छाया अच्छी आने की दृष्टि से रोगी को औषधि देने से पूर्व १२ घण्टे जल की मात्रा कम देनी चाहिए। छाया अच्छी न आने का अर्थ सदैव वृक्क की अकार्यक्षमता नहीं होता क्योंकि कभी कभी प्रतिक्षेप (Reflex) के कारण भी वृक्क की कार्यक्षमता कुछ काल के लिए बन्द या कम होती है।

(२) *वर्णबस्तिवीक्षण* (Chromocystoscopy)—इसमें प्रथम बस्तिवीक्षणयन्त्र से बस्ति का तथा गविनियों के द्वारों का सूक्ष्म

निरीक्षण किया जाता है और उसके पश्चात् सिरा द्वारा कोई रंजक (Indigo carmine or Phenol Sulphonephthalein) दिया जाता है और गवीनी के द्वारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाता है जिससे रंजक उत्सर्गित होने का समय और उसका गहरापन (Depth of colour) मालूम हो जाय। अच्छे गहरेपन के साथ रंजक का जल्दी उत्सर्ग होना वृक्क की कार्यक्षमता का निदर्शक होता है। जब कोई वृक्क ठीक कार्य नहीं करता तब उससे रंजक का उत्सर्ग बिलम्ब से होता है और वह कुछ कम गहरा रहता है।

(३) *गवीनी शलाकाकरण* (Ureteric catheterisation)— इसमें प्रत्येक गवीनी में शलाका डालकर उससे आया हुआ मूत्र स्वतन्त्रतया इकट्ठा करके उसका परीक्षण मिह, जीवाणु इत्यादि के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त दर्शव शुल्बाब्युत्तैलिन कसौटी का (पृष्ठ २१) भी उपयोग इस प्रकार प्रत्येक वृक्क की कार्यक्षमता मालूम करने के लिए किया जा सकता है।

मूत्र रोगों का
सामान्य विवरण

(Etiology)—मूत्र रक्त से उत्पन्न होने के कारण और शरीर के सम्पूर्ण रोगों से रक्त का सम्बन्ध रहने के कारण शरीर का प्रत्येक रोग मूत्र पर कुछ न कुछ परिणाम किए बिना नहीं रहता। इस दृष्टि से मूत्र रोगों के कारणों में शरीर के सम्पूर्ण रोगों का समावेश हो सकता है। तथापि कुछ रोग ऐसे होते हैं कि जिनका परिणाम मूत्र पर विशेषरूपेण हुआ करता है उनका निर्देश नीचे किया जाता है।

(१) *कुलज और सहज दोष* (Congenital and Heridatory) -- निम्न मूत्र रोगों में इन दोषों का प्राधान्य होता है। जैसे विषाणिमेह, क्षारासित मेह (Alkaptonuria), पञ्चधुमेह, (Pentosuria), मधुमेह, वृक्कय शर्करामेह, वामधुमेह, राजीविमेह (Porphyrinuria), उदकमेह, कौंस्य मधुमेह, शैशवीय वृक्य अम्लतोत्कर्ष (Infantile renal acidosis), फँकोनी का संरूप (Fanconi's syndrome)

(२) *उपसर्ग* (Infections)—अनेक उपसर्गों का मूत्र पर परिणाम होता है। इनमें निम्न महत्त्व के हैं (१) सार्वदैहिक-आन्त्रिक ज्वर, लोहित ज्वर (Scarlet), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) फिरंग (Syphilis) राजयक्ष्मा (T. B.) पूयमयता और तृणाणु दोषमयता (Pyaemia and Septicaemia), विषमज्वर, श्लीपद (Filaria), विसूचिका अन्तः पूयता (Empyema), पूययुक्त मस्तिष्कावरण शोथ, पीतज्वर, रोहिणी।

(२) मूत्रण संस्थानके उपसर्ग—यक्ष्मदण्डाणु, गुह्यगोलाणु, स्थूलान्त्र दण्डाणु पूयजनक तृणाणु तथा स्त्रीपुंसक शोणितवासी कृमि

(Schistosoma hematobium) इनके मूत्रण संस्थान के उपसर्ग तृणाणुमेह, वातमेह, पूयमेह इत्यादि विकार उत्पन्न करते हैं।

(३) *आहार दोष*—अनेक मूत्रविकार आहार के अतियोग या अयोग से उत्पन्न होते हैं—जैसे मधुमेह, शुक्तिमेह, पञ्चधुमेह, शौक्तामेह, तिग्मीयमेह, भास्वीयमेह इत्यादि।

(४) *अन्तःस्रावी ग्रन्थिदोष* (Endocrine disorders)—शरीर की अनेक अन्तः स्रावी ग्रन्थियों की अल्पकार्यता या अतिकार्यता (Hyperfunction) मूत्र विकार उत्पन्न करती है। जैसे, पोषणिका (Pituitary) अग्न्याशय (Pancrease), अधिवृक्कय (Suprarenal), अवटुकाग्रन्थि (Thyroid) इत्यादि के कारण मधुमेह, उदकमेह, तनुमूत्रमेह (Diabetes Tenui fluus) इत्यादि।

(५) *हृदय और रक्तवाहिनियों के विकार*—उपसर्गी अन्तर्हृच्छोथ (Infective endocarditis) जीर्ण कापाटिक विकार (Chronic valvular diseases) रक्तनिर्पीड की अधिकता (High blood pressure) इत्यादि।

(६) *रक्तविकार*—रक्ताल्पता (Anaemia), श्वेतमयता (Leukaemia), शोणांशन (Hemolysis), अवरोधक, वैषिक तथा शोणांशिक कामलाएँ, अभ्यन्तरीय रक्तस्राव, वृक्क की अधिरक्तता (Congestion), या अल्परक्तता, अन्तःशल्यता (Embolism), घनास्रोत्कर्ष (Thrombosis), नीलोहा (Purpura), प्रशीताद (Scurvy), असंयोज्य रक्तसंक्रम (Incompatible transfusion)।

(७) *पचन संस्थान के विकार*—अतीसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर, मलावरोध, अपचन, अजीर्ण, अग्निमांद्य, अनुबद्ध और अतिस्थायी (Perisitant) तथा चक्री (Cyclic) वमन, आन्त्रमार्गावरोध (Intestinal obstruction), आन्त्रघात (Paralysis), जठरव्रण, जठर कर्कट इत्यादि।

(८) *यकृत के विकार*—यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis), तीव्रपीत यकृत् क्षय (Acute yellow atrophy) भास्वर विषाक्तता (Phos phorus poisoning) विविध कामलाएँ इत्यादि।

(६) *मूत्रण संस्थान के रोग*—मूत्रोत्पत्ति, मूत्रसंग्रहण और मूत्रोत्सर्जन के साथ इस संस्थान का सम्बन्ध होने के कारण इस संस्थान के विकारों का मूत्र पर जितना परिणाम होता है उतना दूसरे किसी भी संस्थान के विकारों का नहीं होता। उसमें भी वृक्कविकार सबसे महत्त्व के होते हैं। अश्मरी का समावेश इसी में कर सकते हैं। अश्मरी से शोणित मेह, पूयमेह भास्वीयमेह इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

(१०) *मन और मस्तिष्क संस्थान के विकार*—चिन्ता, क्रोध, भय, विषण्णता, उन्माद, अपस्मार, मस्तिष्काघात कपालान्तर्य रक्तस्राव, कपालभंग, मस्तिष्क के अर्बुद इत्यादि मन मस्तिष्क के विकारों में मूत्र विकृतियाँ हो जाती हैं।

(११) *अर्बुद और कोष्ठ* (Tumors and cysts)—मूत्रणसंस्थान के अघातक अर्बुद फिर, वे वहाँ पर प्रधानरूपेण उत्पन्न हुए हों या समस्थाय (metastasis) के रूपेण आ गये हों, मूत्र विकार उत्पन्न करते हैं। अघातक अर्बुदों में मूत्राशय का अंकुरार्बुद (Papilloma) महत्त्व का है। इससे शोणितमेह उत्पन्न होता है। इतर अंगों के अर्बुदों में कालकार्बुद (Melanoma) महत्त्व का है। इससे कालमेह (Melanuria) उत्पन्न होता है। दूसरा प्रभूत मज्जार्बुद है (Multple myelomata)। इससे बेन्सजोन्स प्रोभूजिनमेह उत्पन्न होता है। कोष्ठों की दृष्टि से वृक्क के कोष्ठ महत्व के हैं। बहुकोष्ठीय वृक्क (Polycystic disease) से उदकमेह उत्पन्न होता है।

(१२) *उदरगुहान्तर्य दबाव* (Intra abdominal pressure)—जलोदर, बीजग्रन्थि कोष्ठ (Ovarian cyst), गर्भ इत्यादि से वृक्करक्तसंचार में बाधा होने से शुक्लिमेहादिविकार उत्पन्न होते हैं।

(१३) *विष और रसायन*—पारद, तार्पिन, सीस (Lead), सोमल तथा उसके योग (Arsenic and its preparations), दक्षु (Ether), नीरवम्ल (Chloroform), प्रांगविक अम्ल (Carbolic acid), नागविष, छत्रक विष (Mushroom poisoning), दहातुनीरेय (Pot chlorate), प्रांगार एकजारेय (CO_1) क्विनीन, शुल्वौषधियाँ (sulpha drugs) इत्यादि।

स्थानिक लाक्षणिकी (Symptomology)—मूत्र के रोग जैसे मूत्रण संस्थान की विकृतियों में होते वैसे अन्य संस्थानों की तथा अंगों की विकृतियों में भी हुआ करते हैं। इसका अर्थ यह है कि मूत्र रोगों में जैसे मूत्र सम्बन्धी लक्षण होते हैं वैसे अन्य लक्षण भी हो सकते हैं। किन्तु उन अन्य अंगों की विकृतियों का क्षेत्र बहुत ही व्यापक होने के कारण उनका विवरण यहाँ पर न करके शरीर की सम्पूर्ण विकृतियों में केवल मूत्र से सम्बन्धित जितने लक्षण हो सकते हैं उनका विवरण यहाँ पर किया जाता है।

(१) *मूत्रण की वारंवारता* (Frequency)—स्वस्थ मनुष्य दिन में ३–४ बार और रात में एकाध बार मूत्र त्याग करता है। अनेक मूत्र विकारों मे इस वारंवारता में घट बढ़ होती है। अमूत्रता और मूत्र विबन्ध में मूत्रण की वारंवारता घटती है। प्रथम दो विकारों में मूत्र त्याग न करने पर भी बस्ति प्रायः रिक्त या अर्धपूर्ण रहती है और सलाई डालने पर मूत्र आता नहीं या बहुत कम निकलता है। मूत्रविबन्ध में बस्ति मूत्रपूर्ण रहती है (मूत्र जठर) और सलाई से बहुत मूत्र निकलकर बस्ति खाली हो जाती है। :मूत्रण की वारंवारता निम्न अवस्थाओं में बढ़ती है— (१) बहुमूत्रता—उदकमेह, मधुमेह, भास्वीयिक प्रमेह (Phosphatic diabetes) जीर्ण अन्तरालीय (Chronic interstitial) वृक्कशोथ इत्यादि बहुमूत्रता उत्पन्न करनेवाले विकारों में। (२) मूत्रणसंस्थान प्रकोप या प्रशोथ—जैसे वृक्काश्मरी, :वृक्कयक्ष्मा, वृक्कशोथ, वृक्कालिन्दशोथ, गवीनीशोथ, गवीनीगत अश्मरी, बस्तिशोथ, बस्तिगत अश्मरी, बस्तिगत अर्बुद, मूत्रमार्गशोथ, मूत्रमार्गगत अश्मरी, निरुद्धप्रकश (Phimosis) शिश्नमणि शोथ (Balanitis) इत्यादि अवस्थाओं में। (३) अस्वाभाविक मूत्र संघटन—मूत्र में पूय, रक्त, स्फटिक इत्यादि अस्वाभाविक द्रव्यों की उपस्थिति से तथा मूत्र की अम्लता अत्यधिक बढ़ने से। (४) मूत्रण संस्थान समीपवर्ति अंगों के विकार—बीजवाहिनी शोथ (Salpingitis) सपूय बीजवाहिनी (Pyosalpinx), उण्डुकपुच्छ शोथ, बीजकोश कोष्ठ (Ovarian cyst), प्रतिपावृत्त [Retroverted] सगर्भ कुक्षी, गर्भाशय गुल्म [Uterine fibroid], आन्त्रकृमि इत्यादि। इनमें शोथयुक्त विकार मूत्रण संस्थान में प्रकोप उत्पन्न करके और गुल्मादि विकार मूत्राशय के फैलने में बाधा उत्पन्न करके वारंवारता क

बढ़ाते हैं। बहुमूत्रता के कारण जो वारंवारता बढ़ती है उसकी संख्या बहुत अधिक नहीं होती तथा प्रत्येक समय काफी मूत्र निकलता है। जो वारंवारता अन्य कारणों से होती है उसमें मूत्रण की संख्या बहुत अधिक होती है और प्रत्येक समय अधिक मूत्र नहीं होता। इसलिए केवल वारंवारता :बढ़ने से बहुमूत्रता का अनुमान नहीं किया जा सकता, उसके लिए २४ घंटे के मूत्र की राशि देखनी पड़ती है।

वारंवारता में दिन रात का भी सम्बन्ध देखना पड़ता है। साधारणतया स्वस्थ व्यक्ति को रात में मूत्र त्यागने के लिए प्रायः जगने की आवश्यकता नहीं होती। बस्तिगत अश्मरी में वारंवारता दिन में बढ़ती है रात में नहीं, क्योंकि दिन में खेलने-कूदने से चलने-फिरने से अश्मरी के कारण बस्ति में प्रकोप उत्पन्न होता है जो रात में आराम के कारण नहीं होता। अष्ठिलाभिवृद्धि में (Enlargement of the prostate) वारंवारता मुख्यतया रात में बढ़ती है और ६० वर्ष के पश्चात् पुरुषों में इस विकार का सूचक यह प्रथम लक्षण होता है।

मूत्राशय शोथ, मूत्राशय कर्कट (Cancer), अष्ठीला शोथ तथा मूत्राशय समीपवर्ति अंगों के शोथयुक्त विकारों में मूत्रण की वारंवारता दिन रात दोनों समय बराबर रहती है। आगे चलकर अश्मरी से जब मूत्राशयशोथ हो जाता है तब उसमें भी रात की वारंवारता बढ़ जाती है।

बच्चों मे सन्निरुद्ध प्रकश (Phimosis), शिस्नमणि शोथ (Balanitis) शिस्नगत अश्मरी, शिस्नद्वार संकोच, आन्त्रकृमि इत्यादि मूत्रण की वारंवारता बढ़ाने के मुख्य कारण होते हैं।

(२) मूत्रप्रवाह में बाधा—वास्तव में मूत्र प्रवाह में बाधा उत्पन्न होना मूत्र विकार का लक्षण नहीं होता, परन्तु मूत्र विकार उत्पन्न करनेवाले विकारों में वह मिलने के कारण उसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

मूत्राशय की निर्बल स्थिति (Atonic condition) में, अष्ठीला-भिवृद्धि में तथा मूत्र मार्ग का अत्यधिक उपसंकोच (stricture) में मूत्र की धारा इतनी मन्द और निर्बल होती है कि वह कमान के समान आगे की ओर न निकलकर सीधी नीचे की ओर गिरती है। मूत्र त्यागते समय मूत्र प्रवाह का बन्द हो जाना मूत्राशयगत चल अश्मरी के कारण होता है

कभी कभी बस्तिगत अंकुरार्बुद का गुच्छा (Tuft of papilloma) मूत्र मार्ग के प्रारम्भ में आकर मूत्र को बन्द कर देता है। दोनों में भी कुछ देर के पश्चात् मूत्र का प्रवाह फिर से जारी होता है।

(३) *कृच्छ्रमेहन* (Dysuria)— इसमें मूत्र त्यागने की कठिनाई होती है। इसके साथ प्रायः पीड़ा होती है, परन्तु यह लक्षण पीड़ा के बिना भी हो सकता है। कृच्छ्रमेहन में मूत्रण की कृच्छ्रता (Difficulty) मूत्रण क्रिया प्रारम्भ करने पर मूत्र जल्दी प्रवाहित न होने में या मूत्र प्रवाह को जारी रखने के लिए कुन्थन (Straining) की आवश्यकता में प्रकट होती है। यह लक्षण बस्ति की निर्बलता (Atony) से, बस्ति में रक्त के जम जाने से, अष्ठीला की अभिवृद्धि, प्रशोथ या यक्ष्मा से, मूत्रमार्ग के उपसंकोच या कर्कट से हुआ करता है।

(४) *पीड़ा* (Pain)—मूत्रण संस्थान के विविध अंगों में पीड़ा मालूम हो सकती हैं। वृक्कशोथ, वृक्कालिन्दशोथ (Pyelonephritis) वृक्काश्मरी इनमें कटिप्रदेश में मीठी मीठी पीड़ा होती है। जब अश्मरी, जमा हुआ रक्त या पूय गवीनी में अटक जाता है तब तीव्र पीड़ा होती है जिसको शूल कहते हैं। यह शूल नीचे वृषण या भग की ओर संवाहित होता है। कभी कभी यह शूल चूतड़ की ओर भी जाता है। मूत्राशय शोथ में नाभि के नीचे पीडा होती है तथा मूत्रमार्गशोथ में मूत्र अधिक अम्ल होने पर तथा मूत्र में सिकता (Gravel) होने पर पीडा होती है।

मूत्रण और पीडा का सम्बन्ध—बस्ति शोथ में मूत्रण के पहले पीड़ा रहती है जो बस्ति खाली होने पर बन्द होती है। बस्तिगत अश्मरी में तथा अष्ठीलाशोथ में जब तक बस्ति मूत्र पूर्ण रहती है तब तक प्रायः पीडा नहीं होती परन्तु बस्ति खाली होने पर अर्थात् मूत्रण समाप्त होने पर पीडा होने लगती है। यह पीड़ा उदर के नीचे के हिस्से में या पायूपस्थ प्रदेश में (Perineum) या पुरुषों में शिस्न या शिस्नमणि में प्रतीत होती है। मूत्राशय का त्रिकोणीय भाग (Trigone) अधिक सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होता है। जब इस भाग में अश्मरी, यक्ष्मा, कर्कट या अष्ठीलाशोथ से प्रशोथ या प्रकोप उत्पन्न होता है तब मूत्राशय खाली होने पर उसके संकोच के दबाव से उसमें पीडा होने लगती हैं जो उपर्युक्त

स्वरूप में प्रकट होती है। प्रत्यक्ष मूत्रण के समय की पीड़ा मूत्र अत्यधिक अम्ल रहने पर या उसमें सिकता होने पर या मूत्रमार्ग शोथ में हुआ करती है।

(५) *मूत्रराशि की न्यूनाधिकता*—मूत्र के अनेक रोगों में मूत्र की राशि स्वाभाविक से अधिक (बहुमूत्रता) या कम (अल्पमूत्रता) होती है। क्वचित् मूत्र का बनना पूर्णतया बन्द होता है या मूत्रविबन्ध हो जाता है।

(६) *मूत्र का वैवर्ण्य*– मूत्र के अनेक रोगों में मूत्र का स्वाभाविक हलका, पीला, या हरियाली (Grass green) रंग बदलकर पीला, हरा, लाल, काला, नीला इत्यादि हो जाता है।

(७) *मूत्र संघटन में परिवर्तन*—उपर्युक्त सब लक्षण ऐसे हैं कि जो मूत्र विकृति की ओर और तद्वारा शरीर विकृति की ओर रोगी का ध्यान आकर्षित करते हैं क्योंकि रोगी उनको स्वयं अनुभव करता है परन्तु ये लक्षण ऐसे नहीं हैं कि सब मूत्र रोगों में पाये जा सकते हैं। संघटन परिवर्तन ही ऐसा लक्षण है कि जिसके बिना मूत्र का कोई रोग हो नहीं हो सकता। अतः मूत्र रोग का यह सबसे महत्व का लक्षण है। संघटक के अनुसार इस लक्षण के अनेक भेद होते हैं—जैसे शुक्लिमेह, शर्करामेह, शोणितमेह इत्यादि। इस लक्षण में दोष यह है कि कुछ अस्वाभाविक द्रव्य मूत्र द्वारा उत्सर्गित होते हुए भी दीर्घकाल तक रोगी का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकते और रोग जब काफी बढ़ जाता है तब उपर्युक्त लक्षणों में से एक या अनेक लक्षण उत्पन्न होने से या सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होने से रोगी का ध्यान रोग की ओर आकर्षित होता है। इस दृष्टि से शुक्लिमेह और मधुमेह निर्देश करने योग्य है। इन मूत्र विकारों का प्रारम्भ में पता नहीं लगता। आगे चलकर मधुमेह में बहुमूत्रता से और शुक्लिमेह में सार्वदैहिक लक्षणों से रोग की ओर ध्यान आकर्षित होता है।

सार्वदैहिक लाक्षणिकी—मूत्र के रोगों में जैसे मूत्र के और मूत्रण संस्थान के लक्षण होते हैं वैसे सार्वदैहिक लक्षण भी हुआ करते हैं। ये लक्षण वृक्क विकारों में अधिक दिखाई देते हैं। परन्तु वृक्क से

सम्बन्ध न रखनेवाले मधुमेह जैसे विकारों में भी ये पाये जाते हैं। इन सार्वदैहिक लक्षणों के दो प्रधान विभाग हुआ करते हैं। प्रथम विभाग जलमयता (Hydreamia) का और दूसरा अम्लोत्कर्ष (Acidosis) या अजीवातिमयता (Azotaemia) का होता है। प्रथम विभाग का प्रधान लक्षण सर्वांगशोफ (Oedema) और दूसरे का प्रधान लक्षण मूत्रविषमयता (Uraemia) होता है।

(१) *सर्वांगशोफ* (Generalized oedema)– वृक्कविकृति की एक अवस्था का यह विशेष लक्षण है। इसमें एक समय पर सम्पूर्ण शरीर में विशेष करके मृदु तथा शिथिल भागों में (Soft and loose tissue) द्रव इकट्ठा होता है। इसका प्रधान स्थान आँखों के चारों ओर का मृदु स्थान होता है। इसमें द्रव इकट्ठा होने से आँखों के पलक फूले हुए (Puffy) दिखाई देते हैं। यह स्थान सूजन उत्पन्न करनेवाले अन्य विकारों में नहीं फुलता। वृक्कविकार जन्य सूजन में गुरुत्वाकर्षण उतना महत्त्व का नहीं होता जितना हृदयविकारजन्य सूजन में होता है। फिर भी इसमें शाखाएँ, चूतड़, गुह्यांग इत्यादि अंगों में सूजन उत्पन्न होती है। धातुओं के समान शरीरगत सब अवकाशों (Cavities) में भी इसमें द्रव इकट्ठा होता है। हृदय फुफ्फुस आदि के अवकाशों में द्रव इकट्ठा होता है, परन्तु प्रायः सबमें एक समय न होकर एकाध में ही पाया जाता है।

वृक्कशोथ में जो सूजन उत्पन्न होती है वह निम्न चार कारणों से होती है

(१) केशिका प्रवेश्यतावृद्धि (Increased capillary permeability)– केशिका प्राचीर पर विष का असर होने से यह प्रवेश्यता बढ़ती है। इसके अतिरिक्त प्राणवायु की कमी भी (Anoxaemia) इसमें सहायता करती है। तीव्र वृक्कशोथ में सर्वाङ्ग सूजन उत्पन्न होने का यही प्रधान कारण होता है।

(२) क्षारातु विधारण (Sodium retention)—वृक्क विकार की सूजन का यह गौण या सहायक कारण होता है। इसमें धातुओं के भीतर क्षारातु का विधारण होता है और उससे धातुगत आसृतीय पीडन

(Osmotic pressure) बढ़ जाने से जल वहीं इकट्ठा होने लगता है। इसी कारण से रोगी के आहार में लवण की मात्रा घटायी जाती है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लवण में शोथवर्धक क्षारातु (Na) होता है, न कि नीरेय (Chlorides) जैसे कि लोग समझते हैं।

(३) आसृतीय पीडन की अल्पता—आसृतीय पीडन रक्तगत प्रोभूजिनों की राशि पर मुख्यतया निर्भर होता है। स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में प्रोभूजिनों की राशि ५.५–७.५% होती है। जब यह राशि ४.५ प्रतिशत तक कम होती है तब केशिका प्राचीर से उनका निकलना प्रारम्भ होकर सूजन होने लगती है और इससे अधिक कम होने पर सूजन अधिक होती है। रक्तगत प्रोभूजिनों में शुक्लि और आवर्तुलि (Globulin) प्रधान हैं। आसृतीय पीडनकी दृष्टि से शुक्लि आवर्तुलि की अपेक्षा चौगुनी सक्रिय होती है। परन्तु उसका व्यूहाणु (Molecule) आवर्तुलि की अपेक्षा छोटा होने के कारण वृक्कों से उसका उत्सर्ग प्रथम तथा अधिक मात्रा में होने लगता है। परिणाम यह होता है कि रक्त में उसकी मात्रा अधिक घटकर उसके साथ आसृतीय पीडन भी घट जाता है और धातुओं में गया हुआ द्रव वापिस न आकर सूजन होती है। स्वस्थ व्यक्ति में शुक्लि की मात्रा ३.५ प्रतिशत होती है और सूजन उत्पन्न होने के लिए उसका २.५–५.५ प्रतिशत तक घटना आवश्यक होता है। वृक्कशोथ की अनुतीव्र अवस्था में (IIstage) तथा अपवृक्कता में (Nephrosis) सूजन उत्पन्न करने में यह कारण प्रधान होता है।

(४) केशिकागत द्रवनिपीड की अधिकता (Increased hydrostatic pressure in the capillary)—वृक्कशोथ में आगे चलकर हृदय की अभिवृद्धि और रक्तनिपीड की वृद्धि, होती है। अन्त में हृदय दुर्बल होकर उसका अतिपात (Failure) होने लगता है। इनसे केशिकाओं में द्रव का निपीड बढ़कर उसको बाहर निकलने में सहायता होती है और सूजन बढ़ती हैं। वृक्कजन्य सर्वांगसूजन में चारों कारण किस प्रकार और कितनी सहायता करते हैं इसका ठीक ठीक स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। परन्तु साधारणतया यह कहा जा सकता है कि रोग की नवीनावस्था में प्रथम दो और रोग जीर्ण होने पर दूसरे दो कारण मुख्यतया शोफोत्पादक होते हैं।

(२) अम्लोत्कर्ष (Acidosis)—यह एक शरीर की बहुत जटिल विकृति है जिसमें रक्त तथा धातुओं के भीतर अम्ल अधिक मात्रा में इकट्ठा होते हैं या जिसमें उनके क्षारों का अधिक नाश होता है। इन दोनों में अम्ल संचय ही अम्लोत्कर्ष का अधिक साधारण कारण होता है। अम्लोत्कर्ष अनेक विकारों का एक निश्चित उपद्रव हुआ करता है जिनमें निम्न महत्त्व के हैं। (१) मधुमेह (२) वृक्कविकार (३) प्रवाहिका (४) अनुबद्ध वमन (५) अनशन (६) रक्तनाश। अम्लोत्कर्ष दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम प्रकार में शरीर में शौक्तिक (Ketonic) अम्ल अधिक मात्रा में बनकर इकट्ठा होते हैं। ये अम्ल शरीर के संचित क्षारों के द्वारा निरम्ल करके उत्सर्गित होते हैं जिससे रक्त तथा धातुओं में क्षार की कमी हो जाती हैं। इस प्रकार का अम्लोत्कर्ष मधुमेह तथा अनशन में हुआ करता है। अन्य प्रकार के अम्लोत्कर्ष में यह प्रकार सहायक होता है। दूसरे प्रकार में स्वाभाविक, अशौक्तिक (Non ketogenic) समवर्तजन्य (Matabolic) अम्लों का ठीक ठीक उत्सर्ग नहीं हो पाता। इस प्रकार का अम्लोत्कर्ष मुख्यतया वृक्कविकार में हुआ करता है। इसके अतिरिक्त यह अम्लोत्कर्ष उन सब विकारों में पाया जाता है। जिनमें अत्यधिक द्रवापहरण (Dehydration) होने से अम्लों के उत्सर्जन के लिए जल की उचित राशि उपलब्ध नहीं हो सकती। अम्लोत्कर्ष और द्रवापहरण ये दोनों एक दूसरे के कार्य-कारण हुआ करते हैं क्योंकि द्रवापहरण से रक्त में अम्ल की अधिकता हो जाती है जिसको कम करने के लिए वृक्कों के द्वारा अधिक मूत्र उत्सर्गित हुआ करता है। अम्लोत्कर्ष में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

श्वसन के लक्षण—श्वसन की कठिनाई तथा शीघ्रता, बीच बीच में श्वासकृच्छ्र के प्रावेग (Paroxysm), फुफ्फुस और स्वरयन्त्र की सूजन, खाँसी।

पाचन संस्थान के लक्षण—मितली (Nausea), वमन, अरोचक, प्रवाहिका।

सूजन
क्षारातु

[म]स्तिष्क के लक्षण—सिर दर्द, अनिद्रा, भ्रम, तन्द्रा, ग्लानि, [उ]न्माद इत्यादि।

नेत्र के *लक्षण*—नेत्र के दृष्टिपटल (Retina) में सूजन, रक्तस्राव इत्यादि विकार होकर पूर्ण या आंशिक अन्धता उत्पन्न होती है। कभी कभी नेत्र में कुछ भी खराबी न होते हुए दृष्टि नष्ट होती हैं। उसको तमस्विता (Amaurosis) कहते हैं। तमस्विता आपसे आप ठीक हो जाती है। प्रायः तमस्विता मस्तिष्क कार्य विकृति के कारण होती है।

(३) हृदय और रक्तवह संस्थान के लक्षण—वृक्क विकार में ये लक्षण प्रायः हुआ करते हैं। इसमें हृदय की परमपुष्टि (Hyper trophy) होती है। धमनियाँ जरठ (sclerotic) होती है। रक्त का दबाव बढ़ता है। आगे चलकर हृदय अभिस्तीर्ण (Dilated) होकर कमजोर बनता है और हृदय के असंतुलन (Decompensation) के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(४) त्वचा के लक्षण—मत्र के अनेक विकारों में त्वचा के लक्षण पाये जाते हैं। जैसे, मधुमेह में प्रमेह पिडकाएँ, पित्तमेह में नेत्र और त्वचा का पीलापन, कांस्य मधुमेह में त्वचा का रागकाभरण (Pigmentation) प्रांगवमेह और क्षारासित मेह में त्वचा का कालापन, वृक्कशोथ में त्वचा में शुष्कता, कण्डु, पाण्डुरता, छाजन (Eczema), रुधिरवर्णता (Erythema), शीतपित्त इत्यादि।



मूत्र रोगों का निदान

(१) लाक्षणिक परीक्षण–इसमें मूत्रण के, मूत्रण संस्थानगत तथा सार्वदैहिक अन्य लक्षणों का विचार करना चाहिए।

(२) शारीरिक परीक्षण (Physical examination)–

(अ) सार्वदैहिक—इसमें त्वचा की सूजन, पाण्डुरता, रूक्षता, रक्तस्राव, छाजन इत्यादि के लिए देखना चाहिए। रक्तवह संस्थान में हृदय की अभिवृद्धि या अभिस्तीर्णता, धमनियों की जरठता, रक्तभार की अधिकता (Highblood pressure) इत्यादि को देखना चाहिए। नेत्र में दृष्टि-पटल (Retina), का परीक्षण, सूजन (Papilloedema), रक्तस्राव, रक्तवाहिनियों की स्थिति (जैसे जरठता कुटिलता Tortuosity), निर्यास (Exudates) इत्यादि को देखना चाहिए। उदर और कटि प्रदेश में वृक्क का परीक्षण उसकी अभिवृद्धि या अर्बुद के लिए, गवीनी का परीक्षण उसकी स्थूलता (Thickening) या मार्गावरोधजन्य मूत्राध्मान (Distention with urine) के लिए, बस्ति प्रदेश का परीक्षण मूत्राशय-गत अश्मरी या मूत्राध्मान के लिए और शिश्न का परीक्षण मूत्रद्वार की सूची मुखता (Pinhole meatus), निरुद्धप्रकश, तथा उसकी स्थूलता के लिए और वृषण को यक्ष्मा या अर्बुद के कारण उत्पन्न हुई अभिवृद्धि या कठिनता के लिए देखना चाहिए।

(आ) मूत्रण संस्थान और समीपवर्ती अंगों का अभ्यन्तरीय परीक्षण—इसमें सलाई, स्वनित्र (Sound) बस्तिवीक्षणयन्त्र, गवीनी शलाकाकरण (Catheterization of ureters), क्ष–रश्मि चित्रण इत्यादि विविध यन्त्रों और उपकरणों द्वारा वृक्कालिन्द, गवीनी, बस्ति इत्यादि का परीक्षण करना चाहिए। इससे अश्मरी, अर्बुद, मूत्रमार्गोपसंकोच गवीनी का उपसंकोच (Stricture) इत्यादि का पता लग जाता है। इसके अतिरिक्त गुद और योनि द्वारा गर्भाशय, स्थूलान्त्र, अष्ठीला. उण्डुकपुच्छ इत्यादि अंगों का भी परीक्षण अर्बुद, :अभिवृद्धि, स्थानापवृत्ति इत्यादि के लिए करना चाहिए।

(३) **प्रायोगिक परीक्षण** (Laboratory Examinations)–

(अ) *मूत्र परीक्षण*—सब रोगों के लिए जो प्रायोगिक परीक्षाएँ होती हैं उनमें मूत्र परीक्षा सर्वप्रथम परिपाटी के तौर पर की जाती है। मूत्र रोगों के निदान का तो मूत्र परीक्षण सर्वप्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसमें मूत्र की भौतिक, रसायनिक तथा सूक्ष्म तीनों परीक्षाएँ करनी चाहिएँ। भौतिक में राशि, गुरुता और वर्ण, रसायनिक में शुक्लिशर्करा तथा जिसका सन्देह हो वह द्रव्य; सूक्ष्म में स्फटिक, सेन्द्रिय द्रव्य और जीवाणु देखने चाहिएँ और यदि आवश्यक हो तो मूत्रसंवर्ध (Culture) या प्राणीरोपण (Animal inoculation) को काम में लाना चाहिए।

(आ) *वृक्ककार्य क्षमता परीक्षण* वृक्क की विकृति मूत्र रोगों का एक प्रधान कारण होता है। अतः अनेक मूत्र रोगों में इसको देखने की आवश्यकता होती है। इसका विवरण पीछे (पृष्ठ १६) हो चुका है। इस परीक्षण से वृक्ककार्यहानि का पता लगता है और यदि हानि हुई हो तो बारबार परीक्षण करने से उसकी प्रगति का ज्ञान होता है। कार्य हानि का ज्ञान मूत्र परीक्षण से भी बहुत कुछ हो जाता है। मूत्र परीक्षण संक्षिप्त और विस्तृत दो प्रकार का होता है। विस्तृत परीक्षण मूत्ररोग निदान के लिए और संक्षिप्त मूत्ररोग निदान के अतिरिक्त वृक्ककार्य क्षमता का अनुभव करने के लिए बहुत उपयोगी होता है। संक्षिप्त में मूत्र की राशि, गुरुता, शुक्लि और शर्करा इनका परीक्षण किया जाता है। यदि गुरुता, प्रतिक्रिया, राशि ठीक हो और शुक्लि शर्करा अनुपस्थित रहे तो समझ सकते हैं कि वृक्क अपना कार्य ठीक कर रहा है। यदि इसमें कुछ खराबी मालूम हो तो विशिष्ट कसौटियों से कार्यक्षमता का ठीक परीक्षण किया जाय।

वृक्कविकृति का प्रारम्भ मूत्र संकेन्द्रण हानि से होता है। अतः वृक्क-कार्यक्षमता की जाँच प्रथम संकेन्द्रण कसौटी से करनी चाहिए। जब तक संकेन्द्रण कसौटी से मूत्र की गुरुता निम्न अंश पर स्थिर हुई है ऐसा (Low fixed gravity) सिद्ध नहीं होता:तब तक अन्य कसौटियों को काम में लाने की कोई आवश्यकता नहीं होती,क्योंकि मिहनिष्कासन की गति मन्द होने से पहले मूत्र संकेन्द्रण की शक्ति क्षीण हो जाती है। इसके लिए धमनीजरठता अन्य वृक्कविकार (Hypertensive renal disease) तथा मारक

धमनी निपीड़ (Malignant blood pressure) अपवाद होते हैं। इनमें कई बार मिहनिष्काशन गति बहुत कुछ मन्द होने पर भी मूत्र संकेन्द्रण शक्ति अक्षुण्ण मिलती है।

जब स्थिर गुरुता से वृक्कस्य संचित शक्ति के नाश का पता लग जाता तब संकेन्द्रण कसौटी से अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए उसके पश्चात् मूत्रविषमयता की स्थिति उत्पन्न होने के समय तक प्रथम मिहनिष्काशन कसौटी और उसमें खराबी मालूम होने पर द. शु. न्यु. (p. s. p.) कसौटी काम में लानी चाहिए।

जब वृक्ककार्य हानि बहुत अधिक हो जाती है तब उसका परिणाम रक्त पर होने लगता है। अतः वृक्कातिपात (Renal failure) की अन्तिम अवस्था में अर्थात मूत्रविषमयता में (Ureamia) वृक्कसम्बन्धी कसौटियों की अपेक्षा रक्त के जीवरसायनिक परीक्षण से अधिक जानकारी प्राप्त होती हैं। इनमें अप्रोभूजिन भूयाति और प्रां. द्विजारेय धारिता (CO_2 Combining power) विशेष महत्त्व के हैं।

वृक्ककार्यक्षमता कसौटियां

स्वस्थ या समतोलन की स्थिति	असमतोलन की स्थिति	मूत्रविषमयता की स्थिति
१—मूत्र का दिनरात्रानुपात		
	स्थिर गुरुता ⊢··· मिहनिष्काशन ⊣	
२—संकेन्द्रण कसौटियां		⊢···अप्रोभूजिन भूयाति ⊣
३—अवमिश्रण कसौटियां	⊢द. शु. न्यु. उत्सर्जन ⊣	⊢प्रां. द्वि. धारिताशक्ति ⊣

(इ) *रक्त का जीवरसायनिक परीक्षण* (Biochemical examination)—रक्त और मूत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मूत्र के अनेक रोगों में रक्त के स्वाभाविक संघटन में काफी परिवर्तन होता है। इसका ज्ञान केवल मूत्र रोगों के निदान में ही नहीं, साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा में बहुत उपयोगी होता। रक्त में अनेक निरिन्द्रिय (Inorganic)

तथा सेन्द्रिय (Organic) द्रव्य विद्यमान् रहते हैं जिनकी मात्रा अनेक रोगों में न्यूनाधिक हुआ करती है। यहाँ पर नीचे केवल उन द्रव्यों का विवरण किया जाता है जिनका ज्ञान मूत्र रोगों के निदानादि में उपयोगी होता है।

(१) अप्रोभूजिन भूयाति (Non Protein Nitrogen)—मिह, मिहिक अम्ल क्रव्यियी (Creatinine), तिक्तादि इत्यादि प्रोभूजिनेतर द्रव्यों में होनेवाला भूयाति इसमें समाविष्ट किया जाता है। ये मिहादि द्रव्य समवर्त (Metabolism) में उत्पन्न होकर रक्त में आते हैं। इनमें कुछ द्रव्य अंशतः उपयोगी होते हैं और कुछ पूर्णतः मल रूप होते हैं। यद्यपि उत्सर्जन होनेवाली इनकी राशि अन्न और व्यायाम के अनुसार समय समय पर बराबर बदलती रहती है तथापि वृक्क के कार्यानुवर्तित्व (Adaptability) के कारण भोजनोत्तर कुछ काल को छोड़कर रक्त में इसकी मात्रा सदैव स्थिर रहती है। वृक्क विकृत होने से जब इसका उत्सर्जन आवश्यकतानुसार नहीं हो पाता तब रक्त में इसका संचय होने लगता है। इस अवस्था को 'भूयातिविधारण' (Nitrogen retention) कहते हैं। इसकी मात्रा बढ़ने के अन्य कोई कारण यदि विद्यमान् न हो तो रक्तस्थ मात्रा वृक्क के उत्सर्जन असामर्थ्य की निर्देशक (Indicator) समझी जा सकती है।

स्वस्थावस्था में अप्रोभूजिन भूयाति की मात्रा २५--३५ सहस्रिधान्य (१०० घ० शि० मा० रक्त में) होती है। स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य में यह मात्रा भूयात्य (Nitrogenous) अन्न, समवर्त क्रियाशीलता (Metabolic activity) और वृक्क का उत्सर्जन सामर्थ्य इन पर निर्भर होती है। इसके अतिरिक्त सर्वांगशोथ हो तो उसका भी विचार करना पड़ता है, क्योंकि शोथस्थान में मिह का संचय हुआ करता है।

रक्त में अप्रोभूजिन भूयाति का ३५ सहस्रिधान्य (Mg) से अधिक संचय होना वृक्क की अकार्यक्षमता का सूचक होता है और भूयात्य अन्न कम सेवन करने पर भी उसकी मात्रा का धीरे धीरे बढ़ना वृक्क की अकार्यक्षमता की प्रगति का सूचक होता है। वृक्क की खराबी जितनी अधिक

उतनी यह मात्रा अधिक रहती है। रक्त में जब इसकी मात्रा १०० सहस्त्रिधान्य से अधिक होती है तब वह मूत्रविषमयता की निदेशक होती है और मूत्रविषमय सन्यास (Uremic coma) के समय यह मात्रा ४०० सहस्त्रिधान्य से भी अधिक होती है। वृक्क की अकार्यक्षमता की जानकारी के लिए यद्यपि अप्रोभूजिन भूयाति का ही प्रायः आगणन (Estimation) हुआ करता है तथापि विशेष अवस्थाओं में विभिन्न द्रव्यों का भी आगणन किया जाता है।

(२) मिह भूयाति (Urea Nitrogen)—स्वस्थावस्था में इसकी मात्रा अप्रोभूजिन भूयाति से आधी अर्थात् १०-१५ सहस्त्रिधान्य (१०० घ० शि० मा० रक्त में) होती है, परन्तु मूत्रविषमयता या अजीवातिमयता (Azotemia) में इसकी मात्रा १५ सहस्त्रिधान्य से बहुत अधिक (१७५-३०० सहस्त्रिधान्य) होकर उसका अनुपात आधे से अधिक हो जाता है। अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ में इसकी मात्रा ३०-६० सहस्त्रिधान्य या इससे भी कुछ अधिक हो जाती है। इसका उपयोग याकृत् संन्यास (Hepatic coma) को वृक्क्य संन्यास से पृथक् करने में होता है, क्योंकि वृक्क्य में अप्रोभूजिन तथा मिह भूयाति दोनों भी बढ़ते हैं परन्तु याकृत् संन्यास में मिह भूयाति न बढ़कर केवल अप्रोभूजिन भूयाति बढ़ता है। आगे रक्तपैत्तव भी देखिये।

(३) मिहिक अम्ल (Uric acid)—रक्त में स्वस्थावस्था में इसकी मात्रा २-४ सहस्त्रिधान्य (१०० घ० शि० मा० रक्त में) होता है। यह द्रव्य अल्पविलेय (Poorly soluble) होने के कारण वृक्ककार्य हानि में अन्य द्रव्यों से पहले बढ़ने लगता है। अर्थात् इस प्रकार का अनुमान करने से पहले वातरक्त (Gout) या मिहिक अम्ल बढ़नेवाले अन्य कारणों का निराकरण करना जरूरी है। वातरक्त तथा उस प्रकार के सन्धिशोथों में वृक्कविकृति न होते हुए मिहिक अम्ल की मात्रा रक्त में ५-१० सहस्त्रिधान्य तक बढ़ जाती है। वृक्कशोथ में यह मात्रा १०-३० सहस्त्रिधान्य तक बढ़ जाती है।

(४) क्रव्यियी (Creatinine)—स्वस्थावस्था में रक्त में इसकी मात्रा १-२ सहस्त्रिधान्य (mgm) होती है। भूयात्य द्रव्यों में क्रव्यियी

वृक्कों द्वारा सबसे अधिक आसानी से उत्सर्गित होनेवाला द्रव्य है । इसलिए रक्त में उसका विधारण अर्थात् अधिक मात्रा में मिलना वृक्क की चिन्ताजनक अकार्यक्षमता का निदर्शक होता है । रक्त में इसकी मात्रा का ४ सहस्रिधान्य (१०० घ. शि. मा. रक्त में) तक बढ़ना तीव्र वृक्क विकृति का और ५ से अधिक बढ़ना असाध्यता का सूचक होता है । निर्मांस भोजन पर रक्तस्थ क्रिथयीं केवल आन्तरजात (Endogenous) होती है । स्वस्थावस्था में वृक्क रक्त की तुलना में मूत्र में क्रिथयीं का संकेन्द्रण ७६-१०० गुना, मिहका ६०-८० गुना और मिहिक अम्लका १५-२० गुना (पृष्ठ११) बढ़ाता है । इसका अर्थ यह है कि उत्सर्जन के लिए मिहिक अम्ल सबसे कठिन, क्रिथयीं सबसे सुकर और मिह मध्यस्थित होता है । इस लिए वृक्कविकार में जब उसकी कार्य हानि होने लगती है तब उसका परिणाम प्रथम मिहिक अम्ल के उत्सर्जन पर, अनन्तर मिह (urea) के उत्सर्जन पर और अन्त में क्रिथयीं के उत्सर्जन पर हुआ करता है । इसका अर्थ यह होता है कि वृक्ककार्यहानि का प्रारम्भ होने पर सर्व प्रथम मिहिक अम्ल का उत्सर्जन घटने लगता है और रक्त में उसकी मात्रावृद्धि सबसे अधिक होती है । उसके पश्चात् मिह का उत्सर्जन घटता है और रक्त में उसकी मात्रा बढ़ती है, परन्तु उसकी प्रतिशत वृद्धि मिहिक से कम रहता है । अन्त में क्रिथयीं का उत्सर्जन घटता है और रक्त में उसकी मात्रा बढ़ती है परन्तु उसकी वृद्धि सबसे कम रहती है । इस प्रकार का क्रम सर्वसाधारण वृक्कशोथ में दिखाई देता है, परन्तु जब पारद या अन्य विष के कारण वृक्कशोथ होता है तब इस प्रकार का क्रम नहीं पाया जाता, तीनों द्रव्य समान रूपेण बढ़ते हैं या विधारित होते हैं ।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आन्तरजात होने से तथा उत्सर्जन सुकर रहने से रक्तस्थ क्रिथयीं की मात्रा वृक्क की कार्यहानि को अधिक निस्सन्दिग्धता से (safely) सूचित करती है । इस प्रकार की स्थिति होते हुए भी इसकी मात्रा भूयाति विधारण में रोग के उत्तर काल में बढ़ने के कारण रोग निदानार्थ इसका आगणन प्रारम्भ में नहीं किया जाता, परन्तु उत्तर काल में साध्यासाध्यता की दृष्टि से होता है क्योंकि इसकी मात्रा ५ सहस्रिधान्य से अधिक होने पर अल्पकाल में रोगी का मृत्यु होता है ।

(५) रक्त प्रोभूजिन (Blood-proteins)—मूत्र का कोई ऐसा रोग नहीं है जिसमें इनकी मात्रा बढ़ती है। विभेदाभ अपवृक्कता (Lipoid nephrosis), मण्डाभ (Amyloid) अपवृक्कता तथा अन्तःसारीय वृक्कशोथ (Parenchymatous) इनमें रक्तस्थ प्रोभूजिनों की मात्रा घटती है। इसका विवरण पीछे ३५ पृष्ठ पर शोथ की संप्राति में किया गया है।

संक्षेप में मूत्रविषमयता के निदान तथा साध्यासाध्यता में रक्तस्थ अप्रोभूजिन भूयाति (N. P. N.) का आगणन एक बहुत ही उपयोगी साधन है। भूयातिविधारण मूत्रविषमय स्थिति का नित्य सहचर है। इसलिए भूयातिविधारण न होने पर मूत्रविषमयता का निदान गलत होता है। परन्तु इसके विपरीत कथन सत्य नहीं होता। क्योंकि कई बार मूत्रविषमयता के कोई लक्षण या चिन्ह न होते हुए भूयाति विधारण पाया जाता है। वैसे ही भूयाति की मात्रा का लक्षणों की तीव्रातीव्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु यदि किसी रोगी में भूयाति विधारण का क्रमशः अवलोकन किया जाय तो मात्रावृद्धि या मात्राह्रास से रोग की प्रगति या परागति का करीब करीब ठीक अनुमान किया जा सकता है। जिन रोगों में भूयाति विधारण धीरे धीरे हुआ करता है उनमें अप्रोभूजिन भूयाति की मात्रा मूत्रविषमयता उत्पन्न होने से पूर्व बहुत अधिक अर्थात् २०० सहस्रिधान्य या इससे भी अधिक हो जाती है। इसके विपरीत वृक्ककार्य हानि बहुत शीघ्रता से करनेवाले तीव्र रोगों में भूयाति विधारण बहुत अधिक न होते हुए भी मूत्रविषमयता उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकता है।

(६) क्षार संचिति आगणन (Estimation of alkali reserve)—रक्त की क्षार संचिति रक्तरस गत द्व्यंगारीय (Bicarbonate) की मात्रा पर निर्भर होती है। जिन रोगों में शरीर समवर्तजन्य अम्लों का ठीक उत्सर्ग नहीं होता या जिनमें नये नये अम्ल उत्पन्न होते हैं उनमें यह क्षार संचिति घट जाती है। इसी को अम्लोत्कर्ष (Acidosis) कहते हैं।

इस प्रकार की स्थिति वृक्कशोथ में तथा मधुमेह में हुआ करती है। इससे संन्यास (Coma) उत्पन्न होता है। क्षार संचिति का आगणन रक्त रस के साथ प्रां. द्विजारेय (CO^2) की मिलने की शक्ति (Combining Capacity) से किया जाता है। स्वस्थावस्था में यह शक्ति प्रति

१०० घ. शि. मा. (सी. सी.) रक्त के पीछे ५५-७५ परिमा (Volumes) होती है। जब यह शक्ति ५५ और ४० के बीच में होती है तब सौम्य अम्लोत्कर्ष की सूचक रहती है जिसमें कोई प्रकट लक्षण नहीं होते। जब ४० और ३१ के बीच में रहती है तब मध्यम अम्लोत्कर्ष की सूचक होती जिसमें लक्षण प्रकट होते हैं। और जब यह शक्ति २५ के आस पास पहुंचती है तब तीव्र अम्लोत्कर्ष की सूचक रहती है और संन्यास के लक्षण भी गम्भीर होते हैं। इस प्रकार यद्यपि सामान्य नियम होता है तथापि अम्लोत्कर्ष उत्पन्न होने की गति के अनुसार प्रां० द्विजारेय धारण शक्ति और लक्षणों में कुछ विसंगति दिखाई देती है। मधुमेह जैसे विकार में जब शीघ्रता से शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) होता है तब प्रां० द्विजारेय धारण शक्ति बहुत न घटने पर भी संन्यास तथा अन्य चिन्ताजनक लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत वृक्क विकार में जब धीरे धीरे अम्लोत्कर्ष हुआ करता है तब यह शक्ति बहुत घटने पर भी लक्षण बहुत कम प्रकट होते हैं।

इस आगणन का उपयोग संन्यास के सापेक्षनिदान में भी होता है। जैसे क्षारोत्कर्ष संन्यास में प्रां० द्वि० धारण शक्ति स्वाभाविक से अधिक (७५-८५) होती है और यकृत् संन्यास में (Hepatic coma) स्वाभाविक से बहुत कम नहीं होती।

(७) रक्त शर्करा (Blood sugar)—रक्त में शर्करा की मात्रा अनशन के समय ८०-१२० सहस्रिधान्य (१०० घ० शि० मा० रक्त में) और औसत १०० सहस्रिधान्य होती है। अनशन के समय सिरा और धमनी के रक्त शर्करा की मात्रा में कोई अन्तर नहीं होता परन्तु भोजन के उपरान्त अन्तर रहता है। रक्त में शर्करा अधिक हो जाने पर मूत्र में उसका उत्सर्ग होने लगता है। जिस मात्रा पर वृक्कों द्वारा उसका उत्सर्ग मूत्र में होकर शर्करामेह उत्पन्न होता है उसको शर्करा वृक्कदेहली (Renal threshold) कहते हैं। शर्करा की वृक्क देहली १६०-१८० सहस्रिधान्य होती है। देहली मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में और एकही व्यक्ति में समय समय पर कुछ भिन्न भिन्न हुआ करती है। आयुर्वृद्धि के साथ, मधुमेह में तथा मधुनिषूदनि (Insulin) का निरन्तर उपयोग करने से शर्करा की वृक्क देहली ऊँची हो जाती है। प्रातःकाल में जलपान करने से पहले रक्त में

शर्करा की मात्रा जब १२० सहस्रिधान्य से अधिक पायी जाती है तब उसको सौम्य परममधुमयता, जब ३०० से अधिक होती है तब उसको गम्भीर परममधुमयता (Hyperglycemia) कहते हैं। मधुमेह परम-मधुमयता उत्पन्न करनेवाला मूत्र का रोग है। इसमें रक्त में शर्करा की जितनी अधिकता पायी जाती है उतनी दूसरे किसी भी शर्करामेह में नहीं पायी जाती है। कुछ मधुमेहियों में यह राशि २००० सहस्रिधान्य तक (Mgms) पायी गयी है। मधुमेही में भोजन के उपरान्त सिरा तथा धमनी की रक्त शर्करा में अन्तर नहीं होता। रक्तगत शर्करा का आगणन परम मधुमयता के साथ तथा उसके बिना होनेवाले शर्करामेहों में पार्थक्य [आगे शर्करामेह देखो] करने के लिए विशेष करके मधुमेह और वृक्क्य शर्करामेह (Renal glycosuria) में अन्तर करने के लिए होता है।

(८) रक्तपैत्तव (Blood--cholesterol)—रक्त में स्नेह (Fat) अनेक स्वरूपों में पाया जाता है और इसकी अधिकता की स्थिति को विमेदमयता (Lipaemia) कहते हैं। स्नेह के इन स्वरूपों में पैत्तव (Cholesterol) विशेष महत्व का है। यह द्रव्य आन्तरजात (Endogenous) और बाह्यजात (आहारजात Exogenous) दोनों प्रकार का होता है। रक्त में इसकी प्राकृत मात्रा १५०-२०० सहस्रिधान्य (१०० घ. शि. मा. रक्त में) होती है। जब इसकी मात्रा ३०० सहस्रिधान्य या इससे अधिक होती है तब परमपैत्तवमयता (Hypercholesterolemia) कहते हैं। मूत्र रोगों में मधुमेह और वृक्कशोथ इनमें यह अवस्था उत्पन्न होती है। इन दोनों में स्नेह तथा पैत्तव की मात्रा बहुत अधिक रहने के कारण रक्तरस दुधिया (Milky) दिखाई देता है। अचिकित्सित मधुमेही में रक्तगत शर्करा या अन्य द्रव्य के संकेन्द्रण की अपेक्षा रक्तस्थ पैत्तव संकेन्द्रण साध्यासाध्यता की दृष्टि से अधिक उपयोगी होता है। जिसमें पैत्तव संकेन्द्रण अधिक होता है वह रोगी अल्प संकेन्द्रण होनेवाले रोगी की अपेक्षा उपद्रवों से अधिक पीडित होकर जल्दी मरने की सम्भावना होती है। मधुमेही में इसका उपयोग चिकित्सा पर्याप्तता (Adequacy) दर्शन के लिए अन्य द्रव्यों की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है, क्योंकि रक्तपैत्तव संकेन्द्रण चिकित्सा प्रारम्भ करने पर भी कुछ

शर्करा सहिष्णुता की सारणी

मनुष्य	शर्करासेवनपूर्व	½ घं० के पश्चात्	१ घंटे के पश्चात्	१½ के पश्चात्	२ के पश्चात्
स्वस्थ	१००	१८०	१३०	११०	१००
सूचक मधुमेह	११०	१५०	२३०	१४०	१२०
सौम्य मधुमेह	१७०	१८७	१९८	१६०	१८२
तीव्र मधुमेह	२४०	२७०	२६४	३००	३१४
वृक्क्य मधुमेह	६८	१००	६४	६६	६८

वृक्ककार्यहानि की सारणी

वृक्ककार्य	द.ब्यु० शु. उत्सर्जन	अप्रो० भूयाति	मिहभूयाति	रात्रिमूत्रराशि	गुरुता
स्वस्थ	६० प्रतिशत या अधिक	३० या कम	१५ या कम	५०० घ०श०मा०	१०१८ या अधिक
अल्प विकृति	५६-४० प्रतिशत	३१--४५	१६--२७	५००--७५०	१०१६-१०१७
मध्यम ,,	३९--२५ ,,	४६--६५	२७--४४	७५० या अधिक	१०१५--या कम
अधिक ,,	२४-११ ,,	६६--६०	४५-६४	,,	,,
अत्यधिक ,,	१०-०	६१ या अधिक	६५ या अधिक	,,	,,

काल तक अन्य द्रव्यों की अपेक्षा उच्चांश पर स्थित रहता है और अन्य द्रव्य प्राकृत होनेके कुछ काल के पश्चात् प्राकृत हो जाता है।

दो वृक्क विकारों में इसकी मात्रा अधिक होती है, अपवृक्कता (Nephrosis) और अन्तः सारीय (Parenchymatous) वृक्कशोथ। इनमें अपवृक्कता में इसकी मात्रा बहुत अधिक (१२०० सहस्त्रिधान्य तक) बढ़ती है। इसलिए इसको विमेदाभ (Lipoid) अपवृक्कता भी कहते हैं। अन्तःसारीय वृक्कशोथ में पैत्तव की मात्रा अपवृक्कता से कुछ कम रहती है। परन्तु इस पर दोनों में पार्थक्य नहीं किया जा सकता। इसके लिए मिह का उपयोग करना पड़ता है। अन्तःसारीय वृक्कशोथ में रक्तस्थ मिह की मात्रा अधिक होती है, अपवृक्कता में प्रायः प्राकृत रहती है।

(९) रक्तचूर्णातु और भास्वर (Blood calcium and Phosphorus)— रक्त में चूने की मात्रा १० सहस्त्रिधान्य और अप्रांगार (Inorganic) भास्वर की मात्रा ३-५ सहस्त्रिधान्य होती है। चिरकालीन वृक्कशोथ की अन्तिम अवस्था में तथा आक्षेपयुक्त मूत्र विषमयता में रक्त में चूने की मात्रा ६ सहस्त्रिधान्य से भी कम होती है और भास्वर की मात्रा ८ सहस्त्रिधान्य से अधिक होती है। अर्थात् वृक्कविकार में चूने का कम होना और भास्वर का बढ़ना गम्भीरता सूचक होता है।

(१०) शर्करा सहिष्णुता कसौटी (Sugar tolerance test)—इसका उपयोग मधुमेह की तीव्रता या सौम्यता मालूम करने के लिए तथा वृक्कय शर्करामेह और मधुमेह में पार्थक्य करने के लिए किया जाता है। इस विधि का विवरण आगे मधुमेह में किया जायगा।

(ई) वृक्क का आचूषण जीवद्वीक्षण (Aspiration biopsy)— इसके लिए प्रथम सिरान्तर्थ वृक्कालिन्द चित्रण (Intravenons pylography) के द्वारा विकृत वृक्क का पता लगाया जाता है। उसके पश्चात् आचूषण करके विकृत वृक्क का कुछ हिस्सा निकाला जाता है और पश्चात् उसका परीक्षण किया जाता है। आचूषण के कारण इससे कुछ रक्तस्राव हुआ करता है। इसलिए जिनमें रक्तस्रावी प्रवृत्ति हो तथा मूत्रामार्गावरोध

हो उनमें इसका उपयोग न करें। इस आंशिक परीक्षण से संपूर्ण वृक्क गत विकृति का पता लग जाने के कारण अपवृक्कता (Nephrosis) या अप-वृक्क्यसंरूप (Nephrotic syndrome), मधुमेहज गुल्सक जरठता (Glomerulosclerosis) इत्यादि अनेक वृक्क विकारों के निदान में इसका बहुत उपयोग होता है । इसके अतिरिक्त यदि यह परीक्षण बार बार किया जाय तो साध्यासाध्यता और चिकित्साफल मालूम करने के लिए भी इसका उपयोग हो जाता है ।

वृक्क के रोग

ब्राइट का रोग (Bright's disease)—लण्डन के रिचर्ड ब्राइट ने १८२७ में एक रोग का विस्तृत वर्णन करके अपने सूक्ष्म अवलोकन से यह भी बताया कि यह रोग वृक्कविकृति के कारण हुआ है। आगे चलकर उसका वह अनुमान सत्य निकला, परन्तु उसके साथ साथ यह भी सिद्ध हुआ कि उसने जिसका वर्णन किया था वह रोग अनेक रोगों का मिश्रण था तथा वृक्क की अनेक प्रकार की विकृतियों का फल था। फिर भी वे सब रोग वृक्क विकृति के फल स्वरूप उत्पन्न होने के कारण व्यवहार में वृक्क विकृति के लिए ब्राइट का नाम रूढ़ हो गया। आजकल ब्राइट के रोग में वृक्क की पूयुक्त (Suppurative) विकृतियों को छोड़कर अन्य विकृतियाँ समाविष्ट की जाती हैं।

वर्गीकरण (Classification)—ब्राइट के रोग के वर्गीकरण के सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तर प्रचलित हैं। नीचे वर्गीकरण के तीन प्रकार दिये जाते हैं। तृतीय वर्ग वृक्कान्तर्गत विकृति पर (Pathological) अधिष्ठित है और प्रथम तथा द्वितीय वर्ग लाक्षणिक या नैदानिकीय (Clinical) हैं।

(अ) *एलिस का वर्गीकरण*—प्रथम प्रकार (Type I)—इसको रक्तस्रावी प्रकार कहते हैं। यह प्रकार बच्चों और जवानों में होता है। पूर्वेतिहास में गलक्षत (Sorethroat) या तुण्डिकाशोथ पाया जाता है। रोग का आक्रमण यकायक होकर उसमें शोणितमेह, सूजन और रक्तनिर्पीडवृद्धि ये लक्षण होते हैं। ८० प्रतिशत से अधिक रोगी ठीक हो जाते हैं। जो ठीक नहीं होते उनमें कुछ तुरन्त मर जाते हैं और जो बचते हैं वे जीर्ण रोग से पीड़ित रहते हैं जिसमें दीर्घकाल तक लक्षणहीन शुक्लिमेह रहता है और अन्त में रक्तनिर्पीडवृद्धि तथा वृक्ककार्यातिपात (Renal failure) होता है।

द्वितीय प्रकार (Type II) · इसको शोफयुक्त (Oedematous) प्रकार कहते हैं। इसमें रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे होता है, रोग किसी भी वय में होता है। इसमें दीर्घकालीन सर्वांगशोफ प्रधान लक्षण होता है। गलशोफ या अन्य उपसर्ग से इसकी उत्पत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ६५ प्रतिशत रोगी वर्धनशील वृक्कातिपात से मर जाते हैं। इस प्रकार में अपवृक्कता (Nephrosis) जिसको कहते हैं उसका मुख्यतया समावेश होता है।

(आ) १ जलमयवर्ग (Hydraemic type)—इसमें शरीर पर सूजन हुआ करती है। परन्तु रक्त में भूयातिविधारण नहीं होता। (Nitrogen retention)। इसमें निम्न वर्गीकरण के तीव्र तथा अनुतीव्र वृक्कशोथ एवं अपवृक्कता का समावेश होता है।

२ अजीवातिमय वर्ग (Azotaemic type)—इसमें शरीर पर सूजन नहीं होती परन्तु रक्त में भूयाति विधारण होता है। इस प्रकार में निम्न वर्गीकरण के जीर्णवृक्कशोथ तथा वाहिनीविकारज वृक्कविकार समाविष्ट होते हैं।

(इ) वैकृतिक वर्ग

(१) गुच्छकीय वृक्कशोथ (रक्तस्रावी ब्राइट का रोग)
- (क) अन्तःशल्यज (Embolic)
- (ख) प्रसृत (Diffuse)
  - (१) तीव्र (Acute)
  - (२) अनुतीव्र (Subacute)
  - (३) जीर्ण (Chronic)

(२) अपवृक्कता (अपजनन शील ब्राइट का रोग)
- (क) तीव्र (Acute)
- (ख) जीर्ण (Chronic)
  - (१) विमेदाभ (Lipoid)
  - (२) मण्डाभ (Amyloid)

(३) वाहिनीविकारज (धमनीजरठ ब्राइट का रोग)
- (क) धमनीगत (Arterial)
- (ख) धमनिका गत (Arteriolar)
  - (१) सौम्य (Benign)
  - (२) मारात्मक (Malignant)

गुत्सकीय वृक्कशोथ (Glomerulonephritis)

सामान्य विवरण—इस रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं। ये तीनों अवस्थाएँ प्रायः स्पष्ट हुआ करती हैं। परन्तु इनका संक्रमण कभी यकायक, कभी धीरे धीरे और कभी स्पष्टतया कभी अस्पष्टतया हुआ करता है। कभी यह रोग प्रथमावस्था में ही ठीक होकर आगे नहीं बढ़ता, कभी इसकी प्रथमावस्था इतनी अस्पष्ट होती है कि उस तरफ ध्यान ही नहीं आकर्षित होता और दूसरी तथा तीसरी अवस्थाएँ प्रामुख्यतया सामने आती है। कभी इसकी एकही अवस्था घटबढ के साथ दीर्घकाल तक जारी रहती है।

प्रथमावस्था—इसको तीव्र (Acute) अवस्था भी कहते हैं। इसमें मुख्यतया गुत्सक (Glomeruli) विकृत होते हैं। विकृति का स्वरूप प्रफलनशील (Proliferative) होता है और मुख्य लक्षण मूत्र मे पाये जाते हैं।

द्वितीयावस्था—इसको अनुतीव्र (Subacute) अवस्था भी कहते हैं। इसमें मूत्र नलिकाएँ (Tubules) विकृत होती हैं और विकृति का स्वरूप अपजननशील (Degenerative) होता है तथा मुख्य लक्षण सर्वांगशोफ रहता है।

तृतीयावस्था—इसको जीर्ण (Chronic) अवस्था कहते हैं। इसमें वृक्कों का अन्तराल धातु (Interstitial tissue) विकृत होता है, विकृति का स्वरूप क्षय (Atrophy) व्रणवस्तुजनन (Scarring) और तन्तूकर्ष (Fibrosis) रहता है और मुख्य लक्षण परमाततत (Hypertension) और वृक्ककार्य हानि होते हैं।

तीव्र वृक्कशोथ (Acute nephritis)

पर्याय - तीव्र विस्तृत गुत्सकवृक्कशोथ (Acute diffuse glomerulo nephritis) तीव्र रक्तस्रावी वृक्कशोथ (Acute hemorrhagic nephritis) तीव्र गुत्सकनालकीय वृक्कशोथ (Acute glomerulo tubular nephritis) प्रथम प्रकार का वृक्कशोथ (Type I nephritis).

ब्राइट रोग की पार्थक्यदर्शक सारणी

भेद स्थान	रक्तस्रावी	अपजननशील	धमनीजरठ
(१):विकृति का स्वरूप	शोथ युक्त	अपजननशील	जरठता
(२) विकृतांग	गुत्सक शोथ के कारण उनका नाश, पश्चात मूत्र नलिकाओं में अपजनन और वाहिनियों में विकृति	मूत्र नलिकाएं इनमें अपजनन, कुछ गुत्सकों का भी विनाश	रक्तवाहिनियां विशेषतया धमनिकाएं संकुचित, उनकी प्राचीर में स्नेहीय अपजनन, कुछ गुत्सकों का नाश
(३) लक्षण	यकायक आक्रमण प्रायः ठीक होता है, अन्यथा शोथ युक्त द्वितीय तथा रक्तनिपीड युक्त तृतीयावस्था में परिवर्तित होकर मूत्र विषमयता से मृत्यु	धीरे धीरे आक्रमण सर्वांग शोथ और शुक्लिमेह, रक्तनिपीड स्वाभाविक, ठीक होता है या उपसर्ग या मूत्र विषमयता से मृत्यु	धीरे धीरे आक्रमण रक्तनिपीड की अत्यधिकता, सूजन का अभाव, मृत्यु हृदयातिपात, अपसंज्ञता या मूत्रविषमयता से
(४) मूत्र के तलछट	मुख्यतया काचर निर्मोक, बहुत थोड़े अधिच्छदीय स्नेहीय रक्तनिर्मोक की अनुपस्थिति	लाल कण तथा रक्त निर्मोक उपस्थित, अधिच्छदीय तथा दानेदार निर्मोक भी विद्यमान	मुख्यतया काचर निर्मोक उपस्थित

हेतुकी (Etiology)—(१) *उपसर्ग*—इस रोग का प्रधान कारण उपसर्ग है, उपसर्गकारी जीवाणुओं में प्रधान मालागोलाणु (Streptococci) और मालागोलाणुओं में प्रधान शोणांशिक प्रकार (Hemolytic) होता है। ६० प्रतिशत रोगियों में उपसर्ग का इतिहास मिलता है और उनमें ७० प्रतिशत से अधिक गला और श्वसन संस्थान

के रोग होते हैं। जैसे, गलक्षत (Sorethroat) तुण्डिकाशोथ (Tonsillitis) मध्यकर्णशोथ (Otitis media), कनफेर (Mumps) लोहितज्वर (Scarlet fever) तन्द्रिक (Typhus) रोमान्तिका (Measles) आन्त्रिकज्वर, फिरंग, विषमज्वर, आमवात (Rheumatism) इत्यादि। तुण्डिकाशोथ का और इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। माला-गोलाणुओं के प्रवेश के लिए तुण्डिकाएँ प्रवेश द्वार मानी जाती हैं। अनेक बार तुण्डिकोच्छेदन (Tonsillectomy) के पश्चात् १-३ सप्ताह में यह रोग उत्पन्न होता है या इसके लक्षण बढ़ते हैं। गलक्षत और इस रोग का भी सम्बन्ध घनिष्ठ होता है। परन्तु गलक्षत की तीव्रता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि अनेक बार गलक्षत अत्यन्त सौम्य रहने पर भी यह रोग होता है।

(२) *त्वग्विकार*—कार्य की दृष्टि से त्वचा और वृक्कों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यह सामान्य अनुभव है कि सर्दी लग जाने से या भींगने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि वास्तविकता इसके विपरीत होती है। उनके अनुसार वृक्कों में कुछ खराबी रहने पर ही सर्दी लगने का फल तीव्र वृक्कशोथ में होता है तथा जो वृक्कशोथ से पीडित रहते हैं उनको सर्दी से पीडित रहने का सदैव डर रहता है। इसके अतिरिक्त त्वग्दग्ध (Burns), चर्मशोथ (Dermatitis), विसर्प (Erysipelas), फोड़े फुन्सियाँ इत्यादि पूययुक्त त्वग्विकारों में भी इस॰ होने की सम्भावना रहती है।

(३) *आयुलिंग इत्यादि*—यह रोग स्त्री पुरुषों में प्रायः समान रूपेण पाया जाता है। परन्तु वय की दृष्टि से यह रोग ४० वर्ष तक अधिक उसमें भी २० वर्ष तक बहुत अधिक हुआ करता है।

(४) *आहार*—मद्य पीनेवालों में इसके होने की सम्भावना अधिक रहती है। वैसे ही प्रोभूजिनों की अधिकता और प्रांगोदीयों की अल्पता से यह रोग बढ़ता है।

प्रसार—यह रोग अकेला दुकेला हुआ करता है। परन्तु अनेक बार परिवार, पाठशाला, विद्यालय, छात्रावास तथा जनसंमर्द के स्थान इनमें एक समय में अनेक व्यक्ति इससे पीडित हुए दिखाई देते हैं।

यह क्यों होता है इसका ठीक स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। परन्तु संयोगवश अनेक ग्रहणशील व्यक्तियों के एकत्र आने से यह फैलता है ऐसा माना जाता है।

अमेरिका के गृहयुद्ध (Civil war) में तथा १९१४-१९१८ के प्रथम जागतिक युद्ध में खंदकों में काम करनेवाले सैनिकों में इस प्रकार के रोग के मरक उत्पन्न हुए थे। इसलिए इस मरक प्रकार के रोग को युद्ध वृक्कशोथ (War nephritis) अथवा खात वृक्कशोथ (Trench nephritis) कहते हैं। परन्तु गलक्षतादि पूर्व उपसर्गों का अभाव, मूत्र विकृति का अभाव, महामारी के तौर पर फैलने की प्रवृत्ति, तथा अत्यधिक सूजन, जलोदर, जलोरस, जलहृदय इत्यादि के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति के कारण युद्ध वृक्कशोथ तीव्र वृक्कशोथ से कुछ दूसरा रोग है ऐसी तज्ज्ञों की राय है।

सम्प्राप्ति—यद्यपि यह रोग उपसर्गजन्य होता है तथापि उपसर्ग के जीवाणु न रक्त में तथा वृक्कों में पाये जाते हैं-न मूत्र से उत्सर्गित होते हैं। जब प्रत्यक्ष उपसर्गकारी जीवाणुओं द्वारा विकार होता है तब उसका स्वरूप प्रसृत (Diffuse) न होकर स्थानिक होता है। यह रोग वस्तुतः जिन औपसर्गिक रोगों में होता है उनकी निवृत्ति के पश्चात् प्रारम्भ होता है अर्थात् एक प्रकार से यह उनका अनुगामी विकार (Sequale) होता है। इसमें जीवाणुजन्य विष (Toxin) रोगोत्पादक होने से विकार प्रसृत रहते हैं। तीव्रावस्था में वृक्कों के बहुत कम गुत्सक (Glomeruli) बचते हैं। इस विकार में जीवाणुजन्य विष से गुत्सकीय वृक्कशोथ उत्पन्न होता है इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु लोगों की यह धारणा है की इस विष से गुत्सकशोथ उत्पन्न होने से पहले शरीर में अनूर्जिक स्वरूप की क्षमता सम्बन्धी कुछ प्रतिक्रियाएँ (Immunological reactions of an allergic character) उत्पन्न हुआ करती हैं।

स्थूल विकृत शारीर—इसमें दोनों वृक्क विकृत होते हैं। वृक्कों की अभिवृद्धि होती है परन्तु आकृति ज्यों का त्यों रहती है। उनका तोल लगभग दुगुना (३०० धान्य) होता है। वृक्काभिवृद्धि तीव्र प्रसृत वृक्कशोथ की एक खास पहचान होती है। उनके ऊपर की आटोपिका काफी तनी हुई रहती है और आसानी से निकल आती है। निकालने पर

वृक्कों का तल (Surface) चिकना और लाल रहता है और उस पर अनेक नीलोहांक (Petechiae) दिखाई देते हैं जो गुत्सकों के चिन्ह होते हैं। वृक्क का अन्तःसार (Parenchyma) बहुत मृदु और पिलपिला (Flabby) होता है तथा आसानी से कटता है। काटने पर उससे लाल रंग का तरल निकलता रहता है और कटे हुए भाग में उभरे हुए लाल बिन्दु के समान गुत्सक दिखाई देते हैं। वृक्क की बाह्य-वस्तु की मोटाई (८--१२ सहस्त्रिमान) है तथा उसकी रक्तवाहिनियाँ काफी फैली हुई होती हैं। बाह्यवस्तु रंग में पाण्डुवर्ण और स्तूप रक्तवर्ण होते हैं।

सूक्ष्मविकृत शारीर—इस रोग में वृक्कों के सब प्रत्यंगों में तथा धातुओं में न्यूनाधिक विकृति होती है। परन्तु गुत्सकों में अधिक तथा मुख्य विकृति होती है। इसलिए उसको गुत्सकीयवृक्कशोथ (Glomerulo nephritis) कहते हैं। गुत्सकों की विकृति निर्यासनशील (Exudative) या प्रफलनशील (Proliferative) और अंतरा केशिकीय (Intercapillary) या केशिकान्तर्य (Intracapillary) होती है। इस विकृति के कारण गुत्सक इतने अधिक अभिवृद्ध होते हैं कि वे आटोपिका के अवकाश को (Capsular space) पूर्णतया व्याप्त करते हैं। यहाँ तक कि कभी कभी वे प्रथम कुण्डलिका (Convoluted tubule) के प्रारम्भिक हिस्से में घुसे हुए दिखाई देते हैं। इस रोग में निम्न विकृतियाँ होती हैं—

(१) गुत्सकों के बाहर जो अधिच्छदीय कोशाएं (Epithelial cells) होती है वे फूलकर प्रगुणित (Mutliply) होती है और केशिकाओं के गुच्छों (Looks) के बीच के भाग को व्याप्त करती हैं। उसके कुछ काल के पश्चात् वे अपजनित (Degenerate) होकर आटोपिकीय अवकाश में झड़ जाती हैं। (२) गुत्सकों के भीतर जो अन्त श्छदीय (Endothelial) कोशाएं होती हैं वे अधिच्छदीय की अपेक्षा भी अधिक फूलकर तथा प्रगुणित होकर गुत्सकों के भीतरी रक्तमार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं। इसके अतिरिक्त केशिकाओं के भीतर कुछ तन्तु भी बनते हैं। इनके अतिरिक्त गुत्सकों में लसिका, तन्त्वि (Fibrin) श्वेतकायाणु, रुधिरकायाणु इनका भी निर्यास (Exudate) होता है। इन कारणों से गुत्सकों के भीतर का रक्त प्रवाह पूर्णतया बन्द होकर वे रक्तहीन हो जाती

हैं। इसका परिणाम प्राणवायु की कमी (Ischemia) में होकर रक्त का निर्पाव बढ़ने में होता है तथा केशिकाओं की दीवाल से शुक्लि के उत्सर्ग में होता है। केशिकाओं से बाहर निकलने वाली रक्तवाहिनियों से मूत्रनलिकाओं को प्राणवायु तथा पोषकद्रव्य मिलता है। गुत्सकीय रक्तप्रवाह करीब करीब बन्द होने से नलिकाओं के अधिच्छद में अपजनन होकर उसकी कोशाएं भी झरने लगती हैं। (४) धीरे धीरे अन्तरालीय (Interstitial) धातु में भी कुछ विकृति होकर वह फूलता है और उसमें गोलकोशाओं का अन्तराभरण (Round cell infiltration) होता है। (५) वृक्कों के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों की केशिकाओं की प्राचीर भी विष के कारण विकृत होती है।

परिणाम—(१) गुत्सकों की केशिकाप्राचीर शोथयुक्त या अपजनित होने से इसमें से शुक्लि और लाल कणों का उत्सर्ग होने लगता है और मूत्र नलिकाओं में उसके निर्मोक बनने लगते हैं जिससे शुक्लिमेह व निर्मोकमेह उत्पन्न होकर मूत्र में कुछ लाल कण भी मिलते हैं। (२) अन्य अंगों की केशिकाओं की प्राचीर खराब होने से सूजन उत्पन्न होती है। (३) अनेक गुत्सकों का रक्त प्रवाह बन्द होने से मूत्राल्पता उत्पन्न होती है। वृक्कों में प्राणवायु की कमी होने से रक्त का निर्पाव बढ़ने लगता है। इसमें गुत्सकनिकटवर्ति पिण्ड (पृष्ठ १२) का भी कुछ सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार वृक्कों में जो खराबी होती है वह प्रायः ठीक हो जाती है। उसको उपशम (Resolution) कहते हैं। इसमें केशिकाओं के भीतर जो लसिका, तन्त्वि (Fibrin) श्वेतकण इत्यादि का निर्यास होता है उसका प्रचूषण होकर उनका रास्ता साफ होता है और उसमें यथा पूर्व रक्त संचार प्रारम्भ होता है। जब यह रोग मालागोलाणु जन्य गले के खराबी से होता है तब उसमें बारबार होने की प्रवृत्ति रहती है और वृक्क विकृति का उपशम न होकर वह जीर्ण होने लगती है। संक्षेप में तीव्र अवस्था में प्रफलन (Proliferation), अनुतीव्र में अपजनन (Degeneration) और जीर्ण अवस्था में क्षय (Atrophy) तथा व्रणवस्तुभवन (Scarring) अधिक होता है।

लक्षण— रोग का प्रारम्भ प्रायः यकायक होता है। कभी कभी यह प्रारम्भ धीरे धीरे भी हो सकता है। उस अवस्था में रोग के वास्तविक

लक्षण प्रारम्भ होने से पूर्व जी मिचलाना, वमन, पित्तप्रवृत्ति (Biliousness), उदर में पीडा, सिर दर्द और प्रवाहिका इत्यादि लक्षण होते हैं। तीव्राक्रमण में वृक्क प्रदेश में पीडा, मन्द ज्वर, गले में पीडा, सूजन, रक्तनिपीड वृद्धि, मूत्र विकार, श्वासकृच्छ्र इत्यादि लक्षण होते हैं।

ज्वर—ज्वर प्रायः बहुत हलका रहता है। कभी कभी वह १०२°-१०३° तक भी बढ़ता है। यह ज्वर अनियमित स्वरूप का होकर प्रायः ८-१० दिन में ठीक होता है। कभी कभी ज्वर के पूर्व सर्दी भी मालूम होती है। बच्चों में प्रारम्भ में आक्षेप (Convulsions), भी उत्पन्न होते हैं।

श्वासकृच्छ्र मरक वृक्कशोथ में यह लक्षण प्रारम्भ में रहता है। परन्तु साधारण प्रकार में सर्वांगशोथ के साथ रहता है और २–३ दिन में कम हो जाता है। श्वासकृच्छ्र के साथ प्रायः कुछ खाँसी भी रहती है।

सूजन—तीव्र वृक्कशोथ का यह एक प्रधान लक्षण है। प्रायः प्रातः उठते समय यह प्रथम दिखाई देती है। इसका प्रारम्भ मुख में आँखों के चारों ओर होता है। उसके पश्चात् वृषण तथा गुह्य भाग पर और अन्त में शाखाओं पर फैलता है। यदि अधिक बढ़ गया तो फुफ्फुस, हृदय, उदर इत्यादि अंगों के आवरणों में जल संचय होता है।

वृक्कशोथ का यह लक्षण वास्तव में वृक्कविकृति जन्य नहीं होता है, परन्तु जिस कारण से वृक्कान्तर्गत केशिकाओं की विकृति होती है उस कारण से उत्पन्न हुई सार्वदैहिक केशिकाविकृति का फल होता है। यह शोथ शुक्लिमेह के साथ ही प्रायः प्रारम्भ होता है। इसमें भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। वृक्ककार्यहानि से सूजन नहीं उत्पन्न होती तीव्र वृक्कशोथ में शुक्लिमेह जिस विकृति से उत्पन्न होता है उसी विकृति से अर्थात् केशिका प्राचीरें की प्रवेश्यता (Permeability) बढ़ने से सूजन भी उत्पन्न होती है और इसलिए मूत्र के समान धातुगत द्रव में भी शुक्लि की बहुत मात्रा (१ प्रतिशत से अधिक) रहती है। एपिञ्जर (Eppinger) इसलिए इस सूजन को 'धातुगत शुक्लिमेह' (Albuminuria in the tissues) कहता है।

रक्तनिपीड वृद्धि—तीव्र वृक्कशोथ में रक्त का दबाव बढ़ता है तथा नाड़ी कठिन (Hard) होकर उसकी गति कुछ अधिक रहती है। परन्तु हृदय की अभिवृद्धि नहीं होती।

त्वचा—त्वचा सूखी और पाण्डुवर्ण होकर उसमें कण्डु तथा रुधिरवर्ण (Erythematous) विस्फोट निकलते हैं।

मूत्र—रोग की ओर ध्यान आकर्षित होने की दृष्टि से मूत्रगत परिवर्तन विशेष महत्व के होते हैं। इस रोग में मूत्र की राशि स्वाभाविक रह सकती है। साधारणतया दिन रात में यह राशि ८-१२ औंस (२०-३० तोला) कभी ४-५ औंस और कभी कभी नहीं के बराबर होती है। उसका रंग गहरा, कालापन लिए लाल या धुँधला (Smoky) होता है। उसकी गुरुता १०२५ या उससे अधिक रहती है। क्योंकि इसमें वृक्ककार्यहानि प्रारम्भ में नहीं होती। कुछ देर रखने पर उसमें तलछट बनता है। रसायनिक परीक्षण से उसमें रक्त तथा शुक्लि पायी जाती है। रक्त प्रायः बहुत अधिक नहीं होता परन्तु शुक्लि की मात्रा बहुत अधिक होती है। ताप कसौटी से इसमें दही के समान गाढ़ा सफेद निस्साद बन जाता है। तलछट (Deposit) की या केन्द्रापसारित मूत्र की सूक्ष्म परीक्षा करने पर उसमें लालकण, श्वेतकण, मूत्रण संस्थान की अधिच्छदीय कोशाएँ (Epithetial-cells) तथा निर्मोक पाये जाते हैं। मूत्र में जीवाणु नहीं मिलते हैं। इस रोग में शुक्लि मुख्यतया गुत्सकों से आती है। इसमें गुत्सक केशिकाओं की प्राचीर की प्रवेश्यता बढ़ने से तथा गुत्सकों के ऊपर का अधिच्छदीय आवरण खराब होने से मूत्रनलिकाओं में शुक्लि का उत्सर्ग होता है। स्वस्थ वृक्क में मुख्यतया गुत्सकों का अधिच्छदीय आवरण शुक्लि को मूत्र में जाने से रोकता है।

इसमें जो निर्मोक पाये जाते हैं वे प्रारम्भ में रक्तकण निर्मोक (Bloody) और अधिच्छदीय (Epithelial) होते हैं। आगे चलकर दानेदार और काचर (Hyaline) निर्मोक मिलने लगते हैं। स्नेहीय (Fatty) निर्मोक इसमें नहीं मिलते। उनका मिलना पुराने रोग की प्रत्यावृत्ति (Recrudescence) का निदर्शक होता है।

रक्त—प्रारम्भ में रक्तक्षय नहीं होता। यदि रोग अधिक काल तक रहा तथा शोणितमेह भी बराबर जारी रहा तो रक्ताल्पता हो सकती है।

श्वेतकायाणुओं में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, परन्तु प्रारम्भिक ज्वरावस्था में बहुकारी श्वेतकायाणूत्कर्ष (Neutrophilic leucocytosis) मिल सकता है। रोग के प्रारम्भ में भूयाति विधारण नहीं होता। जिनमें अल्पमूत्रता या अमूत्रता होती है उनमें भूयाति विधारण (Nitrogen retention) होने की सम्भावना रहती है। यद्यपि शुक्तिमेह होता है तथापि रक्तगत प्रोभूजिनों की मात्रा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। लालकणों की अवसादनगति (Sedimentation rate) बढ़ती है और जब तक विकार क्रियाशील और वर्धिष्णु होता है तब तक यह गति भी बढ़ती जाती है।

उपद्रव--(१) *वृक्कातिपात* (Renal failure)—अल्पमूत्रता या अमूत्रता होनेवाले रोगियों में यह उपद्रव हुआ करता है। इसमें रक्त में भूयाति विधारण होकर वमन, प्रवाहिका, सिरदर्द, कंप आक्षेप इत्यादि मूत्र विषमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

(२) *हृदयातिपात* (Heart failure)—जिनमें प्रारम्भ से ही सिरागत तथा धमनीगत रक्तनिपीड की अधिकता, हृदयाभिवृद्धि होती है उनमें यह उपद्रव हुआ करता है। इसमें फुफ्फुस में सूजन होकर श्वासकृच्छ्र रहता है।

(३) *परमाततीय मस्तिष्क विकृति* (Hypertensive encephalopathy)—यह उपद्रव बच्चों में रक्तनिपीड की अधिकता के कारण हुआ करता है। इसमें मस्तिष्कगत रक्तवाहिनियों में ऐंठन (Cramps) उत्पन्न होती है और उससे वमन, क्षणिक अंगघात, अन्धता सिरदर्द, आक्षेप इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। क्वचित् इसमें संन्यास भी उत्पन्न होता है। परन्तु रक्तवाहिनियों में स्थायी विकृति न होने से प्रायः रोगी ठीक हो जाता है। इस उपद्रव का भूयाति विधारण से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

(४) *उपसर्ग* (Infections)—अनेक बार मूल रोग जोर करता है या फुफ्फुसपाक (Pneumonia), परिफुफ्फुसशोथ (Pleuritis), परिहृच्छोथ (Pericarditis) पर्युदरशोथ (Peritonitis) इत्यादि औपसर्गिक रोग उत्पन्न होते हैं।

(५) *शोफवृद्धि* - कभी कभी त्वचा की सूजन परिहृदय, परिफुफ्फुस, पर्युदर इत्यादि अभ्यन्तरीय अंगों में प्रविष्ट होकर जलोदरादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

निदान—तुण्डिकाशोथ, गले की खराबी, आमवात इत्यादि पूववर्ति रोगों के ठीक होने के पश्चात यकायक आंखों पर तथा शरीर पर सूजन और मूत्र विकृति का उत्पन्न होना इस रोग का सूचक होता है। मूत्र विकृति में लाल कणों की उपस्थिति सबसे महत्त्व की है। ये लाल कण सबसे पहले दिखाई देते हैं और शुक्ति तथा अन्य स्वाभाविक द्रव्यों की अनुपस्थिति होने के पश्चात् अदृश्य हो जाते हैं। इनकी उपस्थिति के कारण ही यह रोग रक्तस्रावी (Hemorrhagic) ब्राइट का रोग कहलाता है। मूत्र में इनके न मिलने पर गुरुसकीय वृक्कशोथ के निदान के सम्बन्ध में सन्देह करना चाहिए। अधिक रक्त साधारणतया ४०% रोगियों में पाया जाता है। मूत्र में शोणित निर्मोकों (Bloodcasts) का मिलना इस रोग का निदानार्थकर चिन्ह होता है। इसलिए रोग का निदान मुख्यतया पूर्व इतिहास, लक्षण और मूत्र परीक्षण से करना चाहिए। इस रोग में वृक्ककार्य ५०% से अधिक रोगियों में प्राकृत ही रहता है तथा भूयाति विधारण १०% से कम रोगियों में हुआ करता है। अतः वृक्ककार्य और रक्त का परीक्षण सब रोगियों में करने की आवश्यकता नहीं होती।

सापेक्ष निदान (Differential diagnasis) (१) *प्रत्यावृत्ति*—इसमें हृदय की परमपुष्टि और धमनी जरठता ये दो परिवर्तन प्रारम्भ से ही पाये जाते हैं जो तीव्र में नहीं होते। वैसे ही इसमें प्रारम्भ से भूयाति विधारण मिलता है। इसलिए रोगी के हृदय और धमनियों की परीक्षा से तथा रक्तगत अप्रोभूजिन भूयाति के आगणन से इसका पार्थक्य तीव्र वृक्कशोथ से कर सकते हैं।

(२) *वृक्कजरठता* (Nephrosclerosis)—इसमें रक्तनिपीड बहुत अधिक होता है, हृदय भी बहुत अभिवृद्ध रहता है और मूत्र में रक्त मिलने पर भी मूत्र अल्पगुरुता का तथा अधिक मात्रा में होता है।

(३) *वृक्कान्तःस्फानता* (Renal infarct)—यह विकार दूषित अन्तर्हृच्छोथ (Septic endocarditis) में उपद्रव के तौर पर

उत्पन्न होता है। इसलिए उसके होने पर यदि वृक्क विकृति उत्पन्न हो तो इसका ख्याल रखना चाहिए। इसमें कटिप्रदेश में पीड़ा तथा शोणितमेह जरूर होता हैं परन्तु न शरीर पर सूजन होती है न मूत्र में निर्मोक मिलते हैं। आगे अन्तःशल्यज वृक्कशोथ देखिए।

(४) *विकेन्द्रिय वृक्कशोथ*—इसमें भी शरीर पर सूजन नहीं होती, वृक्कार्य की हानि नहीं रहती तथा रक्तनिपीड नहीं बढ़ता। आगे विकेन्द्रीय वृक्कशोथ देखो।

(५) *वृक्क की निष्क्रिय अधिरक्तता* (Passive congestion)–यह वृक्कविकार मुख्यतया हृद्यातिपात में उत्पन्न होता है। उस अवस्था में इसको हार्दिक वृक्क (Cardiac kidney) कहते हैं। इसके अतिरिक्त श्वास, उदरस्थ अर्बुद, अपस्मारावेग इत्यादि में भी पाया जाता है। इसमें मूत्र में लालकण प्रायः नहीं पाये जाते, अवसादनगति अधिक तेज नहीं होती तथा वृक्ककायहानि भी प्रायः नहीं होती।

(६ · *विषमयवृक्क* (Toxaemic kidney)—यह वृक्क विकार तृणाग्रवीय विष, पारद, संखिया, भास्वर (Phosphorus) इत्यादि रसायन विष, कामला, मधुमेहज शौक्तोत्कर्ष (Ketosis), गर्भवती की विषमयता इत्यादि से उत्पन्न होता है। इसमें कोई विशेष लक्षण नहीं होते, मूत्र में लालकण प्रायः नहीं होते, रक्त में भूयाति विधारण (Nitrogen retention) नहीं होता तथा कोई उपद्रव उत्पन्न न होकर रोगी ठीक हो जाता है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—जब रोग सौम्य रहता है, चिकित्सा शीघ्र प्रारम्भ की जाती है तब प्रायः २ सप्ताह में रोगी में सुधार होने लगती है, मूत्र की राशि बढ़ने लगती है ४ सप्ताह के पूर्व मूत्र शुक्ति-निर्मुक्त (Albuminfree) होता है और ५-६ सप्ताह में मूत्र से लालकण भी अदृश्य हो जाते हैं। मूत्र में लालकणों का न मिलना रोगनिवृत्ति का प्रधान चिन्ह होता है। रक्तनिपीड तथा अवसादन गति का स्वाभाविक हो जाना तथा वर्ष भर में पुनरावर्तन न होना ये लक्षण रोग के पूर्ण उपशम के निदर्शक होते हैं।

यदि २-४ मास तक उपशम के उपर्युक्त लक्षण न दिखाई दे तो समझना चाहिए कि रोग जीर्ण हो रहा है। यदि सर्वांग सूजन बढ़ती

जाय, फुफ्फुस मस्तिष्क स्वरयन्त्र इत्यादि में सूजन हो जाय, अभ्यन्तरीय अवकाशों में जलसंचय हो जाय, रक्तनिपीड बढ़ता जाय, मूत्र की राशि घटती जाय तो समझना चाहिए कि रोग असाध्य हो गया है। मृत्यु प्रायः मूत्र विषमयता उत्पन्न होकर वृक्कातिपात से, हृदयदौर्बल्य और रक्त-निपीडवृद्धि होकर हृदयातिपात से, फुफ्फुस स्वरयन्त्र में सूजन होकर प्राणोपरोध से या फुफ्फुसपाकादि उपद्रव उत्पन्न होकर उपसर्ग से हुआ करता है। इस प्रकार १०% तक रोगी असाध्य होकर मर जाते हैं और शेष बच जाते हैं जिनमें ४५--६५ प्रतिशत तक रोगी पूर्णतया ठीक होते हैं, १० २० जीर्णावस्था में और २०-३० प्रतिशत गूढ़ावस्था (Latent stage) में परिणत होते हैं।

चिकित्सा-*प्रतिबन्धक*—जिन रोगों के पश्चात् यह उपद्रव उत्पन्न होने की आशंका होती है उन रोगों की उचित चिकित्सा की जाय। इसकी उत्पत्ति में मालागोलाणु विशेष महत्व के होते हैं। अतः तज्जन्य रोगों में कूर्चकि (Penicillin) तथा अन्य प्रतिजीवी (Antibiotic) द्रव्यों का उपयोग किया जाय तथा तुण्डिका या अन्य अंगों में कहीं दूषित स्थान हो तो उसको निकाल दिया जाय।

रोगहर—निदान परिवर्जन, वृक्कों को आराम, त्वचा और आन्त्र द्वारा वृक्ककार्य, उपद्रवों की चिकित्सा ये चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त होते हैं।

रोगी को गरम कमरे में पूर्ण आराम से रखना चाहिए। यदि शीत हो तो ओढ़ने पहनने के लिए गरम कपड़े देने चाहिएँ। २४ घण्टे एक ही आसन पर आराम करना ठीक नहीं। इससे वृक्कों में अधिरक्तता (Congesestion) होने का डर रहता है। अतः दिन में कई बार करवट बदलना चाहिए तथा कभी कभी आराम कुर्सी पर रोगी को बैठाना चाहिए। विरेचन (Pulv Jalap Co, Mag sulph, Sodium sulph Cascara) के द्वारा कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए। बस्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं। मन्दोष्ण पानी से स्नान कराकर या शरीर को पोंछकर त्वचा द्वारा मलोत्सर्जन के कार्य को जारी रखना चाहिए। स्नान या प्रोंच्छन के पश्चात् शरीर को गरम कपड़ों से लपेटना चाहिए।

आहार—जल सर्वोत्तम मूत्रल (Diuretic) औषधि है। इसलिए रोगी को दिन रात में दो सेर तक पानी दे सकते हैं। रोगी को तृषित न रखना चाहिए। यदि शरीर पर सूजन अधिक हो तो उस अवस्था में जल की राशि बहुत कम करनी चाहिए। इस रोग में मूत्र की अम्लता को घटाना हितकर होता है। इसलिए रोगी को पोटाशिअम एसिड टार्ट्रेट, ६० ग्रेन, आधे नीबू का रस, थोड़ी सी चीनी और ढाई पाव पानी का शर्बत बनाकर उसको थोड़ी थोड़ी मात्रा में देना हितकर होता है। पानी के अतिरिक्त संतरे का रस, जौ :यूष (Barley water), मस्तु (whey) मंट्ठा आदि द्रव पदार्थ दे सकते हैं। रोगी को प्रतिदिन कितना द्रव दिया गया और दिन रात में कितना मूत्र हुआ इसको जरूर लिख कर रखना चाहिए।

इस रोग में भूयाति विधारण का डर बराबर बना रहता है। इसलिए प्रारम्भिक ३–४ दिन मांस, मांस रस, अण्डा, मछली, दूध इत्यादि प्रोभूजिन भूयिष्ठ (Proteins) खाद्य द्रव्य पूर्णतया बन्द कर देने चाहिएँ। इससे कोई हानि नहीं होती। इस समय रोगी को चीनी, मधु, मधुशर्करा, दुग्धशर्करा, साबूदाना, कांजी, चावल इत्यादि प्रांगोदीय भूयिष्ठ द्रव्य दिए जाँय। मक्खन दे सकते हैं, परन्तु स्नेह द्रव्य अधिक न होने चाहिएँ। संक्षेप में प्रारम्भिक कुछ दिनों में प्रोभूजिन विरहित आहार रोगी को देने पर भूयात्य (Nitrogenous) द्रव्य उत्सर्जन का बोझा कम होने से वृक्कों को बहुत आराम मिलता है। इस अवस्था में लवण का भी वर्जन करना चाहिए। रोगी में सुधार दिखाई देने पर दूध, रोटी, फल इत्यादि दे सकते हैं।

आवस्थिकी चिकित्सा—कटि प्रदेश में पीडा होने पर या अल्पमूत्रता वा अमूत्रता होने पर पीडा स्थान पर तोंबी (Cupping) या जोंकें लगावें या स्वेदन करें। मस्तिष्क सूजन के कारण आक्षेप (Convulsions) आवे तो कटिवेध करके सुषुम्ना जल को निकालें। मूत्रविषमयता या फुफ्फुसपाकादि की चिकित्सा उनके अनुसार करें।

रोगनिवृत्तावस्था—मूत्र में जब तक शुक्लि या लाल कण मिलते रहेंगे तब तक रोगी को बिस्तरे पर पूर्ण आराम करना ही उचित होता है। सर्दी से रोगी को सदैव बच कर रहना चाहिए क्योंकि जिनमें वृक्क-

विकार होता है उनमें सर्दी से पीड़ित होने की प्रवृत्ति अधिक रहती है और सर्दी से पीड़ित होने पर वृक्कविकृति बढ़ती है। वैसे ही गले में या अन्य स्थानों में कहीं दूषित केन्द्र हो तो उनको भी ठीक कर लेना चाहिए। जहाँ तक हो सके ऐसे रोगियों के लिए शाकाहार ही हितकर रहता है, परन्तु प्रकृति ठीक होने पर मछली अथवा इनका सेवन न्यूनाधिक मात्रा में कर सकते हैं। परन्तु मांस और मांस के अन्य निस्सार (Meat extracts) को वर्ज्य करना ही उचित है। इस रोग में कुछ रक्तक्षय हुआ करता है। यदि रोगी में कुछ रक्तक्षय हो तो उसको लोहे का कोई योग दिया जाय। साल भर बीच बीच में रोगी के मूत्र का परीक्षण रक्त, शुक्लि, निर्मोक इत्यादि के लिए और रक्त का परीक्षण अवसादनगति और लालकणों की संख्या तथा रंग द्रव्य के लिए किया जाय।

औषधिचिकित्सा—इस रोग के लिए कोई खास औषधि चिकित्सा नहीं है। स्वेदल, मूत्रल और विरेचक औषधियों का न्यूनाधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है। इस रोग की उत्पत्ति में अनूर्जता (Allergy) का कुछ सम्बन्ध होता है (पृष्ठ ५५) इस प्रकार की कल्पना होने के कारण आज कल प्रतिधातुतिक्तो (Antihistamine) औषधियों का (जैसे Antisan M. B.) उपयोग किया जाने लगा है। परन्तु उससे कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई देता है। वैसे ही इसकी उत्पत्ति में उपसर्ग का सम्बन्ध होने के कारण कूर्चकी (Penicillin) का भी उपयोग किया जाने लगा है। परन्तु उससे भी कोई विशेष लाभ होता है ऐसा अनुभव नहीं है।

अनुतीव्र गुत्सकीय वृक्कशोथ

(Subacute glomerulo nephritis)

पर्याय—जीर्ण अन्तःसारीय वृक्कशोथ (Chronic Parynchymatous nephritis) बृहत् श्वेत वृक्क (Large white kidney) एलिस का दूसरे प्रकार का वृक्कशोथ (Ellis Type II).

हेतुकी—वृक्कशोथ की यह मध्यम या द्वितीय (पृष्ठ ५२) अवस्था होती है। इसलिए तीव्रवृक्क शोथ के परिणाम स्वरूप यह विकार अनेक बार हुआ करता है। परन्तु अनेक बार यह रोग इस प्रकार धीरे धीरे

प्रारम्भ होता है कि उसका पता तक नहीं चलता और प्रसंगवशात् इसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है। यह विकार अधिकतर मध्यम अवस्था के पुरुषों में दिखाई देता है।

विकृतशारीर—*स्थूल*—इसमें वृक्क परिमाण में स्वाभाविक से बढ़े हुए होते हैं परन्तु तीव्रवृक्कशोथ के समान बड़े नहीं रहते हैं। आटोपिका आसानी से निकल जाती है, परन्तु कहीं कहीं वह अभिलग्न (Adhesions) रहती है। आटोपिका निकल जाने पर वृक्कग्रन्थि पर कुछ सिराएँ दिखाई देती हैं परन्तु उसका वर्ण पाण्डुर होता है। इसलिए इसको वृहत श्वेतवृक्क (Large white kidney) कहते हैं। काटने पर बाह्य भाग पाण्डुरवर्ण और फूला हुआ तथा स्तूप अधिक कृष्णवर्ण होते हैं।

सूक्ष्म—सूक्ष्मपरीक्षण करने पर इस अवस्था में अपजनन के साथ प्रथमावस्था का कुछ कुछ प्रफलन और तृतीयावस्था का क्षय और व्रणवस्तुभवन भी दिखाई देते हैं। वैसे ही नलिकाओं के साथ गुत्सक, धमनियाँ और अन्तराल धातु भी विकृत रहते हैं।

इसमें असंख्य गुत्सक विकृत होकर नष्ट हो जाते हैं और कटे हुए भाग पर छोटे छोटे उभार के रूप में दिखाई देते हैं। प्रफलन और अपजनन के कारण इन गुत्सकों की केशिकाओं में न रक्त का सञ्चार होता है न उनसे मूत्र बनकर नलिकाओं में जाता रहता है। आटोपिका की अधिच्छदाय कोशाएँ प्रफलित होकर बढ़ती हैं और उनमें से कुछ कोशाएं निकल कर आटोपिकीय अवकाश (Capsular Space) में इकट्ठा होती हैं। उनके साथ लालकण, शुक्लि, तन्त्वि इत्यादि द्रव्य भी उसी में इकट्ठा होते हैं। जो गुत्सक पूर्णतया बेकार हुए उनकी नलिकाएं (Tubules) क्षीण होकर तान्तव धातु में परिणत होती हैं। उसके पहले उनमें काचर (Hyaline) और कणिकामय (Granular) अपजनन होकर उनका अवकाश अवरुद्ध (Blocked) हो जाता है। इस हानि की पूर्ति करने के लिए अन्य नलिकाओं की अयथारूप (Atypical) वृद्धि होती है। जिससे वृक्कों की अभिवृद्धि हो जाती है। अन्तरालीय धातु बढ़ता है और रक्तवाहिनियों में जरठता (Sclerosis) उत्पन्न होने लगती है।

लक्षण—यह रोग प्रायः धीरे धीरे आक्रमण करता है। तीव्र वृक्कशोथ के पश्चात् जब यह रोग होता है तब उसके और इसके बीच में प्रायः कुछ काल रोगी स्वस्थ सा रहता है। इसमें जी मिचलाना, क्षुधानाश, वमन प्रवाहिका, क्लान्ति (Languor) सिरदर्द, मूत्रण की बारंबारता इत्यादि सामान्य लक्षण होते हैं।

सर्वांग शोफ—यह इस अवस्था का सर्वप्रधान तथा दुर्दम लक्षण है। सूजन तीव्रावस्था के समान प्रथम आँखों पर उत्पन्न होती है और धीरे धीरे पैरों तक फैलती है। आँखों की सूजन इतनी अधिक होती है कि उनको खोलना कठिन होता है। पैर फूलकर मोटे और निराकार (Shapeless) हो जाते हैं। अन्तराधि पर भी सूजन होती है। संक्षेप में संपूर्ण शरीर फूलकर बहुत बड़ा हो जाता है। इसलिए 'बृहत श्वेतवृक्क बृहतश्वेत शरीर' (Large white kidney large white man) इस प्रकार इसका वर्णन किया जाता है। इस सूजन पर कहीं भी अंगुली से दबाया जाय तो उसका चिह्न उत्पन्न होता है जिसको पीडन निम्नता (Pitting on Pressure) कहते हैं। बाहर के समान हृदय, फुफ्फुस, उदर इत्यादि अंगों के अवकाशों में जल संचय होता है। इसमें इस प्रकार शरीर द्रव पूर्ण हो जाने के कारण इसको आर्द्र वृक्कशोथ (Wet nephritis) कहते हैं।

मूत्र—मूत्र विकृति इसका दूसरा प्रधान लक्षण है। मूत्र में शुक्लि की मात्रा बहुत अधिक (½–५% तक) रहती है और २४ घण्टे में २०–३० धान्य तक उसका उत्सर्ग हो सकता है। मूत्र की राशि स्वाभाविक से आधी या उससे भी कम रहती है। शुक्लि की अधिकता के कारण मूत्र की गुरुता १०२०–१०४० तक बढ़ती है। रंग में मूत्र धूमिल (Smoky) और आविल (Turbid) रहता है और कुछ काल रखने पर उसमें काफी तलछट (Deposit) बनता है। इसमें अनेक प्रकार के निर्मोक लालकण, श्वेतकण, अधिच्छदीय कोशाएं, मेहीय (Urates) इत्यादि द्रव्य रहते हैं। मूत्र में नीरेयों (Chlorides) की मात्रा घटती है और मिह की स्वाभाविक होती है।

रक्त—रक्त में नीरेयों और पैत्तव (Cholesterol) की मात्रा बढ़ती है। पैत्तव की अधिकता (३००–८०० सहस्रिधान्य mg) के कारण रक्तरस

दुधिया (Milky) रंग का दिखाई देता है। यद्यपि शोफयुक्त वृक्कशोथ के रक्त में इसकी मात्रा अधिक रहती है तथापि सूजन के साथ इसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। वृक्कों से शुक्लि का उत्सर्ग होने के कारण रक्त में उसकी मात्रा घट जाती है और आवर्तुलि (Globulin की मात्रा बढ़ती है जिससे उनका स्वाभाविक अनुपात (२ : १) बदल कर १ : १ या १ : २ हो जाता है। मिह की मात्रा प्रायः स्वाभाविक रहती है। इसमें धीरे धीरे रक्ताल्पता (Anaemia) भी होती है। इसका कारण अज्ञात है। मुख्य परिणाम रंगद्रव्य (Hemoglobin) पर होता है और उसकी घट से रोग की प्रगति का कुछ अनुमान होता है।

हृदय और रक्तवाहिनियाँ—इस अवस्था में हृदय की अभिवृद्धि नहीं होती और रक्तनिर्पीड जो तीव्रावस्था में अधिक रहा वह भी घट जाता है।

नेत्र—नेत्र के दृष्टिपटल (Retina) में सूजन होती है।

उपद्रव (१) *जलसंचय*—हृदंयादि अंगों के अवकाशों में जल का संचय होना—जैसे, जलोदर जलोरस् (Hydrothorax), जलपरिहृदय (Hydropericardium) फुफ्फुससूजन, स्वरयन्त्र सूजन इत्यादि।

(२) *उन्मार्गी विषोत्सर्जन* (Vicarious elimination of toxins)—शरीर में इकट्ठा हुआ विष अनेक मार्गों से शरीर के बाहर निकलने लगता है। आन्त्र से निकलता है तब आन्त्र में सव्रणता (Ulceration) उत्पन्न होकर प्रवाहिका होती है। त्वचा द्वारा निकलने लगने पर कण्डु, शीतपित्त (Urticaria), छाजन (Eczema), रक्तस्राव इत्यादि विकार होते हैं।

(३) *उपसर्ग*– शुक्लीय द्रव (Albuminous) जीवाणुवृद्धि के लिए अच्छा वर्धनक (Culture media), होने के कारण विसर्प, फुफ्फुसपाक (Pneumonia) इत्यादि अनेक उपसर्ग उत्पन्न होते हैं।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—वृक्क में जब एक बार स्थायी विकृति होती है तब वह कदापि ठीक नहीं हो सकती, प्रायः बढ़ती ही

जाती है। यदि हृदय और रक्तनिपीड की अभिवृद्धि न हुई तो रोगी ६--१८ मास में अधिक से अधिक ३ वर्ष में किसी न किसी उपद्रव से मर जाता है। यदि रोगी पथ्यकर आहार-विहार से रहा और कोई उपद्रव उत्पन्न न हुआ तो इससे अधिक काल तक बच सकता है। जब हृदयाभिवृद्धि होने लगती है, रक्तनिपीड बढ़ने लगता है, मूत्र की राशि बढ़ने लगती है तथा सूजन कम होने लगती है तब समझना चाहिए कि रोग जीर्णावस्था में परिणत हो रहा है। यह परिणति मृत्युकाल में विलम्ब करनेवाली होती है। शरीर पर सूजन का बढ़ना, अभ्यन्तरीय अंगों में जल का संचय होना, मूत्र में शुक्लि की मात्रा का बढ़ना, रक्तनिपीडवृद्धि, तथा नेत्र के दृष्टिपटल में सूजन उत्पन्न होना असाध्यता दर्शक लक्षण होते हैं।

निदान—जब तीव्र वृक्कशोथ अनुतीव्र में परिणत होता है तब यह परिणति बहुत धीरे धीरे होने के कारण तीव्र कब समाप्त हुआ और अनुतीव्र विकार कब से प्रारम्भ हुआ इसका निर्धारण करना कठिन होता है। साधारणतया तीव्र की अधिक से अधिक अवधि ४--६ मास की मानी जाती है। यदि वह रोग ६ मास से अधिक जारी रहा तो समझना चाहिए कि वह अनुतीव्र में परिणत हुआ है। जब प्रारम्भ से ही रोग अनुतीव्र रहता है तब ज्वराभाव, सूजन और मूत्रगत परिवर्तनों से निदान करना चाहिए।

सापेक्षनिदान (१) हृद्रोगजन्य सूजन—इसमें सूजन का प्रारम्भ पैरों से होता है, हृदय का दक्षिणार्ध दुर्बल और अभिस्तृत (Dilated) रहता है, यकृत् की अभिवृद्धि होती है, रक्त में पैत्तव की राशि स्वाभाविक होती है। मूत्र में मेहीय (Urates) बहुत अधिक और निर्मोक केवल काचर (hyaline) प्रकार के रहते हैं तथा वृक्ककार्य में कोई हानि नहीं होती।

(२) जीर्णअपवृक्कता (Chronic nephrosis)—इसका विवरण आगे स्वतन्त्रतया किया गया है। अनुतीव्र वृक्कशोथ और जीर्ण अपवृक्कता बहुत ही मिलते जुलते विकार हैं। परन्तु अपवृक्कता में: शुक्लिमेह, रक्तपैत्तव अधिक होते हैं, सूजन अधिक व्यापक और अधिक दुर्दम होती है,

रक्तशुक्लि कम रहती है; रक्तनिपीड तथा रक्तमिह (Urea) प्रायः स्वाभाविक होते हैं और मूत्र में रक्त तथा निर्मोक प्रायः नहीं होते। इन भेदों के अतिरिक्त उसकी विशेषता यह होती है कभी कभी अत्यधिक सूजन और अत्यधिक शुक्लिमेह महीनों तक जारी रहकर भी यह रोग ठीक हो सकता है। इस प्रकार दोनों में अन्तर होते हुए अनेक बार दोनों के निदान में कठिनाई हो जाती है।

जीर्ण गुल्मकीय वृक्कशोथ

पर्याय—जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ (Chronic interstitial nephritis), द्वितीयक संकुचित वृक्क (Secondary contracted kidney) लघु श्वेतवृक्क (Small white kidney)।

हैतुकी—यह विकार तीव्र वृक्कशोथ, अनुतीव्र वृक्कशोथ या अपवृक्कता के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। क्वचित् इसका प्रारम्भ इतना सूक्ष्म और सौम्य होता है कि इसका प्रारम्भ कैसे हुआ और किस वृक्कविकार का यह परिणाम है इसका पता नहीं लगता। क्वचित यह विकार पारदविष, गर्भिणी वृक्क (Pregnancy kidney) वृक्कालिन्द शोथ (Pyelo nephritis) इनके पश्चात् भी उत्पन्न होता है।

वृक्क विकारों में यह प्रकार सबसे अधिक दिखाई देता है और ७० प्रतिशत से अधिक रोगियों का वय २०-५० वर्ष के भीतर हुआ करता है।

विकृतशारीर—*स्थूल*— इस अवस्था में वृक्क में तन्तूत्कर्ष तथा व्रणवस्तुभवन (Fibrosis and Scarring) होने से उसका परिमाण छोटा होता है। इसलिए उसको लघुश्वेतवृक्क (Small white kidney) कहते हैं। परिमाण छोटा होने से पहले वृक्क बड़ा रहता है। इसलिए इसको द्वितीयक संकुचित वृक्क भी कहते हैं। वृक्कों के ऊपर आटोपिका उसके साथ अनेक स्थानों में अभिलग्न रहने से आसानी से नहीं निकाली जा सकती और जब जबरदस्ती निकाली जाती है तब उसके साथ वृक्क बाह्यवस्तु (Cortex) के कुछ टुकड़े निकल आते हैं। आटोपिका निकाल देने पर वृक्कग्रन्थि कणिकामय और कर्बुरित (Granular mottled) दिखाई देती है। ये कणिकाएँ रंग में पीली और मोटाई

में एक से अनेक सहस्त्रिमान (मि०मीटर) होती हैं । व्रणवस्तु और तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) के कारण वृक्क को काटते समय काफी खरखरापन प्रतीत होता है । काटने पर वृक्क देखा जाय तो उसकी बाह्यवस्तु (Cortex) की मोटाई आधी (१–२ मिलीमीटर स्वाभाविक ५ मि०मी०) ही रहती है और बाह्य-तथा अन्तर्वस्तु की रचना लगभग विलुप्त (Obliterated) भी प्रतीत होती है । स्तूप (Pyramids) प्रायः स्वाभाविक रहते हैं और वृक्कालिन्द (Pelvis) कुछ अभिस्तीर्ण सा रहता है ।

सूक्ष्म—सूक्ष्म परीक्षण करने पर वृक्क की रचना पूर्णतया नष्ट हुई प्रतीत होती है । वृक्क का अन्तःसार जो मुख्यतया मूत्र नलिकाओं से और कुछ गुल्सकों से बनता है. इस विकार में लगभग पूर्णतया तान्तवधातु (Fibrous tissue) से विस्थापित होता है । नलिकाओं की अदृश्यता इस विकार की प्रधान वृक्कगत विकृति है ।

अधिकसंख्य गुल्सकों में अत्यधिक काचरीभवन (Hyalinization) होकर वे बेकार होते हैं और आसपास के धातुओं के साथ इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनको पहचानना कठिन होता है । कुछ गुल्सक क्षीण (Atrophic) और सिकुड़े हुए रहते हैं, परन्तु उनके भीतर रक्तप्रवाह जारी रहता है । उन्हीं के द्वारा वृक्क का कार्य हुआ करता है ।

मूत्रनलिकाएँ इतनी क्षीण हो जाती हैं कि उच्च शक्ति के वीक्ष (Lens) से केवल उनकी रूपरेखा ही मालूम होती है । कुछ नलिकाएँ स्वाभाविक होती हैं और कुछ अभिस्तीर्ण (Dilated) होती हैं । संहरण (Collecting) नलिकाएँ भी क्षीण होती हैं, परन्तु कुण्डलित (Convoluted) नलिकाओं के समान क्षीण नहीं होतीं ।

अन्तरालीय धातु की वृद्धि होती है । इसलिए इस विकार को अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ कहते हैं ।

धमनियों के अन्तःस्तर (Intima) में तन्तूत्कर्ष (Fibrosis) होकर उनकी नाली तंग होने लगती है । यह एक प्रकार का अवरोधक अन्तर्धमनीशोथ (Endartaritis obliterance) होता है । इससे रक्तनिपीड बढ़ता है जो वृक्कों में प्राणवायु की कमी (Ischemia) उत्पन्न करके तद्द्वारा फिर रक्तनिपीड को बढ़ाता है । इस प्रकार यह

घातचक्र (Vicious circle) जारी होकर इसका परिणाम वृक्कातिपात (Renal failure) में होता है। यह देखा गया है कि यद्यपि अधिक-संख्य वृक्काणु क्षीण होकर बेकार हो जाते हैं तथापि जो बचते हैं वे इतने परमपुष्ट (Hypertrophied) होते हैं कि एक परमपुष्ट वृक्काणु क्षीण वृक्काणु से १५ गुना बड़ा हो जाता है और उन्हीं के बल पर वृक्कों का कार्य होकर रोगी जीवित रहता है।

वृक्कगत इन विकृतियों का परिणाम शुक्तिमेह कम होने में, मूत्र की राशि बढ़ने में, रक्त में भूयातिविधारण होने में तथा सर्व शरीर की धमनियों में जरठता (Sclerosis), रक्तनिपीड वृद्धि और हृदय की अभिवृद्धि होने में होता है।

लक्षण—वृक्कशोथ की यह तृतीयावस्था होती है जो द्वितीयावस्था (अनुतीव्र वृक्कशोथ पृष्ठ ५२) उत्पन्न होने के एक वर्ष पश्चात् दिखाई देती है। इसमें धीरे धीरे शरीर की सूजन घटने लगती है और जब यह अवस्था पूर्ण प्रगल्भ होती है तब सूजन पूर्णतया नष्ट होती है। इसलिए इसको शुष्क वृक्कशोथ (Dry Nephritis) कहते हैं। इस अवस्था के जो खास लक्षण होते हैं वे प्रायः धीरे धीरे बढ़ते हैं या कुछ काल तक गुप्त (Latent) रहते हैं और अनेक बार उपद्रव उत्पन्न होने से इस रोग की ओर ध्यान आकर्षित होता है। इस अवस्था के जो मुख्य लक्षण होते हैं उनकी सम्प्राप्ति निम्न प्रकार की है।

वृक्कशोथ की द्वितीयावस्था में (अनुतीव्र वृक्कशोथ) यद्यपि वृक्कों में विस्तृत खराबी होती है तथापि उनका जो अंश बचता है वह अधिक कार्य करके वृक्ककार्य का समतोलन (Compensation) कर लेता है। इसलिए उसमें वृक्ककार्यहानि के कोई लक्षण मूत्र में या रक्त में नहीं दिखाई देते। इस अवस्था में धीरे धीरे वृक्ककार्य की हानि होने लगती है जिसका परिणाम मूत्र और रक्त पर होता है। संक्षेप में अनुतीव्र और जीर्ण वृक्कशोथ में जो अन्तर होता है वह वृक्कगत शारीरिक विकृति की अपेक्षा वृक्क के कार्यहानि के कारण हुआ करता है।

मूत्र—मूत्र की राशि धीरे धीरे बढ़ने लगती है और जब काफी बढ़ती है तब रोगी को रात में भी उठना (नक्तमेह पृष्ठ २०) पड़ता है। राशिवृद्धि

के साथ साथ गुरुता का उच्चावचन (Fluctuation) घटने लगता है और अन्त में गुरुता १००८–१०१२ तक ही रह जाती है। शुक्लि का उत्सर्ग घटने लगता है और जब गुरुता स्थिर हो जाती है तब शुक्लि की मात्रा अत्यल्प होती है। संक्षेप में मूत्र की अधिकता, गुरुता की अल्पता और स्थिरता तथा शुक्लि की लेशमात्रता इस रोग के मूत्र की विशेषताएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त मूत्र में मिह की (urea) तथा कुल ठोस द्रव्यों की कमी होती है, निर्मोक बहुत कम पाए जाते हैं और लाल कण की कभी कभी निकलते हैं।

रक्त—मूत्र से रक्त का जलांश निकल जाने के कारण तथा शुक्लि का उत्सर्ग कम होने के कारण रक्त में शुक्लि की मात्रा बढ़ने लगती है। वैसे ही पैत्तव की मात्रा, जो अनुतीव्रावस्था में बहुत अधिक हुई (पृष्ठ ६७) थी, घटकर स्वाभाविक से भी कम हो जाती है। भूयाति विधारण इस प्रकार में होने लगता है जिससे रक्त में मिह, मिहिक अम्ल, क्रयोया इनकी मात्रा बढ़ने लगती है। रक्तगत विषैले द्रव्यों का परिणाम अस्थिमज्जा पर होकर वह अवसन्न (Depressed) हो जाती है और उससे रुधिरकायाणु (Erythrocyte) श्वेतकायाणु (Leucocyte) और बनास्रकायाणु (Thrombocyte) इनकी उत्पत्ति घटकर इनकी संख्याल्पता हो जाती है। मूत्रविषमयता (Ureamia) उत्पन्न होने से पहले रक्तगत ये परिवर्तन, विशेषतया मज्जावसाद (Suppression of bone marrow) के विशेष महत्व के होते हैं।

हृदय और रक्तवाहिनी—वृक्कगत रक्तसंचार ठीक न होने से उसमें प्राणवायु की कमी हो जाती है जिससे वहाँ पर निपीड वर्धक (वृक्कि Renin) द्रव्य बनकर वे सम्पूर्ण शरीर में रक्त के निपीड को बढ़ाते हैं। रक्तनिर्पीड बढ़ने का परिणाम धमनियों में कठिनता और जरठता (Sclerosis) उत्पन्न होने में और हृदय की अभिवृद्धि होने में होता है। इन दोनों का परिणाम रक्तनिर्पीड बढ़ने में होता है और इस प्रकार यह घातकचक्र (Vicious circle) बराबर जारी रहता है। इससे नाड़ी मन्द कठिन होती है, रक्तनिपीड २०० सहस्रिमान (m. m.) या इससे भी अधिक हो जाता है, हृदयाग्र नीचे और बाईं ओर विस्थापित होता है।

अन्य लक्षण—उपर्युक्त प्रधान लक्षणों के अतिरिक्त मितली (Nausea) अरोचक, अग्नि की मन्दता प्रवाहिका इत्यादि पचन संस्थान के; खाँसी, श्वासकृच्छ्र (इसको वृक्यश्वास Renal asthama भी कहते हैं। इसमें श्वास के दौरे रात में आते हैं) इत्यादि श्वसन संस्थान के; सिरदर्द, गर्दशूल, पेशियों में एँठन (Cramps), निद्रानाश, शारीरिक और मानसिक काम करने की अनिच्छा, कर्णनाद, आँखों के सामने अँधेरा या अन्धापन इत्यादि मस्तिष्क संस्थान के; कण्डू, छाजन (Eczema), भारक्षय, बारबार सर्दी से पीडित होना इत्यादि अनेक लक्षण दिखाई देते हैं।

उपद्रव—(१) *मूत्रविषमयता* (Ureamia)—वृक्कशोथ के इस प्रकारमें वृक्ककार्यहानि प्रारम्भ होकर धीरे धीरे बढ़ती है और अन्त में पूर्ण वृक्कातिपात (Renal failure) हो जाता है इससे रक्त में विषैले द्रव्य इकट्ठा होने लगते हैं और इनकी मात्रा बहुत अधिक होती तब मूत्र विषमयता उत्पन्न होती है। (२) *रक्तस्राव*—घनाम्ल कायाणुओं की संख्याल्पता, रक्तवाहिनियों की कठिनता तथा अस्थितिस्थापकता (लचकीलापन का अभाव) और रक्तनिपीड की अधिकता के कारण नासा, नेत्र, मस्तिष्क, त्वचा, गर्भाशय इत्यादि विविध अंगों में रक्तस्राव होता है। नासागत रक्तस्राव में रोगी के लिए कोई भय नहीं होता बल्कि वह एक प्रकार से अभयकपाट (Safety valve) का काम करता है। इसके विपरीत मस्तिष्कगत रक्तस्राव सदैव चिन्ताजनक ही होता है नेत्रगत विकृतियाँ दोनों के बीच में होती है। वृक्कशोथ की अनुतीव्र अवस्था में दृष्टिपटल (Retina) में सूजन पैदा होती है। जब वृक्कशोथ जीर्ण होने लगता है तब अन्य लक्षणों के समान इसमें भी परिवर्तन होता है। यदि इस अवस्था में अक्षिवीक्षणयन्त्र (Opthalmoscope) से देखा जाय तो वहाँ की धमनियाँ कड़ी पतली, कुटिल (Tortuous) तथा रजत तार (Silver wire) के समान चमकीली दिखाई देती है। जब ये विदीर्ण होती है तब रक्तस्राव ज्वालाकृति (Flameshaped) दिखाई देते हैं। नेत्रगत इस विकृति से अन्धता उत्पन्न होती है। (३) *हृदयातिपात* (Cardiac failure)—

रक्तनिपीड बढ़ने से हृदय पर अधिक बोझ पड़ता है जिसका परि णाम उसके परमपुष्ट (Hypertrophic) होने में होता है। इस परम का परिणाम आगे चलकर उसकी अभिस्तीर्णता (Dilatation) और तदनन्तर उसके अतिपात (Failure) में होता है। जब यह अवस्था आती है तब शरीर पर फिर से सूजन उत्पन्न होती है। अर्थात् वह सूजन हार्दिक स्वरूप की (Cardiac type) होने से शरीर के लटके हुए, नीचे की ओर रहनेवाले (Dependant) भागों पर उत्पन्न होती है। इसके साथ साथ शरीर के अभ्यन्तरीय अंगों में भी द्रव संचय हो सकता है। (४) *उपसर्ग* (Infection)—शरीर में जब सूजन उत्पन्न होती है तब इसमें भी अनुतीव्र के समान फुफ्फुसपाकादि उपसर्ग उत्पन्न हो सकते हैं।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता--यह विकार वर्धनशील तथा असाध्य स्वरूप का होता है। परन्तु यदि रोग बहुत न बढ़ा हो तथा हृदयादि अंग दुर्बल न हुए हों तो पथ्यकर आहार विहार का सेवन करने से रोगी १०-२ वर्ष जीवित रह सकता है। दृष्टिपटल (Retina) गत विकृतियाँ होने पर रोगी प्रायः दो वर्ष के भीतर मर जाता है। शोणितमेह (स्थूल या सूक्ष्म), रक्त में भास्वर, भूयाति (Nitrogen) की मात्रा का बढ़ना, चूने का कम होना, रुधिरकायाणु, श्वेतकायाणु और घनास्रकायाणुओं का घटना शरीर पर सूजन उत्पन्न होना ये अशुभ सूचक लक्षण होते हैं। मृत्यु अधिकतर (६०%) मूत्रविषमयता से हुआ करता है। अन्य कारणों में हृदयातिपात, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, उपसर्ग परमाततिक मस्तिष्कविकृति (Hypertensive encephalopathy) ये विकार महत्व के हैं। इससे पीड़ित स्त्रियों में गर्भधारणा चिन्ताजनक होती है।

रोगी की उर्वरित आयु का अनुमान रक्तनिपीडवृद्धि की स्थिति, दृष्टिपटल की विकृति और वृक्क की अकार्यक्षमता की न्यूनाधिकता इन बातों पर किया जा सकता है। इसलिए रुग्णकाल में रक्तनिपीडमापन, दृष्टिपटल (Retina) परीक्षण और वृक्ककार्यक्षमताज्ञापन बीच बीच में बराबर करते रहना चाहिए।

पर्याप्त तथा उचित होनी चाहिए। आगे विभेदाभ वृक्कशोथ की चिकित्सा भी देखिए।

मूत्रल औषधियां—जीर्ण वृक्कशोथों के लिए मूत्रल औषधियों का उपयोग सावधानता के साथ करना चाहिए। जब शरीर पर सूजन होती है तब रोगी को तृषित न रखते हुए अल्प मात्रा में जल (दिन रात में सेर डेढ़ सेर) देना चाहिए। मूत्रल औषधियों में सायट्रेट (Citrates) एसीटेट (Acetates) जैसे क्षारीय द्रव्य बहुत अच्छे होते हैं। यदि रक्त में मिह की मात्रा अधिक न हो तथा उसके अधिक होने की आशंका न हो तो मिह (Urea) का भी प्रयोग ४५–६० ग्रेन की मात्रा में दिन में त्रिवार कर सकते हैं। थीओफायलीन और सोडिअम एसीटेट ४ ग्रेन, तथा डायुरेटीन १० ग्रेन की मात्रामें दिन में द्विवार या त्रिवार प्रयुक्त कर सकते हैं, यदि मूत्र में रक्त न हो। पारद के सेन्द्रिय (Organic) योगों का प्रयोग जहाँ तक हो सके न किया जाय। परन्तु यदि सूजन न घटती हो, वृक्क-कार्य में कोई विशेष हानि न मालूम हो और रक्तक्षय न हो तो मर्सालिल (mersalyl) का प्रयोग १–२ घ. शि. मा. की मात्रा में सप्ताह में एक या दो बार कर सकते हैं। इसकी सूई लगाने से दो घण्टे पहले, सूई के समय तथा दो घण्टे के पश्चात् नौसादर (Am chloride) १५ ग्रेन की मात्रा में रोगी को देना चाहिए। जब सूजन में हृदयातिपात का सम्बन्ध रहता है तब डिजिटयालिस का प्रयोग कर सकते हैं।

स्वेदल औषधियां—जीर्ण वृक्कशोथ में स्वेदल औषधियाँ बहुत हितकर नहीं होती क्योंकि उनके प्रयोग से शीत पकड़ने का डर रहता है जो रोग को और भी बढ़ाता है।

विरेचन औषधियां—रोगी को कोष्ठ शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके लिए सौम्य विरेचक औषधियों का प्रयोग किया जाय। तीव्र विरेचक औषधियों का प्रयोग एकाध बार कर सकते हैं। परन्तु सदैव उनका प्रयोग हितकर नहीं हो सकता। इनसे पतले दस्त होने के कारण आन्त्र कमजोर पड़ता है तथा उससे आन्त्रस्थ विष का प्रचूषण होने लगता है।

उपद्रव—मूत्रविषमयता, हृदयातिपात, विविध उपसर्ग, उदरावरण शोथ इत्यादि उपद्रवों की चिकित्सा उनके अनुसार की जाय।

विकेन्द्रीय वृक्कशोथ (Focal nephritis)

हेतु, सम्प्राप्ति, लक्षण—यह उपद्रव तुण्डिकाशोथ (Tonsillitis) लोहितज्वर (scarlet fever), रोमान्तिका, फुफ्फुसपाक, आन्त्रिक ज्वर, विषमज्वर, फोड़े फुन्सियाँ, विसर्प, मध्यकर्ण शोथ, सूतिका ज्वर इत्यादि औपसर्गिक रोगों में रुग्णावस्था की उच्चावस्था में (Height) उत्पन्न होता है। इसमें कुछ गुत्सकों की केशिकाओं में तृणाण्वीय अन्तः शल्यता (Bacterial embolism) उत्पन्न होकर मूत्र में रक्त, शुक्ति, और निर्मोक मिलने लगते हैं। अधिक संख्य वृक्काणु बच जाने के कारण इससे मृत्यु नहीं होता। प्रायः प्रधान रोग ठीक होने पर यह उपद्रव ठीक हो जाता है।

तीव्र गुत्सकीय वृक्कशोथ से पार्थक्य—(१) तीव्र वृक्कशोथ रोगनिवृत्ति के १५ दिन के पश्चात् और रोग की उच्चावस्था में उत्पन्न होता है। (२) तीव्र वृक्कशोथ विष प्रभाव से होने के कारण वृक्कों में तथा मूत्र में जीवाणु नहीं पाये जाते। यह विकार जीवाणुज अन्तःशल्यता से उत्पन्न होने के कारण इसमें वृक्कों में तथा मूत्र में जीवाणु पाये जाते हैं। (३) तीव्र वृक्कशोथ में सूजन, रक्तनिपीड की अधिकता तथा अन्शतः वृक्क कार्यहानि ये लक्षण होते। इसमें इनमें से कोई लक्षण नहीं होता। (४) तीव्र वृक्कशोथ प्रधान स्वरूप का रोग होने के कारण उससे मृत्यु भी हो सकता है तथा वह जीर्ण में परिवर्तित भी हो सकता है। यह रोग उपद्रव स्वरूप का होने से प्रधान रोग के शान्त होने पर शान्त हो जाता है। इससे न मृत्यु होता है न इसका जीर्णावस्था में रूपान्तर हो जाता है।

अन्त शयल्ज वृक्कशोथ (Embolic nephritis)

अनुतीव्र तृणाण्वीय अन्तर्हृच्छोथ (Subacute bacterial endocarditis) का यह उपद्रव है। दूसरे किसी भी रोग में यह वृक्क विकृति नहीं पायी जाती। इसके अन्तःशल्य हृत्कपाटों से निकले हुए अंकुरों

(Vegetations) से बनते हैं ; छोटे अंकुरों में सूक्ष्म अन्तःस्फान (Infarct) और बड़ों से बड़े अन्तःस्फान बनते हैं। ये अन्तःशल्य कुछ ही गुत्सकों में बनते हैं और प्रायः उनका केवल कुछ अंशही व्याप्त करते हैं। इनके कारण केशिकाओं से बोमन की आटोपिका में रक्तस्राव होता है जो मूत्र में दिखाई देता है। उपर्युक्त वृक्कशोथ के समान इसमें भी केवल शोणितमेह होता है। सूजन, रक्तनिपीड की अधिकता इत्यादि लक्षण नहीं उत्पन्न होते। रोगी का भविष्य प्रधान रोग के ऊपर निर्भर करता है। यह उपद्रव स्वयं न घातक होता है न जीर्ण में परिवर्तित होता है।

अपजननशील वृक्कशोथ या अपवृक्कता

तीव्र अपवृक्कता (Acute nephrosis)

पर्याय—विषमय वृक्क (Toxaemic kidney), विषजन्य अपवृक्कता (Toxic nephrosis), नालकीय अपजनन (Tubular degeneration), ज्वरज शुक्लिमेह (Febrile albuminuria)।

हेतु—(१) *तृणाणुविष*—इस रोग का यह मुख्यतया सर्व साधारण कारण है। सब तृणाणुजन्य ज्वर यह विकार उत्पन्न करते हैं ऐसी बात नहीं। परन्तु जो उत्पन्न करते हैं वे इस वर्ग में आते हैं। इस विकार को उत्पन्न करनेवाले ज्वरों में फुफ्फुसपाक, तन्द्राभ (Typhoid), रोहिणी, मसूरिका, तुण्डिकाशोथ (Tonsillitis) लोहित ज्वर, रोमान्तिका महत्व के हैं। तुण्डिकाशोथ और लोहित ज्वर तीव्र वृक्कशोथ (पृष्ठ ५४) भी उत्पन्न करते हैं।

(२) *रसायनिकविष*—पारा, सोना, संखिया, संकेन्द्रित खनिज-अम्ल, भास्वर (Phosphorus) शुल्बौषधियाँ, हरिभृंग्य (Cantharides), किरणातु भूर्याय (Uranium nitrate), भिदातु (Bismuth) इत्यादि महत्व के हैं।

(३) *अन्नविष या समवर्तिक* (Metabolic) *विष*—इसमें गर्भविष, पित्तविष, आन्त्रविष, मधुमेह का शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) इनका समावेश होता है। जैसे गर्भवती का वमन, गर्भापस्मार

(eclampsia), अवरोधक कामला, विसूचिका, आन्त्रावरोध (Intes tinal obstruction), ग्रहणीमार्गावरोध (Pyloric obstruction) इत्यादि।

(४) *यकृद्वृक्क्य* (Hepato renal) *और पिच्चित संरूप* (Crush syndrome)—अनेक बार यकृत् के विकार, विशेषतया जिनमें शस्त्रकर्म किया गया है, घातक होते हैं। इसका कारण वृक्क विषाक्तता ही होता है। वृक्क जब विकार के कारण बेकार होता है तब उसका निर्विषीकरण (Detoxication) का कार्य वृक्क की कुण्डलित मूत्र नलिकाओं द्वारा (Convoluted tubules) होता है। परन्तु उनमें यह शक्ति बहुत कम होने के कारण वे विषाक्त हो जाती हैं। दूसरा कारण यह होता है कि यकृत् की खराबी से मध्वी (Glycine) उचित मात्रा में नहीं बनती जो गुस्सकों की कार्यशीलता के लिए आवश्यक होती है।

पिच्चित संरूप जब खाने (Mines), मकान इत्यादि गिरते हैं और उनकी दुर्घटनाओं में मनुष्यों की पेशियाँ बहुत अधिक कुचल जाती हैं तब कुछ दिनों के पश्चात् उत्पन्न होता है।

विकृतशारीर—वृक्क प्रायः भार में बढ़ते (१७५ से २५० धान्य) हैं। उनकी आटोपिका उन पर तनी हुई रहती है और आसानी से निकल आती है। उनकी आकृति में कोई फर्क नहीं पड़ता। परन्तु वे बहुत शिथिल या पिलपिले (Flabby) मालूम होते हैं। काटते समय छुरे को कुछ भी विरोध (Less resistance) नहीं मालूम होता और काटने पर भीतरी भाग कुछ बाहर की ओर निकल (Bulge) आता है। वृक्क की बाह्यवस्तु मोटाई में अधिक (६-१२ सहस्त्रिमान m. m.) रहती है और अन्तर्वस्तु या मज्जक (Medulla) की तुलना में बहुत ही फीकी प्रतीत होती है।

सूक्ष्म परीक्षण करने पर वृक्क के अन्तःसार (Parenchyma) में विशेषतया मूत्र नलिकाओं में उनमें भी मुख्यतया प्रारम्भिक कुण्डलिकाओं मे अपजननशील परिवर्तन दिखाई देते हैं जो अभ्राभ सूजन (Cloudy swelling) उदकिल अपजनन (Hydropic degeneration),

काचर बिन्दूद्भवन (Hyaline droplets), स्नेहीय रूपान्तरण (Fatty metamorphosis) धातुनाश और चूर्णीयन (Calcification) के स्वरूप के होते हैं। इसलिए इस रोग को नालकीय अपजनन कहते हैं। इस अपजनन से नलिकाओं का मार्ग अंशतः या पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है। गुत्सकों में मामूली सूजन और उनके आटोपिकीय अवकाशों में शुक्लीय निर्यास (Albuminous exudate) के अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं होता। रक्तवाहिनियाँ अपरिवर्तित रहती हैं।

पिच्छित संरूप में भी गुत्सकों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता। मूत्र नलिकाओं में विशेष रूप से हेनल की आरोही शाखाओं में (पृष्ट ३) तथा दूसरी कुण्डलित नलिकाओं में अपजनन होता है। संहरण नलिकाओं में रक्तरागक निर्मोक (Pigment casts) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त वृक्क के बाह्यवस्तु में बहुत अधिक धातुनाश दिखाई देता है जो रक्ताल्पता का परिणाम होता है।

गर्भवती के वृक्क में भी नलिकाओं का ही अपजनन होता है। परन्तु उसमें रक्तनिपीड की अधिकता अनेक बार रहती है। इसलिए इसको लाक्षणिक दृष्ट्या अपवृक्कता नहीं कह सकते। ऐसे रोगियों में गुत्सक केशिकाओं का मार्ग उनके ऊपर की आधारभूत कला (Basement membrane) मोटी होने से अवरुद्ध हुआ मिलता है। यह विकृति गर्भावस्था के अन्तिम चार मासों में हुआ करती है।

लक्षण—उपसर्ग विष से जो विकार उत्पन्न होता है उसमें अर्थात् ज्वरज शुक्लिमेह में कुछ अधिक शुक्लि, कणिकामय, काचर, या अधिच्छदीय निर्मोक, कुछ श्वेतकण, क्वचित् कुछ लालकण इत्यादि मूत्रगत लक्षणों के अतिरिक्त और कोई विशेष लक्षण नहीं होते। कभी कभी यह विकृति अधिक तेज होती है तब उसको अपवृक्कय दारुणता (Nephrotic crisis) कहते हैं। पारदविष या गर्भविष में आलस्य, अपचन, मलावरोध, सिरदर्द, सर्वांग शोफ इत्यादि सार्वदेहिक लक्षण होते हैं। अमूत्रता या अल्पमूत्रता, अत्यधिक शुक्लिमेह (३-४% तक), अत्यधिक निर्मोकमेह, श्वेतकणों की उपस्थिति, क्वचित् रक्त इत्यादि मूत्रगत लक्षण होते हैं। कुछ रोगियों में रक्तनिपीड भी बढ़ता है और भूयाति विधारण (Nitrogen

retention) भी होने लगता है। आँखों के सामने चिनगारियाँ, दृष्टि का धुँधलापन या नाश इत्यादि लक्षण भी होते हैं। पूर्ण प्रगल्भ रोग में ठीक मूत्रविषमयता के लक्षण मिलते हैं।

अपवृक्क्य संरूप (Nephrotic syndrome)—अपवृक्कता शब्द प्रथम वृक्क के उन विकारों को प्रदर्शित करने के लिए आविष्कृत हुआ था जो अपजननकारी हेतुओं (Degenerative origin) से उत्पन्न होते हैं, अतः जो प्रशोथजन्य विभाग (Inflamatory) में नहीं समाविष्ट किये जाते। विकृतिविज्ञानवेत्ता वृक्क के उन विकारों को अपवृक्कता समझते हैं जिनमें प्रधान विकृति वृक्क की मूत्रनलिकाओं के अधिच्छद (Tubular epithelium) में हुआ करती है। परन्तु रोगनिदान में उपर्युक्त धातुविकृति का समावेश करना कठिन होता है क्योंकि रोगी के चिन्हों और लक्षणों से विकृति के स्वरूप का तथा स्थान का पता लगाना असम्भव सा रहता है। इसलिए अपवृक्क्य संरूप शब्द का प्रयोग किया जाता है जो वृक्कधातुविकृति के विशिष्ट स्वरूप से सम्बन्ध न रखते हुए तज्जन्य विशिष्ट लक्षण समूह से सम्बन्ध रखता है, जिसमें बृहत् शुक्लिमेह, रक्तप्रोभूजिन की मात्राल्पता (Low plasma protein) और सूजन ये लक्षण होते हैं। ये लक्षण पूर्णप्रगल्भ (Fully developed) अपवृक्क्य संरूप के होते हैं। परन्तु अनेक बार अनेक उपसर्गों में या विषप्रभाव से वृक्कविकृति बहुत ही सौम्य होकर केवल अल्पकालिक सौम्य शुक्लिमेह होता है और कभी कभी बीच बीच में काचर निर्मोकों की वर्षा (Shower of hyaline casts) होती है। इस सौम्य प्रकार के लिए ज्वरज (Febrile) शुक्लिमेह या अपवृक्कता कहते हैं। अपवृक्क्य संरूप हेतुकीय (Etiologically) इच्छा निम्न चार स्वतन्त्र वृक्क विकारों में पाया जाता है। (१) जीर्ण गुत्सकीय वृक्कशोथ की अपवृक्क्य स्थिति में। (२) वास्तविक या विभेदाभ अपवृक्कता में। (३) वृक्क की मण्डाभता (Amyloidosis) में। (४) फिरंग जन्य अपवृक्कता में।

निदान—अपवृक्कता उत्पन्न करनेवाले कारणों की उपस्थिति से तथा रक्त की रसायनिक परीक्षा से वृक्कशोथ के अपवर्जन (Exclusion)

से इसका निदान किया जाता है। रक्तगत मिह (Urea) की स्वाभाविकता इसके पक्ष में और वृक्कशोथ के विपक्ष में होती है। वैसे ही रोग का पूर्णतया ठीक होना (Complete recovery) इसके पक्ष में होता है। गर्भवती में वृक्कशोथ तथा अपवृक्कता दोनों भी विकार हो सकते हैं और विशेषता यह होती है कि वृक्कशोथ के समान अपवृक्कता में भी रक्तनिर्पीड बढ़ता है जो वास्तव में न बढ़ना चाहिए। अतः गर्भवती में रोगनिदान का साधन केवल कालही होता है। यदि वृक्कविकार प्रथम चार मास में प्रकट हो जाय तो वृक्कशोथ और यदि दूसरे चार मास में प्रकट हो जाय तो अपवृक्कता समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त रोग तीव्र होने पर गर्भिणी में अपस्मारसम आक्षेप भी (गर्भापस्मार eclampsia) आते हैं। यह सब होते हुए भी प्रसूति होने पर सब लक्षण आपसे आप ठीक हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग सुसाध्य तथा मूल कारण के ठीक होने पर आप से आप ठीक होनेवाला है। फिर भी रोग के कारण तथा तीव्रता के अनुसार एकाध रोगी में रोग जीर्ण वृक्कशोथ में परिवर्तित हो सकता है तथा क्वचित् मूत्रविषमयता से मृत्यु हो सकता है।

निम्न वृक्काणुविकार (Lower nephron disease)—इसी रोग का यह एक प्रकार है। इसलिए इसको निम्न वृक्काणु अपवृक्कता (Lower nephron nephrosis) भी कहते हैं। निम्न कहने का कारण यह है कि इसमें अधिच्छदीय अपजनन (Epithelial degeneration) प्रथम कुण्डलिका में न होकर हेनल का पाश, द्वितीय कुण्डलिका तथा संग्रहण-नलिकाओं (Collecting tubule) में (पृष्ठ ३) होता है। यह विकृति अनेक रोगों में पायी जाती है जिनका आपस में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। जैसे, शोणांशिक कामला (Hemolytic jaundice), पिच्चित संरूप (Crush syndrome), छत्रक विषाक्तता (Mushroom poisoning), रक्त संक्रम प्रतिक्रियाएँ (Transfusion reactions) मधुमेहज सन्न्यास (Coma), आघातज गुप्त रक्तस्राव (Concealed accidental hemorrhage) इत्यादि। इसमें अल्पमूत्रता, शोणवर्तुलि के निर्मोक (Blood pigment casts) तथा तीव्रवृक्कातिपात (Acute Renal failure) ये लक्षण होते हैं।

चिकित्सा – रोगी बिस्तरे पर आराम से रहे। यदि किसी विशिष्ट रोग के कारण वृक्क विकार उत्पन्न हुआ हो तो उसकी चिकित्सा करने से विकार ठीक हो जाता है। रोगी को मधु, मधुम (Glucose), दूध जौ का यूष इत्यादि द्रव्य खाने पीने के लिए दिए जाँय। यदि रक्त में भूयाति विधारण न हो तो भोजन में प्रोभूजिनों की मात्रा कम करने का कोई कारण नहीं होता। मांस रस मसाले इत्यादि द्रव्य न दिये जाँय। सारक (Laxative) या विरेचक द्रव्य से कोष्ठशुद्धि की जाय। यदि अल्पमूत्रता, अमूत्रता उत्पन्न हो जाय तो मूत्र विषमयता के समान (आगे मूत्र विषमयता देखो) चिकित्सा की जाय।

अपवृक्कय दारुणता में पेनीसिलीन या शुल्बौषधियाँ (पृष्ठ ६३) दी जाती हैं।

विमेदाभ अपवृक्कता (Lipoid nephrosis)

पर्याय — जीर्ण अपवृक्कता (Chronic nephrosis).

व्याख्या — यह एक बालकों और नौजवानों का जीर्ण स्वरूप का विरल रोग है जो धीरे धीरे आक्रमण करता है और जिसमें सर्वांगशोथ, शुक्लमेह, स्निग्धवर्णता (Waxy pallor), रक्त में प्रोभूजिनों की अल्पता और विमेदाभों की अधिकता, समवर्तन गति की मन्दता और वृक्कों की उत्तमकार्यक्षमता इत्यादि लक्षण होते हैं।

हेतु — यह रोग बच्चों और नौजवानों में अधिक पाया जाता है। ४० वर्ष की अवस्था के पश्चात् इसका मिलना असम्भव होता है। स्त्री पुरुष की दृष्टि से इसकी कोई विशेषता नहीं होती।

अधिक संख्य रोगियों में इसके वास्तविक हेतु का पता नहीं चलता। कुछ रोगियों में फिरंग और शीत-प्रतिश्याय इत्यादि हेतु मालूम होते हैं।

विकृत शारीर — वृक्कों का स्थूल स्वरूप अनुतीव्र गुल्सकीय वृक्कशोथ के समान (पृष्ठ ६६) होता है। सूक्ष्म परीक्षण करने पर मुख्य विकृति मूत्रनलिकाओं में विशेषतया प्रारम्भिक कुण्डलिकाओं में (Convoluted tubules) दिखाई देती है। इन नलिकाओं की अधिच्छदीय कोशाओं में अपजनन के कारण स्नेह और पैत्तव प्रलवण (Cholesterol easter) इकट्ठा हुए दिखाई देते हैं। अपजनन के कारण उत्पन्न हुए

इन मेदसम द्रव्यों की उपस्थिति के कारण इस विकार को विमेदाभ अपवृक्कता कहते हैं। ये चरबीयुक्त अपजनित कोशाएँ मूत्र के साथ बराबर उत्सर्गित हुआ करती हैं जिनके कारण मूत्र के तलछट (sediment) में चरबी पायी जाती है। इस रोग के निदान में मूत्र का यह स्वरूप विशेष महत्व का होता है। मूत्र नलिकाएँ साधारणतया अभिस्तीर्ण (Dilated) रहती हैं और उनके अधिच्छद का क्षय होता है। गुल्सकों में कोई परिवर्तन नहीं होता, परन्तु विशेष सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह मालूम हुआ है कि केशिकाओं का आधारभूत आवरण (Basement membrane) कुछ स्थूल हो जाता है। यदि रोग अधिक काल तक रहा तो गुत्सकों की यह विकृति अधिक हो जाती है। केशिकाओं की प्राचीर जब स्थूल होकर उनका मार्ग अधिक तंग हो जाता है तब वृक्क अकार्यक्षमता तथा रक्तनिपीडवृद्धि प्रारम्भ होती हैं।

रक्तगत परिवर्तन—(१) प्रोभूजिन—इनकी मात्रा में इसमें कम (अल्पप्रोभूजिनमयता Hypoproteineamia) होती है। सूजन उत्पन्न होने के लिए रक्तगत प्रोभूजिनों की जितनी कमी होनी चाहिए (पृष्ठ ३५) उससे भी अधिक कमी हो जाती है। यह कमी शुक्लि में होती है, आवर्तुलि (Globulin) की मात्रा स्वाभाविक या उससे भी कुछ अधिक ही रहती है जिससे शुक्लि-आवर्तुलिका अनुपात (Ratio) स्वाभाविक से उलटा हो जाता है। अल्पप्रोभूजिनमयता इस रोग की प्रधान कार्यान्वित (Functional) विकृति होती है, सूजन उत्पन्न होने की जिम्मेदारी मुख्यतया इसी पर निर्भर रहती है तथा इसका ज्ञान रोग निदान साध्यासाध्यता तथा चिकित्सा फल के लिए बहुत ही उपयोगी होता है।

(२) पैत्तव (Cholesterol)—प्रोभूजिनों की अल्पता के साथ पैत्तवों की अधिकता इस रोग की विशेषता है। साधारणतया पैत्तव की मात्रा ३०० सहस्त्रिधान्य (Mg) से अधिक होती है और कभी कभी १००० सहस्त्रिधान्य से अधिक (१२०० तक) मात्रा भी पायी जाती है। पैत्तव तथा अन्य स्निग्ध द्रव्यों की उपस्थिति के कारण रोगी की लसिका दुधिया वर्ण (Milky) की दिखाई देती है। रक्त की चरबी युक्त इस स्थिति के कारण ही इस रोग को विमेदाभ नाम रक्खा गया है। निदान में सहायता

करनेवाले अवलोकन में लसिका का दुधिया वर्ण एक बहुत महत्व का अवलोकन होता है।

इन दो परिवर्तनों के अतिरिक्त रक्त में कोई खास परिवर्तन नहीं होते। रक्तमिह (Urea) तथा अप्रोभूजिन भूयाति की मात्रा स्वाभाविक रहती है। श्वेतकायाणुओं के सकल तथा सापेक्षगणन में भी कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता, क्वचित् तीव्र आक्रमण में और अन्तिम अवस्था में उनकी संख्या बढ़ती (२० सहस्र तक) है और उसमें बहुाकारियों की अधिकता होती है। रक्तक्षय, जो गुत्सकीय वृक्कशोथ में प्रायः हुआ करता है, इसमें प्रायः नहीं होता।

सम्प्राप्ति—रक्त में यद्यपि प्रोभूजिनों और स्नेहों की मात्रा में बहुत घटबढ़ हुआ करती है तथापि वृक्क को छोड़कर शरीर के अन्य अंगों में कोई भी स्थायी विकृति न मिलने के कारण विभेदाभ अपवृक्कता प्राधान्यतया वृक्क का ही विकार माना जाता है, न कि प्रोभूजिन या स्नेह के समवर्त (Metabolism) का। इसमें प्रधान विकृति गुत्सक केशिकाओं में होती है जिसके कारण प्रोभूजिनों के लिए वे परमप्रवेश्य (Hyperpermeable) बनती हैं। इस रोग के प्रधान लक्षण की अर्थात् सर्वांगशोथ की जड़ यही परम प्रवेश्यता है।

इससे गुत्सकों में से प्रोभूजिन निस्यन्दित (Filter) होकर मूत्र में चले जाते हैं। रक्त में शुक्लि और आवर्तुलि (Albumin and globulin) दो प्रधान प्रोभूजिन होते हैं। आवर्तुलि का व्यूहाणु (Molecule) बहुत बड़ा होने से प्रवेश्यता बढ़ने पर भी उसका निस्यन्दन नगण्य होता है। शुक्लि का व्यूहाणु छोटा होने से उसका उत्सर्ग अधिक होता है। इससे, जैसे कि ऊपर कहा गया है रक्त में शुक्लि की मात्रा बहुत कम होकर अल्पप्रोभूजिनमयता (पृष्ठ ८६) उत्पन्न होती है।

आसृतीय निपीड (Osmotic pressure)—रक्त का आसृतीय निपीड मुख्यतया रक्तगत निरिन्द्रिय (Inorganic) लवणों पर और अल्पांश में प्रोभूजिनों पर निर्भर होता है। यह निपीड लगभग ६½ वातावरण (Atmosphere) के दबाव के बराबर होता है।

इतना अधिक दबाव होने पर भी द्रव के स्थानान्तर में केवल उसका अल्पांश ही काम में आता है जो प्रोभूजिनों से बनता है। इसका कारण यह है कि केशिका प्राचीर निरिन्द्रिय लवणों के लिए प्रवेश्य होने के कारण रक्तरस और धातुद्रव (Tissue fluids) तज्जन्य आसृतीय निपीड की दृष्टि से तुल्यबल होते हैं। दोनों में जो अन्तर है और जो रक्तरसगत अर्थात् केशिकागत आसृतीय निपीड़ की अधिकता में होता है, वह तद्गत प्रोभूजिनों के कारण होता है क्योंकि केशिकाओं की प्राचीर प्रोभूजिनों के लिए करीब करीब अप्रवेश्य होती है। यह अधिकता प्रोभूजिनों की राशि पर निर्भर होती है।

१०० घ० शि० मा० (C. C.) रक्त में १ धान्य शुक्लि (Albumin) से ५$\frac{1}{2}$ सहस्त्रिमान (m. m.) और उतनी ही आवर्तुलि (Globulin) से केवल १$\frac{1}{2}$ सहस्त्रिमान आसृतीय निर्पीड बनता है। इसका तात्पर्य यह है कि आसृतीय पीडन उत्पन्न करने में शुक्लि आवर्तुलि की अपेक्षा चौगुनी बलवान् होती है। स्वस्थावस्था में शुक्लि और आवर्तुलि की जो मात्रा रक्त में होती है उसके आधार पर (पृष्ठ ३५) स्वाभाविक आसृतीय निपीड २५ सहस्त्रिमान हो सकता है। और इतना आ-निपीड स्वस्थावस्था में धात्वावकाशों की अपेक्षा केशिकाओं में सदैव अधिक रहा करता है। आ. निपीड का यह नियम है कि अधिक निर्पीड अल्पनिर्पीड के स्थान से अपनी ओर द्रव खींच लेता है। इसलिए धातुद्रव बराबर केशिकाओं में आया करता है। द्रव के स्थानान्तर की दूसरी शक्ति रक्तनिपीड है। इसका कार्य आसृतीयनिपीड से उल्टा होता है अर्थात् अधिक निपीड के स्थान से द्रव अल्पनिपीड की ओर चला जाता है।

शरीर में द्रवविनिमय की प्रक्रिया—रक्त वह संस्थान और धातुओं के बीच में द्रव विनिमय (Exchange) केवल केशिकाओं द्वारा हुआ करता है, क्योंकि उनकी प्राचीर अर्ध प्रवेश्य (semi permeable) होती है। महाधमनी में रक्तनिपीड १२० सहस्त्रिमान होता है जो घटते घटते धमनियों के अन्त में और केशिकाओं के प्रारम्भ में ३२ सहस्त्रिमान तक कम हो जाता है। यह निपीड आसृतीय निपीड से अधिक होने के कारण केशिकाओं

के प्रारम्भ में उसके दबाव से द्रव बाहर की ओर धातुओं में चला जाता है। केशिकाओं में बहते समय द्रव बाहर निकल जाने के कारण रक्तनिपीड धीरे धीरे घटकर उनके अन्त में केवल १२ सहस्रिमान रह जाता है। इधर जलांश निकल जाने के कारण रक्तरस का आसृतीय निपीड घटने के बदले कुछ बढ़ ही जाता है। इसलिए केशिकाओं के अन्त में आसृतीय निपीड रक्तनिपीड से बहुत अधिक हो जाने के कारण धातुगत द्रवांश फिर से केशिकाओं के भीतर खींचा जाता है। स्वस्थावस्था में बहिर्गामी तथा अन्तरागामी द्रवांश राशि में समान होने से सूजन उत्पन्न नहीं होती।

इस रोग में रक्तगत आसृतीयनिपीड प्रोभूजिनों की मात्रा घटने के कारण बहुत घट जाता है, यहाँ तक कि उसका निपीड रक्तनिपीड के बराबर (१०--१२ सहस्रिमान) हो सकता है जिससे केशिकाओं के प्रारम्भ में धातुओं में गया हुआ द्रव फिर केशिकाओं में वापिस नहीं आ सकता और सूजन उत्पन्न होती है। संक्षेप में इस रोग में सूजन की न्यूनाधिकता रक्तगत प्रोभूजिनों की मात्रा पर मुख्यतया निर्भर होती है। इसकी उत्पत्ति में धातुओं के भीतर क्षारातु (Sodium)* का विधारण भी सहायता करता है। इसमें धातुओं के भीतर तथा त्वचा के नीचे जो द्रव इकट्ठा होता है उसकी गुरुता १०१० से कम रहती है तथा उसमें ·१% प्रोभूजिन रहते हैं। संक्षेप में वह पारयात जल (Transudate) होता है।

लक्षण—रोगी प्रायः बच्चा या नौजवान होता है, ४० वर्ष से अधिक वय का रोगी क्वचित् दिखाई देता है। तथा उसमें प्रायः तीव्र वृक्कशोथ के आक्रमण का इतिहास नहीं मिलता। रोग का आक्रमण प्रायः धीरे धीरे सिरदर्द, क्षुधानाश, तन्द्रा इत्यादि से होता है।

सूजन—इस रोग का यह प्रधान लक्षण होता है। सूजन धीरे धीरे या यकायक प्रकट हो सकती है। इसका प्रारम्भ प्रायः चेहरे पर, क्वचित् पैरों पर भी होता है। चेहरे पर यह प्रथम आँखों के चारों पर दिखाई पड़ती है वहां से कनपटी (Scalp) अन्तराधि (Trunk) हाथ पैर इत्यादि पर फैलती है। सूजन के कारण चेहरा फूला हुआ और पाण्डुरवर्ण

(Pale) दिखाई देता है। परन्तु रक्तक्षय न होने के कारण (पृष्ठ ५६) होठों और आंखों में फीकापन नहीं होता । पेट उदर प्राचीर की सूजन से तथा भीतर जल (जलोदर) इकट्ठा होने से काफी बढ़ा होता है। उदरावरण के समान परिफुफ्फुस हृदयावरण में भी जल इकट्ठा होता है ।

मूत्र—मूत्र की राशि कम (८–१२ औंस) होती है परन्तु उसकी गुरुता में विशेष फर्क नहीं होता। उसमें शुक्ति की राशि बहुत अधिक (½–१% तक क्वचित् ४% तक) होती हैं। उसमें कुछ तलछट बनता है जिसमें कुछ अधिक कोशाएँ होती हैं परन्तु निर्मोक नहीं होते। लालकण भी मूत्र में प्रायः नहीं रहते। शोणितमेह का अभाव गुल्सकीय वृक्कशोथ से पार्थक्य करने की दृष्टि से बहुत महत्व रखता है। इस रोग में मूत्र के द्वारा शरीर के प्रोभूजिनों की जितनी हानि होती है उतनी दूसरे किसी भी रोग में नहीं होती। शोथ की अवस्था में मूत्र में नीरियों (Chlorides) की मात्रा कम रहती है।

परिफुफ्फुस में जल इकट्ठा होने से तथा फुफ्फुसों में कुछ सूजन उत्पन्न होने से इसमें खाँसी और साँस का फूलना ये लक्षण भी होते हैं। हृदय और रक्तनिपीड प्राकृत रहता है और सूजन की असुविधा के अति-रिक्त रोगी को कोई विशेष तकलीफ नहीं होती।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—यह रोग दीर्घकालानुबन्धी और अनियमित स्वरूप का होता है। इसमें समय समय पर पुनरावर्तन होने की प्रवृत्ति होती है। पहले पहल जब रोग होता है तब वह धीरे धीरे बढ़ता जाता है और पूर्ण प्रवृद्ध (Fully developed) होने पर वह महीनों तक वैसा ही रहता है जिसमें कभी वह अधिक होता या कभी घट जाता है। लगभग २५ प्रतिशत रोगियों में यह घटकर करीब करीब पूर्णतया ठीक हो जाता है और जवानी में फिर वृक्क रोग का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता, २५ प्रतिशत रोगियों में रोग के लक्षण बरसों तक न्यूनाधिकता के साथ बराबर बने रहते हैं, ५० प्रतिशत रोगियों में रोग बढ़ता जाता है और रोगी उदरावरणशोथ, श्वसनी फुफ्फुसपाक विसर्प इत्यादि उपद्रवों से मरता है या धीरे धीरे जीर्ण वृक्कशोथ में परिवर्तित

होता है जिसमें धीरे धीरे सूजन कम होती जाती है, आलस्य और थकावट बढ़ते जाते हैं, रक्तक्षय उत्पन्न होता है रक्तनिपीड बढ़ता जाता है, हृदय परमपुष्ट होता है और मूत्रविषमयता से मृत्यु होता है। उपसर्गों में फुफ्फुस गोलाणुओं के उपसर्ग विशेष महत्व के होते हैं। मृत्यु प्रायः फुफ्फुसगोलाणुजन्य पर्युदरशोथ (Pneumococcal peritonitis) से होता है। मालुम होता है कि इस रोग का परिणाम शरीर में विशेष रूप से फुफ्फुसगोलाणुओं के लिए प्रतिकारता घटने में होता है।

अपवृक्कय दारुण्य (Nephrotic crisis)—इस रोग में पुनरावर्तनशीलता होती है। कभी कभी पुनरावर्तन स्फूर्जक स्वरूप के (Fulminating) होते हैं। इसको अपवृक्कय दारुण्य कहते हैं। यह दारुण्य प्रायः उपसर्ग जन्य होता है। इसमें यकायक ज्वर, अरोचक हृल्लास वमन, छाती और उदर में पीड़ा, अल्पमूत्रता या अमूत्रता, शरीर की सूजन की वृद्धि, छाती, उदर इत्यादि में जलसंचय, मस्तिष्क में सूजन होने के कारण आक्षेप सन्न्यास (Coma) इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं और रोगी की स्थिति बहुत चिन्ताजनक होती है। इस दारुण अवस्था में रक्त में तिक्ति अम्लों (Amino acids) की मात्रा यकायक बहुत गिर जाती है।

निदान—त्वचा की सिक्थवर्णता (मोम के समान पाण्डुर वर्णता), सर्वांग शोथ, मूत्राल्पता, अत्यधिक शुक्लिमेह, मूत्र में रक्त का अभाव, तीव्र वृक्क शोथ के पूर्ववृत्त का मिलना, रक्त, हृदय और रक्तनिपीड की स्वाभाविकता, रोगी की आयु इत्यादि से रोग का निदान हो सकता है।

शोणितमेह, निर्मोकमेह, रक्तक्षय इनका अभाव, रक्तगत मिह की अधिकता, हृदय की परम पुष्टि, रक्तनिपीड की अधिकता वृक्कशोथ के निदर्शक होते हैं। प्लीहाभिवृद्धि, रक्तक्षय, पूयभवन मण्डाभ (Amy-loid) वृक्क के निदर्शक होते हैं।

चिकित्सा—प्रारम्भ में अनुतीव्र वृक्कशोथ के समान रोगी को बिस्तरे पर आराम से रक्खें और गरम कपड़ों से उसकी शीत से रक्षा की जाय। जल की मात्रा कम की जाय। भोजन में नमक और स्नेह कम रक्खें। रोग का निदान होने पर निम्न प्रकार से उसकी चिकित्सा की जाय।

आहार—इस रोग में रक्त में प्रोभूजिनों की मात्रा कम रहती है। इसलिए अधिक प्रोभूजिनयुक्त भोजन रोगी को दिया जाता है। प्रोभूजिनों की दैनिक मात्रा का प्रमाण २४ घण्टे में उत्सर्गित मूत्रगत प्रोभूजिन की राशि और शरीर के प्रति एक सेर भार के पीछे ½ धान्य प्रोभूजिन इस प्रकार निर्णित किया जाता है। चर्बी, नमक और जल की मात्रा कम रक्खी जाती है। खाद्य द्रव्यों में दूध, अण्डा, मछली, साग, सब्जी, फल ये पदार्थ मुख्यतया दिये जाते हैं।

स्कीम का आहार (Schemm's diet)—आज कल इस रोग रोग में यह आहार दिया जाता है। यह लवणहीन और जलयुक्त (दिन रात में ३ प्रस्थ) आहार है। इसके तीन प्रकार होते हैं और रोगी की शक्ति और रुचि के अनुसार उनमें से एक का प्रयोग किया जाता है।

१ प्रकार—३४ औंस दूध, ३ अण्डे, लवणहीन रोटी ५ औंस, लवणहीन मक्खन २ औंस, स्पांजकेक (आटा, अण्डा और शर्करा की एक सुपाच्य मीठी रोटी) १ औंस, पॉरिज (ओटमील या सब्जी का बनाया हुआ सूप) ६ औंस, फल ३½ औंस। यह आहार ६ भागों में विभक्त करके तीन तीन घण्टे पर दिया जाता है। अण्डे के बदले एकाध बार २ औंस मछली दे

२ प्रकार—दूध १४ औंस, अण्डे २, लवणहीन रोटी ४ औंस, लवणहीन मक्खन १ औंस, लवणहीन पॉरिज ६ औंस, मांस ३ औंस, सब्जी ३ औंस आलू २ औंस, दूध का पुडिंग (साबूदाना या चावल की खीर) ६ औंस उबाला हुआ (Stewed) सेब ४ औंस, शर्करा ⅓ औंस। यह आहार तीन विभागों में बाँट करके दिन में तीन बार दिया जाता है।

३ प्रकार—दूध १३ औंस, लवणहीन रोटी ६ औंस, लवणहीन मक्खन ½ औंस, लवणहीन पॉरिज ६ औंस, अण्डा १, मांस २ औंस, सब्जी ४ औंस, आलू ८ औंस, दूध का पुडिंग ४ औंस, जाम ½ औंस, सन्तरा या उसके समान दूसरे फल ३ औंस।

औषधि चिकित्सा—इस रोग का प्रधान पीडादायक लक्षण सर्वांग शोथ होता है। इसलिए औषधि चिकित्सा से शोथ हरण का कार्य किया जाता है। इसके लिए मुख्यतया मूत्रल औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं या जो

औषधियाँ प्रयुक्त की जाती हैं वे मूत्रवृद्धि द्वारा शोथहरण का कार्य करती हैं।

मिह (Urea)—यह सर्वोत्तम तथा नैसर्गिक मूत्रल औषधि है। ३०-६० ग्रेन की मात्रामें दिन में त्रिवार यह औषधि मुख द्वारा दी जाती है।

पारदीय मूत्रल औषधियां (Murcurial diuretics)—यदि इनसे कोई विषैला परिणाम न हो तथा मूत्रलता (Diuresis) उत्पन्न हो जाय तो इनका उपयोग दीर्घकाल तक कर सकते हैं। इनका उपयोग सिरान्तर्य मार्ग से न करके पेश्यन्तर्य मार्ग से किया जाय। सिरान्तर्य मार्ग से यकायक मृत्यु का भय बना रहता है।

कार्टिसोन—मात्रा १००—२०० मि. ग्रा. पेश्यन्तर्य दिन में एक बार या मुख द्वारा १०० मि. ग्रा. की मात्रा में प्रति ६ घण्टे पर दिन में ३ बार।

अपवृक्य दारुण्य की चिकित्सा—यह अवस्था प्रायः उपसर्गजनित होने के कारण शरीर में कोई विशिष्ट उपसर्ग हो तो उसकी विशिष्ट औषधि प्रयुक्त की जाय। न मालूम हो तो शुल्बौषधियों में से कोई एक या पेनीसिलीन का उपयोग करें। इसमें रक्तगत तिक्तीअम्ल बहुत घट जाते हैं। इसलिए ५प्र०श०तिक्तीअम्ल ५प्र०श०मधुम (Glucose) जल के साथ सिरान्तर्य मार्ग से दिन में कई बार दिए जाँय। इसके अतिरिक्त श्वसन की कठिनाई और श्यावता के लिए प्राणवायु सूँघने के लिए दिया जाय, छाती और उदर में जल इकट्ठा हुआ हो तो उरः पारवेधन (Thoracentesis) तथा उदर पारवेधन (Paracentesis) किया जाय। आक्षेपादि लक्षणों में मस्तिष्क सूजन की आशंका हो तो कटिवेधन किया जाय। शरीर की सूजन कम करने के लिए त्वग्वेधन की आवश्यकता नहीं होती और होने पर भी वेधव्रण उपसृष्ट होने के डर से उसका निषेध होता है।

अवटुका निस्सार (Thyroid extract)—इस रोग में समवर्तन गति (Metabolic rate) मन्द रहती है। इस आधार पर रोगी को अवटुका निस्सार दिया जाता है। मात्रा २-१५ ग्रेन प्रतिदिन समवर्तन गति तथा रक्तगत पैत्तव स्वाभाविक होने के समय तक अर्थात् अनेक मास तक। इसके साथ अधिक प्रोभूजिन, अल्पस्नेह, अल्प लवण, अल्प जल इनसे युक्त आहार जारी रक्खा जाता है।

इन पुराने औषधियों के अतिरिक्त निम्न नवीनतम औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

लवणहीन शुक्लि (Salt free Albumin)—यह मानवी रक्त से प्राप्त की हुई लवणहीन शुक्लि है। यह द्रव्य २५% विलयन के रूप में सिरान्तर्य मार्ग से दिया जाता है। मात्रा १०० घ. शि. मा. (C. C.) दिन में २ बार चार दिन तक या ४०० घ. शि. मा. एक दिन एक बार। यह नवीनतम औषधि है। इससे रक्तरस की राशि (Plasma-volume) बढ़कर मूत्रल परिणाम होता है और सूजन कम होती है।

ए. सी. टी. एच.—मात्रा ४०—१०० मि. ग्राम. प्रतिदिन पेश्यन्तर्य मार्ग से ४ से १२ दिन तक।

मण्डाभ वृक्क

पर्याय—Amyloid kindney, सिक्थाभ वृक्क (Waxy kidney)

हेतु—वृक्क का यह विकार अस्थिगत जीर्ण पूयभवन, जीर्ण राजयक्ष्मा और फिरंग में उत्पन्न होता है। जीर्ण फुफ्फुसक्षय में ४० प्रतिशत और अस्थिक्षय में इससे भी अधिक रोगी मण्डाभ वृक्क से पीडित होते हैं। इन कारणभूत रोगों की चिकित्सा आधुनिक काल में प्रारम्भ में ही होने के कारण वृक्क का यह विकार आज कल बहुत ही विरल हो गया है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह अधिक दिखाई देता है। बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में (५० के पश्चात्) यह दिखाई नहीं देता। विवर्धमानावस्था और युवावस्था में यह अधिक हुआ करता है।

फिरंगादि उपर्युक्त जीर्ण उपसर्गों के अतिरिक्त अन्य जीर्ण उपसर्गों में यह विकार प्रायः उत्पन्न नहीं होता। परन्तु इस प्रकार की आंशिक विकृति गम्भीर आमवातज हृद्रोग में तथा जीर्ण हृद्वाहिनीय (Cardio vascular) विकार में कभी कभी पायी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ रोगियों में इसका कोई कारण मालूम नहीं होता।

संप्राप्ति और शारीरिक विकृति—मण्डाभ द्रव्य प्रोभूजिन अपजनन (Protein degeneration) से उत्पन्न होता है। यह कैसे उत्पन्न होता है इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हुआ। वीरचौ (Virchow) इस द्रव्य को माण्ड (Amyl--Starch) के समान समझता रहा जिसके कारण उसने इसको मण्डाभ (Amyloid) नाम दिया। परन्तु वस्तुतः यह प्रोभूजिन है। यह द्रव्य कैसे भी उत्पन्न होता हो, इसकी उत्पत्ति के लिए जीर्ण पूयजनक उपसर्ग और जीर्ण विशिष्ट कणिकार्बुद (Specific granulomata) विशेषतया राजयक्ष्मा इन दोनों के संयोग की आवश्यकता होती है।

इस रोग में वृक्क आकार में बड़ा और पाण्डुरवर्ण होकर अनुतीव्र गुत्सकीय वृक्कशोथ के 'बृहत् श्वेतवृक्क' के समान दिखाई देता है। इसका पृष्ठ भाग मुलायम रहता है और आटोपिका आसानी से छिल जाती है। इसका संगठन (Consistancy) काफी स्थिर होता है और काटने पर वह सिक्थवर्ण दिखाई देता है। रोग दीर्घकाल तक चला तो आगे चलकर वृक्क सिकुड़कर छोटे होते हैं।

इस रोग में मण्डाभ द्रव्य वृक्कों की गुत्सकों में, धमनिओं में तथा संहरण नलिकाओं (पृष्ठ ४, ५) के चारों ओर इकट्ठा होता है। इस संचय का सबसे अधिक परिणाम गुत्सकों पर होता है। इससे गुत्सकों के केशिका पाश बन्द हो जाते हैं। उनके बन्द होने से आगे की कुण्डलिकाएँ क्षीण (Atrophic) होकर उनके स्थान में तान्तव धातु उत्पन्न होता है। इस प्रकार की विकृति के साथ साथ अन्तःसारीय (Parenchymatous) की अपेक्षा अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ भी प्रायः हुआ करता है। तथा यह एक व्यापक अपजनन का रोग होने के कारण वृक्क के साथ यकृत्, प्लीहा आन्त्र इत्यादि अंगों में भी इस प्रकार की विकृति पायी जाती है।

लक्षण—रोग का प्रारम्भ धीरे धीरे होता है। शरीर में पूयभवन तीन मास या इससे अधिक रहने पर ही यह रोग उत्पन्न होता है। रोग के लक्षण पूर्वोक्त अपवृक्कता के समान (सूजन और मूत्र विकृति) ही

होते हैं। प्रायः सब रोगियों में शुक्लिमेह होता है। परन्तु शुक्लि की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। यह शुक्लिमेह गुत्सकीय केशिकाओं की प्रवेश्यता बढ़ने से होता है। इसका सम्बन्ध मण्डाभ द्रव्य के संचय से नहीं है। मूत्र की राशि अधिक रहती है और उसकी गुरुता बहुत कम (१००३-१०१०) होती है। मूत्र में काचर (Hyaline) और कणिकामय निर्मोक (Granualar) भी मिलते हैं। मूत्र की राशि आगे कम होकर सूजन प्रारम्भ होती है। वृक्कों की अकार्यक्षमता (Insufficiency) केवल २५—३०प्र०श०रोगियों में ही पायी जाती है और हृदय की परमपुष्टि और रक्तनिपीडवृद्धि केवल ५—१०प्र०श० रोगियों में होती है। इसका कारण जीर्णवृक्कशोथ होता हैं।

निदान—राजयक्ष्मा, फिरंग, पूयभवन का पूर्ववृत्त, सूजन, मूत्र विकृति, यकृत्प्लीहाभिवृद्धि, प्रवाहिका इत्यादि से इन अंगों में मण्डाभ अपजनन की उपस्थिति इससे रोग का निदान किया जा सकता है। आचूषण जीवच्छिरण (पृष्ठ ४८) निदान में सहायता करता है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—यह रोग दीर्घकालानुबन्धी है। साध्यासाध्यता मूल रोग के उपर निर्भर होती है और रोगनिदान होने के पश्चात् ६० प्रतिशत आधे साल के भीतर और ८० प्रतिशत सालभर के भीतर मर जाते हैं। मृत्यु मण्डाभ विकृति के कारण न होकर प्रधान रोग के कारण या वृक्कशोथजन्य मूत्रविषमयता के कारण होता है। यदि प्रधान रोग की चिकित्सा जल्दी की जाय तो इस रोग का आगे बढ़ना ही केवल बन्द नहीं होता, रोग का कुछ कुछ उपशम भी होने लगता है। परन्तु यह देखा गया है कि यकृत्-प्लीहा-आन्त्रगत विकृति का जितना उपशम होता है उतना वृक्कगत विकृति का नहीं होता।

चिकित्सा—मूल रोग की चिकित्सा की जाय। फिरंग में भिदातु (Bismuth) और नेपाली (Arsenic) का उपयोग करें; पारद और जम्बेय (Iodides) का प्रयोग न करें; पूयभवन में शस्त्रकर्म का प्रयोग किया जाय। सामान्य चिकित्सा में शुद्ध हवा, पौष्टिक अन्न, लोह, मछली का तेल इनका प्रयोग किया जाय।

वृक्कजरठता Nephrosclerosis

इस रोग में प्राथमिक और प्रधान विकृति रक्तवाहिनियों में अर्थात् धमनियों (Arteries) और धमनिकाओं (Arterioles) में हुआ करती है। अन्तःसार (Parenehyma) और अन्तराल (Interstices) में प्रारम्भ में विकृति होती ही नहीं और आगे चलकर जब होती है तब गौण रहती है। इस विकृति के निम्न तीन भेद किये जाते हैं।

(१) *सौम्य* (Benign) —इसमें वृक्कगत छोटी धमनियों और धमनिकाओं में विकृति होती है। इसका स्वरूप प्रसृत परमचयिक जरठता (Diffuse hyperplastic sclerosis) का होता है। इसमें धमनिकाओं के अन्तस्तर (Intima) कोशाओं का प्रफलन (Proliferation) होकर आगे काचर (Hyaline) और स्नेहीय (Fatty) अपजनन होता है। इससे उनका मार्ग अवलुप्त (Obliterate) होकर वृक्कों में रक्त की कमी (Ischaemia) होती है जिससे गुल्सकों में तन्तूत्कर्ष, मूत्र नलिकाओं का क्षय और तदनन्तर अन्तराल में विकृति होती है। इससे वृक्क सिकुड़कर छोटे होते हैं। यह विकृति सम्पूर्ण वृक्क में न होकर खण्डित (Patchy) होने से वृक्कों की कार्यक्षमता जल्दी खराब नहीं होती। वृक्क के जिन अंगों में विकृति नहीं होती उनके वृक्काणु परमपुष्ट होकर अधिक काम करने लगते हैं; परन्तु धीरे धीरे उनकी संख्या घटकर वृक्कातिपात (Renal failure) या उससे सम्बन्धित उपद्रवों से मृत्यु होता है। आगे परमाततित भी देखो। वृक्कान्तर्गत धमनिकाओं के समान प्लीहा, अग्न्याशय, यकृत, मस्तिष्क इत्यादि अंगों की धमनियाँ भी (क्रम से) इस रोग में अंशतः विकृत होती हैं।

इस रोग के हेतु तथा लक्षण सौम्य वास्तविक परमाततित (Essential hypertension) के समान होते हैं। कभी कभी मूत्र में शुक्लि का लेश (Trace) या पतला अभ्र (Thin cloud) दिखाई देता है तथा उसमें काचर तथा कणिकामय निर्मोक अधिकता से पाये जाते हैं, ऐसी अवस्था में उसको जीर्ण वृक्कशोथ समझने की भूल हो सकती है, परन्तु तीव्र वृक्कशोथ के पूर्ववृत्त का और वृक्क की अकार्यक्षमता का अभाव

इससे पार्थक्य करने में सहायता करता है। क्वचित् यह विकार मारात्मक में परिवर्तित होकर मूत्र विषमयता से मृत्यु हो सकती है।

चिकित्सा—परमपीडनमयता और मूत्रविषमयता के समान इसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

(२) *मारात्मक* (Malignant)—इसमें भी सौम्य के समान वृक्कगत रक्तवाहिनियों की विकृतियाँ वृक्क के अन्य अंगों की विकृतियों की अपेक्षा अधिक महत्व की होती हैं। परन्तु प्रथम भेद यह होता है कि इसमें कोशिकीय प्रफलन धमनिकाओं के केवल अन्तस्तर में मर्यादित न रहकर मध्य स्तर (Media) में भी फैलता है, दूसरा भेद यह होता है कि अन्तस्तर में तन्त्वि निभ विनाश (Fibrinoid necrosis) होता है। इन दो विकृतियों के कारण वृक्क बहुत जल्दी अकार्यक्षम हो जाते हैं और मूत्रविषमयता से मृत्यु हो जाता है।

इस रोग के हेतु और लक्षण मारात्मक वास्तविक परमाततिके समान होते है। इसको जीर्ण वृक्कशोथ समझने की भूल हो सकती है। परन्तु तीव्र या जीर्ण वृक्कशोथ के पूर्ववृत्त के या सूजन के अभाव से, रक्तस्रावी प्रवृत्ति से, अधिक रक्तनिपीड से इसको जीर्ण वृक्कशोथ से, पृथक् कर सकते हैं। अक्षबिम्ब सूजन (Papilloedema) भी मारात्मक वृक्क जरठता का महत्व का लक्षण है जो रक्तनिपीड स्वाभाविक के आसपास रहने पर जीर्ण वृक्कशोथ में नहीं दिखाई देता। आगे परमातति भी देखो।

चिकित्सा—मारात्मक वास्तविक परमातति के समान।

जराजन्य (Senile)—विकृति की दृष्टि से इसको वृक्क जरठता कह सकते हैं। वृद्धावस्था के परिणामस्वरूप शरीर की महाधमनी तथा अन्य धमनियाँ जरठ हो जाती है। उनके साथ वृक्क्य धमनी भी जरठ होकर उसकी नाली तंग हो जाती है। इससे रक्तसंचार में बाधा होकर अनेक गुत्सक तथा उनकी नालियाँ नष्ट होकर उनके स्थान में तान्तव धातु उत्पन्न होता है। तन्तुभूत क्षेत्रों के बीच का भाग स्वाभाविक ही रहता है। इसमें वृक्क कुछ सिकुड़ा हुआ रहकर उस पर अनेक व्रणवस्तुएँ दिखाई देती हैं। इसलिए इसको किणित (Scarred) संकुचित वृक्क भी कहते हैं।

यद्यपि विकृति की दृष्टि से इसका समावेश वृक्क जरठता में किया गया है तथापि लक्षणों की दृष्टि से उससे इसकी कोई समानता नहीं होती। इसमें रक्तनिपीड नहीं बढ़ता, हृदय परमपुष्ट नहीं होता तथा मृत्यु मूत्र विषमयता या मस्तिष्कगत रक्तस्राव से नहीं होता। धीरे धीरे वृक्कों की कार्यक्षमता घटती जाती है और उसके साथ रोगी का शारीरिक और मानसिक बल घटता जाता है। मृत्यु प्रायः हृदयातिपात या कोई दूसरे रोग से होती है।

वृक्कालिन्दशोथ Pyelonephritis

हेतु—(१) *उपसर्ग*—यह रोग उपसर्गजन्य है। अधिक संख्य रोगियों में स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. coli) का उपसर्ग पाया जाता है। परन्तु इसके अतिरिक्त मालागोलाणु, स्तबकगोलाणु, गुच्छगोलाणु, नानारूप दण्डाणु (B. proteus) तथा तन्द्राभगण (Typhoid group) के दण्डाणु भी इसमें पाये जाते हैं। उपसर्ग एक जाति से हो सकता है परन्तु प्रायः मिश्र रहता है।

यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक दिखाई देता है और वह भी शैशवावस्था में अधिक (१:१०) क्योंकि उस अवस्था में बालकों की अपेक्षा बालिकाओं में मूत्रमार्ग से उपसर्ग भीतर पहुँचने की अधिक सम्भावना रहती है। पुरुषों में प्रायः यह रोग उत्तर आयु में देखा जाता है।

(२) *मूत्र मार्गावरोध*—इसकी उत्पत्ति का यह प्रधान प्रकोपक हेतु होता है। यह मार्गावरोध स्त्रियों मे गर्भावस्था से या गर्भाशय ग्रीवा कर्कट (Cancer) से, पुरुषों मे शिश्नमार्ग उपसंकोच (Stricture) से या अष्ठीला की अभिवृद्धि से और दोनों मे वृक्क, गवीनी, बस्ति के अर्बुदों से या अश्मरियों (Stones) से, सहकारी (Accessory) वृक्कय धमनी द्वारा गवीनी के दब जाने से तथा परावटुका ग्रन्थिविकार तथा अन्य अश्मरी उत्पन्न करनेवाले विकारों से, वृक्कक्षय से, जलापवृक्कता (Hydronephrosis) से, अनुप्रस्थ मज्जाशोथ (Transverse myelitis) से, आन्त्रिक उपसर्ग या विरेचन जन्य आन्त्रिक प्रसेक (Intestinal catarrh) से होता है।

(३) मूत्र मार्गावरोध के अतिरिक्त वृक्कय अलिन्द के रोगों तथा अभिघातों में भी यह विकार हो जाता है। जैसे, गवीनी में शलाका का डालना ।

उपसर्ग पहुँचने के मार्ग –(१) रक्तमार्ग—रक्त में उपस्थित रहनेवाले जीवाणुओं का उत्सर्ग करना यह वृक्कों का एक स्वाभाविक कार्य होता है। इसलिए अनेक बार जीवाणु रक्त के द्वारा वृक्कालिन्द में पहुंचकर रोग उत्पन्न करते हैं । रक्त द्वारा पहुँचा हुआ उपसर्ग प्रथम वृक्क के बाह्यांग (Cortical portion) में प्रस्थापित होता है। उसके पश्चात् अन्य अंगों में फैलता है।

(२) गवीनीमार्ग—जब मूत्रमार्गावरोध होता है तब उपसर्गकारी तृणाणु नीचे से ऊपर की ओर मूत्र प्रवाह की उल्टी दिशा में चलकर वृक्कालिन्द में पहुंचते हैं। इसमें गवीनीगत मूत्र का पश्चवहन (Reflux) सहायता करता है ।

(३) परिगवीनीय लसायनियाँ (Peri-ureteral lymphatics)—मूत्राशय, शिश्न, अष्ठीला, वीर्याशय, अधिवृषण (Epididymis) इत्यादि अंगों में रहनेवाले उपसर्गकारी तृणाणु प्रायः इस मार्ग से वृक्कालिन्द में पहुंच जाते हैं। द्वितीयक और तृतीयक मार्ग से पहुंचनेवाले तृणाणु प्रथम अलिन्द और वृक्क के मज्जांग (Medullary portion) में स्थापित होते हैं।

(४) लसायनीमार्ग—आन्त्रपुच्छशोथ, स्थूलान्त्रशोथ इत्यादि आन्त्र के विकारों में तृणाणु क्वचित् लसायनियों द्वारा वृक्कालिन्द में पहुँच जाते हैं।

इन चारों मार्गों में प्रथम मार्ग प्रधान और अन्तिम मार्ग अत्यन्त गौण होता है।

सम्प्राप्ति और शारीरिक विकृति--मूत्रण संस्थान के व्यापक (Generalised) उपसर्ग की यह विकृति एक महत्व की घटना है। इस रोग में रक्त से या अन्य मार्ग से आये हुए तृणाणु वृक्कालिन्द पर आक्रमण करके वहाँ पर रहकर प्रगुणित होते हैं । मूत्रमार्गावरोध या वृक्कालिन्द की रुग्ण या क्षयित अवस्था इसमें सहायता करती है ।

जब केवल अलिन्द में अर्थात् गवीनी के ऊपर के चौड़े हुए सिर में उपसर्ग मर्यादित रहता है या वृक्कों में उपसर्ग पहुँचने पर भी उनके उत्सर्जन कार्य (Excretory function) पर कोई परिणाम नहीं होता तब उस विकृति को अलिन्दशोथ (Pyelitis) कहते हैं। परन्तु इस प्रकार केवल अलिन्द का शोथ बहुत कम दिखाई देता। प्रायः सब उपसर्गों में अलिन्द के साथ वृक्क भी काफी उपसृष्ट रहते हैं। इसलिए इस विकृति को वृक्कालिन्दशोथ (Pyelonephritis) ही कहना उचित होता है।

इस रोग में प्रायः दोनों वृक्कों में विकृति होती है, परन्तु एक की अपेक्षा दूसरे में कुछ अधिक रहती है। यह विकृति स्थानिक या प्रसृत (Diffuse) दोनों प्रकार की हो सकती है। इस रोग की तीव्र और जीर्ण दो अवस्थाएँ होती है और उनके अनुसार विकृति का स्वरूप भिन्न भिन्न हुआ करता है।

तीव्र प्रकार में वृक्कों की अभिवृद्धि होती है और उनके बाह्य अंश (Cortical) में १–२ मि०मि० की मोटाई की अनेक विद्रधियाँ रहती हैं। मज्जकांश में भी पूयभवन की पीली रेखाएँ दिखाई देती हैं। उत्तान विक्षत (Superficial lesions) कुछ उभरे हुए रहते हैं। जब उनका रोपण हो जाता है तब उनकी व्रणवस्तु अवनत हो जाती है। यदि पूयभवन बढ़ता गया तो वृक्क के भीतर पूय के बड़े बड़े अवकाश बनते हैं। इसको पूयापवृक्कता (Pyonephrosis) कहते हैं। जलापवृक्क जब आगे चलकर उपसृष्ट होता है तब वृक्क काफी अभिवृद्ध होकर उसका पृष्ठ भाग खण्डयुक्त और ऊबड़-खाबड़ रहता है और उसको खोलने पर वृक्क केवल एक परिवेष्टन (Shell) मात्र दिखाई देता है।

अलिन्द रक्तवर्ण होकर कुछ अभिस्तृत (Dilated) रहते हैं और उनकी श्लेष्मकला शोथयुक्त होकर निर्यास (Exudate) से लिप्त रहती है तथा उपश्लेष्मकला की सिरिकाएँ (Veinules) रक्तपूर्ण रहती हैं। रोग अधिक बढ़ने पर श्लेष्मकला का कुछ विनाश भी होता है।

जीर्ण रोग में वृक्क स्वाभाविक परिमाण का कुछ अभिवृद्ध या संकुचित हो सकता है। उनके पृष्ठ भाग पर कुछ अवनत स्थान दिखाई

देते हैं और वहाँ पर आटोपिका चिपकी हुई रहती है। इन अवनत स्थानों में गुत्सक और मूत्र नलिकाएँ कम होकर उनके स्थान में अन्तराल (Interstitial) धातु बढ़ता है, रक्तवाहिनियां स्थूल होती हैं। अन्यत्र वृक्क की रचना प्राकृत ही रहती है। अलिन्दों की दीवाल मोटी और रक्ताधिक्य युक्त (Congested) होती है और उसका अवकाश अंशतः या पूर्णतः शोथ जनित निर्यास से भरा रहता है।

जीर्ण रोग में आगे चलकर तन्तूत्कर्ष के कारण वृक्क सिकुड़कर छोटा हो ही जाता है और उसका ऊपर का भाग दानेदार होता है। इस प्रकार के वृक्क को वृक्कालिन्द शोथ जन्य संकुचित वृक्क (Pyelonephritic contracted kidney) कहते हैं। यह वृक्क देखने में जीर्ण गुत्सकीय वृक्कशोथ या वृक्कजरठता के वृक्कों के समान दिखाई देता है। कुछ विकृतिविज्ञानवेत्ताओं का कथन है कि संकुचित वृक्क अधिकतर गुत्सकीय वृक्कशोथ की अपेक्षा वृक्कालिन्द शोथ से ही हुआ करता है। इन तीनों में पार्थक्य करने की दृष्टि से निम्न बातें महत्व की होती हैं—

वृक्कालिन्द शोथ में अलिन्द, गवीनी इत्यादि स्थूल होती हैं इतरों में नहीं। गुत्सकीय वृक्कशोथ की अपेक्षा वृक्कालिन्द शोथ का वृक्क अधिक ऊबड़-खाबड़ (Coarsely scarred) होता है। वृक्कजरठ वृक्क के निशान अधिक फीके (Pale) होते हैं और काटने पर V के आकार के दिखाई देते हैं। वृक्कालिन्दशोथ के वृक्क के निशान (Scars) अधिक काले होते हैं और काटने पर U के आकार के दिखाई देते हैं। गवीनी में जब कहीं मार्गावरोध रहता है तब उसके ऊपर की गवीनी अधिक चौड़ी फैली हुई, मोटी और टेढ़ी मेढ़ी होती है।

रक्त—इस रोग में रक्तक्षय मध्यम स्वरूप का होता है। मुख्य परिवर्तन श्वेतकायाणुओं की संख्या में होता है। इसमें बहुाकारियों का उत्कर्ष (Polymorphonuclear leucocytosis) होता है और उत्कर्ष के अनुसार रोग की तीव्रता का और विकृति के विस्तार का कुछ अनुमान किया जा सकता है। तीव्र रोग में रक्त में कारणभूत जीवाणु भी उपस्थित रहते हैं और रक्त संवर्ध से उनका पता चल सकता है।

लक्षण—तीव्र रोग में रोग का आक्रमण यकायक होकर जाड़ा, वमन, सिरदर्द, ज्वर, दौर्बल्य इत्यादि लक्षण होते हैं। ज्वर १०५°–१०६° तक भी हो सकता है। ज्वर के अनुपात में नाड़ी और श्वसन की गति होती है। प्रायः मलावरोध भी रहता है। सर्व लक्षण, विषमयता या तृणाणु दोषमयता (Septicaemia) के होते हैं। अनेक रोगियों में तीव्रावस्था में तृणाणु दोषमयता वस्तुतः होती है। बच्चों में वमन, प्रवाहिका ये लक्षण रहते हैं।

अनुतीव्र या जीर्ण प्रकार में जाड़ा विशेष नहीं होता, ज्वर १०२°–१०३° तक रहता है और विसर्गी या अर्धविसर्गी स्वरूप का तथा अनियमित होता है। इसके अतिरिक्त बेचैनी, अरोचक, शरीरकृशता, रक्तक्षय इत्यादि लक्षण भी होते हैं। रोग बहुत पुराना होने पर रक्तनिर्पीड के साथ या उसके बिना संकुचित वृक्क के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ५० वर्ष के आस-पास होनेवाले इस विकार में रक्तनिर्पीड प्रायः रहता है, परन्तु बच्चों में यह लक्षण प्रायः नहीं पाया जाता।

स्थानिक लक्षण—कटि प्रदेश में वृक्कस्थान के आसपास पीडा इस रोग का महत्व का लक्षण होता है। कभी कभी वहाँ पर कुछ सूजन भी दिखाई देती है। प्रारम्भ में पीडा अल्प और अन्तरित और आगे चलकर अधिक और अखण्डित (Constant) होती है। इसके अतिरिक्त पीडा के स्थान में गम्भीर पीडनासहता (Deep tenderness) भी होती है। यह पीडा कभी कभी काफी फैली हुई और औदरिक (Abdominal) भी रहती है। कभी कभी इसकी तीव्रता वृक्कयशूल (Colic) के समान असह्य भी होती है। कटिपीडा के साथ प्रायः मूत्र त्यागने की बारम्बारता (Frequency) बढ़ती है, उसमें अविलम्ब्यता (Urgency अविलम्बेन त्यागने की आवश्यकता, रोकने की असमर्थता) आ जाती है तथा अनेक बार बिन्दुमूत्रता (Strangury) भी रहती है। बच्चों में शय्यामूत्र (Bed-wetting) का यह रोग एक प्रधान कारण है। उनमें अनेक बार स्थानिक लक्षण नहीं दिखाई देते।

मूत्र—इसकी विकृति इस रोग के निदान में विशेष महत्व रखती है। मूत्र की राशि अल्प होती है। उसको बार बार त्यागने की आवश्यकता

होती है, वह बूँद बूँद करके टपकता है और मटियाला (आविल Turbid) रहता है। छानने पर भी इसकी पारभासता या आविलता नष्ट नहीं होती। तथा नलिका में लेकर घुमाने पर उसमें कुछ चमक (Shimmer) दिखाई देता है। मूत्रपात्र में रखने पर उसमें कुछ तलछट बनता है। सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करने पर उसमें श्वेतकण और अधिच्छदीय कोशाएं दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त उसमें काफी दण्डाणु भी दिखाई देते हैं। इनका पता संवर्धन से लग जाता है। स्त्रियों में संवर्धन के लिए सलाई से मूत्र निकाला जाय। मूत्र में कुछ लालकण भी मिलते हैं, परन्तु शोणितमेह कहने योग्य उनकी संख्या नहीं होती। मूत्र में शुक्लि की न्यूनाधिक मात्रा सदैव मिलती है।

स्थूलान्त्र दण्डाणुओं के उपसर्ग में मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल और उसकी गन्ध मछली के समान तथा नानारूप (Proteus) दण्डाणुओं के उपसर्ग में उसकी प्रतिक्रिया क्षारीय और गन्ध तिक्तातु (Ammonia) की होती है।

उपद्रव—तीव्र रोग चिरकालीन में परिवर्तित होता है और अनेक बार बीच बीच में उसके पुनरावर्तन आया करता है जिसको प्रत्यावर्तक या पुनरावर्तक (Recurrent or relapsing) प्रकार कहते हैं। कभी कभी सपूय वृक्कशोथ या पूयापवृक्कता भी उत्पन्न होती है।

निदान—कटि प्रदेश में पीडा, गम्भीर पीडनासहता, मूत्रविकृति और ज्वर इन लक्षणों से रोग का निदान हो सकता है।

सापेक्षनिदान में विविध ज्वर और मूत्रण संस्थान के विविध विकारों का ख्याल रखना चाहिए। जब स्थानिक लक्षण न होते हुए ज्वर के साथ मस्तिष्कगत लक्षण होते हैं तब तन्द्राभ या मस्तिष्कावरणशोथ का आभास होता है। जब जाड़े के साथ ज्वर रहता है तब विषम ज्वर का आभास होता है। जब वमन, मलावरोध, आध्मान इत्यादि पचन संस्थान के लक्षण होते हैं तब उण्डुकपुच्छ शोथ या आन्त्रमार्गावरोध का आभास हो सकता है।

मूत्रण संस्थान के विविध रोगों का पार्थक्य निम्न प्रकार से किया जाता है। अश्मरी में शूल के दौरे आते हैं और मूत्र में रक्त अधिक

मिलता है। पूयापवृक्कता में कटिप्रदेश में उभार साफ प्रतीत होता है और मूत्र में पूय अधिक रहता है। परिवृक्क्य विद्रधि में मूत्र में पूय नहीं मिलता तथा मूत्रण की बारंबारता बढ़ती नहीं। मूत्राशयशोथ में ज्वर नहीं होता और बस्ति प्रदेश में पीड़ा और बेचैनी होती है जो मूत्र त्यागने के अन्त में अधिक होती है। मूत्र में पूय होते हुए तृणाणुओं का अभाव, रक्त की उपस्थिति वृक्कक्षय की निदर्शक होती है। प्रायः सम्वर्धन या प्राणिरोपण से अम्लसह दण्डाणुओं का पता लग जाता है।

निदान में मूत्र का रसायनिक तथा सूक्ष्म परीक्षण और संवर्धन बहुत आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त क्ष-रश्मि, बस्तिवीक्षण; इत्यादि का भी उपयोग करना चाहिए।

साध्यासाध्यता—यह रोग घातक नहीं है। इसके लिए उत्तम औषधियाँ प्राप्त होने के कारण यदि तुरन्त चिकित्सा की जाय तो रोग ५–१० दिन में ठीक हो जाता है और पूयापवृक्कादि उपद्रव उत्पन्न नहीं होते।

चिकित्सा—रोगी को बिस्तरे पर आराम से रक्खे तथा सर्दी से बचाने के लिए गरम कपड़ों का प्रयोग किया जाय। बस्ति या सौम्य विरेचन से कोष्ठशुद्धि की जाय। तीव्र विरेचन का प्रयोग कदापि न किया जाय। इससे मूत्र मार्ग उपसृष्ट होने में सहायता होती है। मूत्र की राशि को बढ़ाना (५०–१०० औंस) और उसको क्षारिय रखना स्थूलान्त्र दण्डाणुओं के उपसर्ग की महत्व की चिकित्सा होती है। दिन रात में रोगी को ३-४ सेर तरल पदार्थ देने चाहिएँ। यह कार्य पानी, जौ का यूष, नारियल का पानी, सौम्य चाय, मस्तु (Whey) छाछ, सायट्रेट दूध विविध सूप इत्यादि के द्वारा करना चाहिए। मूत्र को क्षारिय बनाने के लिए पोटाशिअम सैट्रेट ३० ग्रेन, सोडाबाय कार्ब ३० ग्रेन दोनों मिलाकर या सोडियम सैट्रेट ६० ग्रेन प्रति ३ घण्टे पर मूत्र क्षारिय बनने के समय तक जारी रखना चाहिए। मूत्र की क्षारियता शैवल (Litmus) पत्र से देखना चाहिए। क्षारिय बनने पर उपर्युक्त औषधियों की मात्रा ४-६ घण्टे

पर दिया जाय। परन्तु सदैव इस बात का ध्यान रक्खे कि प्रत्येक समय का मूत्र क्षारिय हो।

औषधि चिकित्सा— यह रोग अनेक जीवाणुओं के उपसर्ग से उत्पन्न होता है और प्रत्येक की औषधि भिन्न भिन्न रहती है। इसलिए मूत्रगत जीवाणुओं का ठीक ठीक पता लगाये बिना औषधि चिकित्सा प्रारम्भ करना उचित नहीं होता। इसलिए औषधि चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले मूत्र निकालकर उसको जीवाणु प्रत्यभिज्ञार्थ प्रयोगशाला में भेज देना चाहिए और प्रतिवृत्त प्राप्त होने पर औषधि का प्रयोग करना चाहिए। इस रोग में अनेक बार मिश्र उपसर्ग होने के कारण या शलाका प्रवेश के कारण प्रतिजीवियों द्वारा की गयी चिकित्सा की अवधि में यह देखा जाता हैं कि प्रारम्भ में जो तृणाणु संवर्धन में मिलते थे वे आगे गायब हो जाते हैं और उनके स्थान में दूसरे दिखाई देते हैं। यह अवस्था प्रारम्भ में किसी एक जाति के जीवाणुओं की प्रचुरता तथा प्रबलता के कारण तथा दूसरे जाति के जीवाणुओं की प्रतिकारता के कारण हो सकती है। अतः चिकित्सा के प्रारम्भ में तथा अन्त में मूत्र संवर्ध करके देखना बहुत आवश्यक होता है।

शुल्बौषधियां—स्थूलान्त्र दण्डाणुओं के उपसर्ग में ये औषधियाँ सर्वोत्तम होती है। स्थूलान्त्र दण्डाणुओं के अतिरिक्त मालागोलाणुओं और स्तवक गोलाणुओं के उपसर्ग में भी में उपयुक्त होती हैं। सल्फाडायाझीन, सल्फामेझाथाइन, सल्फासिटामाइड और सल्फाथायोझोल ये औषधियाँ अधिक प्रयुक्त होती है। इनमें स्थूलान्त्र दण्डाणु के लिए सल्फासिटामाइड अधिक पसन्द किया जाता है क्योंकि यह औषधि शीघ्र प्रचूषित होती है, शीघ्र उत्सर्जित होती है और अधिक घुलनशील रहती है। मूत्र क्षारिय होते ही इसकी १ धान्य की मात्रा प्रति ४ घण्टे पर दी जाती है। ज्वर उतर जाने पर औषधि की और तरल की मात्रा आधी की जाती है। यह औषधिक्रम सद्योत्सृष्ट मूत्र में निर्मलता उत्पन्न होने के पश्चात् २ दिन तक जारी रक्खा जाता है। साधारणतया प्रथम मात्रा दो दिन और द्वितीयक मात्रा तीन दिन देने से अर्थात् पाँच दिन के क्रम से रोग ठीक हो जाता है। बच्चों में औषधि मात्रा—

६—मास तक	१ धान्य दैनिक
½—२ वर्ष तक	१·५ ,, ,,
२—६ वर्ष तक	२ ,, ,,
६—१२ वर्ष तक	३ ,, ,,

औषधि बन्द करने के २ दिन के पश्चात् जीवाणुओं की दृष्टि से मूत्र परीक्षण किया जाय। यदि मूत्र उपसृष्ट हो तो निदान का पुनर्विचार करना चाहिए। यदि उपसर्ग शुल्बौषधि प्रतिकारक मालूम हो तो रोगी के मूत्रण संस्थान तथा पचन संस्थान का पूर्ण अनुसन्धान करके उनमें कोई विकृति या दूषित स्थान तो नहीं है इस बात का पता लगा लेना चाहिए।

वातामिक अम्ल (Mandelic acid)—इसका उपयोग जब उपसर्ग मलस्थ मालागोलाणुओं (Strep fecalis) का होता है तब मुख्यतया किया जाता है। क्योंकि इनके ऊपर शुल्बौषधियों का या कूर्चकि का (Penicillin) का प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके लिए चूर्णातु वातामीय (Calcium mandelate) ४५ ग्रेन की मात्रा में २ औंस पानी में मिलाकर दिन में ४ बार दिया जाता है। इसकी रुचि खराब होने के कारण इसको डिब्बी में सेवन करके ऊपर पानी पीना अधिक उचित होता है। यह औषधि अम्ल मूत्र में ही कार्य कर सकती है। इसलिए इसके सेवन के समय नोशादर (Ammonium chloride) १५ ग्रेन की मात्रा में दिन में ३-४ बार दिया जाता है और जल की मात्रा ४० औंस तक कम की जाती है। अर्थात् औषधि की ८ औंस जल की मात्रा के अतिरिक्त केवल ३२ औंस जल दिन रात में दिया जाता है। मूत्रविकार में जल की अल्पता हितकर न होने से तथा इस औषधि के कार्य के लिए अल्पजल हितकर होने से आज कल इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

कूर्चकि (Penicillin)—मल मालागोलाणु, स्तबकगोलाणु, नानारूप दण्डाणु इनके उपसर्ग के लिए तथा जब स्थूलान्त्र दण्डाणु कूर्चकि सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होते हैं तब कूर्चकि का ही उपयोग किया जाता है औसत मात्रा २०००० एकक प्रति ३ घण्टे पर या ३ लाख प्रोकेन पेनिसिलीन दिन में एक बार।

मालाकवकि (Streptomycin)—ग्रामत्यागी दण्डाणुओं के मूत्रोपसर्ग में इसका उपयोग होता है। मात्रा $\frac{1}{2}$ धान्य पेशयन्तर्य प्रति चार घण्टे पर २–५ दिन लगातार। इसके सेवन के समय मत्र का क्षारिय होना आवश्यक होता है।

विशालक्षेत्र प्रतिजीवी—एरोमायसीन, क्लोरोमायसीटीन और टेऱ्यामायसीन ये तीनों ग्रामग्राही तथा ग्रामत्यागी तृणाणुओं पर कार्य करते हैं, विषैले नहीं होते और अम्ल प्रतिक्रिया में भी प्रभावी होते हैं। अतः आज कल इनका प्रयोग मूत्रण संस्थान के उपसर्गों में किया जा रहा है। मूत्रण संस्थान के सब उपसर्गकारी जीवाणुओंपर ये प्रभावी होने के कारण रोग की तीव्रावस्था में मूत्रस्थ जीवाणुओं का पता लगने से पहले यदि चिकित्सा प्रारम्भ करना जरूरी मालूम होता हो तो इनका प्रयोग करना चाहिए।

मात्रा—$\frac{1}{2}$ धान्य प्रति ४ या ६ घण्टे पर ५ दिन पश्चात् $\frac{1}{2}$ धान्य प्रति ६ घण्टे ५ दिन।

संयुक्त चिकित्सा—तीव्र, दण्डाणु-गोलाणु मिश्र और प्रतिकारक उपसर्गों में शुल्बौषधियों और प्रतिजीवियों की संयुक्त चिकित्सा लाभप्रद होती है।

वृक्कोच्छेदन (Nephrectomy)—जब एक पक्ष का वृक्क खराब होकर दूसरा अच्छा रहता है और रोग बहुत तीव्र स्वरूप का होता है तब उस वृक को काटकर निकाल देते हैं। इससे अनेक बार रोगी बच जाता है।

परिवृक्कशोथ और परिवृक्कय विद्रधि

Perinephritis and Perinephric abscess

हेतु—इसका प्रधान कारण पूयजनक स्तबक गोलाणु (Staphylococcus pyogenes) हैं। प्रधान और गौण करके दो प्रकार किये जाते हैं। प्रधान शरीर के अन्य दूरवर्ति अंगों में उत्पन्न हुए फोड़े, फुन्सियाँ अंगारिका (Carbuncle), तुण्डिकाशोथ इत्यादि दूषित विकारों से रक्त

द्वारा पहुंचे हुए जीवाणु से होता है । गौण यकृत, पित्ताशय, उण्डुक इत्यादि समीपवर्ति अंगों से तथा स्वयंवृक्क से लसायनियों द्वारा पहुँचे हुए जीवाणु से होता है । कभी कभी उण्डुक के पीछे बना हुआ आम रूपीय (Amoebic) विद्रधि ऊपर की ओर बढ़कर परिवृक्क्य विद्रधि बन जाता है । कभी कभी वृक्कालिन्द शोथ के उपसर्ग परिवृक्क्य धातु में फैलकर विद्रधि उत्पन्न करता है । उस अवस्था में स्थूलान्त्र दण्डाणु से विद्रधि बनता है ।

शारीरिक विकृति—निष्पूय परिवृक्कशोथ जीर्णवृक्कशोथ का एक अंग रहता है । उस रोग में कटिपीडा का एक कारण यह विकृति भी होती है । इसमें वृक्क की आटोपिका काफी मोटी होकर परिवृक्क्य धातु के साथ अभिलग्न (Adherent) होती है । ये अभिलाग प्रायः वाहिनियों के होते हैं । परिवृक्क्य विद्रधि में इस धातु में पूर्वोक्त तृणाणुओं के कारण पूयभवन होता है ।

लक्षण—रोग का आक्रमण धीरे धीरे होता है । प्रारम्भिक एक दो सप्ताह तक स्थानिक लक्षण नहीं होते । इस अवधि में आन्त्रिक के समान दौर्बल्य ज्वर, पेट में बेचैनी, पीडा, अफारा, कठिनता इत्यादि लक्षण होते हैं और कटि प्रदेश में गम्भीर पीडनासहता रहती है । विद्रधि बनना प्रारम्भ होने पर कटि प्रदेश की पीड़ा और पीडनासहता बढ़ती है । प्रथम कठिनता, पश्चात् लाली और अन्त में उभार ये स्थानिक चिन्ह होते हैं । यह विद्रधि प्रथम पीछे की ओर फैलता है पश्चात् सामने की ओर फैलकर आगे से स्पर्शलभ्य होता है । जिस तरफ के परिवृक्क्य धातु में विद्रधि होता है उस तरफ की उदर की प्राचीर कुछ कड़ी रहती है । यह विद्रधि वृक्क के अर्बुद के समान होता है परन्तु भेद यह होता है कि श्वसन के साथ वृक्कार्बुद के समान यह चलायमान नहीं होता ।

रक्त में श्वेत कायाणूत्कर्ष २०-४० सहस्र तक रहता है । मूत्र में अल्पांश में शुक्लि रहती है, कुछ श्वेत कायाणु भी पाये जाते हैं परन्तु पूय नहीं होता । मूत्र में क्वचित् लाल कण पाये जाते हैं ।

निदान—स्थानिक लक्षण प्रकट होने से पूर्व इसको तन्द्राभ ज्वर, विषम ज्वर तथा सक्षण हृदन्तश्छोथ समझने की भूल हो सकती है । परन्तु

श्वेत कायाणूत्कर्ष आन्त्रिक तथा सव्रण हृदन्तच्छोथ के विरुद्ध होता है। रक्त परीक्षण में विषम कीटाणुओं का न मिलना प्रायः विषम ज्वर के विरुद्ध होता है।

वृक्क के अर्बुदों से इसका भेद पूयभवन, ज्वर, और पूयभवन के लक्षण इनके अभाव से किया जाता है। पूयापवृक्कता में पूयभवन तथा पूयभवन के लक्षण होते हैं। परन्तु उसका उभार पीछे की अपेक्षा आगे की ओर अधिक होता है, वह श्वसन के साथ चलायमान होता और मूत्र में पूय पाया जाता जिससे उसको पृथक कर सकते हैं।

पृष्ठवंश और ऊर्वस्थि के विकारों में क्ष-रश्मि का उपयोग करना चाहिए।

रोगक्रम—परिवृक्क शोथ जब जीर्ण वृक्कशोथ के साथ होता है तब उसका क्रम उसी के समान रहता है। जब उसमें पूय भवन होता है तब (१) वह ऊपर महा प्राचीरा को ऊपर की ओर खींच सकता है (२) ऊर्वस्थि के पास पहुंच कर ऊरूसन्धि रोग (Hipjoint dis ease) के समान मालूम हो सकता है (३) पेटिट के त्रिकोण में विद्रधि बना सकता है (४) क्वचित् उदर में विदीर्ण होकर उदरावरण शोथ उत्पन्न हो सकता है (५) स्थूलान्त्र में विदीर्ण हो सकता है (६) फुफ्फुसावरण में जा सकता है और (७) त्वचा पर निकल सकता है।

चिकित्सा—रोगी को बिस्तरे पर आराम से रक्खें। कटिप्रदेश में उपनाह या सेंक किया जाय। औषधियों में कूर्चकि ३०००० एकक प्रति ४ घण्टे पर दिया जाय। सल्फाथायो झोल प्रारम्भ में २ धान्य पश्चात प्रति ४ घण्टे पर १ धान्य भी दिया जाता है। यदि विद्रधि उत्पन्न हुआ हो तो शस्त्र कर्म से पूय निकाल कर उसके स्थान में कूर्चकि भर दी जावे।

वृक्क यक्ष्मा
Tuberculosis of the kidney

प्रकार—*गौण*—सार्वदेहिक श्यामार्काय (General miliary) यक्ष्मा में अन्य अंगों के साथ वृक्कों में भी यक्ष्मिकाएं बनती हैं परन्तु इस विकृति का परिणाम रोग के लक्षणों पर न होने से रोगी की जीवितावस्था में इस विकृति की ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता और मरणोत्तर परीक्षा

में उसका पता लगता है। वैसे ही फुफ्फुस क्षय में भी मृत्यु के पहले वृक्कों के अन्दर यक्ष्मा के विकेन्द्र (Focus) उत्पन्न होते हैं परन्तु उस समय भी उसके कोई लक्षण प्रकट नहीं होते और विकृति का पता मरणोत्तर परीक्षा से ही लगता है। अतः इन दोनों अवस्थाओं का विचार रोग की दृष्टि से करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

(२) *प्राथमिक स्वरुप का विकार*—इसमें भी शरीर के भीतर कहीं न कहीं यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है परन्तु वह शान्त या सुप्त होता है और वहाँ से वृक्क उपसृष्ट होकर रोग बढ़ता है जिससे इसमें वृक्कविकृति के लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः वृक्क यक्ष्मा में केवल इसका ही विचार किया जाता है।

हैतुकी—यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक हुआ करता है। बालक और वृद्ध इससे बहुत कम पीड़ित होते हैं। ३०-५० वर्ष की अवस्था के लोगों में प्रायः दिखाई देता है।

शरीर में प्रायः अस्थि, सन्धि, लसग्रन्थियाँ इत्यादि में यक्ष्मा का विकेन्द्र रहता है और वहाँ से यक्ष्मदण्डाणु वृक्क में पहुंच जाते हैं। प्रथम एक ओर का वृक्क पीडित होता है और पश्चात् दूसरी ओर का।

यक्ष्मदण्डाणु मुख्यतया रक्त के द्वारा वृक्क में पहुँच जाते हैं। जब श्रोणीगुहा में विकेन्द्र होता है तब गर्वानी की लसायनियों द्वारा भी ये पहुंच सकते हैं। दूसरे वृक्कों में ये पहले के समान रक्त द्वारा पहुंचते हैं या मूत्राशय उपसृष्ट होने पर गर्वानी की लसायनियों द्वारा या प्रथमोसृष्ट वृक्क से सीधे महाधमनी के आसपास की (Para-aortic) लसायनियों द्वारा जा सकते हैं।

शारीरिक विकृति—प्रथम एक ओर का वृक्क उपसृष्ट होता है और उसके कुछ काल के पश्चात् दूसरी ओर का। दोनों की विकृति प्रायः समान होती है। परन्तु अधिकतर (८५ प्र० श०) यह रोग एक ही वृक्क का होता है।

प्रथम वृक्क बाह्य भाग में या एकाध स्तूप (Pyvamid) में यक्ष्मिका (Tubercle) उत्पन्न होती है। यह यक्ष्मिका धीरे धीरे बढ़ती जाती है और उसके बीच में किलाटी भवन (Caseation) शुरू होता है।

इसकी वृद्धि चारों ओर होती है, परन्तु वह वृक्क की आटोपिका के बाहर प्रायः नहीं होती, अलिन्द की ओर वृद्धि होकर वह उपसृष्ट होता है और यक्ष्मज वृक्कालिन्द शोथ उत्पन्न होता है। यक्ष्मज उपसर्ग में धातु विनाश की प्रवृत्ति होने से यक्ष्मिका के भीतर पूय बनता है जो अलिन्द में पहुँचने पर मूत्र में उत्सर्गित होता है। इस प्रकार में इसमें पूयापवृक्कता भी उत्पन्न होती है।

प्रसार—धीरे धीरे उपसर्ग गवीनी में फैलता है। इससे गवनी की श्लेष्मकला में यक्ष्मिकाएँ उत्पन्न होकर वह कठिन, स्थूल, अभिस्तीर्ण (Dilated) होती है। कभी कभी उसमें उपसंकोच (Stricture) उत्पन्न होता है और क्वचित् उसके मार्ग का पूर्ण विलोप (Obliteration) होकर निम्न अंगों से उसका सम्बन्ध विच्छेद होकर मूत्रगत लक्षण नष्ट हो जाते हैं। इसका आत्मवृक्कोच्छेदन (Auto nephrectomy) कह सकते हैं। मूत्रगत लक्षण बन्द होने से रोग ठीक हो गया ऐसा भ्रम हो जाता है। परन्तु वस्तुतः रोग वृक्क में बन्द हो जाता है। वहाँ से वह रोग परिवृक्क्य (Perinephritic) या कटिलम्बिनी (Psoas) विद्रधि के रूप में फैल जाता है और कभी कभी सार्वदैहिक रूप धारण करता है।

गवीनी से रोग बस्ति में चला जाता है और मूत्राशयशोथ उत्पन्न होता है। इसका प्रारम्भ गवीनी के द्वार से होकर वह धीरे धीरे बस्ति के त्रिकोण (Trigone) में फैलता है। वहाँ से वह अष्ठीला, वीर्य वाहिनी वीर्याशय और अधिवृषणिका (Epididyms) तक पहुंचकर मूत्र प्रजनन संस्थान का (Genito--urinary) यक्ष्मा बन जाता है। बस्ति से जैसे उपसर्ग प्रजनन संस्थान में फैलता वैसे दूसरी गवीनी के द्वारा मूत्र के पश्चवहन से (Reflux) दूसरे वृक्क में भी पहुँच जाता है। इसलिए इससे मरनेवाले रोगियों मे वृक्क यक्ष्मा हमेशा द्विपार्श्वीय (Bilateral) पाया जाता है। जो वृक्क पश्चात् उपसृष्ट होता है उसकी विकृति पहले की अपेक्षा सदैव कम रहती है।

लक्षण—धीरे धीरे स्वास्थ्य का गिरना, मन्द ज्वर इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण इसमें मिलते हैं। परन्तु मुख्य लक्षण मूत्रण संस्थान के होते हैं।

मूत्रण की वारम्वारता—यह सबसे महत्व का और प्रथम लक्षण होता है। यह वारंवारता प्रारम्भ में दिन में और पश्चात् (नक्तमेह) रात्रि में बढ़ती है। सूक्ष्मवेदी बस्तित्रिकोण की विकृति का यह परिणाम होता है और जैसे जैसे विकृति के कारण बस्ति सिकुड़ता जाता है वैसे वैसे यह वारंवारता अधिकाधिक होती जाती है। वारंवारता के साथ मूत्रण के समय पीड़ा भी होती है। आगे चलकर जब गवीनी में विकृति होकर वह तंग हो जाती है तब रक्त के कारण उसमें शूल (Colic) उत्पन्न होने लगता है और मूत्रण की अविलम्बता भी बढ़ती है।

मूत्र—मूत्र की राशि अनेक बार स्वाभाविक से अधिक होती है। उसकी प्रतिक्रिया अम्ल रहती है। उसमें शुक्ति और रक्त मिलते हैं। शोणितमेह (स्थूल या सूक्ष्म) वृक्कयक्ष्मा का प्रधान लक्षण होता है। यक्ष्म विकृति से वृक्कस्थ आलवालों (Calyx) की रक्तवाहिनियों का नाश होने से शोणितमेह उत्पन्न होता है। सूक्ष्म परीक्षण करने पर उसमें लालकण, श्वेतकण (पूय कोशाएँ), वृक्ककोशाएँ दिखाई देती हैं। पूय जनक तृणाणु नहीं पाये जाते। केन्द्रापसारित (Centrifuged) तलछट का परीक्षण करने पर उसमें प्रायः यक्ष्म दण्डाणु दिखाई देते हैं। दिखाई न देने पर संवर्धन या प्राणीरोपण करके देखना चाहिए। मूत्र में लालकण प्रारम्भ से दिखाई देते हैं क्योंकि शोणितमेह वृक्कयक्ष्मा का प्रधान तथा प्रथम लक्षण होता है। पूयकोशाएँ उत्तरकाल में दिखाई देती हैं जब यक्ष्मिकाओं से विकृत स्थान में किलाटीभवन और द्रवीभवन प्रारम्भ होता है।

उपद्रव—वृक्कयक्ष्मा से मूत्रण संस्थान के अन्य अंग तथा पुरुषों में प्रजनन संस्थान भी उपसृष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त सार्वदैहिक श्यामाकीय यक्ष्मा और यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ वृक्कयक्ष्मा में जितना उत्पन्न होता है उतना फुफ्फुस यक्ष्मा को छोड़कर शरीर के दूसरे किसी अंग के यक्ष्मा में नहीं उत्पन्न होता।

निदान—इसके निदान में मूत्र विकृति और मूत्रण संस्थान परीक्षण विशेष महत्त्व के होते हैं। किसी जवान में नक्तमेह (पृष्ठ २०) का मिलना तथा अम्ल प्रतिक्रिया के मूत्र में पूय के होते हुए पूयजनक जीवाणुओं

का न मिलना वृक्कयक्ष्मा का सूचक होता है और मूत्र के केन्द्रापसारित तलछट में रंजन, संवर्धन या प्राणीरोपण से यक्ष्म दण्डाणुओं के मिलने से निश्चित निदान हो जाता है। शरीर के दूसरे किसी अंग में यक्ष्मा का उपसर्ग रहने पर वृक्कों के द्वारा यक्ष्म दण्डाणुओं के उत्सर्जन (उत्सर्जक दण्डाणुमेह Excretory bacilluria) की सम्भावना बतायी जाती है। इसमें कहाँ तक तथ्य है इसके सम्बन्ध में मतभेद है। इसलिए मूत्र में यक्ष्म दण्डाणु मिलने पर शरीर के अन्य स्थानों में यक्ष्मोपसर्ग हो या न हो वृक्क में जरूर उसका उपसर्ग होने की सम्भावना पर प्रथम ध्यान देना चाहिए।

मूत्रण संस्थान का परीक्षण करने पर इस रोग में विकृत वृक्क कुछ अभिवृद्ध, कठिन और पीडनासह प्रतीत होता है। गवीनी भी पीडनासह और मोटी होती है। मूत्रण संस्थान के परीक्षण में क्ष-रश्मि, बस्तिवीक्षण (Cystoscopy) वृक्कालिन्द चित्रण (Pyelography) इत्यादि से भी सहायता लेनी चाहिए।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—रोग धीरे धीरे आक्रमण करता है और धीरे धीरे बराबर बढ़ता ही जाता है। आप से आप (स्वभावतः Natural) या औषधियों से ठीक होनेवाला यह रोग नहीं है। रोग निदान होने के पश्चात् बरसों तक रोगी सजीव रहते हैं। साधारणतया ५ वर्ष के भीतर अधिकसंख्य रोगी मर जाते हैं। परन्तु कुछ रोगी १०–२० वर्ष तक भी जीवित रह सकते हैं। दोनों वृक्क खराब होने पर कुछ ही बरसों में मर जाते हैं। कभी कभी वृक्क विकृति में चूर्णीभरण (Calcification) होकर और नीचे की गवीनी का मार्ग अवलुप्त होकर नीचे मूत्रांगों से वृक्क का सम्बन्धविच्छेद होता है। इस स्थिति को आत्म वृक्कोच्छेदन (पृष्ठ ११२) कहते हैं। इससे रोगी अधिक वर्षों तक जीवित रह सकता है। परन्तु शस्त्रकर्म जन्य वृक्कोच्छेदन के समान रोग से निर्मुक्त नहीं होता। कभी कभी वृक्क का आंशिकलोप (Partial occlusion) होकर इतरांश ठीक काम करता है। ऐसी अवस्था में भी रोगी अधिक काल तक जीवित रह सकता है।

यह देखा जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां इससे पीड़ित होने पर भी अधिक काल तक जीवित रहती हैं। पुरुषों के अल्पायु का कारण

उनके प्रजनन संस्थान का उपसर्ग बताया जाता है। इस रोग में मृत्यु प्रायः सार्वदैहिक राजयक्ष्मा, मूत्रविषमयता, वृक्कातिपात (Renal failure) या क्वचित् अन्य औपसर्गिक रोग इनसे होता है।

यह रोग शस्त्रकर्म साध्य है। यदि प्राथमिक शरीरस्थ उपसर्ग शान्त या सुप्त रहा, केवल एकही वृक्क उपसृष्ट रहा, प्रजनन संस्थान अनुपसृष्ट रहा तो वृक्कोच्छेदन पर रोगी की स्थिति बहुत अच्छी होती है और उसका आयु घटने का कोई कारण नहीं रहता। इसके विपरीत स्थिति होने पर शस्त्रकर्म से कोई विशेष रूप से आयु बढ़ती है ऐसी बात नहीं होती। बस्ति के उपसर्ग का परिणाम शस्त्रकर्म जन्य साध्यासाध्यता पर नहीं होता, क्योंकि वृक्क निकाल देने पर अल्पोपसृष्ट मूत्राशय ६ मास में और अधिकोपसृष्ट मूत्राशय १८-२४ मास में प्रायः ठीक हो जाता है। बच्चों में शस्त्रकर्म से विशेष लाभ नहीं होता।

चिकित्सा—यह रोग औषधिसाध्य न होकर शस्त्रकर्मसाध्य है। जब केवल एक वृक्क उपसृष्ट रहता है तथा पुरुषों में अष्ठीला और वीर्याशय उपसृष्ट नहीं रहते तब शस्त्रकर्म से लाभ होता है। इसके लिए निम्न तीन प्रकार के शस्त्रकर्म किये जाते हैं—

(१) *आंशिक वृक्कोच्छेदन* (Partial nephrectomy)—जब वृक्क के केवल एकही हिस्से में उपसर्ग मर्यादित रहता है और दूसरा हिस्सा स्वस्थ तथा कार्यक्षम होता है तब यह शस्त्रकर्म किया जाता है। इसके लिए अधिक बुद्धि, अधिक कौशल्य तथा अधिक अनुभव की आवश्यकता होती है। इसलिए इसका प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(२) *वृक्कोच्छेदन*—वृक्क की विकृति आंशिक हो या पूर्ण हो, प्रायः इसी का प्रयोग किया जाता है। इसमें एक ओर का सम्पूर्ण वृक्क निकाला जाता है।

(३) *गवीनी वृक्कोच्छेदन* (Uretero-nephrectomy)—प्रायः मूत्र द्वारा यक्ष्म दण्डाणुओं का उत्सर्जन होने के कारण गवीनी में भी उनका उपसर्ग पहुंच जाता है। इसलिए शस्त्रकर्म के समय यदि गवीनी में

विकृति मालूम हो जाय तो उस समय वृक्क के साथ उसको भी काटकर निकाला जाता है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् आराम, शुद्ध हवा, पौष्टिक आहार इत्यादि राजयक्ष्मा की सामान्य चिकित्सा की जाती है। जो रोगी शस्त्रकर्म योग्य नहीं होते उनमें भी यही चिकित्सा जारी रक्खी जाती है।

मालाकवकि (स्ट्रेप्टोमायसीन)—आधुनिक काल में यक्ष्मा की यह सर्वश्रेष्ठ औषधि है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस रोग में यह औषधि शस्त्रकर्म का कार्य नहीं कर सकती अर्थात् शस्त्रकर्मयोग्य रोगियों में शस्त्रकर्म को ही काम में लाना चाहिए। परन्तु यह औषधि शस्त्रकर्म सहायक और गुणवर्धक (Aider and abettor) जरूर है। इसके छायाछत्र में (इसके प्रयोग के साथ) शस्त्रकर्म करने से यक्ष्मा शरीर में अधिक फैलने का तथा शस्त्रकर्मजन्य व्रण उससे उपसृष्ट होने का डर नहीं होता। वैसे ही वृक्कोच्छेदन के पश्चात् जिसका दूसरा वृक्क उपसृष्ट हो जाता है, या वृक्कोच्छेदन के समय जिसका दूसरा वृक्क उपसृष्ट रहा है या जिनका एक वृक्क पूर्णतया या अधिकांश में नष्ट हो चुका है परन्तु दूसरे में अल्पोपसर्ग है उनमें इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मालाकवकि इस प्रकार प्रयुक्त की जाय कि यक्ष्मदण्डाणु उसके लिए प्रतिकारक न बनने पावे। यह कार्य सप्ताह में २ बार औषधि देने से और उसके साथ परा-तिक्ती नम्रलिक अम्ल (प्यारा–एमिनो-स्यालिस्यालिक एसिड) देने से होता है।

कुछ चिकित्सक इस रोग में यक्ष्मि (Tuberculin) का उपयोग करते हैं।

वृक्काश्मरता (Nephrolithiasis)

व्याख्या—मूत्र के घन (ठोस) संघटकों का कुछ अंश निस्सादित होकर उससे वृक्क में या उसके अलिन्द में जो कंकड़ बनते हैं उसको वृक्काश्मरी कहते हैं।

हेतुकी—मूत्रण संस्थान में पथरी की उत्पत्ति के वास्तविक कारणों का ठीक ठीक ज्ञान अभी तक न हो पाया। परन्तु वह अनेक कारणों के संयोग से होती है, केवल एक कारण से नहीं होती इसमें कोई सन्देह नहीं

रहा है। जिन कारणों का उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध मालूम हुआ है उनमें निम्न निर्देश करने योग्य हैं—

(१ भौगोलिक प्रविभाग—संसार के कुछ प्रदेशों में यह रोग अधिक दिखाई देता है—जैसे स्वीडॉन, मध्य रशिया, मेसापोटेमिया, ईजिप्त, चीन भारतवर्ष विशेषतया वायव्य विभाग। इसका सम्बन्ध आहार, जल, ताप इत्यादि अनेक बातों के साथ होता है। इनमें तथा रहन सहन में सामूहिक परिवर्तन होने पर इनकी उत्पत्ति कम हो जाती है। सौ वर्ष पहले यूरूप में अश्मरी बहुत होती थी। परन्तु आज कल उसके रोगी बहुत कम दिखाई देते हैं। वैसे ही इंग्लयड के नारफोक परगने के बारे में बताया जाता है। इसके विपरीत स्वीडन जैसे कुछ देशों में यह रोग बढ़ रहा है। उत्तरी अमेरिका जैसे कुछ देशों में यह रोग बहुत कम होता है।

अवलोकन के आधार पर विशेषज्ञों का यह कहना है कि भौगोलिक विभाजन का सम्बन्ध केवल अश्मरी की उत्पत्ति के साथ ही नहीं, बल्कि संगठन के अनुसार उसके प्रकार के साथ, उसकी उत्पत्ति के वय के साथ तथा मूत्रवह संस्थान के उपांग के साथ भी होता है। जैसे एशियाई देशों में अश्मरी बालकों[1] में अधिक और यूरूप-अमेरिका में उत्तर अवस्था में अधिक दिखाई देती है। चीन और भारत में बस्तिगत[2] अश्मरी अधिक

(१) आयुर्वेद में अश्मरी का विवरण बहुत अच्छी तरह किया गया है। उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि औरों की अपेक्षा बालकों में अश्मरियां अधिक पायी जाती हैं—प्रायेणैतास्तिस्त्रोऽश्मर्यो बालानां भवन्ति। सुश्रुत। एता भवन्ति बालानां तेषां मेव च भूयसा। काश्यप संहिता में न बोल सकनेवाले बालकों में अश्मरी जानने के लक्षण दिए हैं—स शर्कराति मूत्रेत्व मूत्रकाले च वेदना। प्रततं रोदितिक्षामस्तं ब्रूयादश्मरीं गदम् ॥

(२) आयुर्वेद में अश्मरी का जो वर्णन है वह मुख्यतया बस्तिगत अश्मरी का है—तत्रासंशोधनशीलस्यापथ्यकारिणः प्रकुपितः श्लेष्मा मूत्रसंपृक्तोऽनुप्रविश्य बस्तिमश्मरीं जनयति॥ संहन्त्यपो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः। तद्वद्व लासं बस्तिस्थंमूष्मासंहन्ति सानिलः॥ सुश्रुत॥ अश्मरी के वर्णित लक्षण भी बस्तिगत अश्मरी के साथ अधिक मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अश्मरी रोग में यही वय और स्थान प्राचीनकाल से भारतवर्ष में पाया जाता है।

और यूरूप अमेरिका में वृक्कगत अश्मरी अधिक दिखाई देती है। यूरूप में अश्मरी प्रायः शुद्ध अर्थात् एक रसायनिक द्रव्य की और भारत में प्रायः मिश्र अर्थात् अनेक रसायनिक द्रव्यों के मिश्रण की पायी जाती है।

(२) *वंश* (Races)—हिन्दू, चीनी, आरबी लोगों में अश्मरी रोग अधिक और नीग्रो जाति (पृष्ठ १२१) में नगण्य होता है।

(३) *कुलजता* (Heredity)—अनेक परिवारों में तथा कुलों में अश्मरी बनने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह प्रवृत्ति विशेषतया मिहिक अम्ल (Uric acid) और विषाणी (Cystine) की अश्मरी में अधिक पायी जाती है।

(४) *लिंग और वय*—अश्मरी रोग मुख्यतया बाल्य और यौवन अवस्थाओं का है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह रोग दुगुना या तिगुना अधिक दिखाई देता है। सगर्भावस्था में मूत्रप्रवाह में मन्दता या स्थिरता होने पर भी उनमें यह रोग कम होता है। आगे (पृष्ठ १२१) पर मूत्र दोष में श्लेषाभ द्रव्य देखिए।

(४) *जलवायु* (Climate) उष्ण प्रदेशों में शीत प्रदेशों की अपेक्षा अश्मरियाँ ज्यादा होती हैं। इसका कारण यह होता है कि धूप से पसीना ज्यादा निकलकर द्रवापहरण (Dehydration) होता है और मूत्र राशि में कम और गाढ़ा हो जाता है। इसके अतिरिक्त सूर्य प्रकाश के कारण शरीर में जीवतिक्तियों (Vitamins) की भी कुछ अधिकता होती है जो इसकी उत्पत्ति में सहायक होती है।

(५) *आहार*—अश्मरी की उत्पत्ति के साथ आहार का घनिष्ट सम्बन्ध होता है। आहार्य द्रव्यों में जीवतिक्ति क (ए) की हीनता और घ (डी) की अधिकता विशेष महत्त्व की है। इसके अतिरिक्त खाद्य द्रव्यों में चूने की, तिक्तीययुक्त (Oxalates) द्रव्यों की तथा प्रांगोदीयों (Carbohydrates) की अधिकता और ताजी साग सब्जी दूध इनकी

---

२ आयुर्वेद मे अश्मरी की उत्पत्ति में आहार प्रधान कारण माना गया है—
दिवास्वप्न समशनाध्यशन शीत स्निग्ध गुरुमधुराहारप्रियत्वात। सुश्रुत॥

हीनता भी इसमें सहायक होती है। भारतवर्ष में चावल खानेवालों की अपेक्षा मकई और गेहूँ खानेवालों में पथरी ज्यादा होती है। पौष्टिक संतुलित आहार से पथरी कम होती है। इंग्लण्ड, यूरूप इत्यादि प्रदेशों में पथरी कम होने का मुख्य कारण वहाँ के लोगों के आहार की उत्तरोत्तर उत्तमता ही बतायी जाती है।

विशिष्ट आहार का सम्बन्ध विशिष्ट प्रकार की पथरियों से भी होता है। जैसे, यकृत्, वृक्क, मांसरस इत्यादि मिहकी (Purin) युक्त द्रव्यों का सेवन मिहिक अम्ल (Uric acid) की पथरियों की उत्पत्ति में सहायक होता है। वैसे ही टोमाटो, पालक, इत्यादि शाकाहार का सेवन, मद्य सेवन तिग्मीय (Oxalate) अश्मरी की उत्पत्ति में सहायक होता है। शाकाहार भास्वीय (Phosphate) अश्मरी उत्पत्ति में भी सहायक होता है। अल्पजल सेवन मूत्र को गाढ़ा करके मूत्रस्थ लवणों के स्फटिकीभवन (Crystalisation) में सहायता करके अश्मरी उत्पन्न करता है। कठिन जल (Hard water), जिसमें चूना अधिक रहता है, अश्मरी की उत्पत्ति में सहायक होता है ऐसा सब शास्त्रज्ञों का मत नहीं है।

(६) *आर्थिक स्थिति*--अश्मरी खाते पीते खुशहाल लोगों की अपेक्षा दरिद्री लोगों में अधिक हुआ करती है। इसका मुख्य कारण हीनाहार होता है।

(७) *परमपरावटुकता* (Hyper parathyroidism)—आजकल वृक्काश्मरी की उत्पत्ति में परावटुका की अति क्रियाशीलता सबसे श्रेष्ठ कारण माना जाता है और कुछ अश्मरी चिकित्सकों का यहाँ तक कहना है कि 'जब तक कोई दूसरा कारण या परावटुका ग्रन्थि की निर्विकारता सिद्ध नहीं होती है तब तक वृक्काश्मरी के प्रत्येक रोगी में परावटुका ग्रन्थि की अतिक्रियाशीलता का सन्देह करना चाहिए।'

इस ग्रन्थि का सम्बन्ध रक्तरसगत चूर्णातु-भास्वर (Calcium-Phosphorus) समवर्त के साथ होता है। जब यह ग्रन्थि अधिक कार्यशील होती है तब चूर्णातु-भास्वर समवर्त का तोल विषम होकर रक्तरस में चूने की अधिकता (स्वाभाविक मात्रा १०० घ. शि. मा. रक्त में १० सहस्रि धान्य) होकर भास्वर की अल्पता (स्वाभाविक मात्रा ३–५·५

सहस्त्रि धान्य) हो जाती है। इसके साथ साथ मूत्र में दोनों का उत्सर्ग बढ़ता है। इसको परमचूर्णातुमेह (Hypercalcinuria) कहते हैं। इसका परिणाम वृक्क में अश्मरी उत्पन्न होने में होता है। इस विकृति से अधिकतर दोनों वृक्कों में अनेक अश्मरियाँ उत्पन्न होती हैं। परन्तु कुछ रोगियों में केवल एक वृक्क में अनेक या एक अश्मरी भी मिलती है। अश्मरी मुख्यतया चूर्णातु तिग्मीय (Oxalate) की, क्वचित् चूर्णातु भास्वीय (Phosphate) और चूर्णातु प्रांगारीय की होती है। परम परावटुकता के प्रारम्भिक परिणाम अस्थिसौषिर्य (Osteoporosis) की अपेक्षा वृक्काश्मरता उत्पन्न होने में अधिक होते हैं। यह देखा गया है कि परमपरावटुकता से पीड़ित रोगियों में ६० प्र० श० तक अश्मरी पायी जाती है और अश्मरी पीड़ितों में १० प्र० श० यह विकृति पायी जाती है। अतिक्रियाशीलता उत्पन्न करनेवाले विकृतियों में इसका ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) विशेष महत्त्व का है। यह विकृति ३०–६० वर्ष की अवस्था में हुआ करती है और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक (३ : १) दिखाई देती है।

(८) *शारीरिक और मानसिक परिश्रम*—अत्यधिक शारीरिक मानसिक परिश्रम चिन्ता, अग्निमान्द्य इत्यादि से मूत्र में भास्वीय का उत्सर्ग बढ़कर अश्मरी उत्पन्न होने में सहायता होती है।

(९) मूत्रदोष—(१) गाढ़ापन (Concentration)—मूत्र में उपस्थित रहनेवाले सब लवण, जिनसे पथरियाँ बनती हैं, अल्पजल विलेय (Sparingly soluble) होते हैं। इसलिए जब मूत्र अधिक गाढ़ा होता है तब ये लवण अविलेय होकर निस्सादित होने लगते हैं।

(२) प्रतिक्रिया—मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारिय या अम्ल हो सकती है। जब प्रतिक्रिया बहुत अम्ल (५ उ. सं. p H) होती है तब मिहिक अम्ल अविलेय होकर निस्सादित होता है। मिहिक अम्ल के अतिरिक्त मेहीय (Urates), विषाणी (Cystine), पीती (Xanthine) की पथरियाँ भी अम्ल मूत्र में ही बनती हैं। अत्यधिक क्षारिय मूत्र में (८ उ०सं० p H) भास्वीय और प्रांगारीय (Carbonates) निस्सादित होते हैं। प्रायः निष्प्रतिक्रिय या अम्ल मूत्र में चर्णातु तिग्मीय (Cal. oxalate) अविलेय होकर निस्सादित होता है। अतः मूत्र की स्थायी प्रतिक्रिया के अनुसार किस प्रकार की अश्मरी हो सकती है इसका कुछ अनुमान किया जा सकता है।

(३) श्लेषाभ द्रव्य (Colloids)—मूत्र में कुछ नैसर्गिक श्लेषाभ द्रव्य विद्यमान रहते हैं। इनका स्वरूप अशुक्लीय (Non albuminous) होता है। ये किससे और कैसे उत्पन्न होते हैं और कैसे मूत्र में आते हैं इसका ठीक ज्ञान नहीं है। मूत्र में अश्मरी मूत्रस्थ लवणों के पिण्डीभवन (Clumping) से बनती है। ये श्लेषाभ द्रव्य स्फटिकों के ऊपर चिपक कर उनके पिण्डीभवन में बाधा उत्पन्न करके अश्मरी की रोक थाम किया करते हैं। जिन लोगों में मूत्रस्थ श्लेषाभ द्रव्यों की क्रियाशीलता (Colloidal activity) अच्छी रहती है उनमें अश्मरी नहीं बनती और जिनमें ये द्रव्य अक्रियाशील होते हैं उनमें पथरी अधिक बनती है। नीग्रो जाति में अश्मरी बहुत विरलदृष्ट विकार (पृष्ठ ११) होता है। उसके अनेक कारण हो सकते है। इनमें मूत्रस्थ श्लेषाभ द्रव्यों की क्रियाशीलता एक महत्व का कारण है। वैसे ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में और अगर्भवती स्त्रियों की अपेक्षा गर्भवती स्त्रियों में अश्मरी कम मिलने का यही कारण बताया जाता है।

(४) मूत्रप्रवाह मन्दता—मूत्र प्रवाह में मन्दता या स्थिरता[१] उत्पन्न होने से मूत्रस्थ लवणों को निस्सादित होने का अवकाश मिलता है।

---

(१) मूत्र का गाढापन और स्थिरता ये जो मूत्र दोष अश्मरी की उत्पत्ति के लिए यहां पर बताए गये हैं उनका निर्देश अप्रत्यक्षतया अलंकारिक भाषा में निम्न प्रकार से आयुर्वेद में किया गया है—

अप्सुस्वस्थास्वपियथा निषिक्तासु नवे घटे। कालान्तरेण पंकः स्यादश्मरीसम्भवस्तथा॥ सुश्रुत॥ यहां पर घटस्थित शब्द से स्थिरता और कालान्तर से गाढापन प्रदर्शित किया गया है क्योंकि धीरे धीरे पानी की भाप बनने से पात्रस्थित घोल गाढ़ा हो जाता है। अन्य स्थानों में भी यह कल्पना प्रदर्शित की गयी है—यदातु वायुर्मूत्रं परिशोषयतितदा क्रमेण—अश्मर्यभिनिर्वर्तयति॥ अष्टांग संग्रह॥ यथा स्ववेदनावर्णं दुष्टं सान्द्रमथाविलम्। पूर्वरूपेश्मनः कृच्छ्रान्मूत्रं सृजति मानवः॥

(१) आयुर्वेद में वेगविधारण अनेक रोगों का कारण बताया गया है। मूत्र वेगविधारण के रोगों में अश्मरी का निर्देश है—अंग भगाश्मरी बस्तिमेढ़ वङ्क्षण-वेदनाः। मूत्रस्यरोधात॥ वाग्भट॥ इसका कारण मूत्र स्थिरता ही है। अर्थात एक दिन के मूत्र विधारण से अश्मरी नहीं उत्पन्न हो सकती। जिसको मूत्र विधारण की आदत पड़ गयी है उसमें अश्मरी उत्पन्न हो सकती है।

इसलिए जब रोगी को बिस्तरे पर पृष्ठासन में अधिक काल तक लेटे रहने की आवश्यकता होती है तब मूत्र प्रवाह मन्द होने से अश्मरी उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ती है। इस प्रकार की स्थिति ऊर्वस्थि भंग में तथा पाट के रोग (Pott's disease) में हुआ करती है। हयखुराकृति या नालाकृति (Horse shoe) वृक्क में गविनियों के उद्गम या निवेश अस्वाभाविक स्थानों में होने से मूत्र प्रवाह ठीक नहीं हो पाता और उसका परिणाम अश्मरी की उत्पत्ति में होता है।

४। मूत्रोपसर्ग (Infection)—मूत्रण संस्थान का उपसर्ग सब प्रकार की अश्मरियों की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण माना गया है और विषाणी (Cystine) की अश्मरी उपसर्ग के बिना उत्पन्न हो नहीं सकती ऐसा कुछ लोगों का कहना है।

उपसर्गकारी जीवाणुओं में पूयजनक गोलाणु (विशेषतया श्वेतवर्ण स्तवकगोलाणु Staphylo coccus albus), मिहविपाटक (Urea-splitting) दण्डाणु (A. aerogenes, Pseudomonas, B. proteus) और स्थूलान्त्र दण्डाणु अश्मरी उत्पन्न करने दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। अतः इनका उपसर्ग मिलने पर पथरी का ख्याल रखना चाहिए।

उपसर्ग से मूत्रण संस्थान में प्रशोथ उत्पन्न होकर मूत्र में मृत तथा सजीवजीवाणु, श्लेष्मा तथा श्लेष्मकला की कोशाएँ उत्सर्गित होती हैं और मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय (स्थूलान्त्र दण्डाणूपसर्ग में अम्ल) होती है। इससे मूत्र गाढ़ा होकर लवणों के निस्सादन में अनुकूलता होती है, अश्मरी बनने के लिए न्यष्टि (Nucleus) के तौर पर जीवाणु-पुञ्ज, श्लेष्मकला का टुकड़ा इत्यादि द्रव्य मिल जाते हैं और श्लेष्मा शुक्लीय (Albuminous) होने से लवणों के स्फटिकों को आपस में चिपकने में सहायता हो जाती है।

उपसर्ग के आधार पर अश्मरी के दो प्रकार किये जाते हैं—

१. प्राथमिक (Primary)—जब मूत्रण संस्थान अनुपसृष्ट रहते हुए अश्मरी बनती है तब उसको प्राथमिक कहते हैं। अम्ल और क्षारीय मूत्र की सब अश्मरियाँ प्राथमिक हो सकती हैं। मिहिक अम्ल और तिर्म्मीय अश्मरियाँ प्राथमिक ही रहती हैं।

द्वितीयक अश्मरी (Secondary)—जब मूत्रगण संस्थान उपसृष्ट होने के पश्चात् उसके कारण अश्मरियां बनती हैं तब उनको द्वितीयक अश्मरी कहते हैं। उपसर्ग का परिणाम अधिकतर मूत्र क्षारीय बनने में होता है। इसमें भास्वीय और प्रांगारीय निस्सादित होते हैं। इसलिए चूर्णातु, आजातु, तिक्तातु भास्वीय (Cal, Mag, Ammonium phosphate) जिसको त्रिभास्वीय (Triple phosphate) कहते हैं, की तथा चूर्णातु प्रांगारीय ((Cal. carbonate) की अश्मरियां प्रायः द्वितीयक स्वरूप की होती हैं। कुछ विशेषज्ञों का कथन है कि विषाणी (Cystine) की अश्मरी उपसर्ग के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती अर्थात् वह सदैव द्वितीयक स्वरूप की होती है।

मिश्र अश्मरी—अश्मरी शुद्ध (Pure) अर्थात् केवल मिहिक अम्ल या तिर्म्मीय या भास्वीय की या मिश्र (Mixed) अर्थात् अनेक रसायनिक द्रव्यों के मिश्रण की हो सकती है। मिश्र अश्मरी अधिकतर उपसर्ग के कारण ही हुआ करती है। जैसे उपसर्ग से अश्मरी उत्पन्न होती है वैसे अश्मरी से उपसर्ग भी (पृष्ठ १२८ अश्मरी के उपद्रव देखिये) भी होता है। अधिकतर अश्मरियाँ मिहिक अम्ल या तिर्म्मीय की होती हैं जो अम्ल मूत्र में बनती है। आगे उपसर्ग उत्पन्न होने पर मूत्र क्षारीय हो जाता है जिससे मिहिक अम्ल या तिर्म्मीय के ऊपर भास्वीय का तलछट बैठने लगता है। यदि आगे चलकर स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. coli) का उपसर्ग हुआ तो फिर से मूत्र अम्ल होकर तिर्म्मीय या मिहिक अम्ल का तलछट बैठने लगेगा।

(१०) *प्रकीर्ण कारण* (Miscelleneous) जैसे व्यवसाय आरामतलबी (Sedentary habits), मन्दाग्नि, मद्यसेवन, यकृत् के विकार, सीसविष, वातरक्त (Gout) श्वेतमयताएं (Leukaemia) वृक्कय चूर्णनिस्सादनता (Nephrocalcinosis) इत्यादि अवस्थाएं तथा व्याधियाँ भी अश्मरी जनक होती हैं।

अश्मरिया (१) *सम्प्राप्ति* मूत्र गाढ़ा बनने से उसके प्रवाह में स्थिरता या मन्दता उत्पन्न होने से, उसकी प्रतिक्रिया अधिक क्षारिय या अम्ल होने से, तद्गत अशुक्लीय श्लेषाभद्रव्य कम होने से या अविद्यमान्

होने से मूत्रस्थ लवण, जो वैसे ही अल्प जलविलेय होते हैं, मूत्रण संस्थान में स्फटिकों के रूप में निस्सादित होते हैं और यहाँ स्फटिक पिण्डीभूत होने पर पथरियाँ बनती हैं।

रचना – साधारणतया अश्मरियों के मध्य में न्यष्टि (Nucleus) के तौर पर रक्त का थक्का, श्लेष्मा[1], निर्मोक का टुकड़ा, मृतजीवाणुओं का पुञ्ज,कृमि का अण्डा (Bilharzia) इत्यादि में से कोई एक द्रव्य प्रायः पाया जाता है और उसके ऊपर मूत्रस्थ लवण निस्सादित होकर बैठते हैं और श्लेषाभ द्रव्य से चिपक जाते हैं। लवणों के स्फटिक (Crystals) या कण न्यष्टि के चारों ओर एक पुंज (uniform mass) के रूप में बैठते हैं या समकेन्द्र स्तरों (Concentric layers) के रूप बैठतेजाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब स्तर एक ही लवण के हों। अनेक बार ये स्तर भिन्न भिन्न लवणों के होते हैं। पीछे १२३ पृष्ठ पर मिश्र अश्मरी देखो।

(३) संघटन—पथरियाँ सेन्द्रिय (organic) और निरीन्द्रिय (Inorganic) दोनों प्रकार के द्रव्यों की बनती हैं। निरिन्द्रिमें द्रव्यों में भास्वीय और प्रांगारीय (Phosphates Carbonates) तथा सेन्द्रिय द्रव्यों में मिहिक अम्ल, मेहीय (Urates), तिर्मीय (oxalates) पीती (xanthine) विषार्णी (cystine), पैत्तव (cholesterol) शिवती (leucine) इत्यादि द्रव्य महत्व के हैं। इनमें भास्वीय, तिर्मीय और मिहिक अम्ल तथा मेहीय इनकी पथरियाँ ही अधिकतर दिखाई देती हैं। अन्य पथरियाँ विरल दृष्ट होती हैं।

(४) *स्वरुप*—मिहिक अम्ल अश्मरी (Uric acid calculus)—यह पथरी काफी कठिन, आकार में दीर्घ वृत्ताभ (Ellipsoid) रंग में पीली, या पीलापन लिए भूरी (Brown) होती है। इसके साथ प्रायः मेहीय (Urates) होते हैं और कभी कभी तिर्मीय भी मिले रहते हैं। केवल मिहिक अम्ल की पथरी विरलता से पायी जाती है। काटने पर उसकी रचना एक स्फटिक के समान या अनेक स्तरों से युक्त (Laminated)

(१) आयुर्वेद में श्लेष्मा अश्मरी का अधिष्ठान माना गया है—चतस्रोऽश्मर्योभवन्ति श्लेष्माधिष्ठानाः ॥ सुश्रुत ॥ सर्वा च सा श्लेष्माश्रया ॥ अष्टांग संग्रह ॥

होती है। अम्ल मूत्र में यह पथरी पायी जाती है। बच्चों में केवल मेहीय[१] की अश्मरी मिल सकती है।

तिग्मीय अश्मरी (Oxalate calculus)—सबसे अधिक दिखाई देनेवाली यह पथरी है। यह अत्यन्त कठिन होकर कदम्ब पुष्प के समान (spiny, Mulberry calculus) खरखरी या कटीली होती है। आकार में यह बहुत विषम होती है और एक छोटे दाने से लेकर अखरोट तक बड़ी हो सकती है। कभी कभी इसके अनेक छोटे कंकड़ आपस में मिलकर निर्मोक (Cast) का रूप धारण करते हैं। खरखरें पन और कटीले पन के कारण यह पथरी अधिक पीड़ा दायक और रक्त-स्राव करने वाली होती है और इससे इसका रंग काला रहता है और इसके साथ मूत्र में प्रायः रक्त मिलता है। अनेक बार उस पर मिहिक अम्ल या भास्वीय बैठ जाता है तब वह मुलायम होकर रंग में भूरी या सफेद बनती है। वृक्क और गवीनी के भीतर मिलने वाली पथरियों में इसी की अधिकता होती है।

भास्वीयअश्मरी (Phosphatic calculus)—यह पथरी चूर्णातु भास्वीय (Calcium phosphate) और त्रिभास्वीय (Triple phosphate) की बनती है। क्वचित् इसमें चूर्णातु प्रांगारीय (Carbonate) और तिग्मीय अल्पांश में मिले रहते हैं। बाहर से यह पथरी खड़िया के समान चिकनी (Chalky) और सफेद होती है। यह भुरभुरी रहने से जल्दी टूट जाती है। जिस अवकाश में बनती है उसके अनुसार इसकी आकृति पायी जाती है। यह पथरी क्षारीय मूत्र में बनती है। तिग्मीय और

(१) आयुर्वेद में पित्ताश्मरी, वाताश्मरी और श्लेष्माश्मरी करके जो तीन अश्मरियाँ वर्णित हैं वे क्रम से मिहिक अम्ल, तिग्मीय और भास्वीय के साथ मिलती हैं—

अश्मरीचात्रसरक्ता पीतावभासा कृष्णा भल्लातकास्थि प्रतिमा मधुवर्णावा भवति, सा पैत्तिकी मिति विद्यात ॥

अश्मरी चात्र श्यावा परुषा विषमा खरा कदम्ब पुष्पवत्कण्टकाचिता भवति, तांवातिकीमिति विद्यात ॥

अश्मरी चात्र श्वेता स्निग्धा महती कुक्कुटाण्ड प्रतीकाशा मधूक पुष्प वर्णा वा भवति, तांश्लैष्मिकीमिति विद्यात ॥ सुश्रुत

मिहिक अम्ल की पथरी में आगे चलकर जब उपसर्ग से मूत्र क्षारीय बन जाता है तब भास्वीय का आवरण बनता है। यह पथरी अधिकतर द्वितीयक स्वरूप (पृष्ठ १२३) की होती है।

विषाणी अश्मरी (Cystine calculus)—यह अश्मरी कठिन. अण्डाकार हलके अम्बर वर्ण की या हरी और मोम के समान कुछ चमकीली होती है।

पीतीअश्मरी (Xenthine calculus —पीतिक जारेय (Xanthic oxide) की अश्मरी कुछ ललाई लिए हुए पीली होती है।

वृक्काश्मरी—यह अश्मरी वृक्क के अन्तःसार (Parenchyma) में या अलिन्द में बन जाती है। प्रायः मिहिक अम्ल या तिग्मीय की यह पथरी होती है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक दिखाई देती है। मोटाई के अनुसार इसके निम्न तीन प्रकार किये जा सकते हैं।

(१) सिकता (Gravel, Renal sand)—ये बजड़े के समान छोटे छोटे १-२ सहस्रिमान (M. M.) व्यास के दाने होते हैं। इनको सिकता[1] कहते हैं। बहुत छोटे होने से ये गवीनी और मूत्रस्रोत

(१) शर्करा सिकता मेहोभस्माख्योऽश्मरिवैकृतम्।
अश्मर्याःशर्कराज्ञेया तुल्यव्यञ्जन वेदना ॥
पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः।
सा भिन्नमूर्तिर्वा तेन शर्करेत्यऽभिधीयते ॥ **सुश्रुत** ॥

मूत्र सूखने पर उसके स्थान मे राखी तह जमना, मूत्र के साथ बालू या शर्करा का निकलना ये अश्मरी विकार की अर्थात् बड़ी पथरी बनने से पहले की अवस्थाएं है। बाहर निकलनेवाली समूची गोल या दीर्घवृत्त छोटी पथरी को सिकता कहते हैं। जब मिसरी के टुकड़े के समान मूत्रण संस्थान मे बनी हुई ऊबड़खाबड़ (भिन्न मूर्ति) पथरी का छोटा सा टुकडा मूत्र के साथ बाहर निकता है तब उस टुकड़े को शर्करा कहते हैं। ये टुकड़े टेढ़ेमेढ़े खरखर होने के कारण काफी कष्ट देते हैं। सिकता बहुत छोटी तथा गोल होने से आसानी से निकल जाती है। इसलिए सिकता से मिहिक अम्ल की बहुत छोटी पथरी और शर्करा से तिग्मीय की छोटी अश्मरी समझ सकते है। जो मूत्रण संस्थान से कदापि बाहर नहीं निकल सकती उस पथरी को अश्मरी कहते हैं—अश्मरी त्वनु लोमगेऽपिमरुति न निरेति मूत्रेण सह न निष्क्रामती त्यनयोर्भेदः। **अरुणदत्त** ॥

से साफ साफ निकल जा सकते हैं और इनसे कोई कष्टदायक[१] लक्षण नहीं होते। अनेक रोगियों में इस प्रकार की स्थिति बरसों तक चलती रहती है।

(२) बड़े कंकड़ (गुटिका)—ये वृक्कालिन्द में बनते हैं, अकेले होते हैं या अनेक भी रहते हैं और मटर से लेकर सेम के बीया तक बड़े होते हैं। जब अनेक रहते हैं तब एक दूसरे के लगे हुए रहने के कारण बहुमुखी या पहलुदार (Faceted) होते हैं। ये वृक्क में रहते हैं या नीचे जा सकते हैं। इनमें जो छोटे होते हैं वे गवीनी में से नीचे जाते समय शूल उत्पन्न करते हैं। इन्हीं के सम्बन्ध में कॅबट (Cabot) ने लिखा है 'कुत्तों के पिल्लों के समान ये कंकड़ अधिक शोर गुल करते हैं'।

(३) शाखायुक्त प्रकार (Dendritic form)—इसमें आलिन्द में काफी बढ़ी हुई और नीचे गवीनी मुख में और ऊपर विविध आलवालों में (Calyces) फैली हुई पथरियों का समावेश किया जाता है। जिसमें प्रवाल (Coral) के पत्थर जिस स्वरूप के होते हैं उस स्वरूप की यह पथरी होने के कारण इसको प्रवालाश्मरी या मूंगी पथरी (Coral या Coralline) कहते हैं।

बारहसींगे के सींग के समान होने के कारण इसको बारहसींगी अश्मरी (Staghorn calculus) भी कहते हैं।

वृक्काश्मरी के परिणाम—अनेक व्यक्तियों में मूत्रमार्ग द्वारा बराबर सिकता या कंकड़ निकलते रहते हैं और न उनकी उत्पत्ति का कोई दुष्परिणाम मूत्रण संस्थान पर होता है, न उन व्यक्तियों में उनके

---

(१) इनके सम्बन्ध का आयुर्वेद का निम्न अवलोकन वस्तुस्थिति का सुन्दर चित्रण करता है—विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गनिरोधने। तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम्॥ वाग्भट॥ इसका अर्थ यह है कि सिकता पीड़ित रोगियों में अनेक बार मूतना प्रारम्भ करने पर थोड़ी देर में एकायक मूत्र धारा बन्द हो जाती है क्योंकि मूत्राशय में स्थित शर्करा मूत्र प्रवाह से मूत्रस्रोत में आकर अटकती है। परन्तु वह छोटी होने से थोड़ी देर बाद पीछे के मूत्र के दबाव से निकल जाती है और फिर से मूत्र धारा के रूप में खुलकर निकल जाता है।

कारण कोई लक्षण उत्पन्न होते हैं। अनेक व्यक्तियों में वृक्कालिन्द के भीतर अनेक पथरियाँ होते हुए या बड़ी शाखायुक्त पथरी रहते हुए कोई स्थानिक विकृति या शारीरिक बेचनी नहीं होती। परन्तु कभी न कभी इनके दुष्परिणाम हुए बिना नहीं रहते इनके दो विभाग होते है।

(१) *मार्गावरोधन या मूत्रविधारण* (Retention)—यह परिणाम आंशिक या पूर्ण हो सकता है। इससे जलापवृक्कता(Hydronephrosis), वृक्क में तान्तव धातु की वृद्धि (वृक्कतन्तूत्कर्ष) और धीरे धीरे उसका (वृक्कशोष Atrophy), अमूत्रता इत्यादि परिणाम होते हैं।

(२) *उपसर्ग* (Infection) पथरी में मूत्रण संस्थान में उपसर्ग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। यह उपसर्ग प्रायः पूयजनक तृणाणुओं का होता है। इससे वृक्कालिन्दशोथ , पूयापवृक्कता (Pyonephrosis) ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

(३) *संव्रणता* (Ulceration)—अश्मरियों की रगड़ से अश्मरी के स्थान में तथा उसके निर्गमन के समय गवीनी में व्रण उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते हैं। इससे उपसर्ग मूत्रण संस्थान के आसपास फैलकर परिवृक्कय विद्रधि उत्पन्न होता है। कभी कभी व्रण स्थान में छिद्र बनकर उससे अश्मरी उदर गुहा में चली जाती है और उपसर्ग उदर गुहा में फैल सकता है। अनेक स्थानों में उत्पन्न हुए व्रणों के रोपण से गवीनी में उपसंकोच (Stricture) हो जाता है।

(४) मारकता (Malignancy)—पथरी की रगड़ के कारण अनेक बार वृक्क में मारात्मक अर्बुद उत्पन्न होते हैं। इसका स्वरूप ग्रन्थिकर्काबुर्द (Adeno carcinoma) का होता है। आगे वृक्क के अर्बुद देखिए।

(५) दूसरे पक्ष में वृक्काश्मरता—पथरी प्रायः प्रथम एक पक्ष में और वह भी अधिकतर दक्षिण वृक्क में उत्पन्न होती है। यदि उसकी चिकित्सा न की जाय तथा उसको न निकाला जाय तो दूसरे वृक्क में भी वह उत्पन्न होती है।

लक्षण[1]—वृक्कान्तर्गत अश्मरी लक्षण न उत्पन्न करते हुए भी दीर्घकाल तक रह सकती है। परन्तु अनेकों में इससे अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनमें निम्न दो प्रधान हैं—

पीडा—जब अश्मरी वृक्क में रहती है तब उस पक्ष के कटिप्रदेश में (Backache) पीडा होती है। कुछ रोगियों में वृक्कप्रदेश में पीडा होती है। पीडा मन्द या तीव्र दोनों प्रकार की हो सकती है। कभी कभी दूसरी ओर भी पीडा प्रतीत होती है। यह पीडा दबाने पर बढ़ती है और कभी कभी शूल के आवेग भी उत्पन्न होते हैं। इस पीडा का संवहन या विकिरण (Radiation) पीछे नितम्ब प्रदेश में या आगे वङ्क्षण, वृषण (या स्त्रियों में भगौष्ठ) या ऊरू के भीतरी पार्श्व में (Inner side) होता है। मिहिक अम्ल की बड़ी पथरी की अपेक्षा तिग्मीय की छोटी पथरी अधिक पीडादायक होती है। उछलकूद करने पर या धक्कमधक्का होने पर (Jolting) पीडा अधिक होती है।

शोणितमेह (Hematuria)—अश्मरी का यह सबसे महत्त्व का लक्षण है मूत्र में रक्त अधिक रहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु रक्त अधिक काल तक आता रहता है। बीच बीच में मूत्र में रक्त पूर्णतया अनुपस्थित रहता है। कभी कभी अलिन्दगत शाखायुक्त अश्मरी में पीडा के बिना काफी रक्त निकलता है। उछलकूद से तथा परिश्रम से रक्त अधिक निकलता है और आराम से कम हो जाता है। रक्त के अतिरिक्त मूत्र में शुक्ति, पूयकोषाएँ, श्लेष्मा इत्यादि द्रव्य भी प्रायः पाये जाते हैं।

वृक्कयशूल Renal colic

हेतुकी—वृक्काश्मरी वृक्कयशूल का सर्वसाधारण तथा सर्वप्रधान कारण होता है। अश्मरी के अतिरिक्त रक्त का या पूय का थक्का, कोष्ठपुञ्ज

---

(१) मूत्रण संस्थान में अश्मरी कहीं भी हो उसके लक्षण एक से ही होते हैं—अथजातासु ताभिबस्ति सेवनीमेहनेष्वन्यतमस्मिन् मेहतो वेदना मूत्रधारासङ्गः सरुधिर मूत्रता धावनलङ्घनप्लवन पृष्ठयानाध्वगमनैश्चास्य वेदना भवन्ति ॥ सुश्रुत ॥ तत्संक्षोभात् क्षते सास्रमायासाच्चातिरुक् भवेत् ॥ वाग्भट ॥

कृमि (Echinococcus) के कोष्ठ (cyst) गर्वीनीगत अंकुरार्बुद के टुकड़े इत्यादि के कारण शूल उत्पन्न हो सकता है।

संप्राप्ति—जब अलिन्दगत अश्मरी गर्वीनी में आकर नीचे की ओर जाने लगती है तब पीड़ा होने लगती है। जब अश्मरी बहुत छोटी होती है तब थोड़ीसी पीडा के साथ वह नीचे बस्ति में चली जाती है। परन्तु मध्यम आकार की अश्मरी आसानी से नहीं जा सकती। उसकी रगड़ से अधिक पीडा होती है। तिग्मीय अश्मरी अधिक खरखरी और कँटीली होने से उसकी रगड़ अधिक पीडादायक होती है। इस पीडा से गर्वीनी में ऐंठन[१] (Spasm) उत्पन्न होकर उसका मार्ग अधिक तंग हो जाता है। इससे अश्मरी की रगड़ बढ़ती है। इसका परिणाम असह्य संवेदना में होता है जिसको शूल कहते हैं। बालकों में मिहिक अम्ल की अश्मरी अधिक होने के कारण तथा वह चिकनी होने के कारण अधिक रगड़ नहीं पैदा होती। इसलिए उनमें शूल की तीव्रता कुछ कम रहती है। संक्षेप में पीडा का परिवर्तन असह्य शूल में होने का प्रारम्भिक कारण खरखरी अश्मरी की रगड़ और दूसरा और अधिक महत्व का कारण उससे गर्वीनी में उत्पन्न हुई ऐंठन होता है। अलिन्द में स्थित अश्मरी प्रायः घोड़ा, दुचाकी (Cycle), बैलगाड़ी, सार्वजनिक यान (Bus, Omnibus) इत्यादि की सवारी करने से या उछलकूद या शारीरिक परिश्रम करने से नीचे गर्वीनी में आ जाती है। इसलिए शूल का आक्रमण अनेक बार इस प्रकार के कार्य के पश्चात् प्रारम्भ होता है।

लक्षण[२]—शूल का आक्रमण प्रायः उपर्युक्त कार्यों के पश्चात् क्वचित् आराम के समय भी यकायक होकर उसका प्रारम्भ जिस ओर अश्मरी रहती है उस ओर की कटि में होता है और वहाँ से वह ऊरू

(१) आयुर्वेद में यह कल्पना वायु की प्रतिलोमता शब्द से प्रदर्शित की गयी है—अणुशोवायुनाभिन्ना सा तस्मिन्ननु लोमगे। निरेतिसह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते ॥ **वाग्भट** ॥

(२) मूत्रमार्गप्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् । दौर्बल्यं, सदनं कार्श्यंकुक्षि शूलमरोचकम् । पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ ताभिर्भवति मूर्च्छा च मूत्राघातश्च दारुणः ॥ **सुश्रुत** ॥

वृषणिका (Genitofemoral) नाड़ी के मार्गानुसार नीचे ऊरू और वृषण की ओर चला जाता है। स्त्रियों में यह शूल नीचे ऊरू और भगौष्ठ की ओर फैलता है। कभी कभी यह शूल और भी नीचे पैर के तलुवे की ओर और वहाँ तक चला जाता है। पीडा के कारण वृषण फूला हुआ और पीडनासह (Tender) होकर ऊपर की ओर खींचा हुआ रहता है। कभी कभी शूल उदर और छाती में फैलकर पीठ में प्रतीत होता है।

आक्रमण के पूर्व कभी कभी शीत मालूम होता है। आक्रमण के समय हृल्लास वमन होता है, काफी पसीना आता है, नाड़ी तेज और क्षीण होती है, साँस तेज चलती है, क्वचित् ताप १०२-१०३° तक चढ़ता है और वेदना के मारे रोगी अत्यन्त बेचैन होकर उसको कम करने की दृष्टि से शरीर को दोहरा (Double) करता है या चौपाया बनता है या अजीब ढङ्ग से शरीर को मोड़ता है।

शूल के काल में मूत्रण की वारंवारता बढ़ती है, प्रत्येक समय मूत्र की राशि अल्प होती है, मूत्र में रक्त रहता है और मूत्रण के समय पीड़ा होती है। कभी कभी मूत्र के साथ अश्मरी के स्फटिक निकलते हैं। कभी मूत्र अधिक राशि में निकलता है और कभी पूर्णतया बन्द हो जाता है। इसको अवरोधज मूत्राघात (Obstructive suppression of urine) कहते हैं। यह मूत्राघात (१) दोनों ओर अश्मरियों द्वारा गवीनी मार्गावरोध होने से, (२) एक गवीनी मार्गावरुद्ध और दूसरा वृक्क कार्यहीन रहने से, (३) एक गवीनी मार्गावरुद्ध और दूसरे वृक्क की प्रतिक्षेप जन्य कार्यहानि (Reflex inhibition) होने से, (४) और एक गवीनी मार्गावरुद्ध और दूसरे वृक्क का सहज अभाव (Absence) या क्षय रहने से या पहले वृक्कोच्छेदन करने से हो सकता है।

दौरे की कालावधि कुछ मिनिटों से कुछ घण्टों की और क्वचित् एक दो दिनों की भी हो सकती है। अल्प अवधि के दौरे में शूल की तीव्रता एकसी रहती है परन्तु जब दौरा दीर्घकालीन होता है तब शूल बीच बीच में अंशतः शान्त होकर फिर से उद्भूत होता है। शूल की तीव्रता अश्मरी की मोटाई की अपेक्षा उसकी खरता और कण्टकिता पर अधिक निर्भर होती है। इसलिए तिग्मीय (वातिक) अश्मरी मिहिक अम्ल (पित्त)

अश्मरी से मोटाई में आधी होने पर भी उससे दुगुना कष्ट देती है। अश्मरी गवीनी से मूत्राशय में पहुँचने के समय तक दौरा जारी रहता है, जब अश्मरी मूत्राशय में पहुंचती है तब यकायक समाप्त होता है और जब तक मूत्राशय में नहीं पहुँचती तब तक पूर्ण समाप्त नहीं होता। पथरी मूत्राशय में पहुँचने पर वहाँ के लक्षण होते हैं जिनमें मूत्राशयप्रकोप और सेवनी (Perineum) में पीडा ये प्रधान होते हैं।

दौरे के समय परीक्षण करने पर अनेक रोगियों में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। अनेकों में वृक्क स्पर्शलभ्य होता है, उसमें पीडनासहता रहती है और दुबले पतले रोगियों में गवीनी में पथरी टटोलने से मालूम होती है।

दौरा समाप्त होने पर असह्य पीड़ा बन्द होती है परन्तु विकृत कटि में मन्द मन्द पीडा या संवेदना कुछ काल तक बनी रहती है और रोगी स्वयं किस वृक्क से पथरी शूल उत्पन्न कर रही थी उसको बता सकता है। दौरा समाप्ति पर कुछ दिनो तक मूत्र में रक्त और पथरियों के स्फटिक पाये जाते हैं और जिस पथरी से शूल हो रहा था वह पथरी भी किसी दिन मूत्रस्रोत से निकलकर प्राप्त हो सकती है।

अनेक रोगियों में शूल के बारबार दौरे आया करते हैं और पथरी वृक्क से मूत्राशय में और वहाँ से बाहर चली गयी इसका कोई लक्षण या प्रमाण नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में यही अनुमान किया जा सकता है कि वृक्कालिन्द में कोई बड़ी पथरी है जो बारबार नीचे की ओर खिसक कर गवीनी के मुख में अटक कर शूल पैदा करती है और मोटाई के कारण नीचे जाने में असमर्थ होने से फिर अलिन्द में जाया करती है।

उपद्रव—जलापवृक्कता (Hydronephrosis), वर्धनशील वृक्कस्य तन्तूत्कर्ष (Fibrosis), वृक्कशोष (Atrophy), वृक्कालिन्दशोथ, पूयापवृक्कता (Pyonephrosis), परिवृक्कशोथ, परिवृक्क विद्रधि, गवीनी उपसंकोच (Stricture) और अभिस्तीर्णता, दूसरे वृक्क की हानि पूरक (Compensatory) परमपुष्टि, गवीनी के भग्न होने से मूत्र का बहिर्वाहिनीभवन (Extravasation) और उदरावरणशोथ, वृक्क

कर्कट, अमूत्रता और गुप्त मूत्रविषमयता (Latent ureamia), बस्ति-शोथ इत्यादि।

निदान (१) *लाक्षणिक*—शूल के दौरे का पूर्ववृत्त, शूल का स्थान, वृषण की ओर उसका फलना और वृषण की सूजन तथा ऊपर की ओर खींचा जाना, बारबार मूत्र त्यागने की आवश्यकता, मूत्र की अल्पता और सरुधिरता, दौरे के पश्चात् मूत्र से पथरी का निकलना इत्यादि लक्षणों से निदान हो सकता है।

(१) *मूत्र परीक्षण*—मूत्र में सूक्ष्मदर्शक द्वारा लाल कणों की उपस्थिति अश्मरी सूचक और सद्योत्सृष्ट मूत्र में मिहिक अम्लादि के स्फटिकों की उपस्थिति अश्मरी के प्रकार की सूचक होती है। कुछ काल तक अवस्थित मूत्र में जो स्फटिक पाये जाते हैं उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। यदि मूत्र से पथरी निकली हुई हो तो निदान निश्चित हो जाता है और उस पथरी का बाह्य स्वरूप देखकर और सर्वोत्तम मार्ग उसका विश्लेषण करा लेने पर पथरी किस प्रकार की है इसका भी ठीक पता लग जाता है।

(२) *क्ष-रश्मि परीक्षा*—वृक्कशूल के निदान के लिए यह परीक्षा बहुत ही उपयोगी होती है। क्ष-रश्मि दर्शन या चित्रण की दृष्टि से विविध अश्मरियों की अपनी अपनी विशेषताएं होती है। चूने की पथरियाँ क्ष-रश्मिपारान्ध (Radio opaque) होने से तद् द्वारा बहुत अच्छी तरह दिखाई देती हैं और ९० प्रतिशत अश्मरियों में चूना होने के कारण वृक्काश्मरी निदान क्ष-रश्मि के द्वारा बहुत आसानी से हो जाता है। मिहिक अम्ल और मेहिक (Urates) की तथा विषाणी (Cystine) की अश्मरिया क्ष-रश्मि पारभास (Translucent) होने से उनके निदान में कुछ कठिनाई होती है। परन्तु यदि उन पर चूने के लवण बैठ गये हों तो वे भी दिखाई देती हैं। चूर्णीयित (Calcified) लस-ग्रन्थियाँ और सिराश्मरियां (Phlebolith) क्ष-रश्मि से दिखाई देती हैं। अतः यदि ये मूत्रण संस्थान के आसपास कहीं हो तो वृक्काश्मरी समझने की भूल हो सकती है। ऐसी अवस्था में अलिन्द चित्रण (Pyelography) के द्वारा सन्देह दूर कर लेना चाहिए। जब शूल

रक्त का थक्का या कोशापुंज (Cellmass) के कारण होता है तब क्ष-रश्मि से उनका पता नहीं लग सकता।

(४) *रक्तचूर्णातु परीक्षण*—अश्मरी की उत्पत्ति में परावटुका की अतिक्रियाशीलता एक बहुत ही महत्व का कारण (पृष्ठ११६) होने से उसका ख्याल रखना चाहिए और यदि उसका सन्देह हुआ तो रक्त-चूर्णातु-भास्वर का आगणन करना चाहिए। यदि रक्त में चूने की मात्रा ११ सहस्रिधान्य (Mg) से अधिक और भास्वर की मात्रा ३ सहस्रिधान्य से कम मिले तो परावटुका के ग्रन्थ्यर्बुद का सन्देह दृढ़ हो जाता है।

(५) इनके अतिरिक्त रक्तगत मिह का आगणन, बस्तिवीक्षण (Cystoscopy) इत्यादि का भी उपयोग आवश्यकतानुसार किया जाय।

सापेक्ष निदान—इसमें शूल उत्पन्न करनेवाले सब विकारों का ध्यान करना चाहिए। उनकी तुलनात्मक सारणी सामने दी गई है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—वृक्काश्मरता एक ऐसी मूत्र विकृति है कि यदि पथ्यपालन और औषधि सेवन न किया जाय तो वह बराबर बनी रहती है जिससे एक अश्मरी निकल जाने पर कुछ काल के पश्चात् दूसरी बनती है और वृक्कशूल का पुनरावर्तन हो जाता है। केवल शुद्ध वृक्काश्मरता से कोई डर नहीं होता। छोटी अश्मरियाँ मूत्र से बिना तकलीफ के निकल जाती हैं, कुछ बड़ी थोड़ी सी तकलीफ या शूल उत्पन्न करके चल देती हैं, वृक्कालिन्द की बहुत बड़ी बरसों तक वहाँ पर पड़ी रहती हैं। वृक्काश्मरी तुरन्त घातक नहीं होती। जब उसके कारण वृक्क को हानि पहुँचती है, दोनों वृक्क खराब हो जाते हैं, उसके साथ उपसर्ग हो जाता है तब वृक्क की अकार्यक्षमता, मूत्रविषमयता या उपसर्ग के कारण कुछ काल के पश्चात् रोगी का मृत्यु हो जाता है। क्वचित् वृक्क शूल के समय गुप्त मूत्रविषमयता से मृत्यु हो सकता है।

शूलावेग की चिकित्सा—गवीनी के उद्वेष्टन (Spasm) से शूल होता है। इसलिए इसमें उद्वेष्टनहर और वेदनाहर चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अश्मरी को गवीनी में नीचे की ओर धकेलने के लिए अधिक राशि में क्षारिय मूत्र बने इस प्रकार के पेय देने चाहिएँ।

विविध शूलों की पार्थक्य दर्शक सारणी

पार्थक्यकर बातें	आन्त्र शूल	वृक्कय शूल	पित्ताश्मरी शूल	गर्भाशय शूल	उण्डुकपुच्छ शूल
१ स्थान	नाभि	कटि प्रदेश एक ओर	पित्ताशय के पास	गर्भाशय के ऊपर	म्याकबर्नी का स्थान
२ लिंग	कोई विशेषता नहीं	अधिकतर पुरुष	अधिकतर स्त्रियां	केवल स्त्रियां	स्त्री पुरुष समान
३ वय	बालक और जवान	जवान	मध्यम वय	जवान	जवान
४ पीडा	अन्तरित और भ्रमणशील	सन्तत और आवेग युक्त	सन्तत और आवेग युक्त	सन्तत और आवेग युक्त	सन्तत
५ विकिरण	नाभि के चारों ओर	वृषण की ओर नीचे	दक्षिण स्कन्ध की ओर ऊपर	नीचे ऊरु की ओर	म्याकबर्नी के स्थान पर
६ प्रकोपहेतु	दुष्पाच्य आहार	उछल कूद	आहार	मासिक धर्म	आहार
७ उपशय	दबाव या अधोवात निर्गमन	सेक या उपनाह	दबाव	सेक या उपनाह	शीत
८ मुख्यलक्षण	मलावरोध, आध्मान	मूत्र की बारंबारता	कामला	योनिस्राव	मलावरोध ज्वर, श्वेत कायाणूत्कर्ष
९ वमन	प्राय. उपस्थित. अपाचित अन्न और पित्त	प्रायः उपस्थित, सेवन किया हुआ अन्न और पित्त	प्रायः उपस्थित, पित्त की अनुपस्थिति	कभी कभी	कभी कभी
१० मूत्र	निनीलेन्य उपस्थित	मूत्र राशि में अल्प रक्त युक्त	मूत्र में पित्त रागक और लवण	कोई विशेषता नहीं	कोई विशेषता नहीं

स्थानिक--वेदना और ऐंठन दूर करने की दृष्टि से स्थानिक उपायों में सेंक (Fomentations) उपनाह और उष्ण कटि स्नान महत्व हैं।

सार्वदैहिक--सार्वदैहिक औषधियों १ ग्रेन मार्फिया और $\frac{१}{१००}$ अट्रोपीन सर्वोत्तम है। तीव्र शूल में $\frac{१}{३}$ ग्रेन मार्फिया और $\frac{१}{६०}$ ग्रेन अट्रोपीन दे सकते हैं। इसमें मार्फिया वेदनाहर और अट्रोपीन उद्वेष्टनहर (Antispasmodic) होता है। यह सुई त्वचा के नीचे प्रति १–२ घण्टे पर ३–४ बार तक दे सकते हैं। सौम्य रोग में एक ही सुई से या पोटास एसीटेट १५ ग्रेन, पोटाश सैट्रेट १५ ग्रेन, पोटयाश ब्रोमाइड १५ ग्रेन, टिंक्चर बेलाडोना १० बूँद पानी १ औंस यह मिश्रण प्रति ३ घण्टे पर देने से शूल दूर हो जाता है।

वृक्कशोथ युक्त शूल में मार्फिया का प्रयोग करने में डर रहता है। ऐसी अवस्था में सूँघने के लिए क्लोरोफार्म या ईथर और उसके साथ २०-३० बूँद टिंक्चर हायोसायमस १ औंस एक्वा क्लोरोफार्म के साथ मिलाकर देना हितकर होता है। कभी कभी सिर नीचा और पैर ऊँचा (शीर्षासन के समान) करने से गवीनीगत अश्मरी अलिन्द में वापिस जाकर उस समय के लिए दौरा समाप्त होता है।

जीर्ण स्वरूप के तथा बार बार होनेवाले वृक्कशूल में मार्फिया का प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर है क्योंकि उसमें आदत पड़ने का डर लगा रहता है। जब दौरे के समय अनेक बार मार्फिया देने की जरूरत पड़ती है तब उसके साथ हृदयोत्तेजन के लिए मद्य का प्रयोग करना हितकर होता है।

पेय—दौरे के समय पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थों का (२४ घण्टे में ३–४ सेर) सेवन करना चाहिए। इसके लिए जौ का यूष, डाभ (नारियल) का पानी, बोतल का खारा पानी, सोडाबायकार्ब, सोडीयम सैट्रेट डाला हुआ पानी, मधुम (Glucose 4%) डाला हुआ पानी और कुछ भी न हो तो सादा गरम पानी सेवन किया जाय। दौरा समाप्त होने पर यदि शर्करा निकल आवे तो उसको रख दिया जाय और यदि उसके न निकलते हुए दौरा समाप्त हुआ तो क्ष-रश्मि के द्वारा अश्मरी का पता लगाया जाय।

प्रतिबन्धन (Prevention)—दौरा समाप्त होने पर अश्मरी के सम्पूर्ण हेतुओं का विचार करना चाहिए। दौरे के अन्त में यदि कोई

शर्करा निकल गयी हो तो उसका संगठन मालूम कर लिया जाय, और यदि न निकली हो तो स्फटिकों के लिए मूत्र का परीक्षण किया जाय। इस परीक्षण के लिए मूत्र सद्योत्सृष्ट होना जरूरी है। अधिक काल तक रक्खे हुए मूत्र में जो स्फटिक मिलते हैं उनका सम्बन्ध अश्मरी की उत्पत्ति के साथ बहुत कम होता है।

मध्यम मात्रा में भोजन, कोष्ठशुद्धि, नियमित व्यायाम, उछलकूद तथा आकस्मिक परिश्रम इनका वर्जन, मूत्रण संस्थान की सफाई तथा मूत्र को अधिक पतला बनाने की दृष्टि से पर्याप्त मात्रा में जलसेवन यह पथरी के रोगियों के लिए सामान्य पथ्य होता है। मूत्रण संस्थान पर अधिक से अधिक परिणाम होने की दृष्टि से खाली पेट पर जल सेवन अधिक हितकर होता है। अश्मरी की उत्पत्ति में आहार का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है परन्तु यह आहार प्रत्येक प्रकार की अश्मरी में भिन्न भिन्न होता है।

ह्यालुरोनिडेस (Hyaluronidase)—अश्मरी की उत्पत्ति में अशुक्लोय श्लेषाभ द्रव्यों का कमी एक बहुत महत्व का कारण (पृष्ठ १२१) होता है। इसकी पूर्ति करने के लिए आज कल इस अन्तःकिण्व (Enzyme) का उपयोग किया जाने लगा है। इससे यह कार्य कैसे होता है इसका ठीक ज्ञान नहीं है। परन्तु इससे इसकी पूर्ति होती हैं इसमें सन्देह नहीं है।

इसका उपयोग त्वचा नीचे सुई लगाकर स्वाभाविक लवणजल (Physiological saline) के साथ मिलाकर किया जाता है। मात्रा १५०--६०० आविलता ह्रासक एकक (Turbidity reducing units) होती है। अल्प मात्रा से अश्मरी कम होने के बदले बढ़ सकती है। इसलिए अधिक मात्रा में इसका उपयोग किया जाय। इससे कोई हानि नहीं हो सकती। इसका उपयोग करने से यदि शरीर में अश्मरी न रहीं तो नया अश्मरी नहीं बनतीं, यदि पहले की रही तो या तो वह बढ़ती नहीं या धीरे धीरे घटती जाती है और अन्त में नष्ट होती है। यदि वृक्क अकार्यक्षम हो तो या यदि इस औषधि के लिए रोगी में सूक्ष्म वेदनता (Sensitivity) या असहनशीलता हो तो इसका उपयोग न करें। इसका कार्य सुई लगाने के आधे घण्टे के पश्चात् प्रारम्भ होकर २४--७२

घण्टे तक जारी रहता है। अतः इसका प्रयोग आवश्यकतानुसार प्रतिदिन या एक दिनान्तरित कर सकते हैं। अब प्रत्येक प्रकार की अश्मरी के प्रतिबन्धन में क्या करना चाहिए इसका विवरण नीचे दिया जाता है—

मिहिकअम्ल अश्मरी--(१) आहार—शरीर में जो मिहिकअम्ल बनता है उसका एक अंश धातु समवर्तजनित अर्थात आन्तरजात (Endogenous) और दूसरा सेवन किये हुए आहार से अर्थात् आहारजात या बाह्यजात (Exogenous) होता है। इस पथरी में इसलिए यकृत् वृक्क अग्न्याशय इत्यादि मिहकी (Purine) युक्त द्रव्य जिनमे मिहिकअम्ल बनता है, न सेवन किये जायँ।

(२) लवण की मात्रा—लवणों की कमी मिहिक अम्ल के निस्सादन में सहायता करती है। अतः चावल, आलू तथा शर्करा जातीय पदार्थों का जिनमें लवण कम रहता है, सेवन कम किया जाय। फल नमक, दूध, हरी साग सब्जी, अण्डा, मछली इत्यादि का सेवन अधिक किया जाय।

(३) मूत्र प्रतिक्रिया—मिहिक अम्ल अम्ल प्रतिक्रिया के मूत्र में निस्सादित होता है। इसलिए मूत्र की अम्लता को कम रखने का प्रयत्न करना चाहिए। भोजन के पश्चात् मूत्र क्षारिय रहता है और उसके पश्चात अम्ल होता है। इसका अर्थ यह है कि दो भोजनों के बीच में अधिक काल व्यतीत होने पर मूत्र अम्ल हो जाता है। इसलिए दो भोजनों के बीच में अधिक काल न रक्खा जाय।

(४) रात के और दूसरे दिन के भोजनों के बीच में अधिक काल व्यतीत होने से नींद में बननेवाला मूत्र अम्ल रहता है। इसके अतिरिक्त निद्रावस्था में मूत्र प्रवाह में मन्दता (पृष्ठ १२१) होने के कारण स्फटिकों के निस्सादन में सहायता होती है। इसलिए क्षारिय द्रव्यों का सेवन पानी के साथ रात मे सोते समय, रात में नींद खुल जाने पर और प्रातःकाल उठने पर करना चाहिए। वैसे ही दिन में एक-दो बार उनका सेवन किया जाय। क्षारिय द्रव्यों मे पोटाशियम सैट्रेट (३०—६० ग्रेन) या सोडा बायकार्ब उत्तम होते हैं। इसके अतिरिक्त नैसर्गिक खनिज जलों (Mineral Waters) का भी सेवन लाभदायक होता है।

तिग्मीय अश्मरी—(१) आहार—मिहिक अम्ल के समान तिग्मीय भी बाह्यजात और अन्तरजात होते हैं । तिग्मीय की पथरी में इसलिए पालक, खट्टा पालक, गोभी, ककड़ी, टोमाटो आलू , सूखे अञ्जीर, बेर (Plums), करौंदा (Goose berries), सन्तरा, नींबू , रसभरी, चाय, कोको इत्यादि तिग्मिक अम्ल अधिक होनेवाले खाद्य द्रव्यों का सेवन न करना चाहिए या कम करना चाहिए। साधारणतया तिग्मीय अश्मरी मे शाकाहार अपथ्य कर होता है और मांसाहार लाभदायक रहता है। इसमें मद्य तथा अलकोहोल युक्त पेय हानिकर होते हैं।

(२) शरीर के रोग—तिग्मीय का निस्सादन अत्यम्लता (Hyper-acidity), अग्निमान्द्य इत्यादि पचन संस्थान के विकारों में अधिक हुआ करता है। इसलिए उसको ठीक करना जरूरी होना है।

(३) मूत्रप्रतिक्रिया—तिग्मीय स्फटिक अम्ल तथा क्षारीय मूत्र में भी पाये जाते हैं। परन्तु यह देखा गया है कि अम्ल मूत्र में वे अधिक बड़े होते है और अधिक निस्सादित हो जाते हैं। इस मूत्र को क्षारीय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं है कि मिहिक अम्ल की अश्मरी के प्रतिबन्धन में मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय रखने से जितनी सफलता मिलती है उतनी तिग्मीय अश्मरी के प्रतिबन्धन में नहीं मिलती। फिर भी उससे कुछ लाभ जरूर होता है।

(४) आजातु सेवन—तिग्मीय अश्मरी के प्रतिबन्धन में आजातु के सेवन से कुछ लाभ होता है क्योंकि उसमे चूने के बदले आजातु (Magnesium) के तिग्मीय बनते हैं जो अधिक विलेय होते हैं। एक प्याले भर पानी में प्रतिदिन प्रातः आजातु प्रांगारीय विलयन (Liq Mag carbonatis) १-२ तोले की मात्रा में सेवन करने से यह कार्य होकर मूत्र भी क्षारीय रहता है।

भास्वीय अश्मरी (Phosphatic calculus)—(१) विकार—यह अश्मरी नाड्यवसन्नता, अग्नि की मन्दता, चिन्ता, मानसिक थकावट इत्यादि विकारों के होने पर होती है। अतः इनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) मूत्र प्रतिक्रिया—मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय रहने पर यह अश्मर

बनती है। अतः अम्ल क्षारातु भास्वीय (Acid sodium phosphate) जैसे मूत्र को अम्ल बनानेवाले द्रव्य का सेवन किया जाय।

(३) उपसर्ग—मूत्रण संस्थान के उपसर्ग से मूत्र क्षारीय बनता है। इसलिए षट्तिक्कि (Hexamine) जैसे मूत्रोपसर्गनाशक औषधि का उपयोग किया जाय।

मूत्र को अम्ल बनाने के लिए जो द्रव्य प्रयुक्त होते हैं उनसे यदि पहले से वृक्क अकार्यक्षम रहा तो अम्लोत्कर्ष (Acidosis) उत्पन्न होने का डर रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि यदि मूत्र में मिह विपाटक (Urea splitting) तृणाणुओं का उपसर्ग रहा तो ये द्रव्य मूत्र को अम्ल बनाने में बहुत सफल भी नहीं होते। इसलिए भास्वीय अश्मरी के प्रति बन्धनार्थ मूल निराकरण की दृष्टि से स्फट्यातु उदजारेय-श्लिषक (Aluminium hydroxide gel) का उपयोग किया जाता है। इससे खाद्यद्रव्यान्तर्गत भास्वर (Phosphorus) आन्त्र में बद्ध होकर मल के साथ उत्सर्गित होता है और मूत्र में निस्सादित होने के लिए रक्त में बहुत कम प्रचूषित होता है। इसका उपयोग आजातु त्रिसैकतीय (Magnesium trisilicate) के साथ भी किया जाता है। मिह विपाटक तृणाणुओं का उपसर्ग होने पर भी इसकी कार्यक्षमता कम नहीं होती तथा इससे अम्लतोत्कर्ष होने का डर भी नहीं होता।

तुलनात्मक प्रतिबन्धन—मिहिक अम्ल की पथरी में बार बार होने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु आहार विहार के द्वारा उसके प्रतिबन्धन में सुकरता भी होती है। तिग्मीय पथरी में ये बातें नहीं हैं। भास्वीय पथरी यदि प्राथमिक अर्थात् अनुपसृष्ट रही (पृष्ठ १२२) तो उसका प्रतिबन्धन आसानी से आहार विहार के द्वारा हो जाता है। परन्तु जब वह द्वितीयक अर्थात् उपसृष्ट रही जैसे कि वह प्रायः हुआ करती है तब मूत्रण संस्थान गत उपसर्ग का पूर्ण निर्मूलन किये बिना उसका प्रतिबन्धन नहीं हो सकता।

शस्त्रकर्म—जब पथरी से रोगी को शूलादि के कारण या अन्य प्रकार से बहुत कष्ट होता है, मूत्र में रक्तपूय इत्यादि आते हैं, मूत्रण संस्थान में उपसर्ग पहुंच गया है। अमूत्रता उत्पन्न होती है तब शस्त्र चिकित्सा श्रेयस्कर होती है। इन शस्त्रकर्मों के दो विभाग होते हैं। प्रथम विभाग में (जब वृक्क खराब होता है तब) अश्मरी के साथ वृक्क को भी काटकर

निकाल देते हैं। दूसरे विभाग में वृक्क खराब न रहने के कारण जहाँ पर अश्मरी होती है वहाँ पर चीरा लगाकर केवल अश्मरी का अपहरण किया जाता है। इन दो विभागों में निम्न पाँच प्रकार के शस्त्रकर्म होते हैं—

(१) वृक्कोच्छेदन (Nephrectomy)—वृक्क अकार्यक्षम और अधिक विकृत रहने पर अश्मरी के साथ उसको पूर्णतया काटकर निकाला जाता है।

(२) वृक्कछेदन, वृक्कांशोच्छेदन (Nephrotomy, Heminephrectomy)—जब वृक्क का कुछ अंश खराब होता है और अवशिष्ट अंश कार्यक्षम रहता है तब अश्मरी के साथ केवल बेकार हिस्सा काटकर निकाल दिया जाता है (पृष्ठ ११५) और स्वस्थ अंश वैसा ही रक्खा जाता है।

वृक्काश्मरीछेदन (Nephrolithotomy)—इसमें वृक्क खराब न होने के कारण उसमें चीरा लगाकर केवल अश्मरी का आहरण किया जाता है।

(४) अलिन्दाश्मरीछेदन (Pyelolithotomy)—इसमें अश्मरी अलिन्द में चीरा लगाकर निकाली जाती है।

(५) गवीन्यश्मरीछेदन (Ureterolithotomy)—इसमें गवीनी में चीरा लगाकर अश्मरी का आहरण किया जाता है।

केवल अश्मरी आहरण के शस्त्रकर्मों में इस बात पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता होती है कि अश्मरी का कोई अंश पीछे न रहने पावे। अन्यथा अश्मरी फिर से बहुत जल्दी उत्पन्न होती है। इस प्रकार की सम्भावना इनमें बराबर रहने के कारण तथा यदि पहले का उपसर्ग रहा तो उसके भी जारी रहने की सम्भावना होने के कारण अनेक शल्यचिकित्सक 'न बाँस रहे न बाँसरी बजे' इस कहावत के अनुसार वृक्कोच्छेदन के शस्त्रकर्म को अधिक पसन्द करते हैं यदि दूसरा वृक्क पूर्ण कार्यक्षम हो। अश्मरी का शस्त्रकर्म करने के पश्चात् जिस प्रकार की अश्मरी हो उसके अनुसार पथ्यकर आहार विहार से रहना आवश्यक होता है।

शस्त्रकर्म निषेध—कष्ट न देनेवाली, अल्प कष्ट देकर निकल जानेवाली अश्मरियों में, द्विपार्श्विक (Bilateral) उपसृष्ट अश्मरियों में जहाँ तक हो सके शस्त्रकर्म न किए जाँय। द्विपार्श्विक अश्मरियों में प्रायः दोनों वृक्क

खराब रहते हैं। इसलिए शस्त्रकर्म से अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है। यदि किसी कारण से शस्त्रकर्म करना उचित समझा तो जिस वृक्क में कार्यहानि अल्प है उस पर प्रथम शस्त्रकर्म किया जाय। द्विपार्श्विक अश्मरियों में केवल आत्ययिक अवस्थाओं या उपद्रवों में शस्त्रकर्म किया जाता है। शस्त्रकर्म करने से पहले उपसर्गनाशनार्थ प्रतिजीवियों (Antibiotics) का प्रयोग, आहार में जीवितिक्तियों का प्रयोग इत्यादि पूर्वविधानिक कार्य करना श्रेयस्कर होता है।

अन्य शस्त्रकर्म— कभी कभी परावटुका के ग्रन्थि के अर्बुदों से वृक्कों में अश्मरियाँ उत्पन्न (पृष्ठ १२०) होती हैं। यदि ऐसी आशंका रही तो रक्त-परीक्षण से उसका अनुमान (पृष्ठ १३४) करके शस्त्रकर्म द्वारा उसको निकाल देना चाहिए।

जलापवृक्कता (Hydronephrosis)

व्याख्या—मार्गावरोध के कारण इकट्ठा हुए शुद्ध मूत्र के दबाव से अलिन्द और आलवालों की अभिस्तीर्णता की और वृक्क की क्षीणता की विकृति को जलापवृक्कता कहते हैं।

हेतुकी—(१) *मस्तिष्क संस्थान विकृति जन्य*—मूत्रण संस्थान के मूत्र मार्ग में मूत्र का प्रवाह प्रत्यक्ष पुरःसरणक्रिया (Active peristalsis) से जारी रहता है। इसलिए मूत्र प्रवाह भली भांति जारी रहना यह मस्तिष्क संस्थान का काम होता है। फिरंगी खञ्जता (Tabes-dorsalis), सुषुम्ना पारच्छेदन (Trans section), मस्तिष्कगत रक्त-स्राव इत्यादि मस्तिष्क संस्थान के विकारों में मूत्रण संस्थान के इस कार्य में बाधा उत्पन्न होकर मूत्र इकट्ठा होने लगता है।

(२) *मार्गावरोध जन्य* (Mechanical obstruction)—मूत्र प्रवाह का जो मार्ग है उस मार्ग में किसी न किसी प्रकार की रुकावट रहने पर या उत्पन्न होने पर मूत्र प्रवाहित न होकर इकट्ठा होने लगता है। यह रुकावट गर्भावक्रान्तिजनित (सहज) या जन्मोत्तर विकृतिजनित बाह्य या आभ्यन्तर इस प्रकार द्विविध हो सकती है—

(१) सहज (Congenital) दोष—इसमें उपसंकोच (Stricture) कपाट (Value) की उत्पत्ति, न्युद्वेष्टन (Twist), अनिच्छिद्रता

(Atresia), अनुचित या ऊँचे स्थान से निकलना (इस प्रकार की विकृति नालाकृति या हयखुराकृति Horseshoe वृक्क, जो एक सहज दोष ही है, में पायी जाती है) तथा अनुचित स्थान में निविष्ट होना, अभिलोप (Obliteration) विपथिका (Aberrant) वृक्कीय धमनी से दब जाना इत्यादि गवीनी के सहज विकार समाविष्ट होते हैं। इन कारणों से जलापवृक्कता जन्मोत्तर तथा गर्भावस्था में उत्पन्न होती है। जन्मपूर्व जलापवृक्कता बालक के प्रसव में बाधा डाल सकती है।

(२) जन्मोत्तर आभ्यन्तरीय—गवीनीगत उपसंकोच, अर्बुद (जैसे अंकुरार्बुद) अश्मरी रक्त का थक्का, मूत्रस्रोत (Urethra) का उपसंकोच अष्ठीलाभिवृद्धि तथा उसके अर्बुद, चल (Movable) वृक्क के विस्थापित होने से गवीनी में न्युब्जन. वस्ति के गवीनी द्वार पर दबाव डालनेवाले अर्बुद तथा अश्मरियाँ इत्यादि।

(३) जन्मोत्तर बाह्य—अभिवृद्ध लस ग्रन्थियां, गर्भाशय तथा लस ग्रन्थियों के अर्बुद इनके बाह्य दबाव से तथा उदरावरण शोथ से।

सम्प्राप्ति—वस्ति या मूत्रस्रोत में रुकावट होने से जलापवृक्कता दोनों ओर की और गवीनी में होने से प्रायः एक ओर की होती है। जब रुकावट स्थायी और पूर्ण रूप की होती है तब जलापवृक्कता न होकर अमूत्रता और वृक्कशोष (Atrophy) ये विकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु जब रुकावट अस्थायी, आंशिक और अन्तरित (Intermittent) स्वरूप की होती है तब जलापवृक्कता उत्पन्न होती है। एक ओर की जलापवृक्कता का सामान्य कारण गवीनी में अटकी हुई अश्मरी होता है।

रुकावट के कारण वृक्क के भीतर इकट्ठा होनेवाला मूत्र वैसे निष्प्रवाह (Stagnant) मालूम होता है परन्तु वस्तुतः वह निष्प्रवाह न होकर अलिन्द और मूत्र नलिकाओं की सिराओं से (Pyelovenous and tubulo venous) बराबर प्रचूषित होने के कारण प्रवाहित होता रहता है। प्रचूषण सिराओं के अतिरिक्त अलिन्दलसायनी (Pyelolymphatic) और मूत्रनलिका लसायनी (Tubulo lymphatic) इनके द्वारा भी हो जाता है ऐसी कल्पना है। इस कारण से जलवृक्कान्तर्गत मूत्र दुर्गन्धित न होकर शुद्ध और निर्मल रहता है। वृक्क सिराओं और लसायनियों द्वारा प्रचूषित होकर मूत्र के वापिस जाने को मूत्र सिरागत (Urovenous)

और मूत्र लसायनीगत (Urolymphatic) प्रतीवाह (Backflow) कहते हैं।

जलापवृक्क का चयापचय वृक्कस्य उत्सर्जक निपीड (Renal excretory pressure) और अलिन्दान्तर्य (Intrapelvic) निपीड के बलाबल पर निर्भर होता है। जब वृक्क के उत्सर्जक निपीड से जलापवृक्क का अलिन्दान्तर्य दबाव ज्यादा रहता है तब जलापवृक्क वर्धनशील नहीं होता। इसके विपरीत वृक्क का मूत्रोत्सर्जक दबाव अधिक रहा तो जलापवृक्क बराबर बढ़ता जाता है। जलापवृक्क के प्रारम्भिक काल में मूत्र प्रचूषण अर्थात् मूत्र प्रतीवाह का कार्य अलिन्द की सिराओं तथा रसायनियों द्वारा और उत्तरकाल में मूत्र नलिकाओं (Tubules) की सिराओं और लसायनियों द्वारा होता है।

शारीरिक विकृति—सहज और बस्ति तथा बस्ति के नीचे के मार्गावरोध में जलापवृक्कता दोनों ओर की और गर्वीनी के मार्गावरोध में प्रायः एक ओर की होती है। मूत्र संचय का पहला परिणाम अलिन्द के अभिस्तीर्ण होने में होता है। उसके पश्चात् आलवालों के कोने गोल होने में (Rounding of corners) होता है। जब मार्गावरोध गर्वीनी के ऊपर के हिस्से में होता है तब गोलाई की विकृति अधिक होती है। आगे चलकर जब अलिन्द काफी बढ़ जाता है तब आलवालों का दबाव भी बढ़ता है और उससे अंकुरों पर दबाव पड़ता है जिससे नलिकाएं अभिस्तीर्ण (Dilated) हो जाती है। आगे चलकर उनका नाश होकर उनके स्थान में तन्तूत्कर्ष होता है। नलिकाएं क्षीण होने पर भी उनके गुत्सक (Glomeruli) कुछ काल तक स्वस्थ रहते हैं। विकृति की यह विचित्र विसंगति (Dissociation) जलापवृक्कता की विशेषता होती है। जब भीतरी का दबाव बढ़ता है तब गुच्छक भी क्षीण होने लगते हैं और इस प्रकार वृक्क का शोष (Atrophy) हो जाता है। मूत्र के दबाव का असर जैसे वृक्क अन्तःसार (Parenchyma) पर होता है वैसे तद्गत रक्तसंचार पर भी होता है जिससे वृक्क में संचार करने वाली रक्त की राशि बहुत कुछ घट जाती है तथा उसके संचरण में अधिक समय लगता है। दोनों का फल वृक्क का रक्तप्रदाय (Blood supply) बहुत अधिक घटने में होता है। इस प्रकार की वृक्क में जो रक्ताल्पता होती है वह भी मूत्र के दबाव के

साथ साथ वृक्कशोथ उत्पन्न करने में सहायक होती है। अलिन्द की प्राकृत समाई (Capacity) ८–१० घ. शि मा. होती है। इसमें वह बढ़कर सहस्रावधि घ० शि. मा. हो सकती है जिस समय रोगी जलोदर से पीड़ित है ऐसा आभास हो जाता है। मूत्र राशिवृद्धि के साथ साथ वृक्क का शोथ बढ़ता जाता है और अन्त में वृक्क अनेक खण्डों में विभक्त मूत्र से भरा हुआ पतली दीवाल का एक थैला (Thin walled lobulated bag) सा बन जाता है। गवीनी में जब मार्गावरोध होता है तब वह व्यत्यस्त-व्यास में (Cross sectional diameter), मोटाई में तथा लम्बाई में बढ़ती है और उसके दोनों सिरे बंधे हुए रहने के कारण वह कुटिल या टेढ़ी मेढ़ी हो जाती है। इस रोग में हृदय के वामार्ध की भी कुछ अभिवृद्धि हुआ करती है। इसमें प्रायः आगे चलकर पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग हो जाता है जिससे वृक्कालिन्दशोथ, सपूय वृक्कालिन्दशोथ और अन्त में पूयापवृक्कता (Pyonephrosis) ये विकार होते हैं।

लक्षण—प्रारम्भिक लक्षण मार्गावरोध उत्पन्न करने वाले रोग के हो सकते हैं। जलापवृक्कता का प्रारम्भ बहुत धीरे धीरे होता है और अनेकों में उसके कोई लक्षण कुछ काल तक नहीं दिखाई देते। इस रोग में निम्न तीन लक्षण प्रधान होते हैं—

(१) *वृक्क प्रदेश का अर्बुद*—यह अर्बुद धीरे धीरे बढ़ता जाता है और बीच में किसी दिन अधिक राशि में मूत्र त्यागने पर अदृश्य होता है। उसके पश्चात् वह फिर से धीरे धीरे बनने लगता है।

(२) *कटी प्रदेश की पीड़ा*—प्रायः जलापवृक्क के बढ़ने के साथ यह पीड़ा बढ़ती है और जब मूत्र निकल जाने पर अर्बुद गायब होता है तब पीड़ा भी गायब होती है। बीच बीच में पीड़ा बहुत अधिक होकर उसके साथ वमन और क्वचित् शक्तिपात (Collapse) भी हो जाता है। प्रायः इस समय प्रभूत मूत्र निकल कर जलापवृक्क की थैली खाली हो जाती है।

(३) *बहुमूत्रता*—यह लक्षण बीच बीच में हुआ करता है। इसमें वृक्क के भीतर इकट्ठा हुआ जल रुकावट निकल जाने से बाहर निकल आता है। इसको अन्तरित जलापवृक्कता (Intermittent hydronephrosis) कहते हैं। यह विकृति अधिकतर स्त्रियों में चलवृक्क (पृष्ठ १५३

१०

देखो) के कारण हुआ करती है। इसमें निकलने वाले जल का सर्व साधारण संगठन मूत्रसम ही होता है परन्तु उसमें मिह (Urea) की मात्रा कम और नमक (NaCl) की मात्रा अधिक हो जाती है। और जल-संचय का काल जितना अधिक उतनी मिह की मात्रा घटती जाती है क्योंकि प्रतीवाह में जल के साथ मिह का भी प्रचूषण होता है। मिह की मात्रा कम होने के कारण उसकी गुरुता कम रहती है। जल संचय बहुत पुराना होने पर मिह, मिहिक अम्ल इत्यादि मूत्र के खास लवण पूर्णतया अविद्यमान् हो जाने से उसकी पहचान करना कठिन हो जाता है।

उपद्रव—(१) *उपसर्ग*—पूयजनक तृणाणुओं के उपसर्ग से वृक्कालिन्द शोथ, पूयापवृक्कता (Pyonephrosis) इत्यादि विकृतियाँ उत्पन्न होकर उनके कारण मूत्र में पूयजनक तृणाणु, पूय कोशाएं इत्यादि उत्सर्गित होकर मूत्र आविल (Turbid) होने लगता है और ज्वर भी आने लगता है।

(२) *विदार* (Rupture)—जलापवृक्क का थैला ऊपर फुफ्फुसों में या नीचे उदरावरण में विदीर्ण होकर आत्ययिक स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

(३) *रक्तस्राव*—क्वचित् उसमें रक्तस्राव हो सकता है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—कुछ रोगियों में एकाध बार वृक्क में इकट्ठा हुआ मूत्र निकल जाने पर फिर जलापवृक्कता उत्पन्न नहीं होती। परन्तु अनेक रोगियों में इस प्रकार बार बार मूत्र का उत्सर्ग होकर जलापवृक्क गायब होता रहता है और फिर से बनता जाता है। इसको अन्तरित जलापवृक्कता (Intermittent) कहते हैं। अन्तरित जलापवृक्कता एकान्ततः (Invariably) एक पार्श्वीय (Unilateral) होती है।

अन्तरित जलापवृक्कता विशेष कष्ट न होते हुए बरसों तक रहकर अन्त में ठीक हो सकती है। यदि दूसरी ओर मार्गावरोध न हो, उसमें उपसर्ग न हो और रुकावट शस्त्रकर्म से या अन्य प्रकार से दूर करने योग्य हो तो यह रोग चिन्ता जनक नहीं है। दूसरी ओर रुकावट पैदा होने पर मूत्र विषमयता उत्पन्न होने से उसके विदीर्ण होने और उसमें उपसर्ग होने से यह रोग घातक होता है।

निदान—अन्तरित जलवृक्कता में कटि प्रदेश में पीड़ा, वृक्कस्थान में अर्बुद, बीच बीच में अत्यधिक मूत्र निकल जाने पर अर्बुद और पीड़ा का नष्ट होना ये निदानार्थकर लक्षण होते हैं। निदान में क्ष-रश्मि, अलिन्द चित्रण (Pyelography) और अन्वेषक वेधन (Exploratory puncture) सहायक होते हैं। अलिन्द चित्रण से वृक्क की स्थिति का पता चलता है। यह चित्रण सिरान्तर्य मार्ग (Intravenous) तथा उपयन्त्र द्वारा (Instrumental) किया जाता है। आजकल धमनी चित्रण (Aortography) से विपथिका धमनी का (पृष्ठ १४३) पता लगाया जा सकता है। अन्वेषक वेधन से भीतर का द्रव्य मिल जाता है जिसके विश्लेषण से (पृष्ठ १४६) उसकी उत्पत्ति का पता लग जाता है। आजकल शस्त्रकर्म द्वारा भी उदर का अन्वेषण (surgical exploration) करके निदान किया जा सकता है। सन्दिग्धावस्था में यह पद्धति अधिक निश्चायक और अधिक सुरक्षित होती है। जलापवृक्क बढ़ने पर उसको बीजग्रन्थि (Ovary) का उदरस्थ अन्य अर्बुद समझने की भूल हो सकती है। बच्चों में इसको वृक्क का मांसार्बुद (sarcoma) या अभिवृद्ध प्रतीपपर्युदरीय (Retro-peritoneal) लस ग्रन्थियाँ समझ सकते हैं।

चिकित्सा—एकपक्षीय कष्ट न देनेवाली जलापवृक्कता के लिए कोई विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह प्रायः घातक नहीं होती, बहुत धीरे धीरे बढ़ती है और क्वचित् आप से आप ठीक भी हो जाती है। उस पर गद्दी (Pad) और बन्ध बांधने से अनेक बार लाभ होता है तथा हस्त विधान से उसका संपीडन करने पर (Compression) कभी कभी वह ठीक भी हो जाती है। परन्तु यह कर्म बहुत सावधानी से करना चाहिए। अन्यथा उसके विदीर्ण होने की सम्भावना रहती है।

जब जलापवृक्क का थैला बहुत बड़ा और पीड़ादायक होता है तब अहिमुखयन्त्र से वेधन करके जल का आचूषण (Aspiration) किया जा सकता है।

जब जलापवृक्कता का कारण दूर किया जा सकता है तब शस्त्रकर्म द्वारा उसको दूर कर देना चाहिए। जब वृक्क अंशतः या पूर्णतः बेकार हो जाता है तब आंशिक (Partial), अर्ध (Heminephrectomy) या पूर्ण वृक्कोच्छेदन करना चाहिए।

पूयापवृक्कता (Pyonephrosis)

व्याख्या—एक अर्बुद के समान प्रतीत होने योग्य पूय से अभिवृद्ध अलिन्द को पूयापवृक्कता कहते हैं।

हेतुकी—यह रोग वृक्कालिन्द शोथ या जलापवृक्कता के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है। इसके यक्ष्मज और पूयज करके दो प्रकार होते हैं। इसमें दूसरा प्रकार अधिक दिखाई देता है और प्रायः अश्मरी के मार्गावरोध से उत्पन्न होता है।

लक्षण—इसमें ज्वर, सर्दी, शरीर की कृशता तथा विषमयता के अन्य लक्षण होते हैं। वृक्कप्रदेश में अर्बुद प्रतीत होता है जो पीडना सह होकर श्वसन के साथ कुछ कुछ हिलता है। मूत्र में पूय पाया जाता है। यदि पूर्ण मार्गावरोध हो तो मूत्र में पूय नहीं पाया जा सकता।

निदान—जलापवृक्कता और परिवृक्कय विद्रधि से इसको पृथक् करना चाहिए। जलापवृक्कता में ज्वर और मूत्र में पूय नहीं होता। परिवृक्कय विद्रधि का उभार अधिक विस्तृत होकर उससे त्वचा पर सूजन और लाली होती है तथा वह श्वसन से हिलता नहीं।

चिकित्सा—यदि एक पक्षीय पूयापवृक्कता हो और दूसरा वृक्क कार्यक्षम रहे तो वृक्कोच्छेदन किया जाय। दोनों ओर का रोग होने पर केवल लाक्षणिक और संशामक चिकित्सा की जाय।

वृक्क के कोष्ठ (Cysts)

(१) **प्रभूतकोष्ठ** (Multiple cysts)—ये कोष्ठ धमनिकीय वृक्क जरठता, जीर्ण गुल्सकीय वृक्कशोथ, जीर्ण वृक्कालिन्दशोथ इत्यादि वृक्कविकारों में वृक्क के बाह्यवस्तु (Cortex) में तान्तव धातु से मूत्रनलिकाओं का मार्गावरोध होने के कारण उनके अभिस्तीर्ण होने से बनते हैं। ये संख्या में अनेक आकार में छोटे और स्वच्छ निर्मल द्रव से भरे हुए होते हैं। इनको विधारण कोष्ठ (Retention) भी कहते हैं।

(२) **उदन्वत् कोष्ठ** (Hydatid cysts)—कोष्ठपुअस्फीतकृमि (Toenia echino cocous) के उपसर्ग से ये कोष्ठ उत्पन्न होते हैं। इस कृमि का उपसर्ग मुख्यतया यकृत् में, क्वचित् मस्तिष्क,

अस्थि और फुफ्फुस में और क्वचित् कदाचित् वृक्क में होता है। इसके होने पर उपसृष्ट व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक रहता है, बढ़ने पर भी इसका उभार कटि प्रदेश में नहीं प्रतीत होता तथा वक्क अपने स्थान से विस्थापित नहीं होता। इसको एकल कोष्ठ या बहुकोष्ठीय रोग या कुछ ठोस होने के कारण अर्बुद समझने की भूल हो सकती है। अलिन्द चित्रण के द्वारा भी इसको अर्बुद से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह कोष्ठ अलिन्द में विदीर्ण होकर आप से आप रोग ठीक हो सकता है। उस समय गवीनी में से निकलते समय इसके दुहितृ कोष्ठ (Daughter cysts) वक्क्यशूल उत्पन्न कर सकते (पृष्ठ १३०) है।

(३) बहुकोष्ठीय रोग (Polycystic disease)

व्याख्या—बहुकोष्ठीय वृक्क तान्तव धातु के निबिड पट्टियों से (Dense strands) विभक्त सरसों से लेकर सुपारी तक के छोटे बड़े अनेक कोष्ठों से भरा हुआ एक बड़ा भारी पिण्ड (Conglomeration) होता है।

हेतु—यह रोग सहज अर्थात् गर्भावक्रान्ति के दोष से (Congenital developemental errors) हुआ करता है। इसके अतिरिक्त इसमें कौटुम्बिक (Familial) और कुलज प्रवृत्ति भी होती है। जीवन की दो अवस्थाओं में यह रोग पाया जाता है। लगभग ३० प्र० श० रोगी शिशु होते हैं जिनमें अधिक संख्य मृतजात (stillborn) रहते हैं। इनमें वृक्क के समान यकृत् में भी कोष्ठ पाये जाते हैं और कभी कभी अग्न्याशय और फुफ्फुस में भी। परन्तु विकृति की अधिकता वृक्क में होती है। शिशुओं के अतिरिक्त अन्य रोगी उत्तर आयु (४०–५० वर्ष) के होते हैं। क्वचित् इतर अवस्था में भी एकाध पाया जाता है। उत्तर आयु में प्रकट होनेवाला यह रोग भी सहज दोष जन्य ही माना जाता है। जन्म के समय यह दोष अल्प रहकर धीरे धीरे बढ़ता है और उत्तर आयु में प्रकट होता है। उत्तर आयु में मिलने वाले इसका प्रतिशत प्रमाण मरणोत्तर परीक्षाओं में २–४ तक पाया गया है।

संप्राप्ति और शारीरिक विकृति—यह रोग ९०–९५ प्रतिशत रोगियों में दोनों वृक्कों में हुआ करता है। इससे वृक्कों की अतिमात्र अभिवृद्धि होकर प्रौढ़ों में उनका भार १-२ सेर तक और नवजात बालकों में ½–१ सेर तक रहता है। इससे अनेक बार उनके प्रसव में कठिनाई हो जाती है।

उनका बाह्यतल बाहर की ओर निकल कर आये हुए (Projecting) छोटे मोटे कोष्ठों से बनता है जिसके कारण वृक्क द्राक्षागुच्छ के समान दिखाई देता है। ये कोष्ठ अनेक बार आपस में मिले हुए रहते हैं और कचित् अलिन्द में भी कुछ कोष्ठ खुलते हैं। इन कोष्ठों के भीतर निर्मल या मलीन द्रव होता है जिसमें शुक्ति, रक्तस्फटिक, पैत्तव (Cholesterin) त्रिभास्वीय (Triple phosphate), स्नेहबिन्दु और क्वचित् मिह तथा मिहिक अम्ल इत्यादि द्रव्य पाये जाते हैं। इनकी दीवाल पतली चपटे अधिच्छद (Epithelium) से बनती है और उसमें धमनियाँ रहती हैं जो अनेक बार अभिघात या रक्तपीडन से विदीर्ण होती हैं। इसलिए कोष्ठों के भीतर रक्त पाया जाता है और यदि ऐसा कोष्ठ आलवाल या अलिन्द से सम्बन्धित रहा तो शोणित मेह हो जाता है। धमनियों के विदीर्ण होने के समय कटि पीड़ा भी होती है।

वृक्क को काटकर देखने पर उसका अधिकांश कोष्ठों से ही बना हुआ मालूम होता है और उनकी दीवालों के बीच में वृक्क का अन्तःसार (Parenchyma) कहीं कहीं दिखाई देता है। वृक्क के बाह्य और आन्तर वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता है। कुछ कोष्ठ अलिन्द में खुले हुए दिखाई देते हैं। कोष्ठों के कारण जैसे अन्तःसार का संचय होता है वैसे धमनियों की शाखा प्रशाखाओं का भी बहुत कुछ संचय हो जाता है। अलिन्द काफी अभिस्तीर्ण हो जाता है और आलवालों के सिरे गोल हो जाते हैं।

वृक्को में रक्त की तथा कार्यकर अन्तःसार की कमी होने से रक्तपीडन की वृद्धि, वृक्क की अकार्यक्षमता और मूत्रविषमयता ये विकार इसमें हो जाते हैं।

वृक्क के अतिरिक्त कुछ रोगियों में यकृत्, बीजग्रन्थि, पृथुबन्धिनी (Broad ligament), गर्भाशय, अग्न्याशय, प्लीहा इत्यादि अंगों में भी कोष्ठ पाये जाते हैं। परन्तु यकृत् के अतिरिक्त अन्यों मे विरल दृष्ट होते हैं। इनके अतिरिक्त हृदय की अभिवृद्धि, धमनी जरठता ये विकृतियाँ भी वृक्क विकार के कारण पायी जाती हैं।

लक्षण—गर्भस्थ बालकों में इसके कारण प्रसव में कठिनाई होती है। जवानों में अनेक बार प्रारम्भ में इसके कोई लक्षण नहीं पाये जाते हैं। परन्तु आगे चलकर निम्न दो प्रकार के लक्षण मिलते हैं।

(१) दोनों ओर वृक्कप्रदेशों में अर्बुद होते हैं जिनके कारण उदर का का ऊपर का हिस्सा फूला हुआ सा रहता है। इनके ऊपर स्थूलान्त्र और जठर रहता है। फिर भी कृश रोगियों में स्पर्शन से इनका पता लग जाता है। दोनों वृक्कों की अभिवृद्धि सदैव समान नहीं होती। इसके साथ साथ कटि प्रदेश में पीड़ा भी होती है, जो परिश्रम करने पर बढ़ती है। इस रोग में बीच बीच में शोणित मेह भी होता है।

(२) रोग बढ़ने पर जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ के लक्षण उत्पन्न होते हैं। जैसे—त्वचा का फीकापन, धमनी जरठता, हृदय की अभिवृद्धि, रक्तनिपीड की वृद्धि, बहुमूत्रता, अल्प गुरुता का मूत्र उसमें अत्यल्प मात्रा में शुक्लि इत्यादि।

उपद्रव—जीर्ण वृक्कशोथ, धमनीजरठता, रक्तनिपीड वृद्धि, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, मूत्रविषमयता, परिवृक्कयविद्रधि, उदरावरण शोथ, मारक अर्बुद।

निदान—जीर्ण वृक्कशोथ के लक्षणों के साथ वृक्कों की स्पर्शलभ्यता इस रोग की सूचक होती है। वृक्क के अर्बुद प्रायः एक ही ओर होते हैं। निर्ज्वरता और पूयमेह का अभाव पूयापवृक्कता के निषेधक होते हैं। निदान में अलिन्द चित्रण और धमनी चित्रण (Arteriography) बहुत उपयोगी होता है। धमनी विस्तार का संक्षेप, छोटी छोटी धमनियों का बहुत दूर दूर दिखाई देना और उनकी अन्तिम शाखाओं का न दिखाई देना बहु-कोष्ठीय वृक्कों की विशेषताएँ होती हैं।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—गर्भाशयस्थ बालक इससे प्रायः मर जाते हैं। इसलिए मृतावस्था में उनका जन्म होता है। जो थोड़े से बालक जीवितावस्था में बाहर आते हैं वे अल्पकाल में मर जाते हैं। जवानों में रोग प्रगल्भ होने पर प्रायः ४–५ वर्षों में मृत्यु हो जाती है। कुछ रोगी इससे अधिक काल तक जीवित रह जाते हैं। शल्य चिकित्सकों का कहना है कि जिनके ऊपर शस्त्र कर्म किया गया है वे अन्य रोगियों से अधिक काल तक जीवित रहते हैं। मृत्यु प्रायः मूत्र विषमयता, मस्तिष्क में रक्तस्राव इत्यादि से होता है।

चिकित्सा—दोनों ओर रोग होने से जीर्ण वृक्कशोथ के समान सामान्य चिकित्सा की जाती है। एक ओर का होने पर वृक्कोच्छेदन किया

जाता है। आजकल दोनों ओर के रोग पर भी शस्त्र कर्म किया जाने लगा है। इसमें वृक्क कोष्ठ में चीरा लगाकर खाली किये जाते है। उनकी अधिकांश दीवाल काट कर निकाल दी जाती है और जो बचती है वह रसायनों द्वारा कठिन (Sclerosing) की जाती है (Marsupia lization वृक्कधानीकरण)। इससे रोगी की आयु बढ़ती है।

एकलकोष्ठ (Solitary cyst)—यह कोष्ठ बहुधा मार्गावरुद्ध मूत्र नलिका के अभिस्तीर्ण (Dilatation of an obs tructed tubule) होने से होता है और सहज स्वरूप का हो सकता है। यह सदैव वृक्क के बाह्यभाग (Cortex) में बनता है और अधिकांश बाहर की ओर निकला हुआ रहता है। परिणाम में यह आवले से लेकर बड़े सन्तरे के बराबर या उससे भी बड़ा हो सकता है। इसके भीतर लसिकासम (Serous) द्रव भरा रहता है। क्वचित् इसमें रक्त भी पाया जाता है। एकलकोष्ठ युक्त वृक्क के साथ प्रायः जीर्ण वृक्कशोथ भी रहता है। परन्तु विशेष महत्व की बात यह होती है ऐसे वृक्क में मारक अर्बुद भी उत्पन्न होता है और जिनमें रक्त रहता है उनमें ३० प्रतिशत तक मारक अर्बुद साथ रहता है।

लक्षण—अधिक संख्य एकलकोष्ठीय वृक्कों से कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते। परन्तु निम्न कारणों से इनमें लक्षण दिखाई दे सकते हैं—(१) जब ये बहुत बड़े होते हैं तब उभार दिखाई देता है। (२) कभी कभी यह यकायक बढ़ता है तब वृक्क में पीड़ा होती है। (३) इसके कारण अलिन्द, गवीनी में मार्गावरोध तथा उपसर्ग हो सकता है।

निदान—इसमें क्ष–रश्मि के द्वारा रोग का ठीक निदान नहीं हो सकता क्योंकि उससे कोष्ठ और घातक अर्बुद इनमें पार्थक्य नहीं किया जा सकता और इसमें मारक अर्बुदोत्पत्ति की सम्भावना बहुत अधिक होने के कारण उसका पता लगा लेना बहुत जरूरी होता है। इसके लिए कोष्ठसमन्वेषण (Exploration) यही एकमेवमार्ग होता है।

चिकित्सा—उदर विपाटन करके और कोष्ठ की प्राचीर काटकर भीतर का द्रव देखा जाता है। यदि वह केवल लसिक्य द्रव (Serous fluid)

रहा तो उसका तल अर्बुद की दृष्टि से टटोलकर देखा जाता है। यदि अर्बुद की कोई आशंका न रही तो बाहर आयी हुई दीवाल काटकर निकाली जाती है और वृक्क के भीतर की अवशिष्ट दीवाल अन्तस्तापन (Diathermy) से, झेंकर (Zenker) के द्रव या दर्शव (Phenol) इत्यादि से जला दी जाती है। जब कोष्ठ का द्रव रक्त पूर्ण रहता है तब उसमें मारक अर्बुद रहने की सम्भावना अधिक होने से वृक्कोच्छेदन से सम्पूर्ण वृक्क निकाल दिया जाता है।

चल वृक्क Movable kidney

पर्याय - वृक्कभ्रंश Nophroptosis, स्पृश्य वृक्क, प्लुव वृक्क।

व्याख्या—वृक्क उदर गुहा के भीतर पीछे की दीवाल पर परिवृक्कस्थ चरबी से, वृक्कस्य रक्तवाहिनियों से तथा ऊपर फैली हुई पर्युदर कला से बन्धे हुए रहते हैं। फिर भी श्वसन के साथ वे एकाध इञ्च नीचे की ओर आ जाते हैं। यह गति बाईं की अपेक्षा दाईं ओर अधिक होती है।

उदर शिथिल करके पीठ के बल लेटे हुए व्यक्ति के वृक्क का निचला सिरा अन्तः श्वसन के समय जब हाथ से टटोला जा सकता है तब उसको स्पृश्य (Palpable) वृक्क कहते हैं। जब अन्तः श्वसन के समय हाथ वृक्क के ऊपर के सिरे के ऊपर जाकर बहिः श्वसन के समय उसको ऊपर जाने से रोक सकता है तब उसको चल (Movable) वृक्क कहते हैं। जब वृक्क केवल आसानी से स्पर्शलभ्य ही नहीं बल्कि पौपार्ट के वङ्क्षण स्नायुबन्ध (Poupart's ligament) के या उदर मध्य रेखा के पास पाया जाता है, स्वतन्त्रतया चलायमान होता है और हाथ से उदर मध्य रेखा की दूसरी ओर दबाया जा सकता है तब उसको प्लव (Floating) वृक्क कहते हैं।

हेतुकी—वृक्क बन्धों की शिथिलता चल वृक्क का मुख्य कारण है। यह शिथिलता इन बन्धों की सहज दुर्बलता के कारण हो सकती है क्योंकि शिशुओं और बच्चों में भी यह विकृति कभी कभी पायी जाती है।

परन्तु यह शिथिलता अधिकतर जन्मोत्तर ही हुआ करती है। यह विकृति पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक (१ : ७) पायी जाती है।

इसका मुख्य कारण यह है कि गर्भवृद्धि के कारण उनकी उदर गुहा में काफी उथल पुथल होती है और प्रसवों के कारण उदर प्राचीर में काफी शिथिलता आ जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विकृति वन्ध्या स्त्रियों में नहीं होती। ऊंचा तंग कमरबन्ध भी इसकी उत्पत्ति में कारणभूत होता है। इसके अतिरिक्त वृक्क के आस पास की चरबी का शोष, अभिघात भारी बोझ उठाना इत्यादि कुछ कारण भी सहायक होते हैं। वृक्क के अर्बुद जब बड़े हो जाते हैं तब भी वह नीचे की ओर खिसक आता है।

बाईं की अपेक्षा दाहिने वृक्क में यह विकृति अधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि दाहिने वृक्क के ऊपर यकृत् रहता है जो महा प्राचीरा पेशी के साथ अन्तःश्वसन के समय नीचे आकर वृक्क को नीचे दबाता है। इसके अतिरिक्त इसके भीतर से आरोही स्थूलान्त्र और उसका याकृत मोड़ (Hepatic flexture) लगा रहता है जो मल से भरा रहने पर उसको नीचे की ओर खींचता है। बाईं ओर इस प्रकार की स्थिति न होने से वह नीचे की ओर कम आता है।

लक्षण—बहुत कम व्यक्तियों में लक्षण दिखाई देते हैं। संयोग वश इसका ज्ञान हो जाने पर इसका पता रोगी को न देना चाहिए। क्योंकि रोगी के मन पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके लक्षण बहुत करके २५–३५ वर्ष की अवस्था में प्रकट होते हैं और उनका स्वरूप निम्न प्रकार का होता है—

(१) कटि प्रदेश में बेचैनी, पीड़ा या खींचावट (Dragging pain) इत्यादि स्थानिक लक्षण।

(२) अन्तःपर्शुकीय नाड़ी शूल (Intercostal neuralgia) १०वें और सविभाग में परिहर्ष (Hyperasthesia of the 10th thoracic segment), नाड्यवसन्नता (Neurasthenia), विषण्णता, स्त्रियों में अपतन्त्रक, पुरुषों में पागलपन इत्यादि वातिक विकार।

(३) अग्नि की मन्दता, मलावरोध, इत्यादि पचन संस्थान के लक्षण।

(४) डीटल की दारुणता (Dietl's crisis)—यह लक्षण समूह सदैव होने वाला नहीं है परन्तु जब होता है तब रोगी को बहुत तकलीफ देता है। समय समय पर इसके दौरे आते हैं और महीनों या बरसों तक आते रहते हैं। अधिक काल तक खड़े रहने से, यकायक कठिन परिश्रम करने से

या आहार दोष से दौरा उत्पन्न होता है। वृक्क के चलायमान होने से वृक्कस्थ रक्तवाहिनियाँ मुड़ जाती है या उनमें बल पड़ (Twist, Kink) जाता है जिससे यह दारुणता उत्पन्न होती है। इसमें वृक्क शूल के समान अत्यन्त तीव्र स्वरुप की वेदना वृक्क प्रदेश में प्रारम्भ होकर गवीनी की दिशा में नीचे तथा पीछे की ओर फैलती है। इसके साथ शीत, ज्वर हृल्लास, वमन, शक्तिपात (Collapse) इत्यादि लक्षण भी होते हैं। मूत्र अल्पराशि में होता है और उसमें मेहीयों (Urates) और तिग्मीयों (Oxalates) की अधिकता होकर रक्त भी रहता है।

(४) अन्तरित जलापवृक्कता (Intermittent hydronephrosis) यह लक्षण गवीनी में बल पड़ने से होता है। इसमें एक से दो दिन में वृक्क के भीतर मूत्र इकट्ठा होकर अर्बुद बनता है जो सन्तरे से लेकर नारियल तक बड़ा हो सकता है। अर्बुद बनने के काल में मूत्र त्याग नहीं होता या अल्प होता है, उसमें कुछ रक्त भी रहता है, ज्वर, वमन इत्यादि लक्षण भी होते हैं। फिर स्थानिक पीड़ा तथा हृल्लासादि लक्षण कम होने लगते हैं और मूत्र की राशि बढ़कर १०–१२ घण्टे में वृक्क का अर्बुद गायब हो जाता है। इस प्रकार बार बार दौरे आते हैं। अन्तरित जलापवृक्कता चल वृक्क का सबसे अधिक पीड़ायक और बार २ होनेवाला उपद्रव होता है।

(५) ऊर्ध्वं स्थितिक परमाततिं (Orthostatic hypertension) कुछ व्यक्तियों में चल वृक्क से खड़े होने की स्थिति में रक्त का निपीड़ (Blood pressure) बढ़ता है।

निदान—इसके निदान में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। सापेक्ष निदान में यकृत् का रीडेल का खण्ड (Riedel's lobe), बढ़ा हुआ पित्ताशय, अग्न्याशय का कर्कट, स्थूलान्त्र के मोड़ के पास जमा हुआ कठिन मल इनका ख्याल रखना चाहिए।

साध्यासाध्यता—जलापवृक्कता के अतिरिक्त इस रोग में कोई घातकता नहीं होती। वैसे चल वृक्क आप से आप स्थिर भी नहीं होता।

चिकित्सा—डीटल के दारुणय के समय रोगी को बिस्तरे पर पेट के बल या जानु कूर्परासन पर लेटने के लिए कहा जाय। पीड़ा के स्थान में सेंक या स्वेद किया जाय। पीड़ा असह्य हो तो मार्फिया की सुई लगायी जाय। यदि इससे लाभ न हो और दौरा अधिक काल तक चलें तो क्लोरो-

फामें देकर: हस्तविधान (Manipulation) से वृक्क को स्थानापन्न करने का प्रयत्न किया जाय। यदि डीटल की दारुणता या:जलापवृक्कता न उत्पन्न होती हो तो शस्त्र कर्म की कोई आवश्यकता नहीं होती । परन्तु इनके बार बार आक्रमण होने पर शस्त्रकर्म से वृक्कस्थिरीकरण (Nephropexy) या वृक्कोच्छेदन करना चाहिए। डीटेल के दारुणय के पश्चात् तुरन्त वृक्क स्थिरीकरण का शस्त्र कर्म न करें।

वृक्क के अर्बुद Tumors

ग्रन्थिककर्बुद (Adeno carcinoma)—इसको पहले परमवृक्कार्बुद (Hypernephroma) कहते थे। ग्राविट्ज़ने पहले पहल इसका पता लगाया, इसलिए इसको ग्राविट्ज़ का अर्बुद (Grawitz's tumor) कहते हैं।

हैतुकी—वृक्क के अर्बुदों में सबसे अधिक (७०-८०%) मिलनेवाला यह अर्बुद है। ३०-७० वर्ष की अवस्था में यह होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में यह अधिक (३:७) दिखाई देता है।

यह घातक अर्बुद कैसे उत्पन्न होता है इसका अभी तक ठीक ज्ञान नहीं है। कुछ रोगियों में इसकी उत्पत्ति जरठ वृक्कान्तर्गत अंकुरभर (Papilli ferous) कोष्ठों से या अन्य सौम्य अर्बुदों से होती है। दूसरे कुछ रोगियों में एकलकोष्ठ (पृष्ठ १५२) से होती है। ६% रोगियों में अश्मरी भी पायी जाती है जिससे उससे भी इसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

शारीरिक विकृति—यह अर्बुद प्रायः एक ओर के वृक्क में उसके ऊपर के या नीचे के सिरे से उत्पन्न होता है और अकेला, आकार में गोल तथा साटोपिक (Encapsulated) रहता है, आटोपिका से अनेक दण्डिकाएँ (Trabeculae) भीतर जाकर उसको अनेक खण्डों में विभक्त करती है। इसके भीतर चरबी के समान द्रव्य का अन्तराभरण (Infiltration) होने से यह अर्बुद पीला सा दिखाई देता है। इसके भीतर धातुविनाश (Necrosis), रक्तस्राव और कोष्ठोत्पत्ति (Cyst formation) और क्वचित् चूर्णीभवन (Calcification) ये परिवर्तन बराबर हुआ करते हैं। बड़े अर्बुद में अनेक बार विनष्ट धातु के अतिरिक्त

और कोई वस्तु नहीं दिखाई देती। कुछ रोगियों अर्बुद के पक्ष के वृषण में वृषण सिरा वृद्धि (Varicocele) उत्पन्न होती है।

प्रसार—यह अर्बुद धीरे धीरे बढ़ता है। बहुत बढ़ने पर वृक्क का भार एक सेर से भी अधिक हो जाता है। प्रारम्भ में यह आटोपिका के भीतर जरूर मर्यादित रहता है। परन्तु आगे चलकर उसको तोड़कर वृक्क पर आक्रमण करता है। प्रथम यह अलिन्द पर और पश्चात् वृक्कथ सिरा पर आक्रमण करके उसके द्वारा अधरामहासिरा फुफ्फुस, यकृत्, अस्थि, मस्तिष्क इत्यादि अंगों में समस्थाय (Metastasis) उत्पन्न करता है। हड्डी के समस्थाय विशेष महत्व के होते हैं। बाह्वस्थि का ऊपर का सिरा, पृष्ठवन्श, उर्वस्थि, श्रोणी, पसलियाँ ये अस्थियाँ क्रम से इससे आक्रान्त होती हैं। अधिक संख्य रोगियों में केवल एक ही अस्थि में इसका समस्थाय रहता है। यह अर्बुद स्वयं अनेक बार शान्त रहता है यह इसकी चमत्कारिक विशेषता है। अर्थात् इसके होते हुए मूत्रगत या अन्य स्थान के कोई लक्षण उत्पन्न नहीं होते और शरीरगत समस्थायों से इसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है ऐसी चमत्कारिक स्थिति श्वसनीगत (Bronchial) कर्कार्बुद में दिखाई देती है। समस्थाय के कारण अस्थि का यकायक भंग होना इसकी ओर ध्यान आकर्षित होने का एक महत्त्व का उपद्रव है। रक्तवाहिनी के अतिरिक्त लसवाहिनियों के द्वारा भी महाधमनी समीपवर्ती लसग्रन्थियों में समस्थाय उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—इस अर्बुद में निम्न लक्षण मिल सकते हैं।

(१) शोणितमेह—अधिक संख्य रोगियों में (७० प्रतिशत) यही प्रथम लक्षण होता है। अर्बुद के भीतर के पतली दीवाल के रक्तावकाश (Blood Spaces) अलिन्द में विदीर्ण होने से मूत्र में रक्त आता है। उस समय पीड़ा नहीं होती। मूत्र में रक्त द्रव रूप में, थक्के में या अलिन्द और गवीनी के साँचे (Moulds) के रूप में पाया जाता है। मूत्र में रक्त यदृच्छया (Sponteneous) आता है, अधिक राशि में रहता है और अन्तरित (Intermittent) होता है। विश्राम या परिश्रम का उसके आने न आने पर या राशि पर कोई परिणाम नहीं होता। सप्ताह दो सप्ताह रहकर वह बन्द हो जाता है।

(२) पीडा—यह अनिश्चित स्वरूप का लक्षण है। अनेक रोगियों में अर्बुद काफी बढ़ने पर भी पीडा नहीं होती। जब पीडा होती है तब वह मन्द खींचावट (Dragging) के स्वरूप की होकर ऊरू की ओर फैलती है। गवीनी में से जब रक्त का थक्का निकलने लगता है तब पीडा शूलसम होती है।

(३) अर्बुद की उपस्थिति—यह लक्षण बहुत महत्त्व का है। इसकी उपलब्धि द्विहस्तविधान (Bimanually) द्वारा गम्भीर स्पर्शन से हो जाती है। पसलियों के नीचे दण्डकपेशी (Rectus) के बाहर श्वसन के साथ हिलनेवाला, गोल किनारे का ठोस अर्बुद के तौर यह विकृति (पहलेपहल) प्रतीत होती है। बहुत बढ़ने पर यह अर्बुद उदरस्थ अन्य अंगों को विस्थापित करके आगे की ओर उभड़ आता है जिससे उदर प्राचीर विषम रूप से फूली हुई दिखाई देती है। इसके सामने दाहिनी ओर आरोही स्थूलान्त्र और बाईं ओर आडा और अवरोही स्थूलान्त्र रहने से अंगुली ताडन करने में यह निनादित (Resonant) हो जाता है। रोग बहुत बढ़ने पर यह अर्बुद समपवर्ति अंगों से अभिलग्न हो जाता है।

(४) शरीर की कृशता—उत्तरकाल में शरीर कृश और दुर्बल हो जाता है प्रारम्भ में नहीं। कभी कभी अर्बुद काफी बढ़ने पर भी रोगी कृश नहीं होता।

(५) ज्वर—अनेक रोगियों में अर्धविसर्गी या विसर्गी स्वरूप का ज्वर पाया जाता है। इसका कारण अज्ञात है। क्वचित् इस रोग का यही एक मात्र लक्षण हो सकता है।

(६) समस्थाय के लक्षण—इसके समस्थाय फुफ्फुस, मस्तिष्क हड्डी इत्यादि अंगों में होते हैं और जैसे कि पहले बताया गया है (पृष्ठ १५७) इन्हीं के लक्षण सर्व प्रथम इस रोग के लक्षण के तौर पर प्रकट होते हैं।

निदान—अर्बुद और शोणितमेह इसके सूचक लक्षण होते हैं। केवल अर्बुद होने पर अन्वेषक उदर विपाटन (Exploratory Laprotomy) करना चाहिए। यदि केवल शोणितमेह रहा तो बस्तिवीक्षण, अलिन्द चित्रण, मूत्रपरीक्षण, क्ष-रश्मि परीक्षण इत्यादि के द्वारा सम्पूर्ण मूत्रण संस्थान की तलाशी करनी चाहिए।

सापेक्ष निदान—इसके लिए प्लीहाभिवृद्धि, यकृदभिवृद्धि, रीडेल का यकृत् का खण्ड (Riedel's Lobe) अधिवृक्क ग्रन्थिवृद्धि इत्यादि का ध्यान रखना चाहिए।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—यह घातक अर्बुद है परन्तु धीरे धीरे बढ़ता है। इसलिए रोगी का भविष्य इसके वर्धन की गति के ऊपर निर्भर होता है। बहुतेरे रोगी २ साल में और अधिक संख्य चार साल में मर जाते हैं। बहुत थोड़े (२५ प्रतिशत) ५ वर्ष से अधिक जीवित रहते हैं। अर्बुद की वृद्धि और वृक्क्य सिरा पर आक्रमण ये दो बातें रोगी का भविष्य निर्णय करने में बहुत महत्त्व की होती है। वृक्कोच्छेदन यदि सिरा पर अर्बुद का आक्रमण होने से पहले किया गया हो तो आधे रोगी ५ वर्ष या उससे कुछ अधिक जीवित रह सकते हैं। यदि सिरा पर आक्रमण हुआ हो तो बहुत कम (३३--१८ प्रतिशत) ५ वर्ष तक जीवित रहते हैं।

चिकित्सा· वृक्कोच्छेदन यही इसकी एक मात्र चिकित्सा है। फिर भी रोगी बचने की आशा नहीं होती। लाक्षणिक चिकित्सा में पीडाहर और शोणितमेह नाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

भ्रूणार्बुद (Embroyoma)—गर्भावक्रान्ति दोष से उत्पन्न होने के कारण इसको भ्रूणार्बुद या भ्रौण मिश्र अर्बुद (Embryonal mixed tumor) कहते हैं। इसको विल्मका अर्बुद (Wilm's tumor) भी कहते हैं।

हैतुकी—गर्भावक्रान्ति दोष से यह उत्पन्न होता है। बचपन का यही सर्वसाधारण घातक अर्बुद है। तीन वर्ष की अवस्था के भीतर अधिक से अधिक ११ वर्ष तक यह दिखाई देता है। इसके पश्चात् नहीं होता। स्त्री-पुरुष की दृष्टि से इसमें कोई विशेषता नहीं होती।

शारीरिक विकृति—यह अर्बुद प्रायः दोनों ओर होता है। इसका प्रारम्भ वृक्क की बाह्यवस्तु में होकर यह सम्पूर्ण वृक्क का नाश करता है। इसमें मांसार्बुद (Sarcoma) के समान, ग्रन्थ्यर्बुद (Adenoma) के समान तथा धारीदार पेशी (Striated muscle) कोशाएँ पायी जाती हैं। इसलिए इसको ग्रन्थिमांसार्बुद (Adenosarcoma), ग्रन्थिपेशी मांसार्बुद (Adenomyosarcoma) इत्यादि नाम भ

दिये गये हैं। यह अर्बुद काफी बड़ा होता है। इसका प्रसार समीपवर्ती अंगों में होता है परन्तु उपर्युक्त अर्बुद के समान रक्त द्वारा दूरवर्ति फुफ्फुस यकृत् इत्यादि अंगों में प्रसार कम होता है।

लक्षण—इससे शोणितमेह या पीडा नहीं होती और रोग बच्चों में होने के कारण प्रारम्भिक अन्य लक्षणों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। यह अर्बुद बहुत बढ़ने से बच्चों का पेट बहुत फूलता है जिससे इसकी ओर ध्यान आकर्षित होता है। पेट पर सिराएँ प्रव्यक्त (Prominent) और फूली हुई दिखाई देती हैं। आधे रोगियों में ज्वर भी रहता है।

चिकित्सा—यह अर्बुद जल्दी बढ़ता है तथा घातक भी होता है। तेजातु सूक्ष्मवेदी (Radio sensitive) होने से उसका उपयोग करने पर जल्दी घट जाता है। परन्तु उससे उसका पूर्ण नाश नहीं होता। एक वृक्क में होने पर वृक्कोच्छेदन किया जा सकता है। परन्तु उसके पश्चात् भी रोगी २–३ वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकता।

वृक्क्य अस्थिवक्रता

पर्याय—Renal Rickets, कालातीत अस्थिवक्रता (Late rickets) वृक्क्यबौनापन (Renal Dwarfism), वृक्क्य शैशवांगता (Renal infantalism) प्रत्यावृत्त (Recrudescent) अस्थिवक्रता।

हेतु—यह रोग साधारण अस्थिवक्रता जिस अवस्था में (६–१८ मास) होती है उससे अधिक अवस्था में (७–१४ वर्ष) उत्पन्न होता है। इसलिए इसको कालातीत अस्थिवक्रता भी कहते हैं। जिन बच्चों में सामान्य अस्थिवक्रता बचपन में हो चुकी है उनमें यह रोग आगे चलकर कभी कभी होता है इसलिए इसको प्रत्यावृत्त अस्थिवक्रता कहते हैं। इस रोग का ठीक कारण मालूम नहीं है। परन्तु इसमें भी सामान्य अस्थिवक्रता के समान जीवितिक्ति घ (Vitamin D) की हीनता रहती है। इसके अतिरिक्त अपरावटुका ग्रन्थि (Parathyroid) की हीनता के कार्य का कुछ अतियोग भी इसमें रहता है। परन्तु सबसे प्रधान हेतु वृक्कविकार होता है। इसलिए इसको वृक्क्य कहते हैं। यह विकृति तन्तूत्कर्ष (Renal fibrosis) के स्वरूप की होकर उससे वृक्क के कार्य की हानि होती है। इसके अतिरिक्त कुछ रोगियों में वृक्कालिन्द शोथ (Pyelonephritis) भी रहता है।

यह वृक्कविकार जीर्ण वृक्कशोथ के स्वरूप का होता है । इसकी उत्पत्ति में लोहित ज्वर, तुण्डिकाशोथ (Tonsillitis), इत्यादि वृक्कशोथ उत्पन्न करनेवाले रोगों का या तीव्र वृक्कशोथ का या शोणितमेह, सूजन कटि पीडा इत्यादि वृक्कशोथ सूचक लक्षणों का इतिहास नहीं मिलता। इसलिए यह विकार सहज गर्भावक्रान्तिजनित विकारवर्ग का (Congenital developemental diseases) माना जाता है ।

सम्प्राप्ति—भास्वर समवर्त का (Phosphorus metabolism) यह रोग है । मुख्य दोष वृक्कों में होता है जिसके कारण ये भास्वर का उत्सर्जन अच्छी तरह नहीं कर सकते । इसके परिणाम स्वरूप रक्त में भास्वर की अधिकता ५–१२ सहस्रि धान्य प्रतिशत तक (स्वाभाविक ४ सहस्रि धान्य) हो जाती है । रक्तस्थ भास्वर आन्त्र से उत्सर्गित होने लगता है और साथ साथ चूने को भी ले जाता है तथा आहार के चूने के प्रचूषण में बाधा उत्पन्न करता है । इसका परिणाम रक्त में चूने की कमी होने में होता है । रक्तगत चूने की कमी की पूर्ति परावटुका ग्रन्थि हड्डियों से चूना लेकर किया करती है । इसका फल अस्थि धातु में चूने की कमी (अस्थिसौषिर्य Osteoporosis), तान्तव अस्थिशोथ (Osteitis fibrosa), हड्डियों की अल्प, अयथोचित तथा सदोषवृद्धि, वक्रता इत्यादि में होता है । रक्त में भास्वर की अधिकता और चूने की अल्पता के अतिरिक्त अम्लतोत्कर्ष, विमेदमयता (Lipaemia) भूयाति विधारण (Nitrogen retention) इत्यादि विकृतियां रक्त में होती है ।

शारीरिक विकृतियाँ—मुख्य विकृतियां हड्डियों में होती हैं । सिर की हड्डियां साफ साफ बच जाती हैं । शाखाओं की हड्डियों में सबसे अधिक विकृतियां होती हैं । लम्बी हड्डियों के सिरे (Epiphysis) काफी मोटे होते हैं और हड्डियां टेढ़ी हो जाती हैं । इसलिए इसको अस्थिवक्रता नाम दिया गया है । इसके अतिरिक्त शरीर का ठीक यथायु विकास नहीं होता । इसलिए इस रोग को बौनापन, शैशवांगता भी नाम दिए गए हैं ।

लक्षण—इस रोग में हड्डियों का ठीक विकास न होने से बालक बौना (Dwarf) रहता है । हाथ पैर की हड्डियां टेढ़ी हो सकती हैं ।

विशेषतया पैरों की हड्डियां टेढ़ी रहकर जानुसंघट्ट (Knock-knee अर्थात् चलते समय घुटनों का एक दूसरे पर लगना) पैदा होता है। वैसे ही अन्य अंगों की ठीक वृद्धि न होने से अवस्था बढ़ने पर भी रोगी शिशु के समान (शैशवांगता) दिखाई देता है।

वृक्क विकार के कारण इस रोग में रक्ताल्पता होती है। तथा बहु-मूत्रता, मूत्र की अल्प गुरुता, तृषा, मूत्र में लेशमात्र में शुक्लि और अल्पसंख्या में निर्मोक (Casts) रक्त निर्पोड की अधिकता त्वचा की पाण्डुरता इत्यादि लक्षण भी होते हैं।

रोगक्रम साध्यासाध्यता—वृक्क विकृति के कारण यह रोग वर्धनशील होता है। अपरावटुका ग्रन्थि की विकृति होते हुए रक्त में अम्लता होने से अपतानिका (Tetany) नहीं उत्पन्न होती। मृत्यु प्रायः मूत्रविषमयता से होता है।

चिकित्सा—अस्थिवक्रता के समान जीवतिक्ति क. घ. (A D) का उपयोग किया जाता है। वैसे ही रक्त में अम्लता होने से क्षारद्रव्य दिये जाते हैं। जानुसंघट्टादि अस्थिविरुपताओं के लिए व्यंगनिवारक साधनों (Orthopaedic apparatus) का उपयोग किया जाता है।

शैशवीय वृक्क्य अम्लोत्कर्ष

पर्याय—Infantile renal acidosis, वृक्क्य चूर्णनिस्सादनता Nephrocalcinosis, अज्ञात सम्प्राप्तिक वृक्क्य अम्लोत्कर्ष Idiopathic renal acidosis, परमनीरेयमय अम्लोत्कर्ष Hyperchloraemic acidosis।

हैतुकी और सम्प्राप्ति—यह शिशुओं का रोग है जो प्रारम्भिक ४-६ मास में न होकर स्तनापनयन काल में, खाना पीना प्रारम्भ करने के काल में प्रकट होता है। इसमें मूत्रनलिकाओं विशेषतया संहरण नलिकाओं के चारों ओर चूने का निस्सादन होता है। इसलिए इस रोग को वृक्क्यचूर्ण निस्सादनता कहते हैं। वृक्कों में चूने का निस्सादन होने के कारण इससे वृक्काश्मरी भी उत्पन्न हो सकती है।

यह रोग सहज दोष के कारण होता है जो जन्म के पश्चात् चार छः मास तक प्रकट नही होता। विकृति मूत्र नलिकाओं के प्रारम्भिक

हिस्से (Proximal tubule) में होती है। गुत्सकीय और नालकीय अंगों के कार्यों का ठीक समयानुसार विकास (परिपक्वता Maturation) न होने से गुत्सकों से निस्यन्दित क्षारों का पर्याप्त प्रचूषण पूर्व नलिकाओं से नहीं हो पाता जिससे रक्त में क्षारों की कमी होकर मूत्र में अधिकता रहती है।

रक्त का परीक्षण करने पर क्षारसंचिति ४० से भी कम (पृष्ठ ४५) मिलती है अर्थात अम्लोत्कर्ष (Acidosis) होता है। रक्तनीरेय (Chlorides) ६५० मि०ग्रा० प्रतिशत से भी अधिक (स्वाभाविक ५७०-६२०) मिलते हैं। इसलिए इस अवस्था को परमनीरेयमय अम्लोत्कर्ष भी कहते हैं। मिह (Urea) भी अधिक रहता है।

लक्षण—हृल्लास, वमन, मलावरोध और भारक्षय, शरीर का न बढ़ना ये प्रधान लक्षण होते हैं। बेचैनी, तृषा, बहुमूत्रता, चिड़चिड़ापन इत्यादि लक्षण भी प्रायः रहते हैं। परीक्षण करने पर बालक क्षीण अल्पबल (Hypotonic), सूखा हुआ दिखाई देता है। उदर विभाग पर टटोलने से प्रायः कड़ी मल की गाँठें प्रतीत होती हैं। प्रतिक्रिया में मूत्र प्रायः क्षारीय या क्लीब (Neutral) क्वचित् अम्ल होता है और उसमें स्थूलान्त्र दण्डाणु (B coli) या सामान्य नानारूप दण्डाणु (B. proteus Valgaris) का उपसर्ग रहता है तथा कतिपय पूयकोशाएँ भी पायी जाती हैं।

निदान—इसके लक्षण बच्चों के अन्य अनेक रोगों में पाये जाते हैं। इनमें अज्ञात सम्प्राप्तिक परमचूर्णमयता (Idiopathic hypercalcaemia) विशेष महत्व का है। इसमें तृषा और बहुमूत्रता अधिक होती है, मूत्र प्रायः अम्ल प्रतिक्रिय रहता है। रक्त में न अम्लोत्कर्ष होता है न परम-नीरेयमयता (Hyperchloraemia) होती है। परन्तु चूने की राशि १४--१६ सहस्रिधान्य (Mg) % होती है। इसका कारण अभी तक मालुम नहीं हुआ है। कुछ मासों के पश्चात् धीरे धीरे यह विकार आपसे आप ठीक हो जाता है। इसके लिए कोई चिकित्सा नहीं है न किसी चिकित्सा का इस पर परिणाम होता है।

साध्यासाध्यता—इसके निदान और चिकित्सा का ज्ञान होने से पहले यह रोग बच्चों के लिए घातक होता था। अब यह रोग

पूर्ण साध्य हो गया है। केवल ये बच्चे अन्यों की अपेक्षा भार और ऊंचाई में कुछ घटियाँ रहते हैं। परन्तु आगे वे धीरे धीरे ठीक हो जाते है।

इस रोग के अतिरिक्त हीनपोषण (Under feeding), लालनपालन के दोष, स्तनापनयन दोष अन्न नलिका के सहज व्यंग, निजठरोपरोध (Pyloric stenosis), तुन्दिक रोग (Coeliac), क्षयज मस्तिष्कावरणशोथ, सीसविष, वृक्कालिन्दशोथ (Pyelitis) तथा फंकोनी का संरूप (Fanconi's syndrome) इत्यादि रोगों के साथ भी इस रोग की साम्यता होती है।

चिकित्सा—बालक के खाने पीने की तथा सेवा सुश्रुषा की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिए। पीने के लिए निम्न क्षारीय मिश्रण देना चाहिए—सोडियम सैट्रेट १० ग्राम, सैट्रिक एसिड ६ ग्राम और पानी १०० सी०सी। १५ सी०सी० दिन में चार बार। धीरे धीरे मात्रा ४५ सी०सी० चार बार तक बढ़ायी जाय। साथ साथ बालक के रक्त का परीक्षण क्षारसंचिति की दृष्टि से तथा क्षारोत्कर्ष न हो इस दृष्टि से प्रति सप्ताह किया जाय। जब क्षारसंचिति ४० से अधिक हो जाती है तब लक्षण कम होने लगते हैं, वमन बन्द होता है और बच्चा का भार बढ़ने लगता है। जिस मात्रा पर क्षारसंचिति ४० से अधिक होने लगती है उस मात्रा से अधिक मिश्रण की मात्रा बढ़ाने की जरूरत नहीं होती। कभी कभी इस मिश्रण से बच्चे में प्रवाहिका उत्पन्न होती है। तब सैट्रेट के बदले सोडियम बाय कार्बोनेट दे सकते हैं। भार बढ़ने लगने पर और मिश्रण की मात्रा स्थिर रखने पर रक्तपरीक्षण २–४ सप्ताह में एक बार करने से चल जाता है। साधारणतया ३ मास में क्षारसंचिति स्वाभाविक हो जाती है। तब चिकित्सा बन्द की जा सकती है। उसके पहले २ सप्ताह आधी मात्रा में क्षार-मिश्रण जारी रक्खा जाता है और रक्तपरीक्षण किया जाता है। यदि अम्लोत्कर्ष न दिखाई दे तो मिश्रण पूर्णतया बन्द किया जाय। २–४ सप्ताह के पश्चात् अम्लोत्कर्ष के लिए फिर से रक्त का परीक्षण किया जाय।

फँकोनी का संरूप
Fanconi's syndrome

हेतु—यह रोग शिशु बालक और जवानों में पाया जाता है। इसमें प्रबल कुलज प्रवृत्ति होती है और जिनमें यह रोग प्रकट होता है उनके माता पिताओं में प्रायः सगोत्रता या सपिण्डता (Consanguinity) पायी जाती है।

संप्राप्ति—इस रोग का मूल कारण अभी तक अज्ञात ही है। इसमें वृक्कों की मूत्र नलिकाओं के पूर्व कुण्डलित विभाग में (Proximal convoluted) दोष होता है जिससे उसके द्वारा गुत्सकों से आया हुआ भास्वीय (Phosphate) अच्छी तरह प्रचषित नहीं हो पाता। इसका परिणाम रक्तगत भास्वर (Phosphorus) की मात्रा कम होने में होता है। इससे अस्थियों की विकृतियाँ होती हैं। मूत्र नलिकाओं में ऊपर से आये हुए मधुम और तिक्ती अम्लों (Aminoacids) के पुनः प्रचूषण के लिए भास्वीय प्रलवणों (Phosphate easters) की आवश्यकता होती है। भास्वीयों का प्रचूषण न होने से ये प्रलवण नहीं बनते जिससे मूत्र में शर्करा और तिक्ती अम्लों का उत्सर्ग होकर वृक्कय शर्करामेह और तिक्ती अम्लमेह (Amino aciduria) उत्पन्न होते हैं। तिक्ती अम्ल तथा भास्वीयों के उत्सर्ग के लिए रक्त के दहातु (Potassium) और चूना (Calcium) भी उत्सर्गित होते हैं जिससे रक्त में अम्लतोत्कर्ष होता है। इस रोग में हड्डियों के भीतर जो विकृतियाँ होती हैं उनका कारण परावटुकग्रन्थि (Parathyroid) का अतियोग भी माना जाता है। इस रोग में कुछ रोगियों में यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis of the liver) भी होता है। परन्तु उसका कारण अज्ञात है।

विषाणिता (Cystinosis)—कुछ रोगियों में जो प्रायः छोटे बच्चे होते हैं, शरीर के विविध अंगों में विषाणी (Cystine) का निस्सादन दिखाई देता है।

लक्षण—*अस्थियाँ*—हड्डियों में ठीक पोषण न होने से अस्थिवक्रता (Rickets) या अस्थिमृदुता (Osteomalacia) उत्पन्न होती है। यही इसका प्रधान लक्षण होता है और इसीसे रोगी को कष्ट होता है।

मूत्र--मूत्र में शर्करा, भास्वीय, तिक्तीअम्ल कचित् शुक्ति उपस्थित रहते हैं।

रक्त--रक्त में भास्वर और चूने की कमी हो जाती है। इसके साथ अम्लोत्कर्ष भी रहता है।

निदान—इस रोग के सब लक्षण और चिन्ह जिसमें पाये जाते हैं ऐसे रोगी बहुत ही विरल दृष्ट होते हैं। परन्तु अस्थि मृदुता, रक्त में भास्वर की अल्पता वृक्कय शर्करामेह इन लक्षणों से युक्त रोगी इसी में के माने जाते हैं। वैसे ही परमनीरेयमय अम्लोत्कर्ष इसी का ही एक प्रकार माना जाता है।

चिकित्सा--इसमें सोडाबायकार्ब, सैट्रेट इत्यादि द्रव्य रक्त की क्षारियता को बढ़ाने के लिए दिए जाते हैं। वैसे ही रक्तगत चूना और भास्वर को बढ़ाने के लिए उसके योग क्याल्सीफेरोल के साथ दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मेथिल टेस्टोस्टेरोन (Methyl testosterone) २५ सहस्रिधान्य की मात्रा में प्रतिदिन दिया जाता है। इन औषधियों से रोग में काफी लाभ होता है।

रक्तनिपीड

पर्याय—रक्तचाप Blood pressure रक्तदाब।

व्याख्या--शरीर के भीतर बहनेवाले रक्त का रक्तवह संस्थान की प्राचीर पर जो दबाव पड़ता है रक्तनिपीड कहलाता है। यह निपीड रक्तवह संस्थान के अंगों के अनुसार अन्तर्हृदय-निपीड (Endocardial), धमनी-निपीड (Arterial), केशिका निपीड (Capillary) और सिरा-निपीड (Venous) करके चार प्रकार का होता है। परन्तु रोग सम्प्राप्ति में धमनीगत निपीड ही महत्त्व का होने के कारण जब केवल रक्तनिपीड या रक्तदाब या रक्तचाप शब्द का प्रयोग होता है तब उसका अर्थ सदैव धमनी निपीड समझा जाता है।

---

(३) परमाततित या उच्च रक्तनिपीड का रोग रक्तवह संस्थान में समाविष्ट किया जाता है। और वह संस्थान की दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु उसकी उत्पत्ति में, फिर वह गौण हो या वास्तविक, वृक्क का बड़ा भारी सम्बन्ध होता है। इसलिए उसका समावेश वृक्कविकारों में किया गया है।

रक्तवह संस्थान--शरीर के जिस एक संस्थान के भीतर रक्त बराबर चक्कर काटता रहता है उसको रक्तवह संस्थान कहते हैं। यह संस्थान निम्न तीन विभागों से बनता है—

(१) वितरण विभाग (Distributing)—इस विभाग के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण अंग प्रत्यंगों में धातूपधातुओं में रक्त विभाजित किया जाता है। इसमें हृद्‌य के निलय (Ventricle), महाधमनी, उसकी शाखाप्रशाखाएँ धमनिकाएँ, समधमनिकाएँ (Metarterioles) और पूर्व केशिकाएँ (Precapillaries) समाविष्ट होती हैं।

(२) विनिमय विभाग (Exchange)—इसके द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों और धातूपधातुओं की कोशाओं (Cells) के पास प्राणवायु, पोषक तथा जीर्णोद्धारक द्रव्य (Repair materials) पहुंचाये जाते हैं तथा इन धातु कोशाओं से बने हुए मलरूप पदार्थ वापिस लिये जाते हैं। इसमें कोशिकाए (Capillaries) और सिरिकाएं (Venules) समाविष्ट होती हैं।

(३) संहरण विभाग (Collecting)—धातूपधातुओं की कोशाओं के पास गया हुआ रक्त का अंश संग्रहित करके हृदय के पास पहुंचाने का कार्य इस विभाग के द्वारा होता है। इसमें छोटी छोटी सिराएं, उनमें उनसे बड़ी बड़ी सिराएं और हृदय के अलिन्द (Auricle, Atria) समाविष्ट होते है।

हृदय—पेशी तन्तुओं से निर्मित यह एक खोखला अंग है। इसके भीतर एक खड़ी दीवाल होती है जिससे इसके दक्षिण और वाम करके दो विभाग हो जाते हैं। इन विभागों का बीच के दीवाल से आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रत्येक विभाग फिर अनुप्रस्थ दीवाल से दो भागों में विभक्त होता है। इन दीवालों में द्वार होते हैं जिनसे ऊपर का विभाग नीचे के विभाग से सम्बन्धित रहता है। परन्तु ये द्वार इस प्रकार कीवाड़ों (कपाट Valves) से बन्द होते* हैं कि ऊपर के विभाग से आया हुआ रक्त नीचे के विभाग में जा सके परन्तु नीचे के विभाग का रक्त ऊपर में न जा सके। संक्षेप में ये एक मार्गी (Oneway) द्वार होते हैं। ऊपर के

विभागों को अलिन्द (Auricle, Atrium) और नीचे के विभागों को निलय (Ventricles) कहते हैं। इस प्रकार हृदय के भीतर ४ कोष्ठ या वेश्म (Chambers) बनते हैं। अलिन्द मुख्यतया संचयाधार (Reservoir) का काम करते हैं। दक्षिण अलिन्द में महा सिराओं से रक्त आता है और वामालिन्द में फौफ्फुसिक सिरा से। यद्यपि अलिन्दों और उनसे सम्बन्धित रक्तवाहिनियों के बीच में द्वार नहीं होता तथापि पुरःसरणगति (Peristalsis) की दिशा निलयों की ओर होने के कारण तथा निलयों में रक्त का दबाव बहुत कम होने के कारण अलिन्दों से वैसे ही तथा उनके संकोच के समय रक्त वाहिनियों में वापिस न जाकर निलयों में ही जाया करता है। वाम निलय का महाधमनी से और दक्षिण निलय का फौफ्फुसिक धमनी से सम्बन्ध होता है और इनके बीच में भी एकमार्गी द्वार होते हैं जिनसे रक्त निलयों से बाहर जा सकता है। परन्तु उनमें वापिस नहीं आ सकता। दोनों द्वारों की इस प्रकार एकमार्गी रचना होने कारण दोनों निलय अपने संकोच विकास से बलोदञ्च (Force pump) का काम करके रक्त को एक दिशा में सतत गतिमान् रखते हैं। रक्तनिपीड के साथ केवल वामनिलय का सम्बन्ध होता है। यह निलय वामालिन्द के संचयाधार से महाधमनी में रक्त फेंकने का कार्य किया करता है। अलिन्द निलय के लिए संचयाधार का काम करने के कारण धारिता (Capacity) में निलयों से बड़े होते हैं। जैसे, वामालिन्द की धारिता १४० सी०सी० और वामनिलय की १२१ सी०सी०। हृदय में संकोच विकास करने की शक्ति स्वयंभू होती है। परन्तु उसकी गति का नियन्त्रण प्राणदा नाडी (Vagus) से होता है।

धमनियाँ—वामनिलय के महाधमनी द्वार से शरीर के अंगप्रत्यंगों के भीतर केशिकाओं तक जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं उनको धमनियाँ कहते हैं। इनके महाधमनियाँ, मध्यम धमनियाँ और धमनिकाएँ (Arterioles) करके तीन विभाग किये जाते हैं। इन तीनों प्रकार की धमनियों का अन्तस्तर इस प्रकार मसृण (Smooth) और इनका द्विशाखाभवन (Bifurcation) इस प्रकार कोण करके होता है कि रक्त की गति और दबाव में कम से कम ह्रास हो सके। परन्तु इनकी

दीवाल की रचना में भिन्नता होती है। महाधमनी और उसकी समीपवर्ती कुछ शाखाओं की दीवाल में पेशीतन्तु थोड़े (?) रहते हैं और पीला लचकीला धातुभाग (Yellow elastic tissue) बहुत रहता है। इसलिए इनको स्थितिस्थापक (Elastic) धमनियां कहते हैं। स्थितिस्थापक धातु की अधिकता के कारण महाधमनियों की दीवाल में इतनी अधिक वितनशीलता (Distensibility) होती है कि वामनिलय के संकोच के समय आये हुए रक्त का आधा भाग महाधमनी में ही संग्रहित होता है और वह उसके विस्फार के समय स्थितिस्थापक धातु के प्रत्याघात (Recoil) से धमनिकाओं तथा केशिकाओं में इस प्रकार प्रवाहित किया जाता है कि उनमें रक्त का दबाव यकायक अधिक न होने पावे, न रक्त की गति बहुत हो सके। संक्षेप में लचकीले धातु के कारण महाधमनी बाष्पयन्त्र के सम्पीडनवेश्म (Compression chamber) तथा बजाने के बगल बाँसरी (Bag-pipe) में थैली (जिसमें फूँकी हुई हवा चली जाती है) के समान कार्य करती है।

मध्य धमनियों में लचकीला भाग कम होकर पेशीतन्तु अधिक होते हैं। इसलिए इनको पेशी तन्तुमय (Muscular) धमनियां कहते हैं। ये तन्तु धमनी की दीवाल में गोलाई लिए हुए रहते हैं जिससे उनके संकुचित होने पर धमनियों की नालियाँ तंग या छोटी हो जाती हैं। इसका उपयोग परिभ्रमणकारी रक्त की राशि की न्यूनाधिकता के अनुसार वितरण संस्थान की धारिता न्यूनाधिक करने के लिए होता है। धमनिकाएं मध्यम धमनियों के समान पेशी तन्तुमय नालियाँ हैं। इनके गोलाई लिए तन्तु बहुत प्रबल होते हैं। ये तन्तु सुषुम्ना तथा सुषुम्ना शीर्ष (Medulla) स्थित वाहिनी नियन्त्रण केन्द्र (Vasomotor center) और उनसे निकलनेवाले नाडी तन्तुओं से सम्बन्धित रहते हैं और उन्हीं से संकुचित होते है। इनके संकोचविकास से केशिकागत रक्त प्रवाह अखण्डित रहता है। संक्षेप में पानी छोड़ने के लिए जैसे नल में टोंटी होती है वैसे केशिकाओं में रक्त छोड़ने के लिए धमनिकाएं टोंटी (Stop cock) का काम करती हैं। धमनिकाएं समधमनिकाओं (Metarterioles) में विभक्त होती हैं जिनमें पेशीतन्तु जरा विरल होने लगते हैं। उनके पश्चात् पूर्व केशिकाएं (Precapillaries) बनती

हैं जिनमें पेशीतन्तु और लचकीले तन्तु गायब होने लगते हैं। उनके पश्चात यथार्थ केशिकाएं आती हैं।

केशिकाएँ—इनमें पेशीतन्तु या लचकीले तन्तु न होकर केवल अन्तश्छदीय कोशाओं का एक स्तर होता है। इनकी लम्बाई २/१० मि०मि० से ८/१० मि०मि० (औसन १/२ मि० मि०) होती है और व्यास एक रुधिरकायाणु के बराबर (५–२४ णु विविध अङ्गों में) होता है। इनके भीतर के रक्त प्रवाह में रुधिर कायाणु (Erythrocyte) या उसके बराबर की राशि का रक्तरस एक सेकन्द से अधिक नहीं रह सकता। प्रत्येक केशिका में पोषक द्रव्यों के विनिमय के लिए मिलनेवाले इस अत्यल्प समय की पूर्ति उनकी संख्या की अनन्त वृद्धि करके की गयी है। मांस के सुई की चौड़ाई के बराबरी के एक क्षेत्र में ७०० के लगभग समानान्तर केशिकाएँ पायी जाती है। और यदि शरीर के सम्पूर्ण मांस में होनेवाली केशिकाएं एक सीध में रक्खी जाँय तो उनकी लम्बाई पृथ्वी की गोलाई से कई गुना अधिक हो सकती है। वैसे ही यदि शरीर की सम्पूर्ण केशिकाओं का व्यत्यस्त छेद (Cross section) एक साथ मिलाया जाय तो उसका क्षेत्र महाधमनी के व्यत्यस्त छेद से ३००-८०० गुना अधिक हो सकता है।

सिराएँ—सिरिकाओं के मिलने से सिराएँ होती हैं। जब वे एक मि.मा. व्यास की होती है तब अन्तःस्तर में वलियों के (Folds) बनने से उनमें कपाट (Valves) उत्पन्न होते हैं। ये कपाट महा सिराओं और आन्त्र सिराओं को छोड़कर सब बड़ी सिराओं में विशेषतया शाखाओं की सिराओं में रहते हैं। सिराओं की दीवाल पतली होती है और उसमें पेशी तन्तु तथा लचकाले तन्तु बहुत कम रहते हैं। अतः रक्तहीन अर्थात् खाली होने पर वे निपतित (Collapsed) हो जाती हैं, भीतरी दबाव अधिक न होने पर भी वे पूरी फूलती हैं, और भीतर का दबाव अधिक होने पर भी वे बहुत अधिक नहीं फूल सकतीं तथा जब एक बार ये काफी फूल जाती हैं तब यथापूर्व यकायक न होकर अभिस्तीर्ण स्थिति (Dilated) में रह जाती हैं। वाम और दक्षिण अलिन्द संहरण विभाग के अन्तिम अंग होते हैं। जहाँ से निलयों के विस्फार के समय दोनों में आप से आप

रक्त चला जाता है और उसके पश्चात् संकोच से अवशिष्ट रक्त उनमें धकेला जाता है।

रक्तनिपीड के कारक (Factors) - (१) *हृदय की गति*—हृदय की गति बढ़ने से रक्तवह संस्थान में अधिक रक्त आकर रक्त का निपीड बढ़ता है। इसके विपरीत गति मन्द होने से रक्तदाब कुछ घट जाता है।

(२) *सांकोचिक रक्तोत्सर्ग* (Systolic discharge)—हृदय के संकोच के समय जो रक्त महाधमनी में आता है उसकी राशि बढ़ने से रक्तदाब बढ़ता है और उसकी राशि घटने से रक्तदाब घट जाता है।

(३) *महाधमनी का लचकीलापन*— महाधमनी की दीवाल में जो लचकीलापन होता है उसकी अधिकता होने से रक्तदाब कम हो जाता है और लचकीलापन कम होने से रक्तदाब बढ़ता है।

(४) *धमनियों की वितनशीलता*—मध्यम धमनियों की वितनशीलता बढ़ने पर रक्तदाब घटता है और वितनशीलता (Distensibility) घटने पर रक्तदाब बढ़ता है।

(५) *परिसरीय प्रतिरोध* (Peripheral resistance)—यह प्रतिरोध धमनिकाओं और केशिकाओं के संकुचित होने से होता है। उनका संकोच बढ़ने से रक्तदाब बढ़ता है और उनके अभिस्तीर्ण होने से अर्थात् प्रतिरोध घटने से रक्तदाब घटता है।

उपर्युक्त कारकों में प्रथम और द्वितीय कारक हृदय से सम्बन्धित होने के कारण हार्दिक (Cardiac) या केन्द्रीयकारक (Central factors) और अवशिष्ट परिसरीय कारक कहलाते हैं। हार्दिक कारक हृदयके द्वारा महाधमनी में उत्सर्गित होनेवाली रक्त की राशि से और परिसरीय कारक महाधमनी में आये हुए रक्त को परिसरीय (Peripheral) धमनियां और केशिकाओं में द्रव विनिमय की दृष्टि से उचित निपीड पर प्रवाहित करने से सम्बन्धित रहते हैं।

नीचे उपर्युक्त पाँचों कारकों की घटबढ़ का विविध निपीडों पर होनेवाले परिणाम की सारणी दी जाती है।

निपीड के कारक	सांकोचिक निपीड	विस्फारिक निपीड	नाडी निपीड
(१) हृदय गति वृद्धि	+	+ +	—
,, ,, मन्दी	—	— —	+
(२) सांकोचिक उत्सर्ग अधिकता	+ +	+	+
,, अल्पता	— —	—	—
(३) धमनी लचकीलापन अधिकता	— —	—	—
,, ,, अल्पता	+ +	+	+
(४) धमनी वितनशीलता अधिकता	—	+	—
,, ,, अल्पता	+	—	+
(६) परि-प्रतिरोध वृद्धि	+	+ +	—
,, हानि	—	— —	+

उपर्युक्त कारकों में प्रथम द्वितीय और पंचम कारक अस्थिर स्वरूप के अर्थात विशिष्ट मर्यादा में बराबर बदलनेवाले होते हैं। हृदयगति की तेजी मन्दी, उससे महाधमनी में फेंके जानेवाली रक्तराशि की न्यूनाधिकता और परिसरीय प्रतिरोध की शिथिलता या दृढ़ता ये दिन में कई बार होनेवाली शरीरगत घटनाएं हैं। परन्तु इनके होने पर भी रक्तनिपीड में कोई विशेष स्थायी घटबढ़, जैसे कि ऊपर की सारणी में बतायी गयी है, नहीं होती। इसका कारण यह है कि शरीर में इन सब कारकों की वृद्धि या हानि एक समय नहीं होती, बल्कि जब एक कारक की वृद्धि या हानि होती है तब उसकी वृद्धि हानि के परिणाम को दूर करने की दृष्टि से अन्य कारकों में परिवर्तन होते हैं जिससे रक्तदाब में उपर्युक्त सारणी में बताए हुए घटबढ़ के अनुसार क्षणिक परिवर्तन होकर थोड़ी देर में वह ज्यों का त्यों रह जाता है। उपर्युक्त सारणी में प्रत्येक कारक की वृद्धि हानि के विविध रक्तनिपीडों पर होनेवाले परिणाम यह कल्पना करके बतलाये गये हैं कि एक कारक की वृद्धि हानि के समय अन्य कारक स्थिर या अविचलित रहेंगे। परन्तु व्यवहार में इस प्रकार की वस्तुस्थिति कदापि नहीं होती है या हो सकती है।

तृतीय चतुर्थक कारक अन्य कारकों के समान बराबर बदलनेवाले न होकर स्थिर स्वरूप के अर्थात् बरसों तक लगभग एक से रहनेवाले होते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें वृद्धि न होकर सदा हानि ही हुआ करती है। उपर्युक्त सारणी में इनकी वृद्धि के जो परिणाम बताये गये हैं वे केवल काल्पनिक हैं, वस्तुस्थिति निदर्शक नहीं। धमनियों के लचकीलेपन की तथा वितनशीलता (Distensibility) की हानि स्वभावतः वयोवृद्धि के साथ हुआ करती है। जवानी के पश्चात् धमनियोंकी दीवाल धीरे धीरे मोटी होने लगती है, उसके लचकीले तन्तु कम होने लगते हैं और उनके स्थान में श्लेषजनक (Collagenous) तन्तु उत्पन्न होते हैं। इससे उनकी वितनशीलता घटती जाती है। इसके अतिरिक्त रोगों के कारण उनमें खरता तथा कठिनता आने लगती है जिसको धमनी जरठता (Arteriosclerosis) कहते हैं। इसमें महाधमनियों की विलेपी जरठता (Atherosclerosis), मध्यम धमनिकाओं की विस्तृत धमनिकीय (Diffuse arteriolar sclerosis) जरठता आ जाती है।

निपीड नियन्त्रण (Control)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्वाभाविक या प्राकृत अवस्थाओं में प्रथम, द्वितीय और पञ्चम कारक रक्तनिपीड बनाये रखने के मुख्य साधन होते हैं या थोड़े में कहना हो तो हृदय और धमनिकाएं रक्तनिपीड से मुख्यतया सम्बन्धित हैं। अतः इनके नियन्त्रण से रक्तनिपीड का नियन्त्रण हो जाता है।

हृदय नियन्त्रण के साधन—हृदय स्वयंचालक अंग जरूर है परन्तु उसकी गति का नियन्त्रण मस्तिष्क संस्थान के द्वारा होता है। इसके लिए दो प्रकार के तन्तु होते हैं—हृदयगति रोधक (Cardio-inhibitory) और हृदयगति वर्धक (Cardio-acceleratory)। प्रथम प्राणदा नाड़ी के साथ होते हैं और हृदयगति को मन्द करते हैं। दूसरे स्वतन्त्र (Sympa thetic) नाड़ी तन्तुओं के साथ होते हैं और हृदय की गति को बढ़ाते हैं। दोनों तन्तुओं के लिए मस्तिष्क में स्वतन्त्र केन्द्र (Center) होते हैं। इन केन्द्रों के पास शरीर के विविध अंगों से तथा रक्तवाहिनियों से सूचनाएं आती हैं जिनके अनुसार ये केन्द्र उपर्युक्त तन्तुओं द्वारा हृदयगति को तेज या मन्द कर लेते हैं। इन केन्द्रों पर कार्य करने की

दृष्टि से व्यायाम, मर्दन, बाह्यताप या शीत, पीडा, भोजन इत्यादि शारीरिक कार्य, काम क्रोधादि मानसिक भावनाएं, रक्तवाहिनियों के भीतर का दबाव और रक्तस्थ प्रांगार द्विजारेय (CO_2) और प्राणवायु इनकी मात्रा ये महत्त्व के अंग होते हैं। इन साधनों में रक्तस्थ प्राणवायु तथा अन्य द्रव्यों का महत्व अत्यल्प होता है और वाहिनियों के भीतर का दबाव सबसे महत्त्व का होता है। व्यायामादि कार्यों के द्वारा होनेवाले कार्य को शारीरिक प्रतिक्षेप (Somatic reflex) और वाहिनियों के द्वारा होनेवाले कार्य को वाहिनीय प्रतिक्षेप कहते हैं।

वाहिनीय प्रतिक्षेप (Vascular reflex)—शरीर में वाहिनीय प्रतिक्षेप उत्पन्न करनेवाली अनेक नाडियाँ हो सकती हैं। परन्तु इनमें दो विशेष महत्त्व की है। प्रथम महाधमनी की दीवाल में (महाकोटर Aortic sinus) उत्पन्न होकर ऊपर स्वतन्त्रतया या प्राणदा नाडी के साथ चली जाती है। दूसरी मन्याधमनी की दो शाखाएं जहाँ बनती है (मन्याकोटर Carotid sinus) वहाँ उत्पन्न होकर कण्ठरासनी नाडी (Glasso-pharyngeal) के साथ ऊपर चली जाती है। अन्य कारणों से जब रक्त का दाब बहुत अधिक होने लगता है तब ये नाडियाँ उसको मर्यादा में स्थिर रखने का प्रयत्न अपने प्रतिक्षेप क्रिया द्वारा करती हैं। इसलिए इनको मितकारी नाडियां (Moderator nerves) कहते हैं। महाकोटर या मन्याकोटर से निकलनेवाली इन नाडियों के अग्रों पर रक्त के दबाव से या रक्त स्थित प्रां० द्वि० (CO_2) जैसे द्रव्यों का परिणाम (Mechanical and chemical stimulus) होने से हृदय की गति परिमित हो जाती है। जैसे महाधमनी में दबाव कम होने पर प्रतिक्षेप क्रिया द्वारा गति तेज और दबाव अधिक होने पर गति मन्द हो जाती है। यद्यपि दोनों नाडियाँ प्रतिक्षेप क्रिया द्वारा हृदयगति पर कार्य करती है तथापि यह सिद्ध हुआ है कि मन्याकोटरगत नाडी की अपेक्षा महाकोटर नाडी हृदयगति से अधिक सम्बन्धित रहती है। हृदयगति और रक्तनिपीड का इन नाडियों द्वारा जो अन्योन्य सम्बन्ध होता है उसका पता प्रथम मॅरेने लगाया इसलिए इसको मॅरे का नियम (Marey's law) कहते हैं। रक्तस्राव स्तब्धता (Shock) और एमिल नैट्राइट के अन्तःश्वसन (Inhalation) में हृदय की शीघ्रता और प्राणोपरोध

(Asphyxia) में हृदय की मन्दता इसी नियम के आधार पर होती है।

वाहिनी नियन्त्रण के साधन (Vasomotor control)—शरीर के भीतरी संपूर्ण रक्तवाहिनियों का विशेषतया धमनिकाओं का, समधमनिकाओं का और केशिकाओं (को रौगेट Rouget कोशाओं) का नियन्त्रण मस्तिष्क संस्थान के द्वारा होता है। इसके लिए दो प्रकार के नाडीतन्तु और उनके दो केन्द्र होते हैं। एक वाहिनी संकोचक (Vasoconstrictors) तन्तु और केन्द्र और दूसरा वाहिनी विस्फारक (Vasodilators) तन्तु और केन्द्र। इनमें वाहिनी संकोचक केन्द्र और उससे निकलनेवाले वाहिनी संकोचक तन्तु मुख्यतया तथा सदैव कार्य करते हैं और विस्फारक केन्द्र और तन्तु क्वचित् कदाचित् उत्तेजित होने पर कार्य करते हैं। वाहिनी संकोचक केन्द्र निम्न चार प्रकार से उत्तेजित होकर कार्य करता है।

(१) शारीरिक प्रतिक्षेप (Somatic reflex) इनका उद्गम त्वचा पेशियाँ सन्धियाँ इत्यादि अंगों में होता है। गृध्रिका (Sciatica) त्रिधारा (Trigeminal) इत्यादि नाडियां द्वारा ये केन्द्र में पहुंचकर वाहिनी संकोचक तन्तुओं द्वारा कार्य करते हैं। इनके कारण रक्तनिपीड बढ़ सकता है या घट सकता है। प्रथम को निपीडकर (Pressor) और दूसरे को निपीडहर (Depressor) परिणाम कहते हैं। परिणाम की यह भिन्नता नाडियों की उत्तेजनशीलता (Excitability जो बाह्य ताप, नाडी स्वास्थ्य, पीडा इत्यादि पर निर्भर होती है), उत्तेजना की वारंवारता तथा शक्ति की न्यूनाधिकता के कारण हुआ करती है। ताप का परिणाम निपीडहारक और शीत का निपीडवर्धक होता है। पीडा का परिणाम दोनों प्रकार का हो सकता है। परन्तु तीव्र पीडा या शूल का परिणाम निपीडहारक होता है। बडी भारी चोट लगने पर चक्कर आने का प्रायः यही कारण होता है। बाह्यताप या शीत का जो परिणाम ऊपर बताया गया है उससे शरीरतापनियन्त्रण में बहुत सहायता होती है।

(२) वाहिनी प्रतिक्षेप (Vascular reflex)—इनका विवरण पीछे (पृष्ठ १७४) हो गया है। ये प्रतिक्षेप मुख्यतया धमनीगत निपीड के

अनुसार निपीड को बढ़ाने या घटाने का कार्य करते हैं। यद्यपि महाधमनी नाडी और मन्या धमनी नाडी रक्तवाहिनियों के केन्द्र पर कार्य करके निपीड को न्यूनाधिक कर सकती है तथापि रक्तवाहिनी संकोचन कार्य की दृष्टि से मन्या धमनी नाडियाँ अधिक महत्व की हैं।

(३) रसायनिक द्रव्य—ये द्रव्य नाडियों के अग्रों पर या केन्द्र पर कार्य करके वाहिनी संकोचन या विस्फारण का कार्य करते हैं। इनमें निम्न द्रव्य प्रधान हैं—प्रां० द्विजारेय (CO_2) तथा शरीर समवत में उत्पन्न होनेवाले कुछ समवर्तित (Metabolites); दहातु (Potassium), क्षारातु (Sodium), चूना इत्यादि खनिज द्रव्य, अग्न्याशय परावटुका (Parathyroid), प्रजन ग्रन्थियाँ (Gonads), पोषणिका, उपवृक्क (Adrenal) इत्यादि अन्तस्रावी ग्रन्थियों के अन्तःस्राव इत्यादि।

(४) मानसिक भावनाएं—काम-क्रोध, वादविवाद, चर्चा, झगड़े, भीति इत्यादि मानसिक उत्तेजनाओं को या चित्तक्षोभ को उत्पन्न करनेवाले प्रसंग औदासिन्य, विषण्णता, दुःख इत्यादि मानसिक अवसाद उत्पन्न करनेवाले प्रसंग वाहिनी नियन्त्रण केन्द्र को उत्तेजित या अवसादित करके रक्तनिपीड को बढ़ाते हैं या घटाते हैं। चित्तक्षोभ के समय सांकोचिक निपीड १८० से ऊपर और हृत्स्फारिक निपीड १००-११० से अधिक हो सकता है।

साक्षात् नियन्त्रण—रक्तनिपीड का साक्षात् नियन्त्रण स्वतन्त्र नाडी संस्थान और उपवृक्क ग्रन्थि इन दो अंगों द्वारा होता है। ये दोनों अङ्ग तुल्य गुण और परस्परानुकारी होते हैं।

स्वतन्त्रनाडी संस्थान—इसके तन्तु मस्तिष्कगत केन्द्रों से निकलकर शीर्षण्य (Cranial) या परिसरीय नाडियों द्वारा हृदय और रक्तवाहिनियों की दीवाल में पहुँचते हैं। चित्तोद्वेग, शारीरिक या वाहिनीय प्रतिक्षेपों से केन्द्रों द्वारा उत्तेजित होने पर ये तन्तु रक्तवाहिनियों को संकुचित करते हैं। इनको अपना कार्य करने के लिए उपवृक्क्य ग्रन्थि के स्राव की आवश्यकता होती है। ये तन्तु उत्तेजित होने पर उपवृक्क्य ग्रंथि को उत्तेजित करके स्राव को बढ़ाते हैं।

उपवृक्क्यग्रन्थि—इस ग्रन्थि के मज्जक (Medulla) से स्राव निकलता है वह धमनिकाओं के संकोच से सम्बन्धित होता है। यह ग्रन्थि स्वतन्त्र

नाडी संस्थान के द्वारा उत्तेजित होती है। इस ग्रन्थि का स्राव अत्यल्प मात्रा में बराबर निकलता रहता है और जब यह ग्रन्थि चित्तोद्वेग से या अन्य प्रकार से स्वतन्त्र नाडी तन्तुओं द्वारा अत्यधिक उत्तेजित होती है तब यह स्राव अधिक मात्रा में निकलता है। इस स्राव का कार्य स्वतन्त्र नाडी संस्थान के कार्य के समान हृदय, गर्भाशय, रक्तवाहिनियाँ इत्यादि पर होने से इसको स्वतंत्र नाडी कार्यानुकारी (Sympathetico mimetic) कहते हैं। इस प्रकार की दोनों में तुल्यता होने के कारण दोनों के संयोग को स्वतन्त्र नाडी--उपवृक्कय संस्थान (Sympathetico-adrenal system) कहते हैं।

स्राव—इसके स्राव में दो कार्यकारी द्रव्य रहते हैं—उपवृक्की (Adrenaline) और न्यूनोपवृक्की (Noradrenaline) और ये दोनों द्रव्य ग्रन्थि उत्तेजित होने पर उत्सर्गित हुआ करते हैं। ये दोनों द्रव्य यद्यपि कार्य की दृष्टि से बहुत कुछ तुल्य गुण हैं तथापि दोनों में निम्न भेद भी होते हैं।

(१) उपवृक्की का रक्त संचरण पर होनेवाला परिणाम न्यूनोपवृक्की से अधिक काल तक रहता है।

(२) उपवृक्की से हृदय की गति तेज होकर हृदय से होनेवाला रक्तोत्सर्ग (Cardiac output) बढ़ता है। न्यूनोपवृक्की से हृदय की गति मन्द होकर रक्तोत्सर्ग बढ़ता नहीं, क्वचित् घट जाता है।

(३) उपवृक्की से सांकोचिक निपीड बढ़ता है, परन्तु हृत्स्फारिक प्रायः नहीं बढ़ता जिससे नाडी निपीड बढ़ जाता है। न्यूनोपवृक्की से सांकोचिक तथा हृत्स्फारिक निपीड बढ़कर नाडी निपीड में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

(४) ये दोनों द्रव्य त्वचा और वृक्कों की रक्तवाहिनियों में संकोच पैदा करते है। परन्तु अन्य रक्तवाहिनियों पर दोनों का असर भिन्न होता है। न्यूनोपवृक्की शरीर की सम्पूर्ण रक्तवाहिनियों में संकोच पैदा करके सम्पूर्ण परिसरीय प्रतिरोध को (Total peripheral resistance) बढ़ाती है। इसके विपरीत उपवृक्की सम्पूर्ण शरीर की रक्तवाहिनियों को संकुचित करने में समर्थ न होने से परिसरीय प्रतिरोध को उतने प्रमाण में नहीं बढ़ा सकती।

विविध निपीड—वामनिलय के संकोच के समय धमनियों में जो रक्त का दाब रहता है उसको सांकोचिक (Systolic) और उसके विस्फार के समय जो रक्त का दाब होता है उसको हृत्स्फारिक (Diastolic) नीपीड कहते हैं। दोनों में जो अन्तर होता है इसको नाडी निपीड (Pulse pressure) कहते हैं। नाडी की स्पष्टास्पष्टता इस निपीड की अधिकोनता पर निर्भर होती है । इन निपीडों में स्थायी और अस्थायी करके दो प्रकार के अन्तर दिखाई देते हैं।

निपीडों की अस्थिरता के हेतु—विश्राम, निद्रा, अनशन, मानसिक विषण्णता इत्यादि अवस्थाओं में निपीड कम रहते हैं। इसके विपरीत व्यायाम, आसन परिवर्तन थकावट, धूम्रपान, उत्थान, मानसिक उत्तेजनाओं की अवस्थाएँ, भोजन इनसे निपीड बढ़ते हैं। दैनिक व्यवहार में ये प्रसंग बराबर आते रहते हैं। इसलिए रक्त का दबाव ५ मिनिट तक भी एक सा या स्थिर नहीं रह सकता । रक्तनिपीड इस प्रकार चञ्चल होने के कारण दो ग्रन्थों के या दो लेखकों के रक्तनिपीड के अङ्क एक दूसरे के साथ नहीं मिलते हैं। संक्षेप में रक्तनिपीडों के लिए कोई स्थिराङ्क (Constants) नहीं हो सकते। उपर्युक्त कारणों से निपीडों में जो चांचल्य या उच्चावचन (Fluctuations) होता है वह वातिक या कातर प्रकृति (Nervous temparament) व्यक्तियों में तथा जिनकी रक्तवाहिनियाँ अन्शतः विकृत रही हैं या हुई (Diseased) हैं उनमें अधिक दिखाई देता है। वैसे ही विश्राम व्यायामादि कारणों से जो उच्चावचन होता है सांकोचिक रक्तनिपीड में अधिक रहता है, हृत्स्फारिक में बहुत कम या नगण्य होता है। इसका कारण यह है कि सांकोचिक की अपेक्षा हृत्स्फारिक निपीड अधिक स्थिर स्वरूप का होता है। इसलिए उनमें होनेवाले परिवर्तनों का महत्व अधिक माना जाता है।

निपीड भिन्नता के हेतु—ऊपर्युक्त दैनिक या क्षणिक चांचल्य के अतिरिक्त रक्तनिपीडों में स्थायी परिवर्तन भी होते हैं या पाये जाते है। उनके निम्न कारण हैं—

(१) *वय*—जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक सांकोचिक निपीड बराबर बढ़ता जाता है और उसमे साधारणतया प्रतिवर्ष ½ मि०मि० की वृद्धि हुआ करती है। हृत्स्फारिक निपीड में इस प्रकार नियमित वृद्धि बहुत कम

होती है या नहीं होती या उसमें आयुर्वृद्धि के साथ घट भी हो जाती है। जैसे ४० वर्ष तक हृत्स्फारिक निपीड सांकोचिक का $\frac{2}{3}$ रहता है परन्तु उसके पश्चात् वृद्धावस्था में केवल $\frac{1}{2}$ हो जाता है। वयोवृद्धि के साथ धमनियों की दीवाल में जो परिवर्तन (पृष्ठ १७३) होता है उसी का परिणाम सांकोचिक के बढ़ने में और हृत्स्फारिक के घटने में होता है। इसलिए वयोवृद्धि के साथ नाड़ीनिपीड बढ़ता जाता है।

(२) *लिंग*—बचपन में दस वर्ष तक रक्तनिपीड पर लिंग का कोई असर नहीं दिखाई देता। उसके पश्चात् ५–७ वर्ष तक लड़कियों में निपीड कुछ अधिक रहता है। उसके पश्चात् अर्थात् १८ वर्ष के वय के पश्चात् पुरुषों में निपीड अधिक होता है और प्रायः स्त्रियों की अपेक्षा अधिक ही रहता है।

(३) *वंश*—भारतीय तथा पौर्वात्य लोगों में यूरूपियन और अमेरिकन लोगों से रक्तनिपीड कम रहते हैं।

(४) *आहार*—मांसाहारी तथा मिश्राहारी लोगों की अपेक्षा शाकाहारियों में रक्तनिपीड कुछ कम रहते हैं।

(५) *शरीर*—शरीर के भार, बल इत्यादि का भी निपीड से सम्बन्ध रहता है। साधारणतया सार (Stamina) युक्त शरीर के लोगों का निपीड निस्सार लोगों की अपेक्षा अधिक रहता है। भारतियों में पञ्जाबी राजपूत एङ्ग्लोइण्डियन इत्यादि सारवान जातियों में इतर जातियों की अपेक्षा निपीड कुछ अधिक रहता है। वैसे ही स्थूल तथा बोझिल (Overweight) व्यक्तियों में कृश और अल्पभार (Under weight) व्यक्तियों की अपेक्षा निपीड अधिक रहता है।

(६) *प्रकृति* (Constitution)—मनुष्यों की प्रकृति की विशेषता जैसी अन्य बातों में दिखाई देती है वैसी रक्तनिपीड की दृष्टि से भी दिखाई देती है। रक्तनिपीड का ऊँचा या नीचा रहना प्रकृति का ही एक अंश होता है। यह प्रकृत्यंश प्रत्यात्मनियत अर्थात् वैयक्तिक रहने की अपेक्षा पारिवारिक या कौटुम्बिक (Familial) होता है। इस दृष्टि से उच्चनिपीड प्रकृति और निम्ननिपीड प्रकृति करके प्रकृति के दो वर्ग किये जा सकते हैं। निम्न निपीड प्रकृति के मनुष्यों में वयोवृद्धि के साथ

या सहायक कारण मिलने पर निपीड अधिक ऊंचा या नीचा होने की प्रवृत्ति नहीं होती या बहुत कम होती है। परन्तु उच्चनिपीड प्रकृति के व्यक्तियों में निपीड स्थायी रूप से बढ़ने की प्रवृत्ति होती है।

(७) *परिस्थिति, पर्यावरण*—दौड़ धूप, सदैव एकाग्रता से काम करने की आवश्यकता, अत्यधिक शारीरिक या मानसिक परिश्रम, अशान्ति, अस्वस्थता, बेचैनी, जीवन मरण की चिन्ता, खाने पीने की भ्रान्ति इत्यादि सदैव मनस्ताप (Mental strain) उत्पन्न करनेवाली परिस्थिति (Circumstances) या पर्यावरण (Environments) शरीर के प्राकृतिक रक्तदाब ऊंचा रखने में सहायक होते हैं। आधुनिक सभ्यता तथा यन्त्रयुग के जीवन में इस प्रकार की परिस्थिति सदैव बनी रहने के कारण उसमें रहनेवाले व्यक्तियों में निपीड उच्च रहा करता है। इसके विपरीत आधुनिक सभ्यता तथा यन्त्रयुग से दूर रहनेवाले शान्त और सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करनेवाले ग्रामीण व्यक्तियों में निपीड नीचे रहा करते हैं।

निपीडों के स्वाभाविक मान—निपीडों में अस्थिरता उत्पन्न करनेवाले स्थायी तथा अस्थायी दोनों प्रकार के असंख्य कारण होने से निपीडों के स्वाभाविक मूल्यों में बहुत अन्तर दिखाई देता है तथा बहुत मतमतान्तर पाया जाता है। फिर भी वयानुसार उनके मध्यममान निम्न प्रकार से माने जाते हैं।

वय वर्षों में	सांकोचिक	हृत्स्फारिक
३	८० मि० मि०	५० मि० मि०
६	८५ ,,	५५ ,,
१०	९५ ,,	७० ,,
१५	११५ ,, —	७५ ,,
२०	१२० ,,	८० ,,
२१—३०	१२३०५	८२०३
३१—४०	१२५०५	८५
४१—५०	१३०	८६
५१—६०	१३३०५	८९
६० से ऊपर	१५० तक	९०

वयानुसार रक्तनिपीड के दिये हुए उपर्युक्त अंकों में १० मि०मि० की न्यूनाधिकता हो सकती। स्त्रियों में उपर्युक्त सब अंक १० मि०मि० से कम हुआ करते हैं।

रक्तनिपीड के नियम—रक्तनिपीडों के वयानुसार तथा स्वाभाविक अल्पतम तथा उच्चतम मान याद करने के लिए अनेकों ने अपने अपने अवलोकनों के आधार पर नियम बनाये हैं। रक्तनिपीड स्थिर न होने के कारण इन विविध नियमों के अनुसार निकाले हुए मानों में भिन्नता पायी जाती है। फिर भी व्यावहारिक दृष्ट्या ये नियम उपयोगी होने के कारण नीचे दिये जाते हैं—

(१) *सरहम्फ्रे रोलेस्टन का नियम*—उच्चतम निपीडों के लिए—

सांकोचिक १०० + वय वर्षों में, या वय की संख्या के पीछे १ रखना।

हृत्स्फारिक—सांकोचिक का $\frac{२}{३}$

(२) *फॉट का नियम*—सांकोचिक, हृत्स्फारिक और नाडी निपीडों का अन्योन्यानुपात ३ : २ : १ का होता है। जैसे सां० १२० होने पर हृत्स्फारिक ८० और नाडी निपीड ४० होगा। सांकोचिक रक्तनिपीड निकालने का उसका नियम यह है कि २० वर्ष के युवा का निपीड १२० समझकर उसमें प्रति २ वर्ष के लिए १ मि० मि० मिलाया जाय। स्त्रियों में १० मि० मि० कम किया जाय।

(३) *सांकोचिक हृत्स्फारिक का सम्बन्ध*—

सां० = २ ह — २०, अथवा २ ह = सां + २०

(३) *हाला डाली का नियम* (Halla Dalleis rule)—

२०–६० तक	१२० + $\frac{१}{४}$ वय वर्षों में	सांकोचिक
६० वर्षों में	१३५	,,
६० वें वर्ष के पश्चात्	प्रत्येक वर्ष के लिए १ मि. मी.	,,
२० वें वर्ष में	८० मि. मी.	हृत्स्फारिक
६० वें वर्ष तक	प्रत्येक ५ वर्ष के लिए १ मि.मी.	,,
६० वें वर्ष के पश्चात्	प्रत्येक पाँच वर्ष के लिए २ मि.मी.	,,

उपर्युक्त नियम यूरूपियन और अमेरिकन लोगों के निपीडों के लिए बनाए गये हैं। इन लोगों के निपीड भारतियों से कुछ अधिक होने से

उपर्युक्त नियम हमारे लिए ठीक मार्ग दर्शन नहीं करते हैं ऐसी भारतीय शास्त्रज्ञों की राय है। अतः भारतीयों के लिए निम्न दो नियम बनाये गये हैं—

(४) डोटो का—२०–६० वर्षों तक	१०८ + $\frac{१}{२}$ वय वर्षों में	सांकोचिक
,, ,,	७६ + $\frac{१}{५}$,,	हृत्स्फारिक
(५) २०–६० वर्षों तक	९० + वय वर्षों में	सांकोचिक
,, ,,	सांकोचिक का आधा +२०	हृत्स्फारिक

डॉ. डॉ. डोटो ने दशसहस्र भारतीयों के (इनमें दाक्षिणात्य नहीं रहे) रक्त निपीड़ का अवलोकन करके सबों का मध्यममान सांकोचिक के लिए १२२.६, हृत्स्फारिक के लिए ७९.६ और नाड़ी निपीड़ के लिए ४३.० पाया है। उन्हीं में वयानुसार अल्पतम, उच्चतम और मध्यम मान निम्न प्रकार का रहा है—

विकृति दर्शक मर्यादाएँ—रक्तनिपीड़ का रोग मुख्यतया उसकी वृद्धि में होने के कारण विकृति सूचक मर्यादाएँ निपीड़ के वे उच्चतम अङ्क होते हैं जहाँ तक रक्तनिपीड़ के बढ़ने से शरीर को हानि होने की बहुत कम संभावना होती है और जिनसे अधिक होने पर हानि की सम्भावना बराबर बनी रहती है। अतः विकृतिसूचक मर्यादा पर रक्त दाब मिलने पर परमनिपीडता (Hyperpiesia) या उच्च रक्त निपीड़ का ख्याल करके तदनुसार रोग और रोगी का परीक्षण करना चाहिए।

साधारणतया वयानुसार सांकोचिक का जो मध्यम मान होता है उससे १० मि०मि० अधिक मान स्वाभाविक की उच्चतम मर्यादा मानी जा सकती है। हृत्स्फारिक और सांकोचिक निपीड़ों में हृत्स्फारिक अधिक स्थिर होने के कारण उसकी उच्चतम मर्यादा में इतनी गुञ्जायश नहीं होती। इसलिए उसका मर्यादित क्रम सांकोचिक की अपेक्षा विकृति सूचनार्थ अधिक महत्त्व का होता है। इस दृष्टि से २० वें वर्ष के लिए $\frac{१२०}{८०}$, ४० वें वर्ष के लिए $\frac{१४०}{८५}$ और उसके पश्चात ६५ वर्ष तक $\frac{१५०}{९०}$ ये सांकोचिक तथा हृत्स्फारिक के स्वाभाविक उच्चतम मान समझ सकते हैं। हृत्स्फारिक ९० से अधिक

वय क्रम	सांकोचिक निपीड मर्यादाएं			ह्रस्फारिक निपीड मर्यादाएं		
	अल्पतम	मध्यम	उच्चतम	अल्पतम	मध्यम	उच्चतम
१७—१९	१०३.८	११२.८	१२४.५	६८.४	७५.५	८१.५
२०—२४	१०४.४	११६.३	१२७.९	६६.२	७६.२	८२.४
२५—२९	१०६.७	११८.६	१३०.६	७०.६	७८.०	८३.४
३०—३४	१०८.५	१२०.०	१३३.०	७१.२	७७.०	८४.६
३५—३९	११०.९	१२२.४	१३५.७	७२.५	७८.२	८६.०
४०—४४	११३.६	१२४.६	१३६.४	७४.६	८०.०	८६.४
४५—४९	११६.४	१२७.६	१३८.५	७६.०	८२.०	८७.१
५०—५४	११८.०	[illegible]	१४०.३	७७.६	८३.४	८८.६
५५ के ऊपर	११९.४	१३१.५	१४२.६	७८.०	८५.१	९१.२

कदापि स्वाभाविक नहीं समझ सकते। इससे अधिक सन्देहास्पद, ९५ से अधिक अस्वाभाविक और १०० या उससे अधिक निश्चित विकृति दर्शक समझना चाहिए। कहीं कहीं जवानों के लिए $\frac{१५०}{९०}$ और प्रौढों के लिए $\frac{१६०}{१००}$ को स्वाभाविक उच्चतम मर्यादाएं बतायी गयी है। वे यूरूपीअन और अमेरिकन लोगों के लिए, जिनमें रक्तनिपीड कुछ अधिक रहता है, भले ही स्वाभाविक मानी जाय, परन्तु भारतियों के लिए, जिनमें रक्तनिपीड कम रहता है कदापि स्वाभाविक नहीं मानी जा सकतीं।

सावधानता—सांकोचिक निपीड अत्यन्त चञ्चल और विचलनशील होने के कारण उस पर निद्रा, विश्राम, व्यायाम, भोजन, घबड़ाहट, क्रोध इत्यादि अवस्थाओं और भावनाओं का बहुत अधिक परिणाम होता है। रातभर शान्त निद्रा सेवन करने पर प्रातः जिसमें सां० निपीड ११० है उसमें दिन में स्फूर्ति के साथ काम करने समय १५० और कड़े व्यायाम के समय २०० निपीड मिल सकता है। वैसे क्षिप्रकोपी, सुकुमार, कातर या वात प्रकृति (Nervous) व्यक्तियों में पहले पहल निपीड़ मापन में उसकी मर्यादा स्वाभाविक से ३०—४० मि० मि० अधिक मिल सकती है। इसलिए ऐसी अवस्था में स्वाभाविक से अधिक पाया हुआ निपीड़ विकृति निदर्शक नहीं माना जा सकता। निपीड़ को विकृति सूचक समझने से पहले निम्न दो बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) *उचित समय*—भोजन, धूम्रपान, व्यायाम, थकावट, काम-क्रोधादि मानसिक उत्तेजनाएं इनका सां० निपीड पर बहुत परिणाम होता है। इसलिए इनके पश्चात् तुरन्त निपीड का मापन न किया जाय। भोजन के कम से कम २ घण्टे के पश्चात् और व्यायाम के तथा अपने दैनिक कार्य के आधे से एक घंटे के पश्चात् चित्त शान्त होने पर निपीड मापन किया जाय।

(२) *स्थिरता*—उपर्युक्त कारणों से एकाध बार रक्तनिपीड स्वाभाविक से अधिक मिल सकता है। इससे उसको विकृति सूचक, या विकृत या अस्वभाविक नहीं कह सकते। जब उसका मर्यादातिक्रम बराबर बना रहेगा तब उसको विकृत कह सकते हैं। इसलिए जिसमें रक्तनिपीड स्वाभाविक से अधिक पहले पहल मालुम हुआ है उसमें कुछ दिनों के

अन्तर पर उचित समय पर अनेक बार निपीड मापन करना चाहिए। यदि निपीड मर्यादातिक्रम में फिर भी स्थिरता मालूम हो तो उसको विकृत समझ सकते हैं। अनेक कातर (Nervous) व्यक्तियों में प्रथम मापन में पाया हुआ मर्यादातिक्रम तीसरे चौथे मापन में पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

संक्षेप में—कुछ दिनों के अन्तर पर उचित समय पर कई बार लिया हुआ निपीड जब बराबर स्वाभाविक उच्चतम मर्यादा से अधिक मिलता है विशेषतया हृत्स्फारिक ६० से अधिक रहता है फिर सांकोचिक अधिक हो या न हो तब उसको विकृत समझना चाहिए। रक्तनिपीड की इस विकृति को परमातति (Hypertension) कहते हैं।

परमातति (Hypertension)

व्याख्या—लिंग, वय, वंश, क्रियाशीलता इत्यादि बातों का पूर्ण विचार करके मनुष्यों की धमनीगत रक्त दबाव की स्वाभाविक मर्यादा से स्थायी अधिकता की स्थिति को परमातति कहते हैं।

हैतुकी—(१) *कुलज और कुटुम्ब प्रवृत्ति* इस रोग में कुलज प्रवृत्ति का अंश बहुत होता है। इस अंश का रूप मानसिक अस्थिरता, धमनियों की संकीर्णता (Narrowness), उनके लचकीले धातु की निकृष्टता (Poor quality) अकाल अपजनन (Degeneration) इत्यादि में दिखाई देता है। जिनके माता पिता में यह रोग नहीं होता वे इस रोग से बहुत कम (३·१ प्रतिशत) पीड़ित होते हैं। जब माता पिता में से कोई इससे पीड़ित रहता है तब उनके बच्चों में २८·३ प्रतिशत और दोनों पीड़ित रहने पर ४५·५ प्रतिशत इससे पीड़ित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों के सम्बन्धियों में वयानुसार रक्तनिपीड की मर्यादा अन्य समवयस्कों से कुछ ऊंची रहती है और उनमें यह रोग औरों की अपेक्षा अधिक उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कुछ कुलों या घरानों में रक्तनिपीड की स्वाभाविक मर्यादाएँ नीची रहती हैं। उनमें उनके बच्चों में तथा सम्बन्धियों में यह रोग बहुत कम दिखाई देता है।

(२) *लिंग*—यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इसका कारण उनकी महत्वाकांक्षाएं, शारीरिक कष्ट और मानसिक चिन्ताएं हैं। कुछ लोगों का अनुभव इसके विपरीत है। स्त्रियों में यह रोग रजोदोष, रजोनिवृत्ति, गर्भ धारण के कारण तथा उस समय अधिक दिखाई देता है।

(३) *वय*—यह रोग मध्यम और उत्तर अवस्था का है। कुलज प्रवृत्ति के व्यक्तियों में यह रोग अन्यों की अपेक्षा कुछ पहले प्रकट होता है। बच्चों में प्राथमिक या वास्तविक (Essential) प्रकार बहुत कम दिखाई देता है। उनमें यह रोग अधिकतर तीव्र या जीर्ण गुल्सकीय वृक्कशोथ, पूयवृक्कता, मार्गावरोधक अश्मरी इत्यादि मूत्रण संस्थान के विकारों से और कभी कभी उपवृक्क, हृदय, महाधमनी, मस्तिष्क संस्थान के विकारों से होता है। संक्षेप में बच्चों में यह रोग प्राथमिक की अपेक्षा औपद्रविक (Secondary) ही अधिक होता है।

(४) *वंश*—सांसारिक महत्वाकांक्षा रखनेवाले वंशों में यह रोग अधिक होता है। यही कारण है कि यूरुपिअन और अमेरिकन लोगों में यह रोग अधिक, पौर्वात्य लोगों में, भारतियों में कम और अफ्रिकन लोगों में बहुत ही कम दिखाई देता है।

(५) *आहार और व्यसन*—शाकाहार की अपेक्षा मांसाहार से यह रोग होने की सम्भावना अधिक होती है। अत्यधिक मद्यसेवन, धूम्रपान भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

(६) *शरीर*—स्थूल (Obese), थोंभिल, ऊंचे लोगों में कृश, अल्पभार नाटे लोगों की अपेक्षा यह रोग अधिक होता है।

---

(४) चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थ मन्यायेनार्थ सञ्चयान्॥
इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तिदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौमया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ गीता॥

(७) *प्रकृति*--अत्यन्त महत्वाकांक्षी आसुर सम्पत्ति के अत्यधिक शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम करने वाले, कदापि विश्राम न करनेवाले अस्थिर मत के, सदैव असंतुष्ट और बेचैन रहनेवाले तम प्रकृति सामान्य बातों पर या घटनाओं पर गम्भीर चिन्ता करनेवाले, जोशीले लोगों में यह रोग अधिक होता है।

(८) *पर्यावरण* Environment)— यन्त्रयुग, उसकी दौड़-धूप और उसी से उत्पन्न हुई आधुनिक सभ्यता इस रोग की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण माना गया है। इस आधुनिक सभ्यता की उन्नति के अनुसार संसार के विभिन्न देशों में यह रोग पाया जाता है। अन्य देशों की तुलना में इस समय अमेरिका इस प्रकार की सभ्यता में अग्रसर होने के कारण इस रोग से पीड़ित होने मे भी अग्रसर रही है।

वहाँ पर इस रोग से या इसके उपद्रवों से सबसे अधिक लोग (१०%) मरते हैं। इस रोग के अतिरिक्त आन्त्रपुच्छ शोथ, कर्कट (Cancer) जठर और ग्रहणी व्रण इत्यादि रोगों का समावेश भी आधुनिक सभ्यता के साथ सम्बन्धित किया जाता है।

(९) *विष*—पित्ताशय, उण्डुकपुच्छ, दन्तमांस, नासाकोटर (Nasal sinus) इत्यादि शरीर के विविध अगों के दूषित स्थानों (Focus) में गर्भविषमयता (Toxaemia of pregnancy) में, तथा आलस्य, बैठी आदतें (Sedantary habits), अत्यधिक मांस जातीय द्रव्यों का सेवन, मलावरोध इत्यादि से आन्त्र में उत्पन्न हुए अन्तर्विष तथा धूम्रपान, मद्य, सीस (Lead), पारद इत्यादि बाहर से सेवन किये हुए विष भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं।

(१०) *हृदय, रक्त और वाहिनी के रोग*— हृदय की परमपुष्टि (Hyper trophy), महाधमनी का समापीडन (Coaractation of the aorta) धमनी जरठता (Arterio sclerosis) या उनकी विलेप्यर्बुदता (Atheroma) बहुकायाणुमयता (Polycythemia) इनमें यह विकार उत्पन्न होता है।

(११) *वृक्क के रोग*—तीव्र, अनुतीव्र विशेषतया जीर्ण वृक्कशोथ,

बहुकोष्ठीय (Polycystic) वृक्क रोग, वृक्कजरठता, जलापवृक्कता (Hydronephrosis), पूयापवृक्कता, वृक्क के अर्बुद, अष्ठीलाभिवृद्धि मूत्र मार्गावरोध इत्यादि रोग तथा अन्य कारण जन्य।

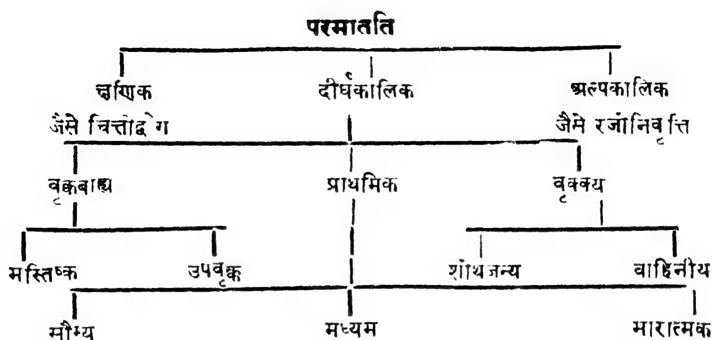
(११) *अन्तस्रावी ग्रन्थियों के रोग*--उपवृक्क ग्रन्थि के अर्बुद, स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के दोष (इससेप्रत्यक्ष रजोनिवृत्ति होने से १--२ वर्ष पहले रक्तनिपीड बढ़ सकता है और रजोनिवृत्ति के पश्चात् १०-१ वर्ष जारी रह सकता है) पोषणिका (Pituitary) ग्रन्थि के अर्बुद परमावटुकता (Hyperthyroidism), कुशिंग संरूप।

(१२) *समवर्त के विकार*--मधुमेह, वातरक्त इनसे पीड़ितों में यह रोग अधिक दिखाई देता है।

(१४) *मस्तिष्क के विकार*--काम, क्रोध, कातरता, चिन्ता, अस्थिरता, ईर्ष्या, बेचैनी, मस्तिष्क तथा अन्य विक्षत रेनाड का रोग, कपालान्तर्य निपीड वृद्धि।

परमातति का वर्गीकरण (Classification)—रक्त का निपीड बढ़ानेवाले असंख्य हेतु होते हैं। स्थायस्थायी पीडन वृद्धि की दृष्टि से क्षणिक (Transient), अल्पकालिक (Temporary) और दीर्घकालिक या स्थायी (Chronic) करके इसके तीन वर्ग किये जा सकते हैं। स्थायी परमातति के हेतुओं में वृक्क विकृति सबसे प्रधान होती है। इसलिए उनके वृक्क्य (Renal) और वृक्कबाह्य (Extra-renal) करके दो विभाग करते हैं। वृक्क के विकारों में शोथजन्य (Inflamatory) और रक्तवाहिनी के विकार (Vascular) जैसे जीर्ण वृक्कशोथ, वृक्क जरठता, महाधमनी का समापीडन इत्यादि महत्व के हैं।

वृक्कबाह्य विकारों में मस्तिष्क और उपवृक्क (Adrenal) ग्रन्थि के अर्बुदादि विकार महत्व के हैं। इसके अतिरिक्त आजकल ऐसे असंख्य रोगी मिलते हैं जिनमें परमातति का कोई कारण विशेषतया शारीरिक विकृति की दृष्टि से नहीं दिखाई देता है। इस अज्ञातकारणिक वर्ग को प्राथमिक (Primary) कहते हैं। इसके भी सौम्य (Benign) मध्यम और मारात्मक (Malignant) करके तीन विभाग किएजाते हैं।



प्राथमिक परमातति

पर्याय—Primary hypertension, **परमपीडनता** Hyper piesia, **जेनेवे का परमाततिक हृद्वाहिनीय रोग** Hypertensive Cardiovascular disease of Janeway, **वास्तविक परमातति** Essential hyper tension।

व्याख्या—इस रोग में रक्तनिर्पीड की वृद्धि हृदय, धमनी, वृक्क इनके विकारों के कारण या अन्य रक्तनिर्पीड वर्धक विकारों के कारण न होकर प्रथम, प्रधान तथा वास्तविक होती है। तथा इसमें धमन्यादि अंगों की प्राचीर में जो परिवर्तन होते या पाये जाते हैं वे निर्पीड वृद्धि के फलस्वरूप अर्थात् गौण तथा उत्तरकालीन होते हैं और यदि उसके साथ दिखाई दिये तो वे तज्जन्य या अन्य कारण जन्य हो सकते हैं।

हैतुकी—इस रोग की उत्पत्ति में शरीर के किसी आंगिक (Organic) विकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए उनका विचार करने का कोई कारण नहीं है। कुलज प्रवृत्ति, प्रकृति, परिस्थिति, पर्यावरण, आहार, व्यसन इनका सम्बन्ध इस रोग से जरूर होता है। परन्तु वह भी सहायक स्वरूप का माना जाता है। इसका वास्तविक तथा मुख्य कारण क्या है इसका अभी तक कुछ भी पता नहीं लगा है।

सम्प्राप्ति—इसमें अब कोई सन्देह नहीं रहा है कि यद्यपि रक्त-निर्पीड को बनाये रखनेवाले तथा बढ़ानेवाले अनेक कारक (पृष्ठ १७१) होते हैं तथापि इस रोग में उसकी वृद्धि मुख्यतया परिसरीय प्रतिरोध के अतियोग के कारण होती है। यह अतियोग क्यों होता है, इसका मुख्य कारण क्या है इसका ठीक स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता फिर भी उसके सम्बन्ध की कल्पना निम्न प्रकार की है।

उपवृक्कय ग्रन्थि—शरीर कार्य विज्ञान में यह मानी हुई बात है कि काम, क्रोध, चित्तोद्वेग, मनस्ताप (Mental strain) इत्यादि मानसिक भावनाओं से तथा व्यायाम परिश्रम इत्यादि शारीरिक कार्यों से उपवृक्कग्रंथि उत्तेजित होकर अधिक मात्रा में अपने स्राव को उत्सर्गित करती है। इसके साथ साथ यह भी सिद्ध हुआ है कि परिसरीय रक्तवाहिनियों में संकोच उत्पन्न करना इस स्रावका महत्त्व का कार्य है। इस स्राव में उपवृक्की (Adrenaline) और न्यूनोपवृक्की (Noradrenalin) करके दो द्रव्य होते हैं। दूसरा द्रव्य परिसरीय प्रतिरोध उत्पन्न करने की दृष्टि से (पृष्ठ १७७) विशेष महत्त्व का है। परमातति से पीडित या परमातति पीडित होनेवाले व्यक्तियों की उपवृक्क्य ग्रन्थियों में न्यूनोपवृक्की की अधिकता होती है यह बात यद्यपि सिद्ध नहीं हुई है तथापि उपवृक्क्यग्रन्थि के मज्जक (Medulla) के अर्बुदों से जब परमातति उत्पन्न होती है तब उनमें न्यूनोपवृक्की की अधिकता होती है यह सिद्ध हुआ है। संक्षेप में मनस्ताप चित्तोद्वेगादि से बराबर पीडित रहनेवालों में उपवृक्की तथा न्यूनोपवृक्की का निरन्तर स्राव होने से रक्तवाहिनियाँ संकुचित होकर रक्त निर्पीड ऊँचा रहता है।

(२) वृक्क—प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि वृक्कों के भीतर वृक्कि (Renin) करके एक द्रव्य बराबर बनता है जो रक्त स्थित दूसरे एक द्रव्य पर कार्य करके वाहिनीतानी (Angiotonin) या परमतानकी (Hypertensine) करके दूसरे द्रव्य को उत्पन्न करता है। यह द्रव्य धमनियों के पेशीतन्तु पर कार्य करके उनको संकुचित करता है। इस प्रकार वृक्क अपने द्रव्य से परिसरीय वाहिनियों में संकोच का काम उपवृक्कग्रन्थि के समान किया करता है। वृक्क के वृक्कि की उत्पत्ति उसको मिलनेवाले प्राण वायु की मात्रा पर निर्भर होती है। जब वृक्क में प्राणवायु की तथा

रक्त के पोषक द्रव्यों की कमी हो जाती है। (देशाल्परक्तता Ischaemia) तब यह द्रव्य अधिक उत्पन्न होता है और अन्य रक्तवाहिनीसंकोचक द्रव्यों को स्वतन्त्र करके परीसरीय प्रतिरोध को बढ़ाता है। कामक्रोधादि से जब उपवृक्की और न्यूरोग्रवृक्की के कारण संपूर्ण शरीर की रक्तवाहिनियाँ संकुचित होती हैं तब वृक्कगत वाहिनियाँ भी संकुचित होकर आंशिक देशाल्परक्तता उत्पन्न कर वृक्कि को अधिक पैदा करती हैं और इस प्रकार उपवृक्कस्थ ग्रन्थि जनित परिसरीय प्रतिरोध को बढ़ाती हैं।

(३) आन्त्रविष—चित्तोद्वेग, मनस्ताप[१] इत्यादि से आन्त्रगत पाचन ठीक न होकर कुछ विषैले द्रव्य बनते हैं। जो निपीडकर द्रव्यों के समान कार्य किया करते हैं।

(४) धमनिकाओं की सहज दुर्बलता—पहले बतलाया जा चुका है कि स्वस्थ धमनिकाओं की अपेक्षा कमजोर या विकृत धमनिकाओं पर (पृष्ठ १७८) वाहिनीनियन्त्रक नाडीतन्तुओं का या इन निपीडक द्रव्यों का संकोचक परिणाम अधिक होता है। इस रोग में धमनियों की विशेषतया धमनिकाओं की प्राचीर में सहज दोष या दुर्बलता (पृष्ठ १८५) होने के कारण इन निपीडक द्रव्यों का संकोचक परिणाम उन पर अधिक होता है। साथ ही साथ बड़ी धमनियों के पेशीतन्तुओं पर भी इनका संकोचक परिणाम होता है तथा वयानुसार उनका लचकीलापन भी कम होता जाता है।

संक्षेप में, परमातति उत्पन्न करने के जो भी एक या अनेक कारक या कारण होते हैं वे सब संपूर्ण धमनी संस्थान पर विभिन्न रूपेण कार्य करके अर्थात् धमनिकाओं को संकरा (Narrow) बनाकर परिसरीय प्रतिरोध को बढ़ा के तथा महाधमनी एवं उसकी बड़ी बड़ी शाखाओं की धारिता (Capacity) और वितनशीलता (Distensibility) को घटा के रक्त निपीड को स्थायी रूप से ऊंचा रखते हैं। यही इस समय के लिए परमातति की बुद्धिग्राह्य संप्राप्ति बतायी जा सकती है।

विकासक्रम—परमातति शीघ्रता से या मन्दता से प्रगत हो सकती है। परन्तु उसकी प्रगति का क्रम निम्न प्रकार का होता है।

---

(१) ईर्ष्याभय क्रोध परिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्य निपीडितेन।
प्रद्वेष युक्तेन च सेव्यमान मन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ सुश्रुत ॥

(१) *उच्चावचन की अवस्था*--(Fluctuation) चित्तोद्वेगादि कारणों से या प्रतिक्षेपों (पृष्ठ१७५) से धमनिकाओं में ऐंठन होकर अल्पकाल के लिए दोनों निपीड बढ़ते हैं। इन समयों को छोड़कर अन्य समयों पर वे स्वाभाविक होते हैं।

(२) *प्रावेग की अवस्था*—(Paroxysm) यदि चित्तवृत्ति मनस्तापादि कारण बराबर बने रहे तो धमनिकायें बराबर ऐंठी रहती हैं और रक्त निपीड बराबर ऊँचे रहा करते हैं। इस अवस्था में अधिक काल शारीरिक तथा मानसिक आराम करने पर और संशामक औषधियों का सेवन करने पर वे कम होते हैं।

(३) *स्थिरता की अवस्था*--रोग बढ़ने पर आराम करने का या संशामक औषधियों का निपीड़ों पर बहुत कम परिणाम होता है और वे स्थिर रहते हैं।

(४) *धमनिका विकृतिकी अवस्था*—इस प्रकार बराबर निपीड़ अधिक रहने पर धमनिकाओं की दीवाल में परिवर्तन होकर वे मोटी होती हैं और उद्वेष्टन के साथ साथ परिसरीय प्रतिरोध बढ़ाने में सहायता करती हैं। इससे रक्त निपीड़ और अधिक बढ़ता है।

(५) *हृदयादि विकृति की अवस्था* जब रक्तनिपीड़ बहुत अधिक होता है तब हृदयवृक्क मस्तिष्क में विकृति होती है। यह अन्तिम अवस्था है। इन्हीं की विकृति से मृत्यु हो जाता है।

शारीरिक विकृति--(१) *धमनियां*—जब रक्त का अत्यधिक दबाव चिकित्सा से या अन्य उपायों से कम न होकर बराबर बना रहता है या स्थायी हो जाता है तब उसका परिणाम सम्पूर्ण शरीर की धमनियों पर विशेषतया मध्यम (Medium sized), तनु (Small sized) तथा सूक्ष्म धमनियों पर होने लगता है। शरीर के अंगों में यह परिणाम सबसे अधिक वृक्कों में उसके पश्चात् प्लीहा में और तत्पश्चात् मस्तिष्क में होता है। अग्न्याशय, यकृत्, उपवृक्क, जठर आन्त्र इनकी धमनियों पर परिणाम कम होता है।

परमाततिका परिणाम धमनियों में विस्तृत धमनीजरठता (Diffuse arteriolar sclerosis) में होता है। यह विकृति अधिकतर १०० मु

(म्यू) या उससे कम व्यास की धमनियों में हुआ करती है और इससे धमनियों की सुषि (Lumen) तंग या संकट होती है। स्वस्थ धमनियों में प्राचीर की मोटाई और सुषि का अनुपात १ : २ होता है अर्थात् दीवाल की मोटाई से धमनियों की सुषि दुगुनी बड़ी होती है। इस विकृति का परिणाम दीवाल की मोटाई बढ़ने में और उसके साथ साथ सुषि तंग होने में होता है अर्थात् दोनों लगभग समान (१ : १) होते हैं। इस विकृति के चार स्वरूप होते हैं—

(१) काचर अपजनन (Hyaline degeneration)— इसमें सबसे छोटी धमनियों की प्राचीर के अन्तस्तर के नीचे (Subintimal tissue) काचर द्रव्य का संचय होता है जिससे नालियाँ तंग होने लगती हैं और कभी कभी उसका पूर्ण विलोप भी (Obliteration) हो सकता है। यह विकृति वृक्कों में सबसे अधिक हुआ करती है।

(२) लचकीले धातु का परमचय (Elastic hyperplasia)—यह विकृति बड़ी और मध्यम धमनियों में हुआ करती है। परन्तु इसका कुछ अंश सबसे छोटी धमनियो में दिखाई देता है। इसमें लचकीला धातु बहुत अधिक बढ़ता है। प्रथम इसकी वृद्धि अन्तस्तर में और पश्चात् मध्यस्तर (Media) में होती है जिससे पेशीमय धमनी महाधमनी और उसकी शाखाओं के समान एक स्थितिस्थापक (न कि संकोचक) नाली बन जाती है। इससे भी धमनियों की सुषि तंग हो जाती है। यह परिवर्तन शनैः शनैः तथा दीर्घकाल तक बढ़नेवाले रक्तनिपीड में दिखाई देता है।

(३) कोशिकीय परमचय (Cellular hyperplasia)—यह परिवर्तन बहुत जल्दी बढ़नेवाले रक्तनिपीड में हुआ करता है। इसमें धमनिकाओं की प्राचीर के मध्यस्तर में चारों ओर कोशाओं की बेहद वृद्धि होती है। इसी को परमचयिक धमनिकाजरठता (Hyperplastic arteriolar sclerosis) या उत्पादी अन्तर्धमनाशोथ (Productive endarteritis) कहते हैं। यदि इसको काटकर देखा जाय तो यह पलाण्डु के छिलके के समान (onion skin appearance) दिखाई देता है।

(४) धमनिकीय विनाश—(Arteriolar necrosis) इसी को विनाशक धमनिकाशोथ (Necrotizing arteriolitis) भी कहते हैं। इसमें धमनिका प्राचीर की कोशाओं का नाश होकर के बिलकुल नष्ट भ्रष्ट

रचनाहीन (Structureless) हो जाती हैं। उसमें लालकणों की भरमार होकर रक्तस्राव भी होता है।

इन चार प्रकार की विकृतियों में प्रथम दो प्रकार जब रक्तनिपीड धीरे धीरे बढ़ता है और जब वृक्कों की कार्यक्षमता में कोई खराबी नहीं होती तब पाये जाते हैं। दूसरे दो प्रकार वृक्क की अकार्य क्षमता उत्पन्न होने पर तथा रक्त निपीड तेजी से बढ़ने पर उत्पन्न होते हैं।

(२) *हृदय*—रक्त निपीड बढ़ जाने से हृदय को महाधमनी में रक्त फेंकने के लिए अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता होती है। इसका परिणाम उसकी अभिवृद्धि में होता है। जब हृत्स्फारिक निपीड बहुत रहता है जैसा कि मारात्मक प्रकार में, तब यह अभिवृद्धि बहुत जल्दी होती है। परन्तु सौम्य में बहुत धीरे धीरे होती है। रक्त निपीड वृद्धि के परिणाम स्वरूप बढ़े हुए हृदय को परमाततीय हृदय (Hypertensive heart) कहते हैं। परमातति के कारण हृदय पर जो तनाव (Strain) पड़ता है उसका प्रारम्भिकज्ञान विद्युत् हृदयोल्लेखन (Electro cardiogram) के सिवा दूसरे किसी से नहीं हो सकता। जब उससे हृदय कुछ बढ़ता है तब क्ष-रश्मियों द्वारा होता है। उससे अधिक बढ़ने पर शारीरिक परीक्षण से प्राप्त चिन्हों के द्वारा और जब उसका शक्तिपात होने लगता है तब लक्षणों द्वारा होता है।

(३) वृक्क—सौम्य प्रकार में विकृति केवल रक्त वाहिनियों में मर्यादित होती है। परन्तु मारात्मक में अन्तःसार (Parenchyma) में भी होती है।

रोग के प्रकार—परमातति के सौम्य या मृदु (Mild, Benign) और मारात्मक या घातक (Malignant) करके मुख्यतया दो प्रकार किये जाते हैं। ९०% रोगी सौम्य के होते हैं। केवल १०% रोगियों में मारात्मक प्रकार दिखाई देता है। सौम्य शनैः शनैः आक्रमण करता है और मारात्मक यकाएक। सौम्य वर्षगणानुबन्धी होता है और इसके विपरीत मारात्मक कुछ ही मासों में जीवन समाप्त करता है। इसके अतिरिक्त एक मध्यम (Intermediate) प्रकार भी किया जाता है।

लक्षण—सौम्य प्रकार में अनेक वर्षों तक कोई लक्षण नहीं दिखाई देते और प्रसंगवशात् उसका पता लग जाता है। यह प्रकार इसलिए जरा

अधिक उम्र में प्रकट होता है। मारात्मक जल्दी बढ़ने के कारण बहुत पहले प्रकट होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि शरीर में इन दोनों की उत्पत्ति में कालान्तर रहता है। दोनों की उत्पत्ति शरीर में प्रायः एक ही अवस्था में होती है। परन्तु मारात्मक शीघ्र बढ़नेवाला होने से अल्पायु में और सौम्य बरसों तक लक्षणहीन रहने के कारण उत्तर आयु में प्रकट होता है।

इस रोग में जो विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं उनको निम्न चार विभागों में बाँट सकते हैं—

(१) मस्तिष्क-मन के लक्षण—सिर में भारीपन, टपक (Throbbing), शिरः पीड़ा विशेषतया प्रातः और पीछे गुद्दी (Occipit) के पास, चक्कर, आँखों के सामने चिनगारियाँ (Flashes), विस्मरण, बीच बीच में निद्राभंग, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, (Irritability), कातरता (Nervousness), शारीरिक तथा मानसिक काम करने की अनिच्छा, थकावट, भावनोद्वेग कर्णनाद (Tinnitus), स्थायी या अस्थायी अन्धता, क्षणिक अंगोपघात (Palsy), शरीर में कहीं कहीं सुई चुभने की सी पीड़ा, चुमचुमायन (Tingling), पैरों की पिण्डलियों में ऐंठन, दौर्बल्य।

(२) हृदय-रक्तवह संस्थान के लक्षण—चेहरे की सुर्खी (Redness) हृत्पूर्व प्रदेश (Precordia) में बेचैनी या पीड़ा, हृत्स्पन्दन (दिल में धड़कन), हृच्छूल (Angina), परिश्रम करने पर दौरे के साथ साँस का फूलना, नासा जठर, आन्त्र, दन्तमांस, फुफ्फुस, नेत्र इत्यादि स्थानों में रक्तस्राव, अतिरिक्त संकोच (Extra systole), एकान्तरित नाड़ी (Pulsus alternans), हृदय की प्लुतगति (Gallop rhythm) परमपुष्टि. धमनियों की रज्जुसम (Whipcord) कठिनता, नेत्र के दृष्टि-पटल (Retina) की धमनियों की मोटाई की विषमता और रजत शुभ्रता (Silver wire appearance)।

(३) पचन संस्थान के लक्षण—अरोचक, क्षुधानाश, अजीर्ण जी मिचलाना, वमन, प्रवाहिका।

(४) मूत्रण संस्थान के लक्षण—शुक्लिमेह, बहुमूत्रता, अल्प गुरुता का मूत्र, मूत्र में काचर (Hyaline) और कणिकामय (Granular) निर्मोक, रात में बार बार मूत्र त्यागने की आवश्यकता।

भौतिक चिन्ह--धमनियाँ कठिन और कुटिल (Tortuous), उत्तान धमनियों का दृश्य स्पन्दन, नाड़ी पूर्ण, मन्द और उच्च तनाव (Tension) की, रक्तनिर्पीड़ १५० और १०० से अधिक, वामनिलय की परमपुष्टि के कारण हृदयाग्र नीचे की ओर खिसका हुआ, प्रथम ध्वनि दीर्घ और मुखावरुद्ध (Muffled), द्वितीय ध्वनि उदात्त (Accentuated)।

मारात्मक प्रकार—परमातति का यह प्रकार दो रूपों में दिखाई देता है।

(१) सौम्य प्रकार से पीड़ित रोगियों में कुछ वर्षों के पश्चात् यकायक लक्षण तीव्र होकर इसकी उत्पत्ति होना। यह परिवर्तन प्रायः तीव्र औपसर्गिक रोगों में से किसी से पीडित होने के कारण या प्रतिकूल परिस्थति तथा पर्यावरण में रहने का या काम करने का प्रसंग आने के कारण और स्त्रियों में गर्भ धारण के कारण होता है।

(२) इसमें प्रारम्भ से ही रोग तीव्र अर्थात् मारात्मक रूप धारण करता है। ये रोगी पहले की अपेक्षा उम्र में छोटे रहते हैं। इनको परमातति का ज्ञान पहले से रहता नहीं।

परमातति के कारणों से जब वृक्कों में अकार्यक्षमता उत्पन्न होती है तब वह मारात्मक रूप धारण करता है। इसमें सौम्य की अपेक्षा रक्तनिर्पीड़ बहुत अधिक (हृत्स्फारिक १२०–२०० या इससे भी अधिक) रहता है, भारक्षय, बलक्षय, कृशता, रक्तक्षय पाण्डुता, तीव्र शिरः पीड़ा इत्यादि लक्षण होते हैं। इसमें नेत्र के अन्तः पटल (Retina) में विकृति बहुत अधिक तथा पहले हुआ करती है और उसमें रक्तस्राव बहुत अच्छी तरह प्रकट होते।

उपद्रव—*रक्तवाहिनियाँ*—रक्त की परमातति का सामान्य परिणाम धमनियों के संकुचित कठिन और तंग होने में होता है। कार्य की दृष्टि से इस शारीरिक विकृति का परिणाम शरीर के धातूपधातुओं और अंग प्रत्यंगों में रक्त की कमी में होता है। यह कमी शरीर के प्रत्येक अंग को हानि पहुंचाती है परन्तु सबसे अधिक हानि हृदय, मस्तिष्क और वृक्क इन मर्माङ्गों को होती है। इस रोग के उपद्रवों में सबसे अधिक उपद्रव हृदय

और रक्तवाहिनियों के, उसके पश्चात् मस्तिष्क के और उसके पश्चात् वृक्क के होते हैं।

हृदय—इस रोग में हृदय परमपुष्ट होता है। परन्तु यह परमपुष्टि रोग की तीव्रता पर अधिक निर्भर होती है। परमपुष्ट हृदय की संचित शक्ति (Reserve power) बहुत कम होती है जिससे वह अधिक परिश्रम करने के लिए अयोग्य रहता है। परिणाम यह होता है कि हृदय धीरे धीरे अभिस्तीर्ण (Dilate) होने लगता है और आगे दुर्बल होकर उसका शक्तिपात (Failure) हो जाता है।

मस्तिष्क—इसमें रक्तस्राव होकर एकांगघात, अर्धाङ्गघात अपसंज्ञता (Apoplexy) इत्यादि उपद्रव होते हैं। आँखों में भी रक्तस्राव होकर अन्धता उत्पन्न हो जाती है।

वृक्क—वृक्कों में कार्यक्षमता का नाश अर्थात् वृक्कातिपात (Renal failure) होकर मूत्रविषमयता उत्पन्न होती है। वृक्क के उपद्रव मुख्यतया मारात्मक में होते हैं।

इन उपद्रवों में कौन सा उपद्रव रोगी में उत्पन्न होगा इसका कुछ अनुमान रक्तनिपीड के आधार पर कर सकते हैं। यदि सांकोचिक रक्तनिपीड सूत्रोक्त (१८१पृष्ठ ३ सूत्र) निपीड से अधिक रहा तो मस्तिष्क विकृति के उपद्रव और यदि कम रहा तो हृदयातिपात या वृक्कातिपात के उपद्रव उत्पन्न होने की अधिक संभावना रहेगी।

साध्यासाध्यता—यह आयुह्रासक रोग है। रोग होने के पश्चात् सौम्य प्रकार में यदि रोगी पथ्य से रहे तो १५–२० वर्षों तक भी सजीव रह सकता है परन्तु उसकी औसत अवधि १० वर्ष की होती है।

मारात्मक प्रकार में रोग की अवधि कुछ ही मासों की अधिक से अधिक २ वर्ष की होती है। साधारणतया ६० प्रतिशत रोगी हृदयातिपात से, २० प्रतिशत मस्तिष्क विकृति से, १० प्रतिशत मूत्र विषमयता से और १०% इतर कारणों से मरते हैं। मारात्मक प्रकार से पीडितों में मुख्यतया वृक्कातिपात होता है।

साध्यासाध्यता में निम्न बातों पर विचार किया जाय—

(१) *कुलवृत्त*—माता पिता तथा पूर्वजों में हृद्विकारों से अल्पायु

में मरने का वृत्त अशुभ और उनके दीर्घायु रहने का वृत्त शुभ समझना चाहिए अर्थात् उसके अनुसार रोगी के आयु की दीर्घादीर्घता प्रायः हो सकती है।

(२) *आत्मवृत्त*—अत्यधिक शारीरिक या मानसिक परिश्रम का जीवन या व्यवसाय, कातर, चञ्चल, शीघ्रकोपी, मनस्तापी, महत्त्वाकांक्षी तामस प्रकृतिक आसुर सम्पत्तिमान, तमाखू, मद्य इत्यादि मादक द्रव्यों के आदी, हृदय-धमनी-वृक्कों के रोगों से तथा स्थूलता मधुमेहादि रोगों से पीडितों में अशुभ। इसके विपरीत शान्त जीवन व्यतीत करनेवाला, शान्त और सत्वप्रकृतिक दैवी सम्पत्तिमान् निर्व्यसनी, नीरोग, वैद्य वाक्यस्थ इनमें शुभ। मधुमेह के समान परमातति में स्थूल रोगियों की अपेक्षा कृश रोगियों का भविष्य अधिक अशुभ होता है ऐसा कुछ चिकित्सकों का अवलोकन है।

(३) *लिंग*—साधारणतया आत्मवृत्त की दृष्टि से स्त्रियों का जीवन अनुकूल होने से उनमें रोग प्रायः साध्य रूप का होता है। रजोनिवृत्ति के समय उनमें यह रोग अनेक बार हुआ करता है। यदि कुलवृत्त और आत्मवृत्त अच्छा रहा तो उनमें उस समय उत्पन्न हुआ यह रोग पूर्णतया ठीक हो जाया करता है।

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मधुमेह, शुक्लिमेह और हृद्रोग से रोग अधिक कृच्छ्रसाध्य होता है।

(४) *वय*—अल्पायु में (३० के आस-पास) उत्पन्न हुआ यह रोग बहुत जल्दी घातक होता है। क्योंकि कुलज प्रवृत्ति और मारकता होने पर ही प्रायः रोग अल्पायु में प्रकट होता है। उत्तर आयु में उत्पन्न हुआ रोग बरसों तक लक्षणहीन रहता है और प्रायः सौम्य प्रकार का होता है।

(५) *रक्तनिपीड*— रक्तनिपीड की अत्यधिकता-विशेषतया हृत्स्फारिक की—अधिक चिन्ताजनक होती है। सांकोचिक निपीड अधिक होते हुए यदि हृत्स्फारिक स्वाभाविक से बहुत अधिक न हो तो उसमें उतनी चिन्ता नहीं होती है। इसका कारण यह है कि हृत्स्फारिक से धमनी संस्थान अखण्डित निरंतर पीडित रहता है अर्थात् उसके दबाव का धमनियों पर अधिक बुरा परिणाम होता है।

(६) मूत्र—रात्रि में बहुत कम गुरुता के (Low sp. gr.) मूत्र का उत्सर्ग और दिन में २-३ पाव पानी पीने पर भी गुरुता का १०१० पर स्थिर रहना शुक्लिमेह से भी अधिक चिन्ताजनक होता होता है, क्योंकि यह लक्षण वृक्क की कार्यक्षमता हानि का निदर्शक होता है। ऐसी अवस्था में मिहनिष्कासन कसौटी (पृष्ट २३) के द्वारा वृक्क की कार्यक्षमता का पता लगा लेना चाहिए और यदि उसमें खराबी मालूम हुई तो रक्तमिह (Blood urea) का आगणन करना चाहिए। वृक्क कार्यक्षमता हानि इस रोग के मारात्मक प्रकार की निदर्शक होने से असाध्यता दर्शक होती है। कभी कभी परमाततीय हृदयातिपात (Hypertensive failure) में अल्पकाल के लिए रक्तमिह की मात्रा बढ़ती है। इसलिए यदि हृदयातिपात के लक्षण हो, साथ ही साथ मूत्र की गुरुता ऊंची रहे तो वृक्क की कार्यक्षमता हृदयातिपात चिकित्सा से ठीक होने पर बहुत कुछ सुधर सकती है।

(७) *असाध्य लक्षण*—हृदयाभिस्तीर्णता, हृच्छूल, अन्तरितनाडी (Pulsus alternance), नाडी की प्लुतगति (Gallop rhythm) अलिन्दीय तन्तुकम्पन (Fibrillation), अल्पश्रम जनित श्वासकृच्छ्र, नैश प्रावेगिक श्वासकृच्छ्र (Nocturnal paroxysmal dyspnea), मस्तिष्कविकृति (Encephalopathy), तथा तज्जन्य क्षणिक या अल्पकालिक अंगघात (Paralysis) या उपघात (Palsies), दृष्टिपटल विकृति (Retinopathy) इत्यादि लक्षण अशुभ सूचक होते हैं।

नेत्र विकृतियाँ दो प्रकार की होती है। एक में दृष्टिपटल की धमनियाँ कठिन तथा कुटिल होकर सिराओं को दबाती हैं और उसमें कुछ रक्तस्राव होते हैं। दूसरे में अक्षिगोलकान्तर्य दृष्टि नाडीशोथ (Intraoculo optic neuritis), दृष्टिपटल का सूजन (Retinal oedema) और उस पर कार्पास (Cottonwool patches) सम धब्बे दिखाई देते हैं। प्रथम विकृति विशेष चिन्ताजनक नहीं होती। परन्तु दूसरी होने पर प्रायः वर्ष भर के भीतर मृत्यु हो जाती है।

उपर्युक्त बातों के आधार पर साध्यासाध्यता तथा रोगी के भविष्य का निर्णय करने के लिए आत्मवृत्तादि बातों के अतिरिक्त रक्त-मिह का, रक्तनिपीड का—विशेषतया हृत्स्फारिक निपीड का—मापन,

हृदय, वृक्ककार्यक्षमता, मूत्र, नेत्रान्तपटल इनका परीक्षण करना जरूरी है।

निदान--रक्तनिपीड मापन यही रोग निदान का मुख्य साधन है। रक्तनिपीड का मापन जैसे कि पहले बताया गया (पृष्ठ १८४) उस प्रकार सावधानता से करना चाहिए, अन्यथा निदान में भूल हो सकता है। इस प्रकार रक्तनिपीड अस्वाभाविक है इसका निर्णय होने के पश्चात् वह प्राथमिक है या गौण है, यदि प्राथमिक है तो सौम्य है या मारात्मक, यदि गौण है तो वृक्कज है या वृक्क बाह्य है इत्यादि बातों का विचार करना चाहिए। इनका विचार करने से पहले रक्तनिपीड मानों के आधार पर निदान में सहायता करनेवाले कुछ व्यावहारिक मार्ग दर्शक नियम बताये जाते हैं—

(१) मनस्ताप, चित्तोद्वेग, कातरता (Nervousness) इत्यादि वातिक तथा अल्पकालिक कारणों से जब रक्त निपीड बढ़ा हुआ रहता है तब हृदय की गति तेज रहती है। परमाततित में हृदय गति मन्द रहती है।

(२) हृदय की अभिवृद्धि तथा अन्य शारीरिक विकृति के बिना जब रक्त निपीड की वृद्धि रहती है तब वह दीर्घकालिक या नैत्यिक स्वरूप की नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह है कि वह परमाततित की प्रारम्भिक अवस्था का निदर्शक है।

(३) सांकोचिक निपीड की अधिकता के साथ हृत्स्फारिक की स्थायी निम्नता महाधमनी द्वार गत रक्तोद्गीरण (Aortic regurgitation) की तथा परमावटुकता (Hyperthyroidism) की सूचक होती है।

(४) हृत्स्फारिक निपीड की अधिकता न होते हुए सांकोचिक निपीड की वृद्धि हार्दिक रक्तोत्सर्ग (Cardiac out put) की अधिकता की तथा बड़ी धमनियों के लचकीलेपन की घट की अर्थात् कठिनता की सूचक होती है। यह स्थिति महाधमनी तथा उसकी बड़ी बड़ी शाखाओं की जरठता (Sclerosis) में, मन्दगति हृत्स्तम्भ (Heart block) में तथा कभी कभी महाधमनी द्वार की अकार्यक्षमता में और परमावटुकती में पायी जाती है।

(५) सांकोचिक की अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टया हृत्स्फारिक की स्थायी वृद्धि परिसरीय प्रतिरोधक के (Peripheral resistance) परिणाम

स्वरूप होती है। यह प्रतिरोध मानसिक, मस्तिष्क संस्थान जनित (Neurogenic) या अन्तःस्रावीग्रन्थिरस जनित (Humoral) धमन्युद्वेष्टन (Arteriospasm) से या धमनिकाओं की प्राचीर की स्थायी विकृति से हो सकता है। यह स्थिति वृक्कशोथ, गर्भिणी का परमाततीय रोग (Hypertensive disease) बहुकोष्ठीय वृक्करोग, महाधमनी का समापीडन (Coarctation) पोषणिका या उपवृक्कग्रन्थि के अर्बुद, वृक्कजरठता तथा वास्तविक परमातति इन में पायी जाती है। इस प्रकार का रक्त निपीड पाये जानेवाले रोगियों में अधिक संख्य रोगी वास्तविक परमातति के ही होते हैं।

(६) हृत्स्फारिक निपीड की अधिकता के साथ सांकोचिक का गिरता हुआ (Dropping) निपीड हृदयातिपात का निदर्शक होता है।

प्राथमिक और गौण में भेद—प्राथमिक का रोगी अल्पायु माता पिता दि पूर्वजों के कुल में जन्मा हुआ, अधिक उम्र का, हृष्टपुष्ट, महत्वाकांक्षी अत्यन्तपरिश्रमी, स्थूल, ऊर्ज्वस्वल (Energetic) रक्तपित्त प्रकृति का (Plethoric) सुर्ख चेहरे का, विषमयता के कोई लक्षण न होनेवाला, शरीर के हृदयवृक्कादि अंगों में कोई विकृति न होनेवाला होता है। उसका मूत्र स्वाभाविक गुरूता का होता है, क्वचित् उसमें लेश मात्र शुक्लि और कणिमामय और काचर निर्मोक मिलते हैं।

इसके विपरीत गौण स्वरूप की परमातति से पीडित रोगी में हृदय वृक्क उपवृक्क, महाधमनी, धमनियाँ इत्यादि अंगों में से एक अनेक अंगों की विकृति रहती है या उनके होने का इतिहास मिलता है तथा उस के स्वभाव, व्यवसाय या शरीर में उपर्युक्त स्वरूप की कोई विशेषताएँ नहीं पायी जाती हैं।

सौम्य, मध्यम, मारात्मक में भेद—सौम्य में रक्त निपीड ऊंचे होते हुए भी उनमें प्रसंगानुरूप घट बढ़ हुआ करती है। हृत्स्फारिक निपीड ११५ से कम रहता है, हृदय-वृक्क मस्तिष्क के कार्यों में प्रकट हानि बहुत कम होती है, वाहिनी संकोच और धमनी जरठता अल्पांश में होती है, रोग धीरे धीरे बढ़ता है और जल्दी घातक नहीं होता।

(२) मध्यम या दोनों की सीमापर (Borderland) होनेवाले रोगियों में रक्त निपीडकी प्रसंगानुसार होनेवाली घट बढ़ बहुत स्पष्ट नहीं

होती, आराम करने पर भी निपीड घटता नहीं, हृत्स्फारिक निपीड ११५ से अधिक रहता है, हृदय-वृक्क-मस्तिष्क के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, दृष्टि-पटल में रक्तस्राव और कार्पासी धब्बे दिखाई देने लगते हैं।

(३) घातक में प्रसंगानुरूप होनेवाली रक्त निपीड की घट बढ़ नहीं दिखाई देती, आराम करने पर भी निपीड बढ़ता ही जाता है। हृत्स्फारिक निपीड १३० से अधिक अनेक बार १५० से अधिक रहता है, हृदय वृक्क मस्तिष्क विकृति के लक्षण बहुत स्पष्टतया प्रकट होते हैं। दृष्टिपटल की सूजन तथा अन्य विकृतियां बहुत साफ दिखाई देती हैं और रोग जल्दी बढ़कर दो वर्ष के भीतर जीवन समाप्त होता है।

जीर्ण वृक्कशोथ और परमाततिं—वृक्कशोथ जन्य विकार में वृक्कशोथ का पूर्व इतिहास मिलता है, वय प्रायः कुछ कम रहता है, मूत्र में शुक्ति तथा निर्मोक अधिक मिलते हैं, रक्त में मिह का विधारण (Urea retention) अधिक होता है, रक्तनिपीड ऊँचे तथा स्थिर रहते हैं, वृक्क की कार्यक्षमता घटी हुई रहती है, रोगी अधिक अस्वस्थ पाण्डुवर्ण (Sallow, Pale) और कृश होता है, दृष्टिपटल की विकृति अधिक होती है।

मारात्मक प्रकार और वृक्कशोथजन्य विकार में भेद करना कठिन होता है क्योंकि दोनों में वृक्क विकृति होती है, हृत्स्फारिक निपीड काफी ऊँचा रहता है तथा दृष्टिपटल के परिवर्तन हुआ करते हैं। भेद केवल मूत्रपरीक्षण से हो सकता है क्योंकि वृक्कशोथ जन्य मूत्र में शुक्ति तथा निर्मोक अधिक रहते हैं तथा मूत्र की गुरुता जल सेवन की राशि के अनुसार अंशतः न्यूनाधिक हुआ करती है।

हृदय-महाधमनी के *विकार*—हृदय की परमपुष्टि में रक्तनिपीड बढ़ता है, परन्तु जब हृदय कपाटों में कोई खराबी न होते हुए हृदय परमपुष्ट पाया जाता है तब परमातति का ख्याल करना चाहिए और हृदय की परमपुष्टि परमातति जन्य समझनी चाहिए। महाधमनी के समापीडन (Coarctation) में ऊर्ध्व शाखाओं की धमनियों में निपीड ऊँचे रहते हैं और अधो शाखाओं की धमनियों में बहुत कम रहते हैं। जब महाधमनी का समापीडन वामा अक्षाधरा (Subclavian) धमनी का उद्भव होने से पहले रहता है तब दोनों हाथों में भी निपीड समान नहीं होता।

इसलिए परमातति के रोगी में कम से कम पहले पहल दोनों हाथों में तथा ऊरू में रक्तनिपीड का मापन किया जाय। शाखाओं की निपीड भिन्नता के अतिरिक्त इसमें अन्तःस्तनिका (Internal mammary), पर्शु-कान्तरीय (Intercostal) इत्यादि धमनियों की अभिस्तीर्णता, कुटिलता इत्यादि अन्य विकृतियाँ पायी जाती हैं।

सामान्य चिकित्सा—परमातति एक ऐसा रोग है कि जो एक बार हो जाने पर रोगी का पिण्ड छोड़ता नहीं अर्थात् उसका जीवन-मरण उसी से सम्बन्धित होता है। अतः इस रोग की चिकित्सा में हृच्छूल (Angina pectoris) के समान पथ्यकर आहार-विहार, आचार-विचार का बहुत महत्व होता है और जीवन भर उसी का ध्यान रखकर रोगी को रहना पड़ता है।

(१) *आहार*—रसायनिक संघटन की दृष्टि से आहार में प्रोभूजिन स्नेह (Proteins) तथा लवण कम रहे और प्रांगोदीय (Carbo-hydrates) अधिक हो। वैसे ही यदि रोगी स्थूल हो तो आहार स्थौल्यहर (Antiobesity) रहकर उसमें मांस जातीयद्रव्य कम और शाक वर्ग के द्रव्य अधिक हों। मांस वर्ग में अल्प मात्रा में अण्डा, मछली सेवन करने में कोई आपत्ति नहीं होती। शाकाहार में दूध, चावल, फल साग सब्जी चीनी जीवतिक्तियाँ इनका सेवन अधिक किया जाय। उपंकरी-अर्हा (Calorific value) की दृष्टि से कुल आहार कुछ कम ही होना चाहिए।

केम्पनर का आहार—इन सिद्धान्तों के आधार पर केम्पनर (Kempner) ने परमातति के रोगी के लिए केवल २००० उपंकरीअर्हा (aloritic value) का चावल फल और शर्करा का आहार बताया है इससे रक्तनिपीड जरूर घट जाता है क्यों कि इसमें क्षारातु नीरेय (Sodium chloride) कम रहना है तथा इससे शरीर भार भी घटता है। इस आहार में कुछ दोष भी होते हैं। इससे शरीर में लवण की बहुत कमी हो जाती जिससे यदि पहले से वृक्क विकृत रहा हो तथा औषधि के रूप में पारद का उपयोग बहुत अधिक होता हो तो वृक्कातिपात होने का डर रहता है। वैसे ही रोगी इसको दीर्घकाल तक सतत सेवन नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है इस रक्तनिपीड घटाने का कार्य अत्यधिक रक्तनिपीड

होनेवाले रोगियों में जितना होता है उतना साधारण परमाततति के रोगियों में नहीं होता। इसलिए यह चावल का आहार तीव्र परमातति के रोगियों में प्रारम्भ में कुछ काल रक्खा जाय या सामान्य रोग में जब बीच में रक्त-निपीड अत्यधिक हो जाता है तब दिया जाय।

खाद्य निषेध—मांस, दो बार पकाया हुआ मांस, नमकीन मांस, परिरक्षित (Preserved) मांस, यकृत, वृक्क, मस्तिष्क, अग्न्याशय (Sweetbread) मांसरस, मद्य, तमाखू सेवन तथा धूम्रपान, चाय, काफी तथा जो द्रव्य रक्तवह संस्थान को उत्तेजित करते हैं उनका सेवन न किया जाय।

भोजन विधि—प्रत्येक समय पेट भर भोजन न करें। भोजन धीरे धीरे चबाचबाकर किया जाय। भोजन के साथ जलपान या अन्यतरल बहुत कम सेवन किया जाय। भोजनों के बीच के काल में पर्याप्त मात्रा में (१ मनभार के पीछे १ सेर) जल या तरल सेवन करना उचित है। संक्षेप में ठोस और तरल पदार्थ एक समय न लेकर पृथक् पृथक् सेवन करें। दिन में अनेक बार (३ बार) मध्यम मात्रा में भोजन सेवन किया जाय।

लंघन—(Fast) यह रोग अधिकतर खाऊ, स्थूल, बोझिल लोगों में दिखाई देता है जिनमें स्थौल्यापहरण आवश्यक होता है। भोजन में स्निग्ध द्रव्यों की तथा प्रोभूजिनों की अल्पता और कुल भोज द्रव्यों की उष्मंकरी अर्हा (Calorific value) की लघुता लघु भोजन की दृष्टि से रक्खी जाती है। इसके अतिरिक्त सप्ताह में एक दिन लंघन या व्रत रखना भी इसमें सहायता करता है। गुनेवार्डन (Gunewardene) नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि नियम से लंघन (व्रत) करनेवालों में प्राथमिक स्वरूप की परमातति नहीं दिखाई देती। इसका तात्पर्य यह है कि आजकल के युग में जब कि यह रोग बढ़ रहा है, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राचीन परम्परा के अनुसार एकाधव्रत का पालन करना श्रेयस्कार है।

(२) आराम और व्यायाम—इस रोग में अधिक से अधिक शारीरिक तथा मानसिक विश्राम की आवश्यकता होती है। रोगी को रात में ९–१० घण्टे नींद लेनी चाहिए। यदि निपीड अधिक हो तो १२ घण्टे तक विश्राम

(१) यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्।
ये गुणा लङ्घने प्रोक्ता ते गुणा लघुभोजने॥

करना चाहिए। भोजन के उपरान्त साधारण रोगी को आधा घण्टा और अधिक निपीड होने पर १ घण्टा विश्राम करना चाहिए। वैसे ही सप्ताह में एक दिन पूर्णतया बिस्तरे पर आराम किया जाय और उसी दिन लंघन या व्रत रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त वर्ष भर में दो तीन बार अधिक लम्बाई के विश्रान्तिकाल रक्खें जाँय।

शारीरिक परिश्रम की दृष्टि से सामान्य नियम यह बताया जा सकता है कि रोगी को सदैव अपनी शक्ति से कम (Within limit) अर्थात् कुछ शक्ति संचित रखकर (Reservo) परिश्रम करने चाहिए। साँस की कठिनाई, दिल में धड़कन, छाती में पिनद्धता (Tightness) उत्पीडन (Oppression) पीडा (Pain) बेचैनी (Discomfort) थकावट, चक्कर,इत्यादि लक्षण यदि परिश्रम के समय मालूम हो तो,समझना चाहिए कि परिश्रम ठीक नहीं तथा अधिक हो रहा है। यदि परिश्रम के पश्चात् थकावट या अन्य लक्षण होते हो तो समझना चाहिए कि परिश्रम का प्रकार ठीक है परन्तु वह शक्ति से अधिक हो रहा है। परिश्रम के समय तथा पश्चात् उपर्युक्त स्वरूप के आत्मप्रत्यय या परप्रत्यय (Subjective or objective) कोई लक्षण या चिन्ह होने नहीं चाहिए। इस दृष्टि से स्वच्छ वातावरण में घूमने फिरने का व्यायाम सर्वोत्तम होता है। इसके अतिरिक्त घोड़े पर या द्विचक्री (Cycle) पर धीरे धीरे सवारी करने में भी कोई आपत्ति नहीं है। दूसरों के द्वारा किया हुआ अंग मर्दन (Passive movements) और अभ्यंग (मालीस) भी इसमें बहुत लाभदायक होता है। मल्लयुद्ध प्रतियोगिता, खेल कूद की स्पर्धाएँ, दौड़ना, कूदना फांदना, रस्सी पर चढ़ना, बोझ उठाना, जिनमें साँस रोकके और सिर नीचा करके (Stooping) काम करने की आवश्यकता होती ऐसे कर्म इनको वर्ज्य करना चाहिए।

(३) शरीर की रक्षा और सफाई—त्वचा की सफाई की ओर ध्यान दिया जाय। स्नान के लिए मन्दोष्ण पानी प्रयुक्त करें। अतिशीत या अतिउष्ण पानी का प्रयोग न करें। सर्दी से शरीर की रक्षा की जाय। गरम कपड़ो का उपयोग किया जाय। रहने के लिए ऐसा स्थान और मकान हो कि जहाँ की वातावरण या जलवायु न बहुत गरम न बहुत ठण्डा (Equable) हो।

कोष्ठशुद्धि की ओर ध्यान दिया। मलावरोध न होने दे तथा मल त्यागते समय कुन्थन या प्रवाहण (Straining) न करें।

(४) रहन-सहन—सन्तुष्ट, निश्चिन्त, शान्त, सात्विक रहन-सहन इस रोग के लिए हितकर होती है। व्यवसाय ऐसे हों कि जिनमें दौड़ धूप, जल्दबाजी, चिन्ता इत्यादि करने की आवश्यकता ही न रहे। इसके विपरीत रहन सहन हानिकर होती है। इसलिए यदि ऐसा व्यवसाय हो तो उसको छोड़ देना चाहिए। साथ ही साथ बेकार और आलसी जीवन भी हितकर नहीं होता। जब कोई काम न हो उस समय मनोरंजक, चित्तप्रसादक शान्ति कारक ग्रन्थों का पठन किया जाय। इस रोग में रक्तदाब का मापन बार बार करने की आवश्यकता होती है। परन्तु रोगी उसको जानने की चिन्ता न करें। उसका ज्ञान चिकित्सक के लिए छोड़ दे।

मानसिक चिकित्सा—रक्तनिपीडकी वृद्धि या परमातति शरीरगत कुछ दोषों से रक्त संचार में उत्पन्न हुई बाधा को दूर करने के लिए उत्पन्न होने के कारण शरीर को हानिकर न होकर हितकर ही होती है यह बात रोगी को खूब अच्छी तरह समझा देना चाहिए जिससे कि उसकी चिन्ता दूर हो जाय। इसके साथ साथ रक्तनिपीड का मापन करने पर उसका सहीसही मान कदापि रोगी को न बताया जाय क्योंकि उच्च मान मालूम होने पर थोड़ी देर के लिए क्यों न हो सिरदर्द, चक्कर दिल में धड़कन, छाती में पीडा, चिड़चिड़ापन, थकावट इत्यादि लक्षण रोगी में उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण रक्तनिपीड जन्य न होकर रक्तनिपीडका ज्ञान होने के कारणमन मस्तिष्क पर उत्पन्न हुए परिणाम का फल होते हैं। ये आधिव्याधिक (Psychosomatic) लक्षण एक दृष्टि से वैद्यजनित (Iatrogenic) होते हैं। रक्तनिपीड़ वृद्धि की हितकारिता के साथ रोगी को यह भी बताना आवश्यक होता है कि उसको जीवन भर अपनी शक्ति के भीतर रहना आवश्यक है और यदि वह उस प्रकार अपने आचार-विचार, आहार-विहार रहन-सहन इत्यादि में उचित परिवर्तन करके रहेगा तो उसको रोग की चिन्ता करने का तथा रोग से उसकी आयु घटने का कोई कारण नहीं होता। इस दृष्टि से चिकित्सक रोगी के गार्हस्थ जीवन, बाह्य परिस्थिति, धंदा-व्यवसाय मनोविनोद और छन्द (Recreations and hobbies), मनोविकार और व्यसन

इत्यादि के बारे में विचारण करें और उनमें जो बातें अपथ्यकर तथा हानिकर मालूम हों उनमें कैसे और कितना परिवर्तन किया जाय उसके सम्बन्ध में रोगी को उचित मार्गदर्शन करें। बीच बीच में किए हुए मार्गदर्शन का रोग और रोगी पर सुखकर या असुखकर परिणाम हो रहा है इसका अवलोकन करें और उस अवलोकन के आधार पर आगे की ओर बढ़े। आहार-विहार, व्यवसाय-व्यसन इत्यादि में कोई निष्ठुर परिवर्तन यकायक न किये जाँय न रोगी पर कठोर निबंन्ध लगाये जाँय जिससे जीवित रहने में उसको कोई आनन्द न मिल सके। रोग की संप्राप्ति ठीक ठीक ज्ञात न होने के कारण उसकी उचित चिकित्सा नहीं की जा सकती, रोगी की करनी पड़ती है। अतः चिकित्सक को चाहिए कि वह अपनी बातचीत से तथा आहार विहारादि के निष्ठुर निर्बन्धों से रोगी को चिन्तित न करें, बल्कि आश्वासनों और उचित मार्गदर्शन से उसको उल्हसित तथा आनन्दित रक्खें जिससे वह प्राप्त परिस्थिति के अनुसार अपनी रहन सहन में परिवर्तन करके अपना उर्वरित आयुष्य सुख से यापन कर सके।

औषधि चिकित्सा

इस रोग की ठीक ठीक संप्राप्ति मालूम न होने के कारण तथा उसके हेतु अनेक होने के कारण इसके लिए अभी तक कोई एक रामबाण औषधि मालूम नहीं हुई है। इसमें अनेक वर्गों की असंख्य औषधियाँ प्रयुक्त होती हैं। जिनके पीछे या तो केवल उपपत्ति है या परम्परा है। इनका प्रयोग जितना कम किया जाय उतना रोगी के लिए हितकर ही होगा। विशेषतया लक्षण हीन अवस्था में इनका उपयोग न करना ही श्रेयस्कर है। यह कथन मुख्यतया रक्तनिपीड को यकायक कम करनेवाली अर्थात् अल्पाततिकर (Hypotensive) औषधियों के सम्बन्ध में है।

विरेचक वर्ग (Purgatives) मलावरोध से आन्त्र में विष उत्पन्न होकर वह रक्त में चला जाता है और रक्तनिपीड को बढ़ाता है। वैसे ही उससे औदरिक रक्तसंचार में बाधा होकर उसके परिणामस्वरूप निपीड बढ़ता है।

इसलिए यदि कब्ज रहता हो तो सौम्य विरेचक द्रव्यों द्वारा आवश्यकता पड़ने पर या वैसे ही सप्ताह में एक दो बार कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिए।

विरेचन के लिए यष्ठ्यादि चूर्ण, क्यालोमल, म्यागसल्फ, लिकिड प्याराफिन, पेट्रोलगार कास्कारा इत्यादि में से कोई प्रयुक्त किया जाय। तीव्र विरेचन का प्रयोग केवल जब रोग तीव्र होता है तब करना उचित है। अन्यथा तीव्र विरेचन से रोगी को आराम मिलने के बदले तकलीफ ही होती है। कुछ चिकित्सक विरेचक द्रव्यों का नैत्यिक या नियत कालिक उपयोग करना पसन्द नहीं करते।

(२) **संशामक औषधियां** (Sedatives)—जब रोगी कातरवृत्ति (Nervous) का होता है, प्राप्त परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करने का गुण उसमें नहीं होता, जब वह सदैव चिन्तित रहता है, जरासी बात पर अधिक गम्भीर विचार करनेवाला होता है तब उसको न शारीरिक आराम मिलता है न मानसिक। ऐसी अवस्था में संशामक या निद्राकर औषधियों का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। इन औषधियों में क्लोरल हैड्रेट, ब्रोमाइड, वालेरिअन, ल्युमिनाल, थियोमिनाल इत्यादि का प्रयोग कर सकते हैं। इनमें ल्युमिनाल $\frac{1}{8}$–$\frac{1}{2}$ ग्रेन दिन में ३–४ बार और रात में क्लोरल और ब्रोमाइड प्रयोग करें। इन संशामक औषधियों का भी निरन्तर उपयोग न करें। क्योंकि इनसे बुद्धि सुस्त और जड़ (Clouding) हो जाती है। कुछ रोगियों में परमावटुकता (Hyperthyroidism) का सम्बन्ध होता है। उनमें मेथिल या प्रोफिल थायोयुरासिल (Prophyl thiouracil) $\frac{1}{5}$ ग्राम दिन में द्विवार या त्रिवार दो सप्ताह तक प्रयुक्त करने से संशामक परिणाम होता है।

(३) **अल्पाततिक औषधियां** (Hypotensivedrugs)—ये औषधियाँ धमनिकाओं को विस्फारित करके या अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का जिनका सम्बन्ध रक्तनिपीड वृद्धि से होता है विरोध करके या जिस स्वतन्त्र नाडी संस्थान के द्वारा मस्तिष्क से मानसिक भावनाओं का संवहन होकर रक्तनिपीड बढ़ता है उस स्वतन्त्र नाडी संस्थान की ग्रन्थियों का उपरोध (Blocking) करके कार्य करती है।

(अ) *नाइट्राइट वर्ग*—इस वर्ग की औषधियाँ वाहिनीविस्फारक (Vasodilators) हैं। इनमें सोडियम नायट्राइट $\frac{1}{2}$–१$\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में दिन में त्रिवार सेवन किया जाता है। इससे निपीड तुरन्त घट जाता

है। परन्तु परिणाम अल्पकालिक होता है। इरिथ्राल टेट्रानायट्रेट $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा में और म्यानिटोल नायट्राइट $\frac{1}{8}$ ग्रेन की मात्रा में प्रयुक्त होता है। इनका परिणाम कुछ अधिक काल तक रहता है। जब निपीड बहुत अधिक होता है और उसको तुरन्त घटाने की आवश्यकता होती है तब अर्थात् तीव्रावस्था में ये औषधियाँ लाभकर होती है। स्थायी चिकित्सा के लिए ये योग्य नहीं हैं। बिस्मथ सबनैट्रेट १० ग्रेन की मात्रा में डिब्बी में भरकर दिन में त्रिवार महीनों तक सेवन किया जाता है। यह आन्त्र में नायट्रस एसिड में परिवर्तित होकर रक्तनिपीड घटाने का कार्य करती है।

सर्पगन्धा— (Rauwolfia Serpentina) इसको छोटाचान्द कहते हैं। यह औषधि हृत्पेशी, धमनिकाओं का पेशीस्तर और वाहिनीनियन्त्रण केन्द्र इनके ऊपर कार्य करके रक्त निपीड को घटाती है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क पर संशामक परिणाम करके निद्रानाश, कातरता (Nervousness) बेचैनी, चिन्ता, उन्माद, इत्यादि मानसिक विकारों को भी, जो परमातति की उत्पत्ति में तथा उसको बनाये रखने में सहायक होते हैं, दूर करती है। इसलिए केवल वाहिनी विस्फारक औषधियों की अपेक्षा यह अधिक अच्छी है। इसमें विषैलापन भी नहीं है।

सर्पिना (हिमालयन ड्रग कं) के नाम पर इसकी गोलियाँ मिलती हैं। २ गोलियाँ दिन में त्रिवार प्रारम्भिक २-४ दिन, पश्चात् एक गोली प्रति ६ घण्टे पर और निपीड घट जाने पर १ गोली दिन में या त्रिवार प्रयुक्त करनी चाहिए। इसका चूर्ण ५-१० ग्रेन की मात्रा में निस्सार (Extract) या निष्कर्ष (Tincture) $\frac{1}{2}$–१ ड्राम की मात्रा में प्रयुक्त कर सकते हैं।

क्षारातु गन्धश्यामीय—(Sodium thiocyanate) प्रारम्भिक मात्रा २-३ ग्रेन दिन में त्रिवार भोजनोत्तर, ५–७ दिन के पश्चात् मात्रा आधी की जा सकती है। २ मास प्रयोग करने पर यदि लाभ न हुआ तो व्यर्थ समझनी चाहिए। यह औषधि उपवृक्कोच्छेदन के समान अर्थात् उपवृक्कय ग्रन्थियों के कार्य को कम करके रक्त निपीड को घटाती है। यह औषधि बहुत विषैली है। रक्त में इसकी मात्रा ८–१० सहस्रिधान्य (Mg) % से अधिक न होनी चाहिए। इसका प्रचूषण तथा उत्सर्जन अनिश्चित होने के

कारण रक्त में इसकी मात्रा यकायक विषैली मर्यादातक बढ़ सकती है। अतः सेवन कालावधि में प्रति सप्ताह रक्तगत इसकी मात्रा का मापयन (Estimation) करना जरूरी होता है। अतः नित्य व्यवहार के लिए यह औषधि बहुत उपयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त औषधि बन्द करने पर रक्त निपीड यथापूर्व हो जाता हैं यह भी इसका दोष है।

वेराट्रम विराइड—(Veratrum Viride) यह औषधि उपवृक्क ग्रन्थि और स्वतन्त्र नाडी संस्थान का कार्यहानि करके रक्त निपीड घटाती है। यह औषधि निष्कर्ष (Tincture) के रूप में ५-१५ बूंद की मात्रा में प्रयुक्त होती है। इसके कुछ स्वत्वाधिकृत (Proprietary) व्यापारी योग भी प्रयुक्त होते हैं। जसे—वेराट्राइन (P.D. and Co) ½ सी० सी० पेश्यन्तर्य या अधस्त्वक्। वेरीलाइड (Veriloid RikerLab) ८ सहस्रि-धाम्य दिन में चार बार भोजनोत्तर। यह औषधि विषैली है और रोग निवारक और विषैली मात्रा में विशेष अन्तर नहीं है। इसलिए अधिक मात्रा में और अधिक काल तक इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

पिपरोक्स्न (Piperoxan M. B.)—यह औषधि उपवृक्की (Adrenaline) का विरोध करनेवाली अर्थात् उपवृक्कीनाशक (Adrenolytic) है। इसलिए उसके कारण जो परमातति उत्पन्न होती है उसमें उपयोगी हो सकती है। परन्तु इसका उपयोग चिकित्सा की अपेक्षा वर्णातिरंज्य अर्बुद (Chromaffin tumors), जो उपवृक्क ग्रन्थि (पृष्ठ १८८) तथा अन्य स्थानों में होते हैं और उपवृक्की के समान निपीडकर (Pressor) द्रव्यों को उत्पन्न करके अल्पकालिक या स्थायी परमातति उत्पन्न करते हैं, के निदान में किया जाता है। इसकी सिरान्तर्य सुई लगाने पर, यदि परमातति वर्णातिरंज्य अर्बुद से हुई हो तो, १५ मिनट में निपीड कम हो जाता है।

इसका उपयोग इस प्रकार के अर्बुद की आशंका होने पर उसकी पुष्टि करने के लिए, रोगी परीक्षण में इसकी अनुपस्थिति सिद्ध करने के लिए, शस्त्रकर्म में तथा संमोहन में इससे बाधाएं उत्पन्न होती हैं इसलिए परमातति के रोगी में शस्त्रकर्म करने से पहले इसकी अनुपस्थिति का निश्चय करने के लिए और शस्त्रकर्म करने के पश्चात इस अर्बुद का संपूर्ण उच्छेदन हुआ या नहीं हुआ इसको मालुम करने के लिए किया जाता है।

हैडरजीन (Hydergine, Sandox)—यह औषधि उपवृक्की नाशक तथा स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान विरोधी है। आधा घण्टा बिस्तरे पर आराम करने पर पेश्यन्तर्य मार्ग से इसकी १–२ घ. शि. मा. मात्रा दी जाती है। अनेक घण्टों तक रक्तनिपीड़ उतर गया तो इसका उपयोग सफल हो सकता है।

मेथोनियम वर्ग—(Methoneum Compounds)—इस वर्ग की औषधियाँ स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान की ग्रन्थियों को उपरुद्ध (Block) करके रक्तनिपीड़ को घटाती है। इनमें ५ प्रांगार (C 5) और ६ प्रांगार (C 6) के योग होते हैं। पांच की अपेक्षा छः के योग अधिक निपीड़ ह्रासक होते हैं। इनमें हेक्शामेथोनियम ब्रोमाइड, क्लोराइड या आयोडाइड (C 6, Hexthide, Vegalysin P.D. Co) सर्वोत्तम हैं। परमातति के अतिरिक्त आजकल इसका उपयोग शस्त्रकर्म के समय रक्तनिपीड़ को घटाकर शस्त्रकर्म के क्षेत्र में रक्ताल्पता उत्पन्न करने के लिये भी किया जाने लगा है।

मार्ग और मात्रा—यह औषधि मुख द्वारा दी जाती है। परन्तु इसका प्रचूषण बहुत कम ($\frac{1}{10}$) तथा अनिश्चित होने से इसके कार्य का ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। इन दोषों को दूर करने के लिए यह औषधि बहुत अधिक मात्रा में (२५० सहस्रिधान्य) दिन में चार बार भोजन के साथ दी जाती है। भोजन के साथ देने से इसकी प्रचूषण की अनिश्चिता कम हो जाती है। यह औषधि अधस्त्वक् पेश्यन्तर्य और शिरान्तर्य मार्ग से भी दी जाती है और ये मार्ग अधिक विश्वसनीय होते हैं। सिरा द्वारा इसकी मात्रा २५ सहस्रिधान्य और अधस्त्वक् मार्ग से ५० सहस्रिधान्य दिन में दो तीन बार।

मात्रा निर्धारण—परिणामकारी मात्रा प्रयोगों द्वारा प्रथम निर्धारित करनी पड़ती है। इसके लिए ३–६ सप्ताह की प्रारम्भिक चिकित्सा आतुरालय में करनी पड़ती है। प्रारम्भिक मात्रा १५-२० मि०ग्रा० अधस्त्वक् मार्ग से २–३ बार दिन में दी जाती है। इस औषधि की मात्रा रोगी के आसनानुसार बदलती है। उन्नतासन (Upright position) की अपेक्षा शयनासन (lying position) में मात्रा अधिक आवश्यक होती है जिससे इसके द्वारा अपर स्वतन्त्र नाड़ीग्रन्थियों (Parasympathetic)

पर उपरोधन (Blocking) होकर विपले परिणाम होते हैं। अतः रोगी को दिन में खड़े या बैठे रहना पड़ता है और रात्रो अर्धोपविष्ट (४५ अंश का कोण बनाकर) आसन में सोने की जरूरत होती है। इस अवस्था में मात्रा निश्चित करने पर पश्चात् रोगी घर जा सकता है और अपने हाथों से अध-स्त्वक् सुई ले सकता है। फिर भी उस पर ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

दोष—(१) आतुरालय में मात्रानिर्धारण की आवश्यकता। (२) धीरे धीरे रोगी इसके लिए अभ्यस्त होने की प्रवृत्ति जिससे आगे चलकर मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता (३) दिन में कई बार अधस्त्वक मार्ग से औषधि लेने की आवश्यकता जिससे रोगी के जीवन का मधुमेही (जो मधुनिषूदनि की सुई लेता हो) के समान होना। (४) इससे अपर स्वतन्त्रनाडीसंस्थान (Parasympathetic) भी अवरुद्ध हो जाता है जिससे इन दोनों संस्थानों की कार्य के हानि से अभ्यस्त होने की आवश्यकता। (५) रक्त निपीड बहुत जल्दी कम होने के कारण घनास्रता (Thrombosis) तथा वृक्कातिपात का डर। इसलिए हृदय, धमनियाँ और वृक्क इनके विकारों से पीड़ित रोगियों में इसको सावधानता से प्रयुक्त करना चाहिए। विशेष-तया वृक्क विकृति और वृक्ककार्य हानि से युक्त रोगियों में किसी समय रक्त निपीड घटने से वृक्कातिपात होने की संभावना बनी रहने के कारण रोगी का पर्यवेक्षण (Supervison) और रक्तमिह का आगणन (Estimation) करने की शक्यता न हो तो इसका प्रयोग न किया जाय। संक्षेप में सेवन किये जानेवाली अल्पातानकर (Hypotensive) औषधियों में यह औषधि श्रेष्ठ सुलभ और सस्ती है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु सौम्य रोग में इसकी आवश्यकता न होने से तथा वृक्क विकारादि से युक्त में निषेध होने से इसका उपयोग कतिपय ध्यान पूर्वक परीक्षा किए हुए परमा-तति के रोगियों के लिए मर्यादित रहता है।

जिप्सिन (Guip-ine) मिसलटो (Misletoe) नामक वनस्पति के सार की बनाई हुई ये गोलियाँ हैं। प्रथम ३ दिन ४ गोलियाँ दूसरे ३–४ दिन ३ गोलियाँ और उसके पश्चात् निपीड कुछ कम होने पर दिन में २ गोलियाँ दी जाती हैं।

कोलाइन वर्ग (Choline group)—एसिटिल कोलाइन है

ग्रेन दिन में एक बार पेश्यन्तर्य मार्ग से धीरे धीरे १½ ग्रेन तक बढ़ाना। एक मास में १५ दिन इस प्रकार ३ मास। एसीटिल बीटा मेथिल कोलाइन २½ मि. ग्रा. अधस्त्वक् मार्ग। डोरिल (Doryl, choline urethane) $\frac{1}{60}$ ग्रेन दिन में त्रिवार मुख द्वारा, प्यासिल (Pacyl) २ गोलियाँ दिन में त्रिवार।

अंगरसवर्ग—इसमें यकृत्, प्लीहा, पेशियाँ, अग्न्याशय इत्यादि शरीर के अनेक अंगों या धातुओं के रस या निस्सार (Extract) समाविष्ट होते हैं। इस प्रकार की चिकित्सा को अङ्गरस चिकित्सा या धातुरस चिकित्सा (Opotherapy, organo therapy) कहते हैं। यह चिकित्सा अन्य अनेक रोगों में जैसे लाभदायक सिद्ध हुई है वैसे इसमें भी रोग के कष्टदायक लक्षणों को दूर करने में अनेक बार सफल हुई हैं। इस वर्ग में निम्न औषधियाँ निर्देश करने योग्य हैं—

लिसेंब्रियो (Lysembrio)—यह नयी औषधि है जो गोवंशीय भ्रूण (Bovine embryo) जलांशित (Hydrolysis) करके बनायी गयी है। अर्थात् यह औषधि भ्रूण का जलव्यंशित (Hydrolysate) है और इसमें तिक्तिअम्ल (Aminoacids) और पुरुपाचेय (Polypetides) होते हैं। यह औषधि शरीर की नैसर्गिक प्रक्रियाओं को सहायता करके रक्तनिपीड को दूर करती है ऐसी कल्पना है। यह औषधि विषैली नहीं है। इसकी ५ घ० शि० मा० की मात्रा प्रतिदिन पेश्यन्तर्य मार्ग से १–२ मास तक दी जाती है। इसका उपयोग सिरान्तर्य मार्ग से न करना चाहिए।

इस वर्ग की अन्य औषधियां—अनाबोलीन (Anabolin) ½–१ घ० शि० मा० पेश्यन्तर्य, हेपरमोन (Heparmone) २–३ घ० शि० मा० पेश्यन्तर्य, ल्याकर्नोल (Lacarnol) १ घ० शि० मा० पेश्यन्तर्य या १०-१५ बूँद मुख से त्रिवार प्रतिदिन।

अवटुका निस्सार (Thyroid extract)—परमातति में अवटुका ग्रन्थि ठीक काम नहीं करती इस कल्पना पर यह औषधि प्रयुक्त होती है। मात्रा ५ ग्रेन दिन में १ बार सप्ताह तक। यदि अतियोग के लक्षण न दिखाई दे तो निपीड घटने तक वही मात्रा जारी रक्खी जाय।

उसके पश्चात् उसी निपीड को बनाये रखने के लिए मात्रा कुछ कम करके जारी रक्खा जाता है। साधारणतया ३ ग्रेन प्रतिदिन की मात्रा से यह काम हो जाता है। यह औषधि महीनों तक दी जाती है। कचित् परमाततिं अवटुका ग्रन्थि के अतियोग से भी (पृष्ठ १८८) होती है ऐसी कल्पना है। यदि रोग का कारण उसका अतियोग रहा तो इसके प्रयोग से हानि होने का डर है। अतः इसका प्रयोग करते समय इस बात का ख्याल रखना जरूरी है। अवटुका ग्रन्थि के कार्य के और रक्तनिपीड के सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि उसका अल्पयोग (Hypothyroidism) प्रारम्भ में रक्तनिपीड बढ़ाता है और जब हृदय और वृक्क में कुछ विकृति होती है तब अर्थात् उत्तर आयु में उसका अतियोग (Hyper thyroidism) रक्तनिपीड बढ़ाने में सहायता करता है। यह औषधि स्थूल रजोनिवृत्तिकालीन स्त्रियों के रोग में प्रायः लाभ करती है।

जम्बेय (Iodides)—इसके लिए क्षारातु या दहातु जम्बेय (NaI, KI) का प्रयोग ५–२० ग्रेन की मात्रा में दिन में ३ बार ६ सप्ताह तक करके फिर १ मास छोड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् फिर प्रारम्भ किया जाता है। विमेद जम्बुकी (Lipoidine) का उपयोग एक दिन १ गोली दूसरे दिन २ गोलियाँ इस प्रकार भी किया जाता है। आयोडीन अवटुका ग्रन्थि को उत्तेजित करके अर्थात् उसके कार्य को बढ़ाके लाभ करता है।

प्रजन ग्रन्थियाँ (Gonads)—प्रजन ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों का वाहिनियों के नियन्त्रण में सम्बन्धित स्वतन्त्र नाडी संस्थान की नाड़ियों पर काफी प्रभाव पड़ता है। या यों कह सकते हैं कि उनके द्वारा वाहिनी नियन्त्रण से इन स्रावों का महत्व का भाग होता है। इसलिए जब ये ग्रन्थियाँ अकार्यक्षम होती हैं तब रक्त का दबाव बढ़ता है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के समय इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होकर रक्त का दबाव बढ़ता है। पुरुषों में इस प्रकार का वीर्य निवृत्ति का कोई निश्चित काल नहीं होता परन्तु यह स्थिति उनमें भी उत्पन्न होती है और रक्तदाब बढ़ाने में सहायता करती है। इस उपपत्ति पर स्त्रियों में बीज ग्रन्थि का निस्सार (Ovarian extract Stilboestrol) और पुरुषों में वृषण निस्सार (Testicular extract) परमाततिं में उपयुक्त हो जाता है और यदि

इस दृष्टि से रोगी का ठीक परीक्षण करके प्रयोग किया जाय तो अनेक बार बहुत लाभ होता है। यह चिकित्सा महीनों तक करनी पड़ती है। इसके साथ कभी कभी पूर्व पोषणिका (Anterior pituitary) ग्रन्थि का प्रजनावर्तिक (Gonatotropic) स्राव का भी उपयोग किया जाता है।

सिरावेध—रक्त निपीड की अत्यधिकता, हृदय की दुर्बलता, उसके दक्षिणार्ध की रक्ताध्मानता (Distention) तीव्र शिरोरुजा इत्यादि लक्षण स्थूल रक्तपित्तियों (Plethoric) में उत्पन्न होनेपर इसका उपयोग हितकर होता है। सिरावेध से ५० तोले तक रक्त निकाल सकते हैं और यदि आवश्यक हो तो अनेक बार यह कर्म किया जा सकता है।

अन्तस्तापन—(Diathermy) उच्च वारंवारता (High frequency) के विद्युत्प्रवाह का प्रयोग इस रोग में अनेकबार लाभदायक प्रतीत होता है। सप्ताह में दो या तीन बार आधे घण्टे तक विद्युत शरीर में प्रवाहित की जाती है। अन्तस्तापन के पश्चात् १ घण्टा भर आराम किया जाता है। यह कार्य ६-१० बार प्रयुक्त किया जाता है। इससे रक्तवाहिनियों का विस्फार होकर २-३ मास तक रोगी को कुछ लाभ मालूम होता है।

इसी के समान मालीश, अभ्यंग, उष्णवायु स्नान, बाष्पस्नान उष्णजल स्नान, नील लोहितातीत किरणें, क्ष-रश्मियाँ इत्यादि भौतिक उपायों द्वारा, भी लाभ होता है।

शस्त्रकर्म—जब सर्व साधारण पथ्यकर आहार विहार, हेतुपरिवर्जन, विरेचन, संशमन इत्यादि से रोगी को अपने नैत्यिक कर्म करने के लिए आराम नहीं मिलता उसमें शल्यचिकित्सक शस्त्रकर्म का प्रयोग करने लगे हैं। ये शस्त्रकर्म अनेक प्रकार के होते हैं। इनके दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम विभाग में वे शस्त्रकर्म आते हैं जो परिसरीय प्रतिरोध बढ़ानेवाले विकृत अंगो पर किये जाते हैं अर्थात् जब इन अंगों की विकृति के परिणाम स्वरूप परमातति उत्पन्न हुई है ऐसा सिद्ध होता है तब किये जाते हैं। प्रथम और द्वितीय शस्त्रकर्म इस विभाग में आते हैं। दूसरे विभाग में वे शस्त्रकर्म आते हैं जो परिसरीय वाहिनियों में संकोच उत्पन्न करनेवाले अंगों पर किये जाते हैं अर्थात् इनके द्वारा परिसरीय वाहिनियों से इनका सम्बन्ध

विच्छेद किया जाता है। तृतीय और चतुर्थ शस्त्रकर्म इस विभाग में आते हैं।

(१) वृक्कोच्छेदन—(Nephrectomy) वृक्क का रक्त निपीड बढ़ाने में घनिष्ट सम्बन्ध (पृष्ठ १६०) होता है। जब कभी रोगी में अपुष्टिकर वृक्का लिन्दशोथ (Atrophic Pyelonephritis) जलापवृक्कता, वृक्क यक्ष्मा, वृक्कार्बुद, उपसृष्ट वृक्काश्मरी इत्यादि वृक्क विकार रहते हैं और उसके कारण परमातति उत्पन्न हुई है ऐसी आशंका रहती है तब वृक्कोच्छेदन किया जाता है। इसके पहले दूसरा वृक्क स्वस्थ है या नहीं इसका पता लगा लेना पड़ता है।

(२) उपवृक्कोच्छेदन—जब एक उपवृक्क ग्रन्थि में अर्बुद रहता है तब उसको काटकर निकाल दिया जाता है।

(३) द्विपक्षीयपूर्ण उपवृक्कोच्छेदन (Bilateral complete adrenalectomy)—परिसरीय प्रतिरोध से उपवृक्क ग्रन्थियों का जो सम्बन्ध होता है उसका विचार करके तथा ए० सी० टी० एच् के प्रयोग से परमाततीय हृद्वाहिनी विकार का जोः प्रकोपण होता है उसका अवलोकन करके इस प्रकार के शस्त्रकर्म की उपयोगिता की ओर कुछ धन्वन्तरियों का ध्यान आकर्षित हुआ। उसके पश्चात् परमातति के कुछ रोगियों पर इस शस्त्रकर्म को करके उन्होंने इसकी उपयोगिता को सिद्ध किया। इसमें दोनों ओर की उपवृक्क ग्रन्थियाँ निकाल दी जाती हैं। उसके पश्चात् कुछ दिनों तक रोगी को प्रतिदिन २५ सहस्त्रिधान्य (Mg) कार्टिसोन पेश्यन्तर्थ मार्ग से दिया जाता है। तत्पश्चात् वही मात्रा दो भागों में विभक्त करके (१२$\frac{1}{2}$ सहस्त्रिधान्य) भोजन के पूर्व दो बार मुख द्वारा दी जाती है। साथ साथ पर्याप्त मात्रा में नमक दिया जाता है। वृक्ककार्य हीनता और भूयाति विधारण होने पर इस शस्त्रकर्म का उपयोग न किया जाय।

(४) स्वतन्त्रनाड्युच्छेदन (Sympathectomy)—परिसरीय रक्तवाहिनियों का नियन्त्रण स्वतन्त्र नाडी संस्थान के द्वारा होता है। चित्तोद्वेग, मनस्तापादि मानसिक भावनाएँ इसी संस्थान के द्वारा रक्तवाहिनियों पर प्रभाव डालती है। रक्तवाहिनियों को संकुचित करने वाली उपवृक्क ग्रन्थि के स्रावका नियन्त्रण भी इसी संस्थान के द्वारा होता है। इसलिए

आजकल वास्तविक परमातति को कम करने के लिए यह शस्त्रकर्म किया जाने लगा है। इसमें दोनों ओर के कटि-पृष्ठ विभाग के स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान का रक्तवाहिनियों से सम्बन्ध विच्छेद (Bilateral dorsolumber sympathectomy or bilateral supradiaphragmatic splanchnicectomy) किया जाता है। इसको स्मेथविक (Smethwick) का शस्त्रकर्म कहते हैं। इससे औदारिक विभाग की रक्तवाहिनियों का नियन्त्रण नष्ट होकर वे विस्फारित होती हैं और अन्य स्थानों का दबाव घट जाता है, उपवृक्क ग्रन्थि का उत्तेजन नहीं होता। इस शस्त्रकर्म के पश्चात् रोग का बढ़ना बन्द हो जाता है। नाडियों का पुनर्जनन न होने से इस शस्त्रकर्म का परिणाम स्थायी स्वरूप का होता है। शिरः शूलादि तीव्र लक्षणों से युक्त वास्तविक परमातति के रोगी जिनमें आहारविहार संशमनादि चिकित्सा से लाभ नहीं दिखाई देता और रोग बढ़ता ही जाता है तथा जिनमें हृदय, वृक्क, मस्तिष्क तथा धमनियों में स्थायी विकृति नहीं हुई है वे इस शस्त्रकर्म के लिए योग्य होते हैं। इसके विपरीत अधिक उम्र के हृदयादि अंगो की स्थायी विकृति से युक्त इसके लिए अनुपयुक्त रहते हैं। संक्षेप में यह शस्त्रकर्म मारात्मक वास्तविक परमातति के कुछ इने गिने रोगियों के लिए बहुत उपयोगी तथा प्राणरक्षा का एक साधन है इसमें सन्देह नहीं है।

(५) दूषित स्थानों को ठीक करना—दाँत, मसूड़े, पित्ताशय, नासाकोटर (Nasal sinus) उण्डुकपुच्छ, मूत्रण संस्थान इनमें कहीं दूषित स्थान (Septic focus) हो तो उसको शस्त्रकर्म से या औषधियों से ठीक करना चाहिए।

प्रकीर्ण उपचार—जिसका ठीक कारण नहीं मालूम होता है उसकी चिकित्सा में कितनी विविधता, विचित्रता और असंख्येयता होती है परमातति उसका एक उत्तम उदाहरण है—

(१) विकिरण चिकित्सा—इसमें पोषणिका ग्रन्थि के उपर रायजन रश्मियों का प्रयोग बाहर से किया जाता है।

(२) आत्मशोणित चिकित्सा (Autohemotherapy)—इसमें रोगी की सिरा से ५–१० घ० शि० मा० रक्त निकालकर तुरन्त चूतड़ की पेशी में सुई लगायी जाती है। यह प्रति सप्ताह १ बार मास दो मास तक किया जाता है।

(३) प्राणवायु की सुई—इसमें अंसफलक के प्रदेशों में त्वचा के नीचे प्राणवायु की सुई दिन में १०-२० बार लगायी जाती है। प्रतिदिन प्राणवायु की मात्रा बढ़ायी जाती है। इस प्रकार १०-१५ दिन तक चिकित्सा की जाती है। आवश्यकता पड़ने पर २-३ मास के पश्चात् फिर से उसका उपयोग किया जाता है।

परमाततीय मस्तिष्क विकृति

पर्याय—Hypertensive encephalopathy कूटमूत्रविषमयता Pseudouraemia

हेतु—यह विकार गुल्सकीय वृक्कशोथ, परमातति, गर्भ विषमयता (Eclampsia) और सीसविष में दिखाई देता है। कारण कोई हो रक्त निपीड जरूर अधिक रहता है और उसीसे मस्तिष्क में विकृति होती है। इसलिए इसको परमाततीय मस्तिष्क विकृति कहते हैं।

सम्प्राप्ति—मस्तिष्क में क्या विकृति होती है इसका ठीक ज्ञान नहीं है। परन्तु इसके आवेग अल्पकाल में नष्ट होकर रोगी यथा पूर्व हो जाता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि मस्तिष्क में अन्तः शल्यता, घनास्त्रता इस प्रकार की कोई स्थायी आंगिक (Organic) विकृति न होकर बहुधा धमन्युद्वेष्टन (Arterio spasm) जैसी अल्पकालिक तथा जल्दी ठीक होनेवाली विकृति होती है। इस समय लक्षणों के स्पष्टीकरण की दृष्टि से यही सर्वोत्तम कल्पना है। यह विकृति मस्तिष्क के चेष्टावह विभाग (Motor area) में हुआ करती है।

लक्षण—रोगी पहले से ही परमातति से पीडित रहता है। उसमें यकायक निपीड बढ़ता है और वमन शिरः शूल, शारीरिक मानसिक दुर्बलता, शरीर के कुछ अंगों में जड़ता (Dead feeling) मालूम होना इत्यादि पूर्वरूप होते हैं। उसके पश्चात् यकायक अर्धांगोपघात (Hemiparesis) अर्धदृष्टिता (Hemianopia) एकांगिक या सार्वांगिक आक्षेप इत्यादि मस्तिष्क विकृति के लक्षण होते हैं। यह आवेग श्वास कृच्छ्र श्यावता इत्यादि लक्षण होकर कुछ मिनिटों से कुछ दिनों का हो सकता है। आवेग के समय रक्त का तथा मस्तिष्क सुषुम्नाजल का दबाव बढ़ता है और दृष्टिपटल में सूजन दिखाई देती है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—अंगोपघातादि सब लक्षण आवेग समाप्त होने पर प्रायः ठीक हो जाते हैं। इसमें बार बार होने की प्रवृत्ति होती है। आवेग जल्दी जल्दी आ सकते हैं या उनके बीच में दीर्घकाल व्यतीत हो सकता है। इसकी साध्यासाध्यता के सम्बन्ध में ठीक भविष्य नहीं किया जा सकता। अनेक बार आवेग के समय हृदयातिपात से मृत्यु हो जाता है। जब आवेग बार बार आते हैं तब मस्तिष्कगत धमनियों में विलेप्यर्बुद (Atheroma) की विकृति होकर रक्तस्राव से मृत्यु हो जाता है। इसलिए बार बार आवेगों का आना चिन्ताजनक होता है। वृक्कशोथ पीड़ितों में यह रोग अधिक चिन्ताजनक होता है।

रोग निदान—उच्च हृत्स्फारिक निपीड, उच्च मस्तिष्क सुषुम्नाजल निपीड, कटिवेध से आराम, वृक्क की अकार्यक्षमता का अभाव इससे रोग का निदान हो जाता है।

सापेक्ष निदान में शीर्षान्तर्य (Intracranial) अर्बुद, सीस विष, मस्तिष्क विकृति और मूत्रविषमयता इनका ध्यान रखना चाहिए। मस्तिष्क अर्बुद में सांकोचिक रक्तनिपीड स्वाभाविक से अधिक नहीं होता, पूर्ववृत्त काफी लम्बा रहता है और रोग वर्धनशील होता है। सीसविष (Lead poisoning) में रोगी का इतिहास निदान में सहायता करता है। इसका साम्य लक्षणों की दृष्टि से मूत्रविषमयता के साथ होने से ही इसको कूट-मूत्रविषमयता नाम दिया गया है। परन्तु इसमें आवेग के समय मूत्र की राशि कम होती है अन्यथा मूत्र में कोई अस्वाभाविकता नहीं होती तथा रक्त में मिह विधारण नहीं होता। मूत्रविषमयता में मूत्र और रक्त दोनों स्वाभाविक नहीं होते।

चिकित्सा—प्रथम सिरावेध करके रक्त निकाला जाय। वैसे ही कटिवेध करके म० सु० जल निकाल दिया जाय। इनके अतिरिक्त सिरान्तर्य मार्ग से परमबल्य (Hypertonic) लवणजल, मधुम (५०%) ५०-७० सी० सी० दिया जाय। आक्षेपहर औषधियों में मार्फिया ($\frac{1}{3}$ ग्रेन), लुमिनाल-सोडियम (३ ग्रेन) त्वचा द्वारा या क्लोरल और ब्रोमाइड प्रत्येक ३० ग्रेन २ औंस पानी में मिलाकर गुद द्वारा दिया जाय। आवेग समाप्ति पर परमाततति की सामान्य चिकित्सा (पृ० २०२ देखो) की जाय।

क्षारीयतोत्कर्ष (Alkalosis)

हेतुकी—यह विकार अम्लोत्कर्ष की अपेक्षा कम दिखाई देता है। रक्त और धातुओं से अम्लों की अधिक हानि होने से या उनमें क्षारों का अधिक संचय होने से यह विकृति पैदा होती है। रसायनिक दृष्ट्या उस अवस्था को क्षारियतोत्कर्ष कहते हैं जिसमें रक्तरस की प्रांगार द्विजारेय धारणशक्ति (CO_2 capacity) या उसका उदजनायन संकेन्द्रण (pH) या दोनों बढ़ते हैं। इसके मुख्य दो कारण होते हैं—

(१) क्षार सेवन—जठर ग्रहणी व्रण में चिकित्सा के लिए दीर्घकाल तक क्षार सेवन किया जाता है। साधारणतया १५ धान्य से अधिक सोडा बायकार्ब प्रतिदिन सेवन करने पर यह स्थिति उत्पन्न होती है।

(२) वमन और प्रवाहिका—निजठर (Pylorus) और आन्त्र के मार्गावरोध से उत्पन्न हुए वमन में तथा कुछ प्रवाहिकाओं में शरीर से अम्ल का अत्यधिक उत्सर्ग होने से क्षारियता बढ़ती है। जठर के कर्कट और जीर्ण वृक्कशोथ में प्रचुर और प्रदीर्घ वमन न होने से क्षारियता बढ़ती नहीं।

(३) परमश्वसन (Hyperpnea)—ज्वर, व्यायाम, धूप इत्यादि के कारण उत्पन्न हुई परमतप्तता (Hyperthermia), मस्तिष्क के विकार' कुछ मानसिक अवस्थाएं इनमें साँस अधिक तेज होकर रक्त में प्रांगार द्विजारेय की कमी हो जाती है।

सम्प्राप्ति—वृक्क की कोशाएं रक्त की क्षारियता और अम्लता के लिए (पृष्ठ १०) बहुत सूक्ष्मवेदी होती हैं। जब रक्त में क्षारियता बहुत अधिक होती है या दीर्घकाल तक चलती है तब उससे वृक्क की कार्यक्षमता घटती है और यदि वृक्क पहले से विकृत रहता तो और भी हानि होती है और इसी का परिणाम यदि जल्दी चिकित्सा न की जाय तो मूत्रविषमयता में होता है।

लक्षण—क्षारमात्रा के अनुसार रोग के लक्षण चौथे दिन से चौथे सप्ताह तक उत्पन्न होते हैं। सिरदर्द, दुर्बलता, मलावरोध, अरोचक, वमन, घबड़ाहट, चिड़चिड़ाहट (Irritability), दिन में शयालुता और रात्रि में अनिद्रा, शरीर में पीडा, पेशियों में पीडनासहता, नाडी की शीघ्रता

परन्तु श्वसन की मन्दता, चेहरे की सुर्खी, शरीर पर पसीना इत्यादि लक्षण होते हैं। तीव्र रोग में अपतानिका या अपस्मारसम आक्षेप आ जाते हैं तथा प्रवाहिका उत्पन्न होती है।

यदि चिकित्सा न हुई तो अनजाने मल मूत्र का उत्सर्ग होने लगता है और सन्यस्त स्थिति में रोगी मर जाता है।

मूत्र क्षारिय, अल्प गुरुता का कभी कभी राशि में अधिक होता है। उसमें शुक्लि, काचर या दानेदार निर्मोक, और कतिपय श्वेत तथा लालकण होते हैं।

रक्त में मिह की मात्रा और प्रांगार द्विजारेय विधारण शक्ति बढ़ती है।

निदान— जब किसी क्षारसेवी रोगी में सिरदर्द, मलावरोध, अरोचकादि पचन संस्थान के लक्षण, घबड़ाहट, चिड़चिड़ाहट इत्यादि स्वभाव वैपरित्य उत्पन्न होते हैं तब क्षारियतोत्कर्ष का ख्याल रखना चाहिए। रक्तपरीक्षण से निदान हो जाता है। इसमे रक्तमिह की मात्रा प्रायः ६०-८० मि. ग्राम. या क्वचित् वृक्वय मूत्रविषमयता के समान २००-३०० तक मिल सकती है। प्रां. द्वि. विधारण शक्ति क्षारियता की न्यूनाधिकता के अनुसार ७५-१०० सी० सी० तक मिल जाती है। रक्त तथा मूत्र में नीरेयों की मात्रा कम रहती है। इन सबों में प्रां. द्वि. विधारण शक्ति का मापन सबसे महत्त्व का होता है क्योंकि उसकी वृद्धि मिह से प्रथम हुआ करती है।

चिकित्सा—क्षारों का सेवन तुरन्त बन्द कर देना चाहिए और उसके बदले रक्त को अम्ल बनानेवाले एसिडसोडियम फास्फेटको १० ग्रेन की मात्रा में दिन त्रिवार भोजन के उपरान्त देना चाहिए। इसके अतिरिक्त मुख द्वारा रोगी को ग्लुकोज और पानी भी देना चाहिए। तीव्रावस्था में १०% ग्लुकोज का एक प्रस्थ सिरा द्वारा दिया जाय। यदि रक्त की क्षारसंचिति (Alkali reserve) का आगणन बार बार किया जा सकता है तो अधिक ए० सो० फास्फेट दे सकते हैं। अन्यथा वृक्क विकृति के कारण अम्ललवण देने का परिणाम अम्लतोत्कर्ष में होकर हानि हो सकती है। इस संभाव्य हानिकर परिवर्तन के कारण कुछ चिकित्सक अम्ललवणों का प्रयोग करना पसन्द नहीं करते। नोषादर (Nhnct) में रक्ताम्लता बढ़ाने का गुण बहुत अधिक होने के कारण उसका प्रयोग कदापि न किया जाय।

अम्लतोत्कर्ष Acidosis

हेतुकी—क्षारियतोत्कर्ष की अपेक्षा अम्लतोत्कर्ष अधिक हुआ करता है क्योंकि समवर्त (Metabolism) में शरीर के भीतर बहुत अम्ल उत्पन्न होते हैं। अम्लकोत्कर्ष रक्त तथा धातुओं में अम्लों के इकट्ठा होने से या क्षारों की हानि होने से होता है। इनमें प्रथम कारण ही प्रायः इसकी उत्पत्ति में प्रधान रहता है। रक्तरस की प्रां. द्वि. विधारण शक्ति, या उद् जनायन संकेन्द्रण (pH) या दोनों घट जाने पर अम्लतोकर्ष उत्पन्न हुआ ऐसा माना जाता है। इसके निम्न कारण है—

(१) नोषादर (Ammonium chloride) जैसे अम्लकर (Acidifying) द्रव्यों के सेवन से।

(२) अम्लों की उत्पत्ति से—मधुमेह, प्रदीर्घ अनशन, स्नेह भूयिष्ठ आहार इनमें शरीर के भीतर आ-उद्जार घृतिक अम्ल (B, hydroxy butric acid) द्वि-शुक्तिक अम्ल (Acctoaceticacid) इत्यादि अम्ल बहुत अधिक उत्पन्न होते हैं। ये अम्ल शौक्त वर्ग (Ketone group) के होते हैं और इनकी अधिकता से यह अम्लतोत्कर्ष होता है। इसलिए इसको शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) भी कहते हैं। मधुमेह का अम्लोत्कर्ष मुख्यतया इसी के कारण होता है और अन्य कारणों से उत्पन्न होनेवाले अम्लोत्कर्ष में भी ये अम्ल काफी सहायता करते हैं।

(३) शरीर से अम्लों का या अम्ल द्रव्यों का ठीक उत्सर्ग न होने से—जैसे वृक्क विकार में अम्लोत्कर्ष (१) शरीर समवर्त में उत्पन्न हुए अम्लों का ठीक उत्सर्ग न होने से (२) भास्वीयों (Phosphates) और शुल्बियों (Sulphates) का उत्सर्जित करने की वृक्कों की शक्ति खराब होने से (३) तिक्ताति को उत्पन्न करने की (पृष्ठ १४) शक्ति कम होने से और (४) क्षारद्रव्यों को अधिक और नीरेयों को (Chlorides) कम उत्सर्गित करने से उत्पन्न होता है।

(४) शरीर से अधिक क्षार द्रव्यों का उत्सर्जन होने से—जैसे वमन, प्रवाहिका अतीसार इत्यादि द्रवापहरण (Dehydration) करनेवाले विकार। द्रवापहरण और अम्लतोत्कर्ष का अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध होता है। क्योंकि द्रवापहरण से अम्लतोत्कर्ष होता है और अम्लतोत्कर्ष मूत्र वर्धन करके द्रवापहरण करता है। इसके लिए उच्च आम्राबरोध

(High intestinal obstruction) जनित वमन (पृष्ठ २२०) अपवाद है जिसमें वमन के साथ अम्ल का उत्सर्ग होने से क्षारियतोत्कर्ष हुआ करता है।

(५) प्रांगार द्विजारेय की अधिकता—जैसे प्रां. द्वि. के (CO^2) वातावरण में अधिक काल तक साँस लेना, अहिफेन या मार्फिया विषजन्य श्वसन केन्द्रावसाद में, तीव्र हृदय असंतुलन (Decompensation) फुफ्फुसवातोत्फुल्लता (Pulmonary emphesema), तमकश्वासावेग तथा प्राणोपरोध की अन्य अवस्थाएँ।

लक्षण—इसमें अरोचक, दुर्बलता, सिरदर्द, हृल्लास, वमन, पेशियों में पीड़ा, उदर में ऐंठन, बहुमूत्रता, श्वासकृच्छ्र, परमश्वसन, शयालुता, तन्द्रा और अन्त में संन्यास ये लक्षण होते हैं। रक्त की क्षारसंचिति जब आधी हो जाता है तब श्वसन पर उसका परिणाम होता है। वृक्क यदि खराब न हो तो मूत्र की राशि अधिक रहती है और उससे रक्त गाढ़ा हो जाता (Anhydremia) है। संक्षेप में अम्लतोत्कर्ष के शरीर कार्य पर दो मुख्य परिणाम होते हैं। श्वसन की अधिकता और रक्त का गाढ़ापन।

मूत्र—अम्लतोत्कर्ष में मूत्र के कोई विशेष लक्षण नहीं होते। परन्तु जो होते है वे कारण, तीव्रता तथा अम्लक्षार विषमता की अवधि के ऊपर निर्भर होते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है और उसमें काचर निर्मोक (Hyaline casts) वृक्क की प्राथमिक विकृति के बिना भी पाए जाते हैं। मधुमेह में मूत्र की राशि अधिक होते हुए गुरुता उच्च रहती है और अनुबद्ध वमन, प्रवाहिका इत्यादि द्रवापहरण की विकृतियों में मूत्र अल्प होकर गुरुता ऊँची रहती है। वृक्कविकार जन्य अम्लतोत्कर्ष का मूत्र विवरण आगे मूत्र विषमयता में देखिये।

निदान—श्वसन की कृच्छ्रता तथा गम्भीरता, शयालुता, तन्द्रा, संन्यास मूत्र की अत्यधिक अम्लता इनसे रोग का निदान किया जा सकता है। निदानकर लक्षण अधिकतर मूल रोग और रक्त के गाढ़ेपन से हुआ करता है। प्रायोगिक पद्धतियों में प्रां० द्वि० संयोग की रक्त की शक्ति और रक्तगत नीरेयों की (Chlorides) मात्रा का मापन विशेष महत्व का है। स्वाभाविक संयोग शक्ति ५५-७५ होती है। इसमें घटकर वह

३०-२० तक कम होती है। नीरेयों की मात्रा इसमें स्वाभाविक उच्चतम मात्रा (६२० मि० ग्राम १०० सी०सी० में) से अधिक होती है।

नीरेयों का ज्ञान निदान की अपेक्षा चिकित्सा में अधिक उपयोगी होता है। परन्तु प्रां० द्वि० संयोग शक्ति का ज्ञान निदान में उपयोगी होता है। फिर भी उसकी शक्ति का रोग की तीव्रतातीव्रता से निश्चित सम्बन्धित नहीं होता। जब मधुमेह जैसे रोग में अम्लतोत्कर्ष यकायक होता है तब संयोगशक्ति बहुत कम न होने पर भी सन्यादि तीव्र लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत वृक्क की अकार्यक्षमता में जब धीरे धीरे अम्लतोत्कर्ष होता है तब संयोग शक्ति चिन्ताजनक नीची (Critically low) होने पर भी कोई विशेष लक्षण नहीं उत्पन्न होते।

चिकित्सा—कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिए। मधुमेह जन्य अवस्था का विचार आगे मधुमेह में किया गया है। सामान्य चिकित्सा में रोगी को सोडाबायकार्ब १ ड्राम और ग्लुकोज १ औंस प्रति ४ घण्टे पर पर्याप्त पानी के साथ दिया जाय। तीव्रावस्था में रोगी को सिरा द्वारा स्वाभाविक लवणजल या रिंगर का घोल (Ringer's solution) एक प्रस्थ (Littre) दिया जाय और यदि रोगी मुख द्वारा पानी सेवन न करता हो तो २४ घंटे में ५%ग्लूकोज के साथ रिंगर का घोल फिर १-२ प्रस्थ दिया जाय।



मूत्राघात-प्रमेह-विज्ञान

सामान्य विवरण

मनुष्यों के शरीर में जो मूत्र उत्पन्न होता है उसमें स्वस्थावस्था में समय समय पर तथा आहारविहार के अनुसार और रुग्णावस्था में विविध रोगों के अनुसार बहुत अन्तर रहता है। इस अन्तर के आधार पर मूत्र के अनेक प्रकार किये जाते हैं। ये सब प्रकार मूत्राघात (१) प्रमेह (Abnormalities of urinary secretion) शब्द से प्रदर्शित किये जाते हैं। ये मूत्राघात-प्रमेह प्रकारों के अनुसार असंख्येय होते हुए उनके निम्न तीन मोटे विभाग किये जा सकते हैं।

(१) **राशि विभाग**—इसमें दिन रात में उत्सर्गित हुए मूत्र की राशि का मुख्यतया विचार किया जाता है। इसमें निम्न प्रकार आते हैं अमूत्रता, अल्पमूत्रता और बहुमूत्रता।

---

(१) **मूत्राघात**—मूत्रोत्पत्ति के नाश के कारण उत्पन्न होता है। इसलिए उसमें मूत्र का मुख्य लक्षण अमूत्रता या मूत्रावरोध होता है। इसके साथ जो मूत्र निकलता है वह खराब भी रहता है। परन्तु वह गौण लक्षण होता है। मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात में ही समाविष्ट होता है। मूत्र की राशि अत्यल्प होने से मूत्रण क्रिया में कठिनाई होती है—मूत्रमाहन्यते। अतस्ते मूत्राघाताः। इन्दु। मूत्राघातो मूत्रावरोधः केचिदाघातशब्देन दुष्टिमाहुः। डल्हण॥ विंशतिर्मूत्राघाताभवन्तिः। यथा, वातपित्तकफसन्निपातकृच्छ्राणि। अष्टांगसंग्रह॥

प्रमेह—मूत्रोत्पत्ति की अधिकता के कारण होता है। उसमें मूत्रकृच्छ्रता नहीं होती। दूसरा लक्षण मूत्र की आविलता है। यह लक्षण मूत्र में निकलनेवाले विविध द्रव्यों के कारण उत्पन्न होता है। इन द्रव्यों के कारण मूत्र में वर्ण और गंध भी उत्पन्न होते हैं और प्रमेहों के भेद इनके ऊपर किये जाते हैं—धातु संपर्कात् पुनः सर्वमेहेषु मूत्रमाविलं भूरि च भवति। दूष्याणां दोषाणां चोत्कृष्टापकृष्टसंयोगेन मूत्र-वर्ण रसस्पर्श गन्धविशेषाद्वर्णानामिवशुक्लकृष्णादीनांशबलकल्माषादयः प्रमेहाणां प्रभेदा भवन्ति॥ अष्टांगसंग्रह

(२) वर्ण विभाग—इसमें मुख्यतया मूत्र के रंग या वर्ण का विचार किया जाता है और उसके अनुसार विविध प्रकार किये जाते हैं—जैसे उदकमेह, नीलमेह कालमेह, शोणितमेह, हारिद्रमेह, पिष्टमेह, इत्यादि।

(३) संघटन विभाग—इसमें मूत्रगत द्रव्यों के ऊपर ध्यान देकर तदनुसार प्रकार किये जाते हैं। यह विभाग सबसे महत्त्व का है। ये प्रकार स्वाभाविक द्रव्यों की अधिकता या अस्वाभाविक द्रव्यों की उपस्थिति पर किये जाते हैं—जैसे, भास्वीयमेह, शुक्लिमेह, शोणितमेह, शोणवर्तुलिमेह, विविधशर्करामेह, पित्तमेह, फेनमेह, विषाणीमेह, निर्नीलिन्यमेह, शौक्तामेह, वृधिर्कामेह, तिक्ताम्लमेह, धात्वेर्यामेह, क्षारासितमेह, राजाविमेह, मज्जीमसमेह, मूत्रपित्तिमेह, पयोलसमेह, पूयमेह, निर्मोकमेह, सिकतामेह, तिग्मीयमेह, शुल्बस्फटिकमेह इत्यादि। इनमें अस्वाभाविक संघटकों की उपस्थिति पर किये जानेवाले प्रकार जैसे संख्या में अधिक होते हैं वैसे अधिक महत्त्व के भी रहते हैं।

अमूत्रमेह

पर्याय – मूत्राघात, मूत्रघात, मूत्रसाद, मूत्रशोष, मूत्रक्षय, अमूत्रता Anuria, Suppression of urine।

हेतु—*मार्गावरोध जन्य*—यह मार्गावरोध दोनों गवीनियों में या दोनों वृक्कों की मूत्र नलिकाओं में (Tabular) हो सकता। इस प्रकार मार्ग अवरुद्ध होने कारण यह अमूत्रमेह होने से इसको अवरोध–अमूत्रता (Block--anuria) कहते हैं।

गवीनियों का मार्गावरोध—यह अश्मरियों से हो सकता है। जब एक वृक्क पूर्ण बेकार रहता है या होता ही नहीं (सहज अभाव Congenital absence सहज अपुष्टि atrophy, या जन्मोत्तर वृक्कोच्छेदन Nephrect-tomy) तब दूसरे वृक्क की गवीनी की अश्मरी से यह विकार हो सकता है। अश्मरी के अतिरिक्त मूत्राशय, गर्भाशय, तथा उदर- श्रोणी गुहागत अन्य अंगों के कर्कार्बुद (Cancer) से दोनों गवीनियाँ या उनके बस्तिद्वार भीतर से या बाहर से दब जाने के कारण भी यह विकृति हो सकती है। क्वचित् गवीनियों के सहज व्यंगों (Malformations) से भी हो सकती है।

मूत्रनालियों का मार्गावरोध—यह मार्गावरोध विसूचिका, लीडरर का रक्तक्षय, कालमेह ज्वर, व्याल (Viper) दंश इनमें नष्ट हुए लाल कणों या अन्य कोशाओं के संखण्डों से (Debris) हो सकता है। इसके अतिरिक्त शुल्बौषधियों के स्फटिकों से भी वाहिनियाँ अवरुद्ध हो सकती है।

अनवरोध जन्य—(Nonobstructive)—तीव्र वृक्कशोथ; पारद, तार्पिन तेल, सोमल, अञ्जन, प्रांगविक (Carbolic) अम्ल, भास्वर (Phosphorus) इत्यादि से वृक्क विषाक्तता, पूययुक्त वृक्का-लिन्द शोथ, वृक्क का यक्ष्मा, बहुकोष्ठीय रोग इत्यादि वृक्क के विकार इसके कारण होते हैं।

द्रवापहरण जन्य—इसमें अत्यधिक रक्तस्राव, अत्यधिक विरेचन (जैसे विसूचिका, अतीसार) इत्यादि।

नाडी संस्थान विकृति जन्य—अपतन्त्रक (Hysteria), मूत्रण संस्थान या पायूपस्थ प्रदेश (:Perineum) के शस्त्रकर्म या अभिघात इनके प्रतिक्षेप (Reflex), वाहिनी नियन्त्रण केन्द्र का निपात (Collapse) या निर्घात (Shock)

सम्प्राप्ति—इसमें वृक्कगत रक्तसंचार बहुत ही मन्द और अल्प निपीड (Lowpressure) का होने से मूत्र बनता ही नहीं या जो थोडा सा बनता है वह नलिकाओं के या गवीनियों के मार्गावरोध से बस्ति तक पहुँचता ही नहीं। इसलिए इसमें बस्ति प्रायः खाली (रिक्त) रहती है।

लक्षण—रोगी को मूत्र त्यागने की इच्छा ही नहीं होती तथा मूत्र का उत्सर्ग होता ही नहीं या नगण्य होता है। यदि यह अवस्था अधिक काल तक रही तो रक्त मूत्रदूषित होकर अवरोध जन्य में मूत्रविषमयता के समान विकार उत्पन्न होता है। इसको अस्कोली की मूत्रमयता (Ascoli's urinoemia) या गुप्त मूत्रविषमयता (Latent uremia) कहते हैं।

अवरोध जन्य अमूत्रता मूत्रविषमयता में होती है या उसके कारण मूत्र विषमयता उत्पन्न होती है। आगे मूत्र विषमयता देखिए।

निदान—मूत्र का न होना, मूत्रत्यागने की इच्छा का अभाव और सलाई डालने पर भी मूत्र का न निकलना तथा बस्ति प्रदेश में मूत्रपूर्ण बस्तिका स्पर्शन तथा अंगुलिताडन (Percussion) से प्रतीत न होना इनसे इसका निदान हो जाता है।

अमूत्रमेह का मुख्य लक्षण मूत्रका बन्द हो जाना है। यह लक्षण मूत्र-विबन्ध में भी होता है। इसलिए निदान के समय उसका भी ध्यान रखना चाहिए।

मूत्रविबन्ध

पर्याय—मूत्रसंग, Retention of urine

व्याख्या—इसमें वृक्कों में मूत्र बनने का काम ठीकतौर से बराबर होता रहता है तथा बना हुआ मूत्र गवीनियों द्वारा मूत्राशय में भी आता रहता है। परन्तु मूत्राशय से शरीर के बाहर नहीं जा सकता।

हेतुकी—(१) *मार्गावरोध*—मूत्रस्रोत या मूत्राशय ग्रीवा (Neck) में अवरोध प्रायः रहता है परन्तु वयानुसार उसके कारण भिन्न हो सकते हैं—जैसे, शिशुओं में निरूद्धप्रकश (Phimosis), बालकों में अश्मरी, जवानों में सोजाक या तज्जन्य उपसंकोच (Stricture), जवान स्त्रियों में बस्ति या मूत्रस्रोत में प्रविष्ट की गयी बाह्य वस्तु (Foreign body), गर्भाशयगुल्म (Fibroids), गर्भवती स्त्रियों में गर्भ युक्त गर्भाशय के प्रतीपवर्तन (Retroversion), दोनों में मूत्राशय का वृन्तयुक्त (Pedunculated) अर्बुद, बस्तिगत रक्त का थक्का इत्यादि, वृद्ध पुरुषों में अष्ठीलाभिवृद्धि।

(२) *नाडी संस्थान के विकार*—चित्तोद्वेग या मनःसंक्षोभ के कारण मूत्रस्रोत संकोचिनी की एंठन[१] (Spasm of the sphincter), अपतन्त्रक, गुह्यांगों के आसपास के शस्त्रकर्म या अभिघात से प्रतिक्षिप्त

(१) इस वातिक विकृति को आयुर्वेद मे वातबस्ति कहते हैं—वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलोनरः। निरूणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनलः॥ मूत्रसंगोभवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः। वातबस्तिःस विज्ञेयो व्याधि कृच्छ्रप्रसाधनः॥ सुश्रुत॥

(Reflex) संकोच, सुषुम्ना के अर्बुद, मज्जाशोथ, प्रविस्तृत जरठता (Disseminated sclerosis), फिरंगी खञ्जता (Tabes dorsalis) इत्यादि ।

(३) *मूत्राशय शोथ*—विशेषतया स्थूलान्त्र दण्डाणु (B.coli) या गुह्यगोलाणु (Gonococci) जनित ।

(४) *वेग विधारण*[1]--अधिककालतक मूत्रवेगविधारण करने से मूत्रस्रोत संकोचिनीपेशी एंठ जाती है और प्रयत्न करने पर भी मूत्र त्यागना कठिन होता है । यह स्थिति अधिककालतक बैठ व्यवसाय करनेवालों में दिखाई देती है ।

लक्षण—बस्ति में मूत्र बराबर आने के कारण और समय समय पर वह बाहर न निकल जाने के कारण मूत्राशय बराबर बढ़ता जाता है और वह मूत्र[2]पूर्ण मूत्राशय स्पर्शन तथा अंगुलिताड़न से (Percussion) प्रतीत होता है । यदि मूत्रसंग दूर न हुआ तो इस अवस्था के दो उपद्रव होते हैं ।

(१) बस्तिबाह्य मूत्रण—(Extravasation) भीतर के मूत्र के दबाव से यदि मूत्रस्रोतविदीर्ण हुआ तो पायूपस्थ प्रदेश (Perineum) में और यदि बस्तिविदीर्ण हुआ तो श्रोणीगुहा में मूत्र निकल जाता है ।

(१) आयुर्वेद में मलमूत्रादि के वेगों को रोकना स्थानिक तथा सार्वदैहिक रोगोत्पत्ति का एक प्रधान कारण माना गया है—न वेगान् धारयेद्धिमाञ्जातान् मूत्रपुरीषयोः ॥ बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरूजा । विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ चरक ॥ मूत्रवेग विधारण का फल मूत्र त्यागने की क्रिया पर कैसे होता है इसका उत्पत्ति मूत्रातीत में दी गयी है—चिरं धारयतो मूत्रं त्वरयान प्रवर्तते । मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ शार्ङ्गधर ॥ वेगं संधार्य मूत्रस्ययोभूयः स्रष्टुमिच्छति । तस्यनाभ्येति यदिवाकथञ्चित्संप्रवर्तते ॥ प्रवाहतो मन्दरूजमल्पमल्पं पुनः पुनः । मूत्रातीतं तुतंविद्यान्मूत्रवेगविघातजम् ॥ सुश्रुत ॥

(२) इसको मूत्रजठर कहते हैं—मूत्रस्य विहिते वेगे तदुदावर्त हेतुनः । अपानः कुपितोवायुरुदरं पूरयेत् भृशम् ॥ नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम् । तं मूत्रजठरं विद्यादधः स्रोतोनिरोधजम् ॥ सुश्रुत ॥

(२) आप्लुतमूत्रण (Overflow incontinance)—जब बस्ति की प्राचीर मजबूत होती है और संग दुर्बल होता है तब मूत्र धीरे धीरे तथा अनजाने मूत्रस्रोत से चूता रहता है।

निदान—मूत्र त्यागने की इच्छा, मूत्राशय प्रदेश में पीड़ा तथा मूत्र पूर्ण बस्तिका उभार मालूम होना और सलाई डालने पर काफी मूत्र का निकलना तथा उसके साथ मूत्राशय के उभार का नष्ट होना इसके निदानकर लक्षण होते हैं। अतः अमूत्रता के रोगी में बस्ति प्रदेश का स्पर्शन तथा अंगुलिताडन से और बस्तिगत मूत्र का सलाई से परीक्षण जरूर करना चाहिए।

चिकित्सा—मार्गावरोधजन्य मूत्रसंग तथा अमूत्रता में यन्त्रशस्त्रकर्म से मार्गावरोध को दूर करना चाहिए। अन्य प्रकारों में कारणानुसार तथा मूत्रविषमयता के समान। आगे मूत्र विषमयता देखिये।

अल्पमूत्रमेह

पर्याय—अल्पमूत्रता Oliguresis, oliguria

व्याख्या—इसमें वृक्कों में मूत्र बराबर बनता है तथा उसका उत्सर्ग भी होता रहता है। रास्ते में कोई किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती। मूत्र की उत्पत्ति कम होती है।

(३) हेतु—(१) द्रवापहरण—यह इसका मुख्य कारण है। जैसे अतीसार, प्रवाहिका, अनुबद्ध वमन, अत्यधिक स्वेदन इत्यादि।

(२) ज्वर—ज्वर में प्रायः मूत्र की राशि कम रहती है और यदि जल सेवन उचित मात्रा में न हो तो वह राशि और भी कम हो जाती है।

हृदय की दुर्बलता—विशेषतया हृदय के दक्षिणार्थ की असंतुलित (Decompensated) स्थिति में मूत्र की राशि बहुत कम होती है। इसके अतिरिक्त अलग रक्तनिपीड और यकृदाल्युदर में भी मूत्र की राशि घटती है।

(४) अमूत्रता तथा मूत्र विबन्ध पूर्ण होने के पहले कुछ काल अल्पमूत्रता हो सकती है। इसलिए उनके वृक्कशोथादि कारणों का भी विचार करना चाहिए।

अल्पमूत्रता की सीमा—स्वस्थ मनुष्य की दिनरात की मूत्र की राशि १२००–१५०० घ० शि० मा० (१–१½ प्रस्थ) होती है। जल की मात्रा बहुत कम करने पर भी स्वस्थ व्यक्ति में प्रति घण्टा ३० घ० शि० मा० या दिनरात में ७२० घ० शि० मा० से कम मूत्र नहीं बनता। इसलिए प्रति घण्टा ३० से या दिन रात में ७२० घ० शि० मा० से जब मूत्र की राशि कम होती है तब उसको अल्पमूत्रता कह सकते हैं।

निदान—अल्पमूत्रता, मूत्र विबन्ध और अमूत्रता बहुत सम्बन्धित होने के कारण इसमें भी सलाई डालकर देखना चाहिए। अनेक बार अष्ठीलाभिवृद्धि में अल्पमूत्रता और भूयाति विधारण होने से उसको वृक्कविकार की अन्तिम अवस्था समझने की भूल हो सकती है। परन्तु यदि सलाई का प्रयोग किया जाय तो इसका निराकरण हो सकता है क्योंकि इसमें वास्तविक अल्पमूत्रता नहीं होता परन्तु अवरोध जन्य होती है और सलाई डालने पर काफी मूत्र निकल आता है।

बहुमूत्रता

पर्याय—बहुमूत्रमेह, प्रभूतमूत्रता, उदकमूत्रता (Polyuria, Hydruria

व्याख्या—जब दिन रात की राशि स्वाभाविक राशि से अधिक होती है तब उसको बहुमूत्रता कहते हैं। इसमें मूत्रगत ठोस द्रव्य की मात्रा भी बढ़ती है। जब मूत्रगत ठोसद्रव्य बहुत कम हो जाते हैं और जलांश बहुत बढ़ता है तब उसको उदकमूत्रता (Hydruria) कहते हैं। बहुमूत्रता का उत्तम उदाहरण मधुमेह और उदकमूत्रता का उदकमेह (Diabetes insipidus) है।

मूत्र की दैनिक राशि शीतकाल में, विश्राम काल में, जाग्रतावस्था में तथा अधिक द्रव सेवन करने पर अधिक और ग्रीष्मकाल में, व्यायाम या परिश्रम के पश्चात्, निद्रा में तथा द्रव कम सेवन करने पर कम हो जाती है और उसकी न्यूनाधिक मर्यादा प्रतिघण्टा १⅓–२ औंस और दिन रात में ३२–४८ औंस हुआ करती है। बहुमूत्रता कब से प्रारम्भ होती है इसके लिए ठीक ठीक मर्यादा नहीं बतायी जा सकती। फिर भी यदि १२–१४ घण्टे जल का सेवन न करते हुए प्रति घण्टा मूत्र का उत्सर्ग ५५ घ० शि०

मा० होता हो तथा सर्वसाधारण नैत्यिक आहार विहार पर ७० औंस से अधिक मूत्र दिन रात में उत्सर्गित होता हो तो उसको बहुमूत्रता समझना चाहिए। मूत्रलता की मर्यादा प्रति घण्टा १२०० घ० शि० मा० तक हो सकती है और बहुमूत्रता में मूत्र की दिन रात की राशि १०० औंस से ५०० औंस या इससे भी कुछ अधिक पायी जाती है।

प्रकार—बहुमूत्रता अल्पस्थायी (Transient) अतिस्थायी (Persistant) और पुनरावर्तिक करके तीन प्रकार की होती है।

अल्पस्थायी के हेतु—(१) *अत्यधिक द्रव सेवन*—जैसे, जल, काफी, कोको, मद्य, नीम्बू का शरबत, कृत्रिम निम्बुपानक (Lemonades) इत्यादि। बहुमूत्रता इनके सेवन पर निर्भर होने के कारण इनका सेवन बन्द करने पर या इनकी मात्रा घटाने पर कम हो जाती है।

(२) *घबड़ाहट या नाडीसंस्थान के विकार*—जैसे, स्पर्धा, प्रतियोगिता, परीक्षा पूर्वस्थिति, अपतन्त्रक, अपस्मार रक्तनिपीड की अधिकता की अवस्थाएँ, अर्धावभेदक (Migraine), दमा (Asthama) हृच्छूल इनके आवेगों के पश्चात, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia) इत्यादि। इनका निदान रोगी के इतिवृत्त तथा परिस्थिति से और हृदय तथा वृक्क के विकार न होने से किया जाता है।

(३) *जलापवृक्कता* (Hydronephrosis)—इसमें गवीनी या अन्य स्थान के मार्गोपरोध से वृक्क के भीतर इकट्ठा हुआ मूत्र समय समय पर अधिक मात्रा में निकलता है। अन्तरित या नियतकालिक (Periodic) बहुमूत्रता का यह प्रधान (१४१) कारण है। वृक्क प्रदेश पर स्पर्शन से अल्पमूत्रता के काल में वृक्काभिवृद्धि प्रतीत होती है और बहुमूत्रता प्रारम्भ होने पर वह अभिवृद्धि घट जाती है।

(४) *ज्वर*—आन्त्रिक ज्वर तथा फुफ्फुसपाक (Pneumonia) का रोगनिवृत्तकाल। विषम ज्वर के शीतकाल में जो बहुमूत्रता होती है वह ज्वर चढ़ने पर तुरन्त घट जाती है।

(५) *सर्वांगशोथ तथा शरीरगत जलसंचय घटने के समय*—यह बहुमूत्रता हृदय, वृक्क या यकृत् के कारण उत्पन्न हुए शोथ या जलोदरादि जलसंचय ठीक होने के समय हुआ करती है।

अतिस्थायी के हेतु—(१) *विविध प्रमेह*—जैसे उदकमेह (Diabetes insipidus), मधुमेह (D. mellitus), कांस्यमधुमेह (Bronze diabetes), भास्वीयिक (Phosphatic) और अजीवातिक (Azotic) प्रमेह।

उदकमेह में बहुमूत्रता, अल्पगुरुता और मूत्रगत कुल ठोस की मात्रा की अल्पता होती है। मधुमेह में बहुमूत्रता, उच्च गुरुता, मूत्र में शर्करा और कुल ठोस की अधिकता होती है। कांस्यमधुमेह में मधुमेह के लक्षणों के अतिरिक्त त्वचा पर कांस्यवैवर्ण्य (Bronze pigmentation) होता है। भास्वीयिक और अजीवातिक में बहुमूत्रता के साथ कुल ठोस की मात्रा बहुत अधिक होती है। प्रथम में निरींन्द्रिय द्रव्यों की और दूसरे में सेन्द्रिय द्रव्यों की। इस कारण से इन दोनों को भारमेह (Baruria) भी कहते हैं।

(२) *वृक्कविकार*—जीर्ण वृक्कशोथ (Chronic nephritis), मण्डाभ (Amyloid), वपाजनित (Lardecious) और कोष्ठयुक्त (Cystic) वृक्क।

(३) *मूत्रल औषधियों का सेवन*—रोगी के इतिहास में इसकी विचारणा होनी चाहिए।

उदकमेह, मधुमेह और जीर्ण वृक्कशोथ स्थायी बहुमूत्रता के प्रधान कारण होते हैं। वृक्कविकार में बहुमूत्रता के अतिरिक्त मूत्र में शुक्लि और कोशाओं की उपस्थिति होती है। निदान में २४ घंटे की मूत्रराशि, दिन-रात मूत्रराशि का अनुपात, मूत्र परीक्षण और रोगी का इतिहास सहायक होते है।

(५) *अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकार*—इनमें शाखाबृहती (Acromegaly), श्लेष्मशोफ (Myxoedema) और बहिरक्षिक गलगण्ड (Exopthalmic goitre) महत्व के हैं। इन विकारों में अनेक बार बहुमूत्रता पायी जाती है। प्रथम दोनों में प्राय. मस्तिष्क में कुछ न कुछ विकृति हुआ करती है। श्लेष्मशोफ में त्वचा की रूक्षता के कारण स्वेदावरोध होकर वह मूत्र विकार उत्पन्न करने में सहायता करता है। शाखाबृहती में पोषणिका (Pituitary) की अर्बुद सम वृद्धि होती

है। गलगण्ड में अन्तःस्राव मधुनिषूदनि (Insulin) विरोधी होने से शर्करामेह होता है जिससे मूत्र की अधिकता होती है। लक्षणों से क्ष-रश्मि से तथा श्लेष्मशोफ में अवटुका निस्सार और गलगण्ड में जम्बुकी से होनेवाले लाभ से रोगों का निदान हो जाता है।

मूत्र वर्ण के विकार

Abnormal colouration of urine

मूत्र का स्वाभाविक वर्ण हलका पीला या हरा (Straw) होता है। वर्ण या रंग की अस्वाभाविकता निम्न कारणों से हो सकती है।

हेतु—(१) मूत्र के स्वाभाविक रागकों की अत्यधिक मात्रा में उपस्थिति। जैसे, मूत्ररुधिरि (Uroerythrin), मूत्रपित्तिजन (Urobilinogen) इत्यादि।

(२) शरीर के भीतर स्वाभाविक उत्पन्न होनेवाले रागक जो मूत्र द्वारा स्वभावतः उत्सर्गित नहीं होते। जैसे, रक्तरागक और पित्तरागक इनकी उपस्थिति।

(३) विशेष या अस्वाभाविक अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले रागकों की उपस्थिति। जैसे क्षारासित (Alcapton) मलीमसि (Melanin) रार्जीवि (Porphyrins)।

(४) मुखद्वारा सेवन किये हुए खाद्य द्रव्यों से प्राप्त या औषधियों से उद्भूत रागकों की उपस्थिति।

(५) मूत्र के रंग की गहराई (Darkness) उसकी गुरुता, प्रतिक्रिया और राशि पर निर्भर होती है। अम्ल, अधिक गुरुता का तथा अल्प राशि का मूत्र क्षारिय, अल्प गुरुता के और अधिक राशि मे उत्सर्गित होनेवाले मूत्र की अपेक्षा रंग में अधिक गहरा होता है।

अस्वाभाविक रंग के मूत्र रंगानुसार निम्न वर्ग के हो सकते हैं।

पीले और नारंगी मूत्र (Yellow and orange coloured urines)—ये रंग मूत्र में मूत्रवर्ण (Urochrome), मूत्ररुधिरि

(१) पीले और नारंगी मूत्रों का समावेश मांजिष्ठमेह में कर सकते हैं—
मंजिष्ठोदक संकाशं भृशं विस्रं प्रमेहति। पित्तस्य परिकोपात्तं विद्यान्मांजिष्ठमेहिनम्॥ चरक॥

(Uroerythrin) मूत्रपिरि और मूत्रपित्तिजन (Urobilinogen) और पित्तरक्ति (Bilirubin) के कारण तथा गाजर, स्वर्णमुखी (सनाय Senna), रेवाचीनी Rhubarb), कटिक्त अम्ल (Picric acid), अजवाइन सत्व (Santonine) इत्यादि खाद्य और औषधि द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न होते हैं।

(२) *गुलाबी और लाल मूत्र* (Pink and red urines)—मूत्र में ये रंग शोणित (रक्त) शोणवर्तुलि (Hemoglobin), राजीवि (Porphyrins) इनकी उपस्थिति से तथा चुकन्दर (Beet), ऊदसि (Eosin) युक्त मिठाई, सनाय रेवाचिनी, दर्शवव्युत्तैलिन (Phenol phthalein) इनके सेवन से। सनाय, रेवाचीनी क्षारिय मूत्र में पीला और अम्ल मूत्र में लाल रंग उत्पन्न करते हैं।

(३) *भूरे और काले मूत्र* (Brown and black urines)-ये रंग मूत्र में रक्त, शोणवर्तुलि, राजीवि (Porphyrin) निर्नीलिन्य (Indican), क्षारासित (Alkapton) मलीमसि (Melanin), पित्तरक्ति के साथ पित्तहरिकि इत्यादि द्रव्यों की उपस्थिति से तथा दर्शव (Phenol) के बाह्य या आभ्यान्तरीय प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। मलिमसमेह और क्षारासित मेह में उत्सर्ग के समय मूत्र स्वाभाविक रंग का होता है। परन्तु कुछ काल के पश्चात् उसमें काला रंग उत्पन्न होता है।

(४) हरे और नीले मूत्र—(Green and blue urines) जब मूत्र में पित्तहरिकि (Biliverdin) की मात्रा अधिक होती है तब उसका रंग हरा रहता है। यह स्थिति कभी कभी कामला में पायी जाती है। इन रंगों के मिलने का सामान्य कारण प्रोद्लेन्यनील (Methylene blue) है।

---

(२) गुलाबी और लाल मूत्रों का समावेश रक्तमेह में कर सकते हैं—
विस्र लवणमुष्णं च रक्तं मेहतियो नरः। पित्तस्यपरिकोपेण तं विद्या द्रक्तमेहिनम्॥ चरक॥

(३) भूरे और काले मूत्रों का समावेश काल मेह में कर सकते हैं—
मसीवर्ण मजस्रंयो मूत्र मुष्ण प्रमेहति। पित्तस्य प्रकोपेण त विद्यात्काल मेहिनम्॥

यह द्रव्य औषधि के तौर पर या मिठाई के साथ सेवन किया जाता है। जब मात्रा कम होती है तब मूत्र का रंग गहरा हरा रहता है और जब मात्रा अधिक होती है तब वह नीला रहता है। तन्द्राभ ज्वर में भी कभी नीलाभ मूत्र दिखाई देता है।

(५) *पनीले फीके मूत्र*—जल की मात्रा अधिक होने के कारण ये पानी के समान फीके दिखाई देते हैं। उदक मेह, मधुमेह, जीर्ण वृक्कशोथ इनमें तथा अपस्मार, अपतन्त्रक इत्यादि मस्तिष्क के रोगों में और जल का अत्यधिक सेवन करने पर तथा शीतकाल में इस प्रकार के मूत्र पाये जाते हैं।

(६) *सफेद या पिष्ट रस तुल्य मूत्र*—इनमें सफेद रंग में अपारदर्शक संघटक उपस्थित रहते हैं। इस प्रकार के मूत्र पूय, पयोलस (Chyle) बेनजोन्स प्रोभूजिन, भास्वीय, स्नेहगोलिकाएँ (Fat globules) इत्यादि की उपस्थिति से अर्थात् पूयमेह, पयोलसमेह, भास्वीय मेह, विमेदमेह बेनजोन्सप्रोभूजिनमेह इत्यादि प्रमेहों में पाये जाते हैं।

निदान की दृष्टि से मूत्र के वर्णों का कोई विशेष महत्व नहीं होता परन्तु शरीरगत विकृति की ओर ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से सफेद काले नीले रंग जरूर महत्व के होते हैं।

प्रोभूजिनमेह Proteinuria

हड्डी को छोड़कर शरीर के अन्य धातुओं का मुख्यांश प्रोभूजिन होता है। ये शरीर के लिए अत्यावश्यक होने के कारण मूत्र द्वारा उत्सर्गित नहीं होते। परन्तु अनेक रोगों में तथा विशेष अवस्थाओं में मूत्र द्वारा इनका उत्सर्ग होता है। उत्सर्गित होनेवाले प्रोभूजिन प्रायः शरीर में पाये जाने वाले ही होते हैं। परन्तु कभी कभी विकार के कारण नये प्रोभूजिन बनकर वे मूत्र द्वारा उत्सर्गित हुआ करते हैं।

---

(४) नीले मूत्रों को समावेश नीलमेह में कर सकते हैं—अच्छं नीलमेही मेहति।

(५) अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्ध मुदकोपम्। श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति ॥ **चरक** ॥

(६) सफेद तथा पिष्ट सम मूत्रों का समावेश पिष्टमेह या शुक्रमेह में कर सकते हैं—शुक्लंपिष्टनिभं मूत्रमभीक्ष्णं यः प्रमेहति । पुरुषं कफ कोपेन तमाहुः शुक्र मेहिनम् ॥ **चरक** ॥

(१) शुक्लिमेह (Alluminuria)

मूत्र के अस्वाभाविक संघटकों में शुक्लि बहुत ही महत्त्व का संघटक है और अन्य अस्वाभाविक संघटकों की अपेक्षा अधिक रोगों में तथा अवस्थाओं में मूत्र में पाया जाता है। इस प्रमेह के निम्न दो विभाग किये जाते हैं।

(२) कार्योद्भूत -- (Functional) इस विभाग के शुक्लिमेह से पीडित व्यक्तियों के शरीर में कोई विकृति दिखाई नहीं देती. फिर भी मूत्र मे शुक्लि का उत्सर्ग होता है। परन्तु मात्रा बहुत कम होती है जो शुक्लि की सामान्य कसौटियों से मुश्किल से मालूम होती है। इसमें मूत्र में निर्मोक भी नहीं पाये जाते। यह शुक्लिमेह विवर्धमानावस्था और युवावस्था में १५–३० वर्ष की उम्र में पाया जाता है। इसलिए इसको विवर्धमानावस्था का (Of adolescence) या यौवन (Of puberty) का शुक्लिमेह भी कहते हैं। यह शुक्लिमेह सदैव नहीं मिलता कभी कभी मिलता है। इसलिए इसको चक्री (Cyclic), खण्डित तथा सविराम (Intermittent) या आगन्तुक (Accidental) भी कहते हैं। इसमें किसी प्रकार की शरीर में विकृति न होने के कारण इसको दैहिकीय [Physiological] भी कहते हैं। अब इसके कुछ प्रकार दिए जाते हैं।

(१) *आहार जन्य* (Diatetic)—अत्यधिक प्रोभूजिनों का सेवन, विशेषतया कच्चे अण्डों का सेवन करने पर।

(२) *अत्यधिक परिश्रम जन्य*—जिनको परिश्रम का अभ्यास नहीं है उनमें अधिक परिश्रम के पश्चात् मूत्र में शुक्लि का उत्सर्ग होता है। उसके पश्चात वह बन्द होता है। कभी कभी कुछ दिनों तक जारी रहता है। यह शुक्लिमेह प्रातःकालीन न होकर प्रायः अपराह्निक रहता है। इसकी मात्रा लेश (Trace) से ½ प्रतिशत तक हो सकती है।

(३) *आसन जन्य* (Postural)—कार्योद्भूत शुक्लिमेह में यह महत्त्व का प्रकार है। इसके पहले न कोई वृक्क विकार होता है, न इसके होने के पश्चात् वृक्कशोथ होने की संभावना रहती है। बाल्यावस्था में ६–९ वर्ष के वय तक इसके मिलने की सम्भावना ३३ प्रतिशत तक होती

हैं जो १४–१६ वर्ष के वयों ७५ प्रतिशत तक बढ़ती है। उसके पश्चात् वह बहुत कुछ घट (१० प्रतिशत) जाती है । इस प्रमेह का शरीर (Build) या पोषण से कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। यह बताया जाता है कि इसका सम्बन्ध खड़े रहने पर पृष्ठ वंश की अग्रकुब्जता (Lordosis) के साथ होता है । इसलिए इसको ऊर्ध्वस्थितिक (Osthostatic) भी कहते हैं। लेटने पर आराम करने पर यह प्रमेह नहीं होता है । इसलिए प्रातःकालीन मूत्र में शुक्लि नहीं पायी जाती। अपराण्ह के मूत्र में इसकी मात्रा अधिक से अधिक रहती है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की यह धारणा है कि पृष्ठ वंश की अग्रवक्रता के कारण अधरा महासिरा में रक्त का दबाव बढता है जिससे वृक्कों में अधिरक्तता (Congestion) होकर शुक्लिमेह उत्पन्न होता है। इसमें शुक्लि का उत्सर्ग दोनों वृक्कों से हुआ करता है।

(४) *शीतजन्य* (Exposure to cold)—शीत लग जाना, पानी में भींगना, ठण्ढे में लम्बा प्रवास, अधिक देर तक ठण्ढे पानी में स्नान करना इत्यादि। परिश्रम के साथ शीत का संयोग होने पर यह विकार उत्पन्न होने की संभावना बढ़ती है।

(५) *गर्भावस्था*—३०–४० प्रतिशत गर्भवती स्त्रियों में प्रायः उत्तर काल में तथा प्रसूति के समय शरीर में कोई विकार न होते हुए शुक्लिमेह पाया जाता है और प्रसव के पश्चात् वह आप से आप ठीक होकर वृक्कों में कोई विकृति नहीं दिखाई देती है।

(६) *नवजात बालक* – नव जात बालक में भी प्रारम्भिक कुछ दिन मूत्र में शुक्लि मिलती है।

(७) *स्वप्नदोष जन्य*—रात में शुक्लस्खलन होने के पश्चात् प्रायः एकाध दिन मूत्र में शुक्लि का उत्सर्ग हुआ करता है।

(८) *दौर्बल्य* (Debility)—उपर्युक्त स्वरूप का कोई कारण न होते हुए भी कुछ मनुष्यों में शुक्लिमेह पाया जाता है। ये मनुष्य प्रायः पाण्डुरोगी (Anaemic) होकर उनमें चक्कर (Fainting) आने की प्रवृत्ति होती है, रक्तनिपीड अस्थिर (Blood pressure unstable) रहता है, आसन परिवर्तन के साथ बदलता है तथा उनका हृदय शीघ्र-कोपी (Irritable) रहता है।

(६) *अग्रकुब्जता* (Lordosis)—पृष्ठवंश की आगे की ओर की कुब्जता (पृष्ठ २३७) अनेक बार शुक्लिमेह उत्पन्न करने में सहायता करती है।

निदान—शुक्लिमेह एक बहुत महत्व का मूत्रविकार है। परन्तु उसका महत्त्व विकार आंगिक (Organic) होने पर रहता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति में शुक्लिमेह मिलने पर वह आंगिक नहीं है, केवल कार्याश्रित है इसका निम्न लक्षणों से निदान करना बहुत आवश्यक होता है—शुक्लि का उत्सर्ग निरन्तर न होना, प्रातःकालीन मूत्र में अनुपस्थिति काचर (Hyaline) के अतिरिक्त अन्य निर्मोकों का न मिलना, रक्त-निपीड स्वाभाविक, हृदय और वृक्क की विकृति का अभाव, मूत्र में शुक्लि की मात्रा $\frac{1}{10}$% से कम।

सापेक्ष निदान—सविराम शुक्लिमेह वृक्कयक्ष्मा (T. B. of the kidney) और वृक्काश्मरी में पाया जाता है। अतः निदान के समय इनका ध्यान रखना चाहिए।

(२) अंगोद्भत या आंगिक (Organic)

इसमें शरीर में किसी न किसी अंग में विकृति रहती है और उस का परिणाम शुक्लिमेह में होता है। इसके निम्न तीन भेद किये जाते हैं।

(अ) *वृक्कपूर्व*—(Prerenal) मूत्रण संस्थान के अतिरिक्त अन्य अंगों की विकृति के कारण यह प्रकार होता है।

(१) वृक्कगत रक्त संचार पर परिणाम करनेवाले विकार—तीव्र रक्तक्षय में वृक्कों में रक्त की कमी के कारण (Anaemic)। जीर्ण कापाटिक हृद्रोग विशेषतया दक्षिणपक्षीय (Right sided), जलोदर, उदरगत विविध अर्बुद (Tumor), गर्भावस्था इत्यादि में वृक्कगत सिरारक्त संचार में बाधा उत्पन्न होकर अधिरक्तता (Congestion) उत्पन्न होती है। अपस्मारावेग तथा बेहोशी में भी इसी प्रकार की स्थिति होने के कारण प्रायः मूत्र में शुक्लि मिल जाती है।

रक्तसंचार जन्य शुक्लिमेह में शुक्लि की मात्रा प्रायः कम रहती है और कारण के अनुसार सदैव या बीच बीच में मिलती है। यदि कारण दीर्घकाल तक बना रहा तो उसका परिणाम वृक्क के अपजननशील परिवर्तनों में (Degenerative changes) या क्वचित् वृक्कशोथ में भी होता है।

(२) वृक्कप्रकोप (Irritation of the kidney)—यह वैषिक प्रकोप (Toxic) होता है परन्तु वृक्कशोथ (Nephritis) नहीं होता है। इसमें वृक्क में प्रायः अभ्रसूजन (cloudy swelling) होती है। जिस में यह विकृति होती है वह विष निम्न तीन प्रकार का हो सकता है। (१) उपसर्ग विष—रोहिणी (Diphtheria) लोहित ज्वर (Scarlet fever), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), आन्त्रिकज्वर, तीव्र मालागोलाणवीय उपसर्ग (Streptococcal infections) इत्यादि विशिष्ट ज्वर युक्त अवस्थाएं। ज्वर से शुक्लिमेह उत्पन्न होने के कारण इसको ज्वरजशुक्लिमेह [Febrile albuminuria] [पृष्ठ ८०) कहते हैं।

(३) अन्तर्विष—इसमें गर्भावस्था और कामला के विष आते हैं।

रसायनिक बाह्यविष—पारद, तार्पिन तेल, सोमल (Arsenic) हरिभृङ्गय (Cantharides) दक्षुसंमोहन इत्यादि (Ether anaesthesia)। इस प्रकार के शुक्लिमेह में भी शुक्लि की मात्रा अल्प होकर उत्सर्ग प्रायः अल्पकालीन होता है। परन्तु यदि विष अधिक उग्र या अधिक मात्रा में रहा तो यह अवस्था वृक्कशोथ में परिवर्तित होकर शुक्लि की मात्रा बढ़ती है।

[आ] वृक्क्य—(Renal)

इसमें वृक्क में विकृति होने के कारण शुक्लिमेह उत्पन्न होता है। ये विकृतियाँ निम्न प्रकार की हो सकती हैं—

(१) तीव्र, अनुतीव्र, जीर्ण सर्व प्रकार के वृक्कशोथ, (Nephritis)
(२) अपवृक्कता (Nephrosis)
(३) वसाकुल (Lardaceous) और मण्डाभ (Amyloid) विकार।

(४) वृक्कविनाशकारी रोग, जसे वृक्कयक्ष्मा, वृक्कफिरंग, वृक्ककर्कट, वृक्क घनास्त्रोत्कर्ष (Thrombosis) तथा अन्तःशल्यता (Emboloism)। इस प्रकार में शुक्लि की मात्रा अत्यल्प से अत्यधिक(२४ घण्टे में २० धान्य) हो सकती है। तीव्र और जीर्ण अन्तसारीय (Parenchymatous) वृक्कशोथ में उपवृक्कता में, वसाकुलवृक्क में तथा वृक्क फिरंग (Syphilis) में शुक्लि की मात्रा प्रायः अत्यधिक १–२% २४ घण्टे में ५-२० धान्य या इससे अधिक होती है। जीर्ण अंतरालीय (Interstitial) प्रकार में शुक्लि की मात्रा कम (२४ घंटे में २--१० धान्य) रहती है। वृक्क अरठता

(Nephro sclerosis) में उससे भी कम (२४ घंटे में ½--५ धान्य) होती है । वृक्कयक्ष्मा और वृक्कार्बुद में इसकी मात्रा अस्थिर (Variable) होती है । वृक्क के मंडाभ विकार में शुक्लि की मात्रा प्रायः कम रहती है और विशेषता यह है कि उसमें लसिका- भावर्तुलि (Serumglobulin) अधिक और क्वचित् केवल वही मिलती है । इसकी उपस्थिति तिर्यक्पातित (Distilled) पानी के काचक में मूत्र के कुछ बूंद छोड़ने पर उत्पन्न हुए पारान्ध अभ्रता (Opalescent cloud) से मालूम होती है । साधारणतया जब वृक्क विकृति (Nephropathy) अन्तिम अवस्था में पहुंचती है तब शुक्लि की मात्रा घट जाती है ।

(५) अवशिष्ट शुक्लिमेह (Residual albuminuria)—तीव्र वृक्कशोथ पूर्ण ठीक होने के पश्चात् जो शुक्लिमेह बना रहता है उसके लिए यह शब्द लगाया जाता है । अर्थात् इसका निदान करने से पहले धीरे धीरे फैलनेवाले जीर्ण वृक्कशोथ का अपवर्जन (Exclude) करना पड़ेगा । यह कार्य बरसों तक रोगी का परीक्षण करने से ही हो सकता है । यह देखा गया है कि यदि शुक्लिमेह वास्तव में अवशिष्ट स्वरूप का हो तो वह एक बार उत्पन्न होने पर जीवन भर जैसे के तैसे जारी रह सकता है और शुक्लि के उत्सर्ग से वृक्क में कोई अधिक खराबी नहीं होती ।

(इ) वृक्कोत्तर (Postrenal)—

इसमें मूत्र उत्पन्न होने के पश्चात् अर्थात् वृक्क की मूत्रवह नलिकाओं के बाहर मूत्र आने के पश्चात् शुक्लि उसमें संमिश्र होती है । इसके निम्न कारण हैं ।

(१) वृक्कालिन्दशोथ (Pyelitis, Pyelonephritis)
(२) मूत्राशयशोथ (Cystitis)
(३) मूत्रमार्गशोथ (Urethritis)
(४) योनिस्राव का मिश्रण । सलाई का प्रयोग करने से इसका संबंध दूर किया जा सकता है ।
(५) पूयापवृक्कता (Pyonephrosis)

वृक्कपूर्वादि से भेद—इस प्रकार में शुक्लि की मात्रा बहुत कम रहती है परन्तु मूत्र में पूय अधिक होता है । वृक्क्य प्रकार में शुक्लि

प्रायः अधिक रहती है और उसके साथ निर्मोक रहते हैं परन्तु पूय नहीं होता। वृक्कपूर्व प्रकार में शुक्लि कम रहती है और उसके साथ न पूय रहता है न निर्मोक मिलते हैं।

(२) **बेन्स-जोन्स प्रोभूजिनमेह** (Bence Jones protein uria)

इसको पहले प्रोभूजधु (Protesse) समझते थे, परन्तु यह प्रोभूजिन है प्रोभूजधु नहीं। यह प्रोभूजिन शुक्लि के साथ या उसके बिना मूत्र में निम्न विकारों में पाया जाता है।

(१) प्रभूतमज्जाबुंद (Multiple myelomata 80%) रोगियों में
(२) अबुंदों के अस्थिगत समस्थाय (Metastasis) की अवस्था में
(३) लसाभ और मज्जाभ श्वेतमयताओं (Lymphoid and myeloid leukaemia) में
(४) अस्थिमृदुता (Osteomalacia) में
(५) जीर्ण वृक्कशोथ जिसमें सूजन और रक्त निपीड अधिक हो।
(६) स्वस्थ व्यक्ति जिनमें रक्त निपीड (Blood pressure) कुछ अधिक हो।
(७) हाज्‌कीन का रोग और लसमांसार्बुद (Lymphosarcoma) में

(३) **प्रोभूजधुमेह** (Proteosuria)—

इसको शुक्लधुमेह (Albumosuria) भी कहते हैं। नैदानिकीय दृष्ट्या इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु बेन्स-जोन्स प्रोभूजिन से पार्थक्य करने की दृष्टि से इसका महत्व होता है। प्रोभूजधु मूत्र में उस अवस्था में उत्सर्जित होते हैं जब शरीर के भीतरी धातु तथा निर्यास (Exudates) आत्मपाचित (Autolyze) होकर प्रचूषित हुआ करते हैं। जैसे, फुफ्फुसपाक का उपशमन (Resolution), अन्तःपूयता:(Em pyemia), पूययुत मस्तिष्कावरणशोथ इत्यादि पूययुक्त विकार। गर्भवती स्त्री में गर्भोदक (Amniotic fluid) के प्रचूषण के कारण और प्रसूता में गर्भपरिवृद्ध गर्भाशय के अपचय (Involution) काल में प्रोभूजधु मूत्र में उत्सर्गित होता है।

मूत्रमें बेन्स-जोन्स प्रोभूजिन का उपलम्भन नैदानिकीय दृष्ट्या विशेष महत्त्व का होता है क्योंकि वह प्रभूतमज्जार्बुद का विकृतिज्ञापक (Pathog

nomonic) होता है और वह भी ऐसे समय पर जब कि हड्डियों में पीडा और पीडासहता के अतिरिक्त और कोई दूसरा बाह्य चिन्ह नहीं दिखाई देता। आगे चलकर ये अर्बुद हड्डियों के बाहर निकलकर स्पर्शलक्ष्य गाँठों के रूप में प्रतीत होते हैं। प्रभूतमज्जार्बुद रोग में मूत्र में उत्सर्गित होने वाला यह प्रोभूजिन कभी कभी आप से आप निस्सादित होकर मूत्र को दुधिया बना देता है और इस दुधिया निस्साद में हड्डी के आत्मपाचन (Autolysis) से उद्भूत कार्षा भास्वीय (Phosphate) मिले रहते हैं। (पृष्ठ २३६)

(४) तिक्ती अम्लमेह—(Aminoaciduria)

शरीर कोशाओं के भीतर प्रोभूजिनों के समवर्त में (Metabolism) तिक्ती अम्लों का जलांशन (Hydrolysis) होकर छोटे छोटे रसायनिक द्रव्य बनते हैं। प्रोभूजिनों के तिक्ती अम्लों की संख्या २२ के लगभग ज्ञात हुई है और प्रत्येक का जलांशन भिन्न पद्धति से हुआ करता है। अनेक व्यक्तियों में तिक्तीअम्लों का जलांशन ठीक न होकर वे वैसे ही या अर्ध जलांशित स्थिति में मूत्र द्वारा उत्सर्गित हुआ करते हैं। इसको तिक्ती अम्ल मेह कहते हैं। यह विकृति प्रायः कुलज होने से ये प्रमेह भी कुलज ही होते हैं। इन प्रमेहों में निम्न निर्देश करने योग्य है। इनसे शारीरिक विकृति प्रायः नहीं होती।

(अ) *दर्शल शौक्तामेह* (Phenylketonuria)-इसमें मूत्र में दर्शलगौच्छिक (Phenyl pyruvic) अम्ल उत्सर्गित होता है। यह प्रमेह अप्रबुद्ध या मस्तिष्क का ठीक विकास न हुए (Mentally defective) व्यक्तियों में दिखाई देता है और दर्शल आसुत्री(Phenylalanine) तिक्ती अम्ल के प्राथमिक जारण से प्राप्त शौक्तिक (Ketonic) अम्ल के जारण (Oxidation) की असमर्थता के कारण उत्पन्न होता है। अपूर्ण कालज (Premature) बच्चों में जीवतिक्ति ग (Vitamin C) की कमी होने पर भी यह प्रमेह उत्पन्न होता है। दर्शलआसुत्री के सेवन से यह प्रमेह बढ़ता है।

(आ) *दधिकीमेह* (Tyrosinuria)—इस प्रमेह में मूत्र द्वारा दधिकी (Tyrosine) के जारण से उत्पन्न हुआ प-उदजारल-दर्शल गौच्छिक [Hydroxyl phenylpyruvic] अम्ल एन्यव [Enol] रूप में

उत्सर्गित होता है। दुग्धिकी के सेवन से इस द्रव्य का उत्सर्ग बढ़ता है। इसका दैनिक उत्सर्ग १·६ धान्य के लगभग होता है।

(इ) *धात्वेयीमेह* (Histidinuria)—स्वस्थ मनुष्यके मूत्र में लेशमात्र में इसका उत्सर्ग होता है। धात्वेयी एक तिक्तिअम्ल है जो शरीर के लिए अपरिहार्य (Indispensable) होता है। गर्भधारण काल में इसका उत्सर्ग १–२ धान्य तक बढ़ता है। परन्तु गर्भविषमयता (Eclampsia) में इसका उत्सर्ग लगभग बन्द हो जाता है। गर्भ धारण के अतिरिक्त यह प्रमेह पोषणिका ग्रन्थि की क्षारप्रियता (Basophilism) शाखाबृहति (Acromegaly), वपोपस्थ दुष्पुष्टि (Adiposo genital dystrophy) इत्यादि विकारों में भी पाया जाता है।

(ई) *विषाणीमेह* (Cystinuria) इसमें विषाणी नामक तिक्तिअम्ल का उत्सर्ग मूत्र द्वारा होता है। स्वस्थ मनुष्यों के मूत्र में यह द्रव्य लेशमात्र पाया जाता है। कुछ व्यक्तियों में कुलज दोष के कारण इसका जारण न होकर यह अधिक मात्रा में मूत्र में उत्सर्गित होता है। इससे कोई हानि नहीं होती परन्तु अधिक होने पर अश्मरी बनने की प्रवृत्ति होती है जो मूत्रमार्ग उपसृष्ट रहने पर अधिक [पृष्ट १२२] होती है। शिशुओं में कभी कभी विषाणी धातुओं में भी निक्षिप्त [Deposit] हुआ (पृष्ठ१६५) करती है। विषाणीमेह मे मूत्र हलका पीला, तैलीं और प्रतिक्रिया में ईषदम्ल होता है। कुलजप्रवृत्ति का रोग दीर्घकालानुबन्धि होता है। भास्वर [Phosphorus] विषाक्तता और तीव्र पीत यकृत् क्षय में यह द्रव्य मूत्र में पाया जाता है।

(उ) *क्षारासितमेह* (Alkaptonuria)—

यह एक कुलज [Hereditary] तथा सहज [Congenital] स्वरूप का मूत्र विकार है जिसमें शरीर के भीतर कुछ तिक्ति अम्लों [जसे, Pheny lalanine, Tyrosine] का ठीक विघटन न हो पाता और क्षारासित द्रव्य बनकर वे मूत्र से उत्सर्गित होते हैं। यह बहुत ही विरल दृष्ट रोग है। इस मूत्रविकार का स्वास्थ्य पर कोई असर नहीं होता। कभी कभी इसमें धातुगैरिकता [Ochronosis] उत्पन्न होती है। जिसमें तरुणास्थियाँ तथा अस्थिबन्धन [Cartilages, ligaments] क्वचित् नेत्र गैरिकवर्ण हो जाते हैं और कभी कभी सन्धिशोथ होता है

जिससे एक विशिष्ट प्रकार की हंसगति [Goosegait] उत्पन्न होती है।

यह मूत्र विकार ऐसा है कि इसमें उत्सर्ग के समय मूत्र के रंग में कोई विकृति नहीं दिखाई देती। परन्तु हवा का सम्बन्ध होने पर वह शीघ्रता से प्रथम भूरा और पश्चात् काला हो जाता है। यह रंग परिवर्तन क्षार डालने से शीघ्रतर होता है और यदि उसमें उष्णता प्रयुक्त किया जाय तो गति शीघ्रतम हो जाती है। इस मूत्र में अयसिक नीरेय [Ferric chloride] के मन्द विलयन [Dilute solution] का यदि एक बूँद छोड़ा जाय तो उसके गिरते ही गहरा नीला रंग क्षणभर के उत्पन्न होकर नष्ट होता है और इस प्रकार का रंगोत्पादन बराबर प्रत्येक बूँद के लिए हुआ करता है। यह रंग परिवर्तन इतनी शीघ्रता से हुआ करता है कि यदि अयसिक विलयन बहुत मन्द न हो तो उसका पता तक न लग सकता है।

शर्करामेह

Sugars in urine

खाद्य द्रव्यों में शर्कराओं का एक बड़ा भारी विभाग होता है। इन के तीन प्रकार-एक शर्करेय [Monosaccharides] द्वि शर्करेय Disaccharides और बहुशर्करेय Polysaccharides होते हैं। इनके अतिरिक्त पाँच प्रांगार परमाणुओं की [पंचधु Pentose] भी कुछ शर्कराएं होती हैं। मूत्र में अनेक प्रकार की शर्कराएं पायी जाती हैं। परन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि जिसको हम शर्करा के नाम से पहचानते हैं, जो हमारे खाने में सबसे अधिक होती है तथा जो इक्षुदण्ड से बनती है वह शर्करा [Sucrose] मूत्र में कदापि उत्सर्गित नहीं होती।

(१) मधुममेह—[Glycosuria]

मूत्र में अनेक शर्करायें समय समय पर मिल सकती हैं। इनमें मधुम [Glucose] या दक्षधु [Dextrose] सबसे महत्व की है तथा औरों की अपेक्षा अधिक मिला करती है। इसलिए शर्करामेह से प्रायः मधुममेह समझा जाता है। स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र में प्रह्रासक [Reducing] शर्कराओं की मात्रा ·२% तक और गहरे [१०२५ या इससे अधिक गुरुता के]

मूत्र में ·३% तक हो सकती है। इसलिए जब मूत्र में शर्करा की उपस्थिति बतायी जाती है तब उसका इयत्तात्मक आगणन भी होना जरूरी होता है। और जब उसकी मात्रा मामुली मूत्र में ·२ प्रतिशत से और गहरे मूत्र में ·३ प्रतिशत से अधिक रहे तब ही उसको संदेहास्पद समझना चाहिए। मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग शर्करा की वृक्क देहली [Real threshold] स्वाभाविक से कम [Low] रहने के कारण या प्रांगोदीय समवर्त [Carb ohydrate metabolism] ठीक न होने से तथा शर्करा का परिवर्तन मधुजन [Glycogen] में करने की यकृत् की शक्ति कम होने से रक्त में शर्करा की मात्रा स्वाभाविक वृक्क देहली से अधिक [Hyperglycemia] होने के कारण होता है। यह शर्करामेह अनेक कारणों से होकर स्थायी तथा अस्थायी और रक्त में शर्करा की अधिकता तथा अल्पता के साथ हो सकता है। इसमें जो स्थायी तथा रक्त में अधिक शर्करा के साथ होता है वह महत्त्व का होता है और इतर महत्त्व के नहीं होते। अतः नीचे इसके कारण दिये जाते हैं।

अस्थायी —[Transient, transitory]

[१] संमोहनजन्य—सार्व दैहिक संमोहन के पश्चात् मुख्यतया दक्षु [Ether] नीरवम्रल [Chloroform] तथा अन्य उड़नशील संमोहकों के पश्चात्।

[२] चित्तसंक्षोभजन्य [Emotional]—क्रोध, भय, चिन्ता इत्यादि मानसिक अवस्थाओं में। परीक्षार्थी विद्यार्थियों मे इस प्रकार का शर्करामेह प्रायः पाया जाता है।

(३) आहारजन्य [Alimentary]-अत्यधिक मात्रा में शर्करा तथा प्रांगोदीय सेवन करने पर। शर्करा की सात्म्यीकरण मर्यादा [Assimilation limit] प्रांगोदीयों के प्रकार, व्यक्ति की प्रकृति तथा व्यायाम के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। दक्षधु या मधुम की सात्म्यीकरणमर्यादा १००-२०० धान्य होती है। परन्तु अनेक व्यक्तियों में ४००-५०० धान्य दक्षधु [Dextrose] भी शर्करामूत्रता [Glycuresis] नहीं उत्पन्न कर सकता।

१०० धान्य या इससे कम मात्रा मे दक्षधु का सेवन यदि शर्करामेह उत्पन्न करता हो तो वह स्थिति विकारसूचक होती है।

[४] रोगनिवृत्तिकाल या उल्लाघ [Convalescence] तीव्र सज्वर

विकारों से निवृत्त होने पर अनेकों में शर्करामेह पाया है, जैसे आन्त्रिक ज्वर, श्लेष्मक [Influenza] लोहितज्वर, रोमान्तिका [Measles], फुफ्फुसपाक [Pneumonia] तथा मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण और सुषुम्ना के विकार।

[५] स्थूलता [Obesity]—इसका सम्बन्ध प्रायः मधुमेह से होता है।

[६] परमावटुकता [Hyperthyroidism]—अवटुकाग्रन्थि के अतिकार्य से। ग्रेव [Grave] के रोगियों में चौथाई रोगी शर्करामेह से प्रायः पीडित पाये जाते हैं। पोषणिका [Pituitary] ग्रन्थिदोष, जैसे शाखाबृहती [Acromegaly]

[७] अभिवृद्ध कपालान्तर्य निपीड [Increased intracranial pressure] मस्तिष्काघात, स्तब्धता [Shock] कपालान्तर्य रक्तस्राव, कपालभंग, मस्तिष्क के अर्बुद।

[८] गर्भधारण [Pregnancy]—स्वस्थ गर्भवती स्त्रियों में अनेक बार [१०–१५ प्रतिशत तक] विशेषतया उत्तर अवस्था में शर्करामेह पाया जाता है।

[९] अत्यधिक शारीरिक परिश्रम—जैसे दीर्घकाल पैदल चलना, नाव चलाना (Rowing), पहाड़ों पर चढ़ना, मल्लयुद्ध इत्यादि। पीछे पृष्ठ २३७ पर शुक्लमेह भी देखो।

स्थायी शर्करामेह (Permanant)

इस प्रकार में मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग अल्पकाल के लिए न होकर बराबर होता रहता है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उत्सर्ग २४ घण्टे बराबर हो तथा बीच में खण्ड न हो।

(१) मधुमेह या क्षौद्रमेह (Diabetes mellitus)—स्थायी शर्करामेह पाये जाने वाले विकारों में मधुमेह सबसे महत्व का तथा आमतौर पाये जाने वाला रोग है। प्रारम्भ में आहारनियन्त्रण करनेपर इसमें शर्करामेह बन्द हो सकता है, मध्यम अवस्था में भोजन के उपरान्त शर्करा का उत्सर्ग होता है और तीव्र तथा प्रगल्भ रोग में २४ घण्टे शर्करा का उत्सर्ग होकर उसकी मात्रा ५०० धान्य या इससे भी अधिक हो सकती है। परन्तु शर्करा की मात्रा का रोग की गंभीरता के साथ ठीक सम्बन्ध नहीं होता। इस रोग में शर्करामेह के अतिरिक्त बहुमूत्रता, बहुक्षुधा, बहुतृषा, दौर्बल्य, क्षीणता इत्यादि लक्षण उपस्थित रहते हैं।

(२) कांस्यमधुमेह [Bronzed diabetes]—यह एक विरल दृष्ट रोग है जिसमें त्वचा में रागकाभरण [Pigmentation], यकृद्दाल्युदर [Cirrhosis of the liver] और मधुममेह ये तीन प्रधान लक्षण रहते हैं।

(३) वृक्कय शर्करामेह [Renal Glycosuria]—इसमें शर्करा के लिए वृक्क की देहली नीची रहने से मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग होता है। इसमें शर्करामेह के अतिरिक्त और कोई लक्षण नहीं होते।

[४] मस्तिष्क की प्राणगुहाभूमि [Floor of the fourth ventricle] को अपाय [Injury] होना।

परममधुमयता (Hyperglycemia) के *बिना* – मधुममेह

[१] वृक्कय शर्करामेह।

[२] आहारजन्य शर्करामेह।

[३] सिरान्तर्य मधुमप्रदान [Intravenous glucose]—कभी कभी जब सिरा द्वारा मधुम [Glucose] दिया जाता है तब वृक्कदेहली से शर्करा अधिक होने पर मूत्र में उसका उत्सर्ग हो सकता है इसको ध्यान में रखना चाहिए।

[४] गर्भवती का शर्करामेह।

परममधुमयता के साथ मधुममेह (Glycosuria with hyperglyoemia)।

[१] मधुमेह (अग्न्याशयजन्य Pancreatic)।

[२] मधुमेह [काँस्य Bronzed]।

[३] परमावटुकता [ग्रेव का रोग], शाखाबृहती [Acromegaly]

[४] कपालान्तर्य अभिवृद्ध पीडन।

[५] दक्षुसंमोहन [Ether anaesthesia]।

[६] मनःसंक्षोभ।

किसी व्यक्ति में मिलनेवाला मधुममेह अस्थायी तथा क्षुद्र (Unimportant] है इसका निर्णय करने से पहले निम्न दो बातों का निश्चय कर लेना उचित है। [१] मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग जब बन्द हो जाता है तब उस व्यक्ति की रक्तशर्करा स्वाभाविक है या नहीं।

[२] कारण दूर होने पर मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग पूर्णतया बन्द होता है या नहीं।

(२) वामधुमेह (Laevulosuria)—

यह फलशर्करामेह है। यह शर्करा अकेली मूत्र में प्रायः नहीं पायी जाती। प्रायः मधुमेह में मधुम के साथ रहती है जिस समय उससे मधुमेह की चिन्ताजनक स्थिति का निदर्शन होता है। यकृत् की खराबी में इसका उत्सर्ग होता है। कभी कभी शरीरसमवर्त [Metabolism] की स्वाभाविक खराबी के कारण मूत्र में इसका उत्सर्ग होता है। इस अवस्था को अज्ञात-सम्प्राप्तिक [Idiopathic] वामधुमेह कहते हैं।

(३) दुग्धधुमेह (Lactosuria)—

इसमें मूत्र में दुग्धशर्करा का उत्सर्ग होता है। यह शर्करा स्त्रियों में गर्भावस्था के उत्तरकाल में, प्रसव के पश्चात् स्तन्यकाल में, यकायक स्तन्य बन्द होने पर या गर्भपात के पश्चात् कुछ काल तक मूत्र में पायी जाती है। गर्भावस्थाओं के बीच में आपसे आप यह बन्द हो जाती है। स्तनंधय बच्चों में भी यह शर्करा पचन की खराबी होने पर मिलती है।

(४) पञ्चधुमेह (Pentosuria)—

पञ्चधु प्रांगार के ५ परमाणु (Atoms of carbon) के प्रांगोदीय हैं। नैसर्गिक सृष्टि में ये स्वतन्त्रतया नहीं पाये जाते। इनका मुख्य निकास वानस्पतिक निर्यास होता है। निम्न अवस्थाओं में यह द्रव्य मूत्र में पाया जाता है—

[१] मधुमेह—कभी कभी यह द्रव्य मधुमेही के मूत्र में मधुम के साथ पाया जाता है।

[२] आहार—बेर, अंगूर तथा फल रसों के अधिक सेवन से।

[३] सहज समवर्त विकृति [Congenital anamoly]—कभी कभी सहज समवर्त दोष के परिणाम स्वरूप इसका उत्सर्ग मूत्र में होता है।

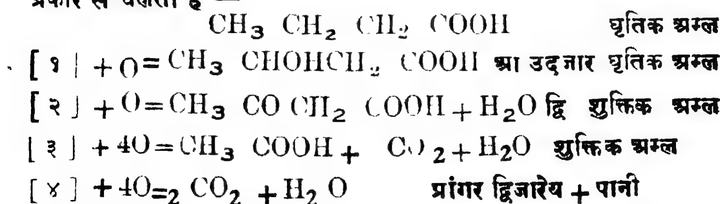
[४] अहिफेनी सेवन—अहिफेनी (Morphia) का सदव सेवन करने वालों में अक्सर यह द्रव्य मूत्र में पाया जाता है।

शौक्तामेह (Ketonuria)

इस प्रमेह में मूत्र में शौक्ताद्रव्य [Ketone bodies] उत्सर्गित होते हैं। इनके मिलने का क्रम प्रथम शुक्ता [Acetone] तत्पश्चात् और उसके साथ द्विशुक्तिक [Diacetic] अम्ल और उसके पश्चात् आ-उद्जार घृतिक [B. hydroxy butric] अम्ल इस प्रकार होता है। ये द्रव्य रक्त में अपूर्ण ज्वलन से इकट्ठा होते हैं और वृक्कों द्वारा उत्सर्गित हुआ करते हैं। ये स्वयं विषैले नहीं हैं। परन्तु रक्त के क्षारिय द्रव्यों के साथ मिलकर उसकी क्षारियता को घटा कर अम्लोत्कर्ष [पृष्ठ २२२] करते हैं। यह अम्लोत्कर्ष शौक्ता के कारण होने से इसको शौक्तोत्कर्ष [Ketosis] भी कहते हैं। इस अम्लोत्कर्ष के कारण मधुमेह में संन्यास [Coma] उत्पन्न होता है।

सेवन किए हुए स्निग्ध द्रव्य पाचन से मधुरी [Glycerine] और स्नेहीय [Fatty] अम्लों में परिवर्तित होते हैं। ये स्नेहीय अम्ल शरीर में प्राणवायु की सहायता से जलते जलते और टूटते टूटते लम्बी शृङ्खला [Long chains] से छोटी शृंखला में परिवर्तित होते हुए अन्त में प्रांगार द्विजारेय [CO_2] और पानी में समाप्त होते हैं।

स्नेहिक अम्लों के टूटने की जो यह परंपरा है उसकी दो अवस्थाएँ होती है। प्रथम अवस्था घृतिक [Butyric] अम्लतक होती है और यहाँ तक उच्च अम्लों के टूटने का कार्य स्वतन्त्रतया चलता है। परन्तु आगे की अवस्था के लिए, जिसमें निम्न प्रकार से घृतिक अम्ल टूटकर प्रांगार द्विजारेय और पानी में परिवर्तित होता है, मधुम जारण [Oxidation] से उत्पन्न हुए कुछ द्रव्यों की आवश्यकता होती है। बिना उनके आगे का कार्य रुक जाता है और शौक्तोत्कर्ष उत्पन्न होता है। इसलिए इन द्रव्यों को प्रतिशौक्ता जनिक [Anti ketogenic] कहते हैं। यह कार्य निम्न प्रकार से चलता है —



$CH_3\ CH_2\ CH_2\ COOH$ घृतिक अम्ल

[१] $+O = CH_3\ CHOHCH_2\ COOH$ आ उद्जार घृतिक अम्ल

[२] $+O = CH_3\ CO\ CH_2\ COOH + H_2O$ द्वि शुक्तिक अम्ल

[३] $+4O = CH_3\ COOH + CO_2 + H_2O$ शुक्तिक अम्ल

[४] $+4O = 2\ CO_2 + H_2O$ प्रांगर द्विजारेय + पानी

स्नेहीय अम्लों के टूटने में मधुम की इस महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए यह कहा जाता है 'स्नेह प्रांगोदीयों की ज्वाला में जलते हैं—The fats burn in the flame of carbohydrates इसलिए जब शरीर में किसी न किसी कारण से प्रांगोदेयों [Carbohydrates] की अपर्याप्तता हो जाती है तब घृतिक [Butyric] अम्ल प्रां. द्विजारेय [CO_2] और पानी तक पूर्णतया विघटित न होकर उदजार घृतिक [Oxy butyric] अम्ल और द्विशुक्तिक अम्ल तक ही विघटित होता है । फिर द्विशुक्तिक अम्ल प्रां द्विजारेय को निकाल कर शुक्ता [Acetone] में परिवर्तित होता है जो मूत्र और साँस के साथ शरीर के बाहर उत्सर्गित होने लगता है। संक्षेप में स्निग्ध द्रव्यों के ज्वलन के लिए शरीर में प्रांगोदीयों की अपर्याप्तता हो रही है इसकी सूचना मूत्रगत शुक्ता से मिल जाती है। यह अपर्याप्तता अधिकाधिक होने पर मूत्र में शुक्ता के पश्चात् द्विशुक्तिक अम्ल मिलने लगता है। यह अम्ल अकेला कदापि नहीं मिलेगा, शुक्ता के साथ रहेगा। इससे अधिक अपर्याप्तता होने पर मूत्र में ये दोनों द्रव्य अधिक मात्रा में मिलेंगे और उदजारघृतिक अम्ल भी इनके साथ अल्प मात्रा में रहेगा। अपर्याप्तता सीमातीत होने पर मूत्र में घृतिकअम्ल भी औरों के साथ मिल सकता है। शुक्ता तथा इन द्रव्यों का मूत्र में मिलना आगामी संन्यास [Coma) का सूचक अतएव चिन्ताजनक होता है : उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शौक्तामेह निम्न कारणों से हो सकता है—

(१) *मधुमेह*—इसमें पर्याप्त मात्रा में प्रांगोदीय सेवन किये जाते हैं परन्तु वे अनुपयुक्त रहकर उत्सर्गित होते हैं जिससे स्नेहों के ज्वलन में उनका कोई उपयोग नहीं होता।

[२] फान गिर्की का रोग (Von Gierke's disease)—इसमें प्रांगोदीय मधुजन के रूप में शरीर में संचित होते हैं और रक्तशर्करा बहुत कम रहती है। यह विरल दृष्ट रोग है।

(३) *अनशन या प्रायोपवेशन* (Starvation)—इसमें उन सब विकारों का समावेश कर सकते हैं जिसमें या तो प्रांगोदीय कम सेवन किये जाते हैं या सेवन किये हुए प्रांगोदीय वमनादि द्वारा शरीर के बाहर उत्सर्गित होते है । जसे—जठरव्रण, जठरकर्कट (Cancer), जठराभि-

स्तीर्णता (Gastrectasis), अन्ननलिका उपसंकोच, आन्त्रमार्गावरोध (Intestinal obstruction), फिरंग-विषमज्वर-कर्कट-राजयक्ष्मा जन्य दुस्वास्थ्य (Cachexia), गर्भवती का अनुबद्ध वमन, बच्चों का चक्री (Cyclic) वमन, संघट्टन (Concussion) मस्तिष्कार्बुद, यक्ष्मज मस्तिष्कावरणशोथ, निद्रालसी मस्तिष्कशोथ (Encephalitis lethargica), मस्तिष्क सुषम्नावरण शोथ (Cerebrospinal meningitis) इत्यादि। अधिक काल तक सार्वदैहिक संज्ञानाशन में किये हुए शस्त्रकर्म तथा भूक हड़ताल। अनशन उत्पन्न करनेवाले विकारों में या अवस्थाओं में स्थूल व्यक्तियों में और बच्चों में शुक्रामेह उत्पन्न होने की सम्भावना औरों को अपेक्षा अधिक रहती है।

(४) प्राणवायु की कमी—जैसे श्वास, तमकश्वास, प्राणोपरोध Asphyxia, Asthama)।

शोणितमेह

पर्याय—रक्तमेह Hematuria।

व्याख्या—इस प्रमेह में मूत्र मे रक्त के लालकण पाये जाते हैं। स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र में २४ घण्टे में इनकी संख्या डेढ़ लाख के करीब होती है। अर्थात् एक बूंद में ५-६ होते हैं जिनका पता लगना बहुत कठिन होता है। रक्तमेह कहने के लिए इनकी संख्या बहुत अधिक होनी चाहिए। मूत्र में इनका उत्सर्ग अधिक तथा अल्प संख्या में यकायक होकर यकायक बन्द हो सकता है तथा बहुत दिनों या सप्ताहों तक जारी भी रह सकता है।

हेतु-(१) वृक्कपूर्व (Prerenal)—इसमें मुख्यतया नीलोहा (Purpura) शोणितप्रियता (Hemophilia) प्रशीताद (Scurvy) श्वेतमयताएँ (Leukaemia) इत्यादि रक्त के रोग आते हैं। इनमें अतिरिक्त ग्रन्थिक सन्निपात (Plague), मसूरिका, पीतज्वर. विषमज्वर इत्यादि रक्त स्रावी रोग इनमें तथा अत्यधिक शारीरिक परिश्रम के पश्चात् और धमनी जरठता में यह विकार हो सकता है।

(२) वृक्क्य (Renal)—इसमें रक्त वृक्कों से आता है। कारण सब प्रकार के तीव्र वृक्कशोथ, वृक्क के घातक तथा अघातक अर्बुद, वृक्क

यक्ष्मा, वृक्काश्मरी, वृक्काभिघात (Trauma) बहुकोष्ठीय (Polycystic) वृक्क, विकेन्द्रय (Focal) और अन्तःशल्यज (Embolic) वृक्कशोथ, कौटुम्बिक रक्तस्रावी वृक्कशोथ (Familial hemorrhagic nephritis) वृक्कान्तर्गत अन्तःशल्यता (Embolism), घनास्रोत्कर्ष (Thrombosis), अन्तःस्फानता (Infarction) तथा तार्पिन तेल, प्रांगविक अम्ल (Carbolic acid), हरिभृङ्गक (Cantharides) शुल्बातिक्तेय (Sulphonamide) इत्यादि औषधियों का सेवन।

अज्ञातकारणिक या वास्तविक (Essential) शोणितमेह—इसमें एकही वृक्क से रक्तस्राव होता है। परन्तु न वृक्क में कोई विकार होता है या दिखाई देता है तथा रक्त का भी कोई रोग नहीं पाया जाता। रक्तस्राव बहुत अधिक होता है तथा अकारण यकायक प्रारम्भ होता है और कटि पीड़ा के अतिरिक्त और कोई लक्षण नहीं रहता। यह शोणितमेह आपसे आप बन्द भी हो जाता है तथा कुछ काल के पश्चात् फिर प्रारम्भ होता है। यद्यपि वृक्क वैसे स्वस्थ मालूम होता है तथापि सूक्ष्म परीक्षा करने पर उसमें शोथ के परिवर्तन दिखाई देते हैं। इसलिए यह विकार एक पक्षीय वृक्कशोथ का फल माना जाता है।

(३) *वृक्कोत्तर* (Postrenal)—इसमें गवीनी, मूत्राशय, मूत्रमार्ग, अष्ठीला (Prostate) इत्यादि अंगों के शोथ, अभिघात, अर्बुद, अश्मरियाँ, कृमि (Bilharzia hematobia) इत्यादि का समावेश होता है।

(४) *मूत्रण संस्थान समीपवर्ति अंगों के विकार*—जैसे उण्डुकपुच्छ शोथ (Appendicitis), गर्भाशय, योनी या गुद के कर्कट, बीजवाहिनी शोथ (Salpingitis) इत्यादि।

निदान—शोणितमेह के निदान में मूत्र में रक्त है या नहीं, यदि है तो फिर किस ओर से, मूत्रण संस्थान के किस अंग से तथा किस रोग के कारण रक्त आ रहा है इन बातों का पता लगाने की जरूरत होती है। इसके लिए निम्न बातों पर ध्यान देना पड़ता है।

(१) *वय*—जवानी में वृक्कक्षय, मध्यम आयु में कर्कट और परमालति और वृद्धावस्था में अष्ठीलाभिवृद्धि शोणितमेह के प्रायिक कारण होते हैं।

(२) *पीडास्थान*—एक ओर की कटि में पीडा या शूल वृक्क विकार, मूत्रण की वारम्वारता या शिश्न पीडा मूत्राशय का विकार, त्रिक पीडा (Sacral pain) अष्ठीला का विकार प्रायः सूचित करती है ।

(३) *मूत्र परीक्षण*—मूत्र का परीक्षण भौतिक, रसायनिक तथा सूक्ष्म तीनों प्रकार से करना चाहिए। भौतिक में रंग, रक्त के थक्के, प्रतिक्रिया और त्रिपात्र परीक्षा, रसायनिक में रक्त और शुक्लि और सूक्ष्म में लालकण, अधिच्छदीय कोशाएँ, लवणों के स्फटिक, अर्बुदों के टुकड़े इत्यादि को देखना चाहिए।

स्त्रियों में मासिक धर्म के समय तथा प्रसवोत्तर योनिगत रक्त मूत्र में मिश्रित हो सकता है। अतः परीक्षणार्थ मूत्र सलाई से निकालकर लेना चाहिए।

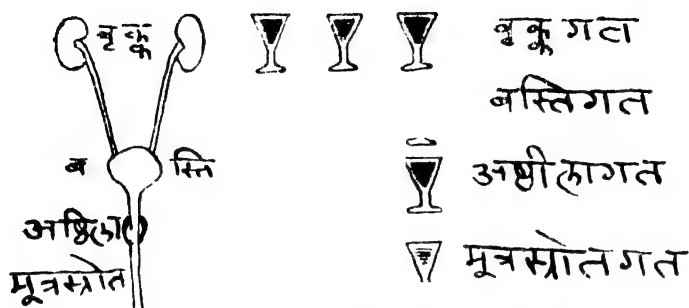
(अ) प्रतिक्रिया—क्षारिय मूत्र में लालकण जल्दी गल जाते हैं। जिससे शोणितमेह को शोणवर्तुलिमेह समझने की भूल हो सकती है। अतः मूत्र निकालने पर रक्त कणों के लिए तुरन्त उसका परीक्षण किया जाय।

(आ) रंग—मूत्र में जब रक्त अधिक रहता है तब उसका रंग लाल या कालापन लिए लाल (Dark red) या काला भी रहता है। जब मध्यमराशि में रक्त रहता है तब मूत्र का रंग धुंधला (Smoky) होता है। जब रक्त बहुत कम रहता है तब मूत्र के रंग पर उसका कोई असर नहीं होता और सूक्ष्मदर्शक से उसका पता लगाना पड़ता है। जब रक्त मूत्राशय या मूत्रस्रोत से आता है तब उसका रंग अधिक लाल होता है।

(इ) त्रिपात्र परीक्षा (Three glass test)—शोणितमेह में मूत्र किस अंग से आता है इसका अनुमान इस परीक्षा से किया जाता है। इसमें एक समय पर निकलने वाला पूरा मूत्र तीन पात्रों में करने के लिए रोगी को कहा जाता है और रंग के आधार पर किस पात्र में रक्त अधिक है उसको देखकर स्थान निर्धारित किया जाता है।

(१) मूत्रस्रोत—जब प्रथम पात्र में रक्त पाया जाता है और अन्य दो पात्रों का मूत्र प्रायः साफ रहता है तब रक्त मूत्रस्रोत से आ रहा है ऐसा अनुमान किया जाता है।

चित्र नं० २



(२) अष्ठीला (Prostate)—जब प्रथम और तृतीयक पात्र में रक्त रहकर मध्य पात्र में अत्यल्प रहता है तब अष्ठीला से रक्त आता है ऐसा अनुमान कर सकते हैं।

(३) मूत्राशय—जब रक्त तृतीय पात्र में अधिक रहकर प्रथम दो में बहुत कम रहता है तब वह मूत्राशय से आ रहा है ऐसा अनुमान किया जाता है।

(४) वृक्क—जब तीनों पात्रों में रक्त एकसा मिला हुआ रहता है तब रक्त वृक्कों से आ रहा है ऐसा समझ सकते हैं।

(६) रक्त के थक्के—एक चौड़े पात्र में मूत्र को लेकर उसके साथ पानी मिलाया जाय और इनके लिए देखा जाय। यदि थक्के त्रिकोणाकृति या या शिखराकार (Pyramidel) हो तो रक्त गर्वानी मुख से, यदि कृमिसमलम्बे पतले नोकीले (Wormlike) रहे तो गर्वानी से, यदि चपटे बिम्बाकार (Disk) रहे तो मूत्राशय से वे आ रहे हैं ऐसा समझ सकते हैं। बिम्बाकार थक्के मूत्रस्रोत से निकलते समय अनेक बार टूट जाते हैं।

(७) शुक्लि—यदि मूत्र में शुक्लि की मात्रा रक्त राशि के अनुसार जितनी होनी चाहिए उसके अधिक रहे तो रक्त वृक्क से आ रहा है ऐसा समझ सकते हैं।

(ऊ) रक्त— मूत्र में रक्त की उपस्थिति का अनुमान उसके रंग से और उसकी निश्चिति रसायनिक परीक्षण (आगे मूत्र परीक्षण में देखिए) से होती है । परन्तु शोणितमेह का निदान केवल सूक्ष्म परीक्षण से ही होता है आगे शोणवर्तुलिमेह देखिए ।

सूक्ष्म परीक्षण—इसमें लालकण, अधिच्छदीय कोशाएँ, लवणों के स्फटिक, निर्मोक, यक्ष्मदण्डाणु, अर्बुदों के टुकड़े इन पर ध्यान दिया जाता है । लालकणों की उपस्थिति से शोणितमेह का, रक्त निर्मोकों से वृक्कगत रक्तस्राव का, तिर्मीय स्फटिक तथा उनके निर्मोक (Cast) से अश्मरी जन्य रक्तस्राव का, अर्बुदों के टुकड़ों या कोशाओं से अर्बुद जन्य रक्तस्राव का और यक्ष्म दण्डाणुओं से वृक्क यक्ष्मा का अनुमान किया जाता है ।

अन्य परीक्षाएं—रोगी के हृदय, फुफ्फुस, यकृत, योनि, मलाशय वृषण, शिश्न, अष्ठीला इत्यादि का परीक्षण दर्शन स्पर्शनादि द्वारा तथा मूत्रण संस्थान का परीक्षण बस्तिवीक्षण (Cystoscopy) वृक्कालिन्द चित्रण (Pyelography), क्ष–रश्मि, स्वनित्रण (-Sounding), गवीनी शलाकाकरण (पृष्ठ २६) इत्यादि साधनों द्वारा किया जाय ।

रक्त की राशि और रोग - अभिघात, परमातति (Hypertensian), वृक्क तथा बस्ति के अर्बुद, अंकुरार्बुद (Papilloma, Cancer) इनमें रक्तस्राव अधिक होता है । अष्ठीलाभिवृद्धि भी अनेक बार प्रचुर रक्तस्राव का कारण हो सकती है । जब व्यायाम, परीश्रम, उछलकूद से शोणितमेह होता है तब उसका कारण प्रायः अश्मरी, अर्बुद या परमातति होता है । अल्प और अनुबद्ध (Persistant) रक्तस्राव प्रायः तीव्र वृक्कशोथ, घातक अर्बुद, या अश्मरी में होता है ।

वृक्क के बहुकोष्ठीय (Polycystie) विकार म बरसों तक मूत्रमें रक्त अल्प या अधिक राशि में बीच बीच में आया करता है । अतः वृक्क पूर्व कोई विकार न हो तथा पीडा न हो तो इसका ख्याल किया जाय ।

शोणवर्तुलिमेह Hemoglobinuria

सामान्य विवरण—इसमें मूत्र में रक्त के लाल कण न आकर तद्गत रंग द्रव्य (Hemoglobin) उत्सर्गित होता है । रक्तवाहिनियों

के भीतर होनेवाले शोणांशन (Hemolysis) या रुधिरांशन (Erythrolysis) का यह परिणाम है। शोणवर्तुलि (Hemoglobin) शरीर के लिए उपयोगी द्रव्य होने के कारण शर्करा के समान इसकी देहली (Threshold) काफी ऊँची रक्खी गयी है। जब रक्त में शोणवर्तुलि की मात्रा १३०—१५० सहस्रिधान्य प्रति १०० घ. शि. मा. रक्त में (mg प्रतिशत) होती है तब वृक्कों से उसका उत्सर्ग प्रारम्भ होता है। परन्तु जब एक बार उत्सर्ग प्रारम्भ होता है तब आश्चर्य की बात यह होती है कि रक्त में जब शोणवर्तुलि की मात्रा ३०—४० सहस्रिधान्य तक घटती है तब जाकर इसका निकलना बन्द होता है।

हेतुकी—(१) *उपसर्ग*—जिन उपसर्गों में रक्त नाश होता है उन सबों में शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु इनमें निम्न महत्व के हैं—

कालमेहज्वर—विषम ज्वर में लाल कणों का नाश बराबर होता रहता है मारात्मक विषम ज्वर में यह नाश सबसे अधिक हुआ करता है। क्विनीन का सेवन इसमें सहायता करता है। जब यकायक शोणांशन होकर मूत्र द्वारा रक्त निकलने लगता है तब उसको कालमेहज्वर (Black water fever) कहते हैं। इसमें कभी कभी रोगी के मूत्रनालियाँ अवरुद्ध होकर अमूत्रता भी उत्पन्न हो सकती है (पृष्ठ२२७)। इसके अतिरिक्त कभी कभी वात कर्दमदग्धाणु (Gas gangrene) के उपसर्ग में और क्वचित् ओरोया ज्वर में शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न होता है। ओरोया ज्वर (Oroya fever) दक्षिण अमेरिका के पेरूविअन एण्डीज (Peruvian andes) में होता है।

(२) *रक्तनाशक विष*—नागविष, लूता विष (Spider poisons) मत्स्य विष, छत्रक विष (Mushroom), दहातुनारात (Pot. Chlorate), प्रांगार एक जारेय [CO] क्विनीन [ऊपर कालमेह ज्वर देखिये], पामाक्विन इत्यादि। पामाक्विन अटेब्रिन (मेपाक्रिन) के साथ देने से भयानक शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न होता है। तीव्र गम्भीर स्वरूप के दग्ध (Severe burns) भी रक्तनाशक विष उत्पन्न करके शोणितमेह उत्पन्न कर सकते हैं।

(३) *असंयोज्य रक्त संक्रम* (Incompatible transfusion) लेण्डस्टीनर (Landsteriner) और कप्यंश (Rhesus factor) के अनुसार विरोधी गणों का रक्तदान यकायक रक्तनाशन करके शोण-वर्तुलिमेह उत्पन्न कर सकता है।

(४) *शोणांशिक रक्तक्षय*—जो रक्तक्षय शोणांशन के कारण (शोणांशिक Hemolytic) होते हैं उन सबों में शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न हो सकता है। इनमें लाडरर (Lederer) का रक्तक्षय विशेष महत्व का है। यह रोग प्रथम और द्वितीय दशकों (१०- २० वर्षों तक) में तथा स्त्रियों में दिखाई देता है। तीव्र रोग में अत्यधिक शोणांशन होकर शोणवर्तुलिमेह तथा मूत्रनलिकाओं का मार्गावरोध होने से अमूत्रता (पृष्ठ२२७) ये उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

(५) *शीत*—कुछ व्यक्तियों में शीत से शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न होता है। यह मेह आवेग के साथ उत्पन्न होने से इसको प्रावेगिक शोण-वर्तुलिमेह Paroxysmal hemoglobinuria कहते हैं।

हैतुकी—इसका मूल कारण सहज या जन्मोत्तर फिरंग होता है। उचित चिकित्सा न करने पर उत्तरकालीन फिरंगियों में (Late syphilitics) यह रोग पाया जा सकता है। वासरमन प्रतिक्रिया सबमें नहीं मिलती।

सम्प्राप्ति—शोणांशन कार्य रोगी के रक्त में उपस्थित रहनेवाले शोणांशि (Hemolysin) द्रव्य से होता है। यह द्रव्य शीत (३०°–३२° श C) में कार्य करता है। इसलिए इसको शीतशोणांशि (Cold hemolysin) कहते हैं। कम तापक्रम पर यह द्रव्य लालकणों के साथ संयुक्त होता है और जब ताप बढ़ता है तब उससे सूक्ष्मवेदी (Sensitized) बने लालकण नैसर्गिक रक्तस्थ पूरक (Compliment) से नष्ट किये जाते है। ये शीत शोणांशि केवल फिरंगोपसृष्टों में पाये जाते हैं। परन्तु सबमें नहीं। इसके सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि फिरंगोपसर्ग के अतिरिक्त उन व्यक्तियों में कुछ स्वाभाविक या प्राकृतिक वैयक्तिक विशेषता (Constitutional, individual peculiarity) होती है जिसके कारण ये शोणांशि उत्पन्न होते हैं।

लक्षण—शोणांशन की प्रक्रिया का प्रारम्भ शीतल जलपान या शीतल जल से हाथों का धोना इस प्रकार के शीत सम्बन्ध से होता है और रोग का आक्रमण उसके कुछ मिनिटों या घण्टों के पश्चात् हुआ करता है। कभी कभी परिश्रम से भी आक्रमण होता है। आक्रमण के समय जाड़ा, सिर-पैर-पीठ में दर्द, वमन, प्रवाहिका और कभी कभी शीतपित्त या कोठ (Urticaria), इत्यादि लक्षण होते हैं। तीव्र रोग में स्पर्शवैपरीत्य (Paraesthesia) रेनाड प्रकार की श्यावता (Cyanosis of Raynaud type), शाखाओं में कोथ (Gangrene) इत्यादि लक्षण भी पाये जाते हैं। ये तीव्र लक्षण लाल कणों के पुञ्जों के द्वारा परसरीय केशिकाओं का मार्गावरोध होने से होते हैं। अल्पकाल के लिए यकृत्प्लीहाभिवृद्धि भी होती है।

मूत्र—आक्रमण के बाद जो मूत्र निकलता है वह शोणवर्तुलि से भरा हुआ और द्राक्षासव के रंग का (Portwine) होता है। उसमें समशोणवर्तुलि (Methaemoglobin) भी विद्यमान् होती है। काचक (Glass) में मूत्र रखने पर उसकी तली में लालकणों के संधार (Stroma) का तलछट (Sediment) बनता है। शोणांशन पूर्ण होने के कारण मूत्र न आविल (Turbid) होता है न धुंधला रहता है।

रक्त—आक्रमण के समय रक्त में शोणवर्तुलि (शोणवर्तुलिमयता Hemoglobinaemia) तथा समशोणवर्तुलि (समशोणवर्तुलिमयता Methemoglobinaemia) पायी जाती है। परन्तु अल्पकाल में ये दोनों नष्ट होकर उनके स्थान में पित्तरक्ति आती है अर्थात् रक्तक्षय बहुत जल्दी ठीक होकर उसके स्थान में पित्तरक्तिमयता (Bilirubinaemia) अनेक दिनों तक बनी रहती है। सौम्य रोग में शोणवर्तुलिमेह नहीं होता क्योंकि रक्त में शोणवर्तुलि की मात्रा वृक्कदेहली तक ऊँची (१३०-१५० सहस्रिधान्य) नहीं होती। आक्रमण के समय श्वेतापकर्ष (Leucopenia) रहकर पश्चात् धीरे धीरे श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) होता है।

चिकित्सा—प्रबल फिरंग नाशक औषधियों का उपयोग करने से लाभ होने की सम्भावना रहती है। कूचंकि से भी लाभ होता है ऐसा कुछ लोगों का अनुभव है।

(६) *निद्रा*—कुछ व्यक्तियों में निद्रा के काल में शोणवर्तुलिमेह उत्पन्न होता है, फिर उसका सेवन दिन में हो या रात में । परन्तु निद्रा प्रायः रात में सेवन की जाने के कारण यह प्रमेह रात में अधिक उत्पन्न होता है । इसलिए इसको नक्तंभव (Nocturnal) शोणवर्तुलिमेह कहते हैं ।

हैतुकी—यह एक विरल दृष्ट प्रमेह है । इसका ठीक कारण मालूम नहीं है । यह प्रौढ स्त्री पुरुषों में अधिकतर पुरुषों में २०-३० वर्ष की अवस्था में हुआ करता है । ये प्रायः रक्तक्षयी और कामला से युक्त होते हैं । रोग का आक्रमण परिश्रम या शीत संस्पर्श से न होकर निद्रा से होता है ।

सम्प्राप्ति और शारीरिक विकृति—इस रोग से पीडितों के लालकणों में कुछ ऐसा स्वाभाविक दोष होता है कि वे रक्तक्षारियता की घट को तथा अम्लता को सह नहीं सकते जिससे रक्त की क्षारियता घटने पर रक्तस्थ शोणांशि तथा पूरक से उनका नाश होता है । नींद में क्षारियता घटने के कारण लालकणों का नाश उस समय होता है । इस रोग में लालकणों का नाश निरन्तर होने से शोणांशिक रक्तक्षय सदैव बना रहता है । लालकणों में आकृति, परिमिति और भिदुरता (Fragility) की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता । रक्तक्षय का स्वरूप प्रायः ऋजुकायाणिवक (Normocytic) होता है । आवेग के समय रक्त में शोणवर्तुलि और समशोणवर्तुलि उपस्थित रहती हैं । प्लीहा की अभिवृद्धि होती है ।

मूत्र—आवेग के समय मूत्र में शोणवर्तुलि उपस्थित रहती है । मूत्रपित्तिजन (Urobilinogen) का उत्सर्ग अधिक राशि में होता है । आवेग के समय तथा आवेगों के बीच में मूत्र में शोणयस्वि (Hemosiderin) के कण उत्सर्गित होते हैं । इसलिए इस प्रमेह को शोणयस्विमेह (Hemosiderinuria) भी कहते हैं ।

लक्षण—रोग का आक्रमण रात में होने से प्रातःकाल में शोणवर्तुलिमेह होता है । आक्रमण के समय कटि पीडा तथा उदर पीडा भी होती है । रक्त का नाशन मध्यांश में बराबर जारी रहने के कारण रक्तक्षय के लक्षण

भी रहते हैं। शोणवतुलिमेह के आवेगों के बीच में काफी लम्बी कालावधि होती है।

निदान—प्रातःकालीन मूत्र में शोणवतुलि की उपस्थिति इसकी सूचक होती है। फिरंग जन्य प्रावेगिक शोणवतुलिमेह से इसका पार्थक्य वासरमन प्रतिक्रिया की नास्त्यात्मिकता, आक्रमण में शीत संस्पर्श का अभाव और स्थायी रक्तक्षय इनसे हो जाता है।

साध्यासाध्यता—इस रोग के लिए कोई सन्तोषजनक चिकित्सा नहीं है, न चिकित्सा का स्थायी परिणाम इस पर होता है। इसलिए रोग पूर्ण प्रगल्भ होने पर ३–५ वर्षों की अवधि में घातक होता है। कुछ रोगी इससे अधिक काल तक जीवित रहे हुए पाये गये हैं और कुछ स्त्रियाँ गर्भवती होने पर भी प्रसूत होकर जीवित रही हुई पायी गयी हैं। मृत्यु प्रायः तीव्र रक्तक्षय, उपसर्ग, प्रतिहारिणी या मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में घनास्रता उत्पन्न होने से होता है।

चिकित्सा—इस रोग के लिए औषधि नहीं है। क्षार सेवन से अल्पकालिक लाभ होता है। परन्तु यदि उसका सेवन छोड़ दिया जाय तो रोगी की स्थिति पहले से भी अधिक खराब होती है। पायलोकार्पीन हैड्रोक्लोराईड की ३ सहस्रिधान्य की दैनिक अधस्त्वक् सूई से अल्पकालिक लाभ होता है। प्लीहोच्छेदन से स्थायी लाभ नहीं होता। परन्तु कुछ लोगों का यह कहना है कि उससे आवेग कम होकर उसकी उग्रता घटती है। शोणितवर्धक औषधियों से रक्तक्षय कम नहीं होता। रक्त संक्रम करने पर शोणवतुलिमेह का आवेग आता है। परन्तु तत्पश्चात् आवेग जल्दी नहीं आते। रक्त संक्रम का परिणाम रोगी के लाल कणों के नाशन में होता है। दाता के कण नष्ट नहीं होते। उसका कारण यह बताया जाता है कि दाता के रक्तरस से ग्रहीता के कण नष्ट होते हैं। इसलिए दाता के कण धोकर रोगी को दिये जाँय। यही चिकित्सा सबसे उत्तम मानी गयी है।

(७) *परिश्रम*—कुछ व्यक्तियों में परिश्रम करने पर शोणवतुलिमेह उत्पन्न होता है। यह अवस्था जवान पुरुषों में क्वचित् दिखाई देती है। इसमें फिरंग या शीत का कोई सम्बन्ध नहीं होता, न शरीर में कोई स्वाभाविक दोष रहता है। ग्लानि उत्पन्न करनेवाले शारीरिक परिश्रम जैसे कि सैनिकों के दीर्घकालिक प्रयाण (Marches) इससे यह प्रमेह

होता है। पृष्ठ वंश की अग्रकुब्जता (Lordoss) इसमें सहायता करती है।

इस रोग में शरीर के भीतर रक्त का नाश न होकर वृक्क रक्तवाहिनियों में स्थानिक रक्तनाश होता है और वहाँ से मूत्र में शोणवर्तुलि आती है। रोगी आप से ठीक हो जाता है। प्रामलक (Ascorbic) अम्ल २५०-३०० सहस्रिधान्य की मात्रा में प्रयुक्त करने से लाभ होता है।

निदान—लाल कणों के न होते हुए लाल कणों के रागक (Pigment) का मूत्र में मिलना इस रोग की पहचान है। अतः सद्यस्क (Fresh) मूत्र का परीक्षण किया जाय जिससे उसमें होनेवाले लाल कण गलने न पावे। विलम्ब करके परीक्षण करने पर तद्गत लालकण गल जाने से शोणितमेह को शोणवर्तुलिमेह समझने की भूल हो सकती है।

शोणितमेह और शोणवर्तुलिमेह दोनों में रसायनिक परीक्षा में रक्त मिल जाता है। अतः रसायनिक परीक्षण से दोनों में पार्थक्य नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म परीक्षण से ही दोनों में भेद किया जाता है क्योंकि शोणितमेह में लाल कण सूक्ष्म दर्शक से दिखाई देते हैं और रसायनिक परीक्षण में रक्त पाया जाता है। शोणवर्तुलिमेह में रसायनिक परीक्षण में रक्त मिलता है। परन्तु सूक्ष्म परीक्षण में लाल कण नहीं दिखाई देते या रसायनिक परीक्षण से जितने रक्त की उपस्थिति मालूम होती है उसके मुकाबले में लाल कण नगण्य होते हैं। कभी कभी जब लालकण बहुत कम होते हैं तब रसायनिक परीक्षण नास्त्यात्मक (Negative) होता है। संक्षेप में शोणितमेह का निदान केवल सूक्ष्मदर्शक से हो सकता है। परन्तु शोणवर्तुलिमेह के लिए रसायनिक और सूक्ष्म परीक्षण दोनों की आवश्यकता होती है।

राजीविमेह Porphyrinuria

(१) *सहज विकार*—पंचधुमेह, क्षारासितमेह, (Alkaptonuria) और विषाणीमेह के समान यह एक सहज (Congenital) विकार है। यह विकार जन्म के समय या छोटे छोटे बच्चों में पाया जाता है। यह कौटुम्बिक रोग (Familial) है जो एक कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों में मुख्यतया पुरुषों में हुआ करता है। इसमें शरीर समवर्त (Bodymetabolism)

की खराबी के कारण रक्त रागक से रार्जाबि बनकर कुछ मूत्र से उत्सर्गित होते हैं और कुछ हड्डियों,दाँत नाडियों इत्यादि धातुओं में संचित होते हैं। इनके कारण ये धातु रंजित होते हैं और त्वचा में प्रभा सूक्ष्मवेदनता(Photo sensitiveness) उत्पन्न होती है। इसके तीव्र (Acute) और गुप्त या सविराम (Lalent or intermittent) करके दो प्रकार होते हैं। इसमें उदर शूल, नाडीशोथ, नाडीघात, पेशीक्षय, मनोविकार, आक्षेप, इत्यादि लक्षण होते हैं।

(२) *जन्मोत्तर*—जठर व्रण, वैनाशिक रक्तक्षय, कामला, इनमें कभी कभी तथा सीस (Lead poisoning), सल्फोनल, ट्रायोनल इनका अधिक मात्रा में सतत उपयोग या सेवन होने पर यह प्रमेह उत्पन्न होता है परन्तु मुख्यतया स्त्रियों में।

इसमें मूत्र शोणवर्तुलिमेह के समान दिखाई देता है, परन्तु उसमें न शुक्ति मिलती है न रक्त पाया जाता है। इसका निदान केवल रंगावलि (Spectrum) परीक्षण से होता है। यह रोग असाध्य है।

मलीमसमेह Melanuria

यह प्रमेह केवल मलीमसार्बुद (Melanoma) से पीडित व्यक्तियों में पाया जाता है। उसमें भी यह देखा जाता है कि जक तक अर्बुद अपने मूल स्थान में मर्यादित रहता है तब तक यह विकृति नहीं होती। परन्तु जब अर्बुद अन्य अंगों में विशेषतया यकृत् में समस्थित (Metastasis) हो जाता है तब इस प्रमेह का प्रादुर्भाव होता है। इसके साथ साथ यह भी देखा जाता है कि मूत्रगत मलीमसि (Melanin) की मात्रा यकृत् गत अर्बुद के विस्तार पर तथा उसके रागकाभरण (Pigmentation) के अनुसार न्यूनाधिक होती है। रोगनिदान की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

मलीमसार्बुद में मूत्र में मलीमसिजन (Melanogen) के रूप में मलीमसि (Metanin) उत्सर्गित होती है। यह द्रव्य हवा के साथ सम्बन्धित होने पर काला होता है। इसलिए सद्यस्क मूत्र स्वाभाविक वर्ण का ही होता है और थोड़ी देर के बाद काला होने लगता है।

निनीलिन्यमेह Indioanuria

स्वस्थ मूत्र में २४ घण्टे में निनीलिन्य अत्यल्प मात्रा में अर्थात् ४-२० सहस्रिधान्य तक उपस्थित रहता है। मांसाहार से इसकी मात्रा बढ़ती है और शाकाहार से घटती है। मूत्र में इसकी मात्रा स्वाभाविक से अधिक होने पर निनीलिन्यमेह कहते हैं। यह द्रव्य केवल शरीरगत पूतिजनन (Putrifaction) से उत्पन्न होता है। इसलिए इस प्रमेह के साथ प्रायः क्लम (Lassitude) और शिरः पीडा आदि लक्षण मिलते हैं। यह प्रमेह निम्न विकारों में पाया जाता है—

(१) आन्त्र के रोग—निनीलिन्यमेह का यह सबसे प्रधान कारण ये रोग हैं। इसमें भी आन्त्र मार्गावरोध(Intestinal obstruction)में मूत्र में जितना निनीलिन्य उत्सर्गित होता है उतना दूसरे रोगों में नहीं होता। आन्त्रमार्गावरोध के अतिरिक्त आन्त्रगत अपचन (Indigestion), विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर तथा इतर आन्त्र में प्रशोथ उत्पन्न करनेवाले विकार; उदरावरणशोथ तथा आन्त्रघात (Paralysis) उत्पन्न करनेवाले अन्य विकार इनमें निनीलिन्यमेह होता है। केवल मलावरोध में भी यह प्रमेह होता है। परन्तु स्थूलान्त्र के अन्य विकारों में यह प्रमेह प्रायः उत्पन्न नहीं होता।

(२) जठर के विकार—जीर्ण जठरशोथ, कर्कट इत्यादि जठराम्ल कम करनेवाले विकार। अम्ल की कमी से आन्त्र में सड़ने का कार्य अधिक होने से इसकी उत्पत्ति में सहायता होती है। परन्तु जठर व्रण (Gastric ulcer) में भी, जिसमें जठराम्ल की अधिकता रहती है, यह प्रमेह उत्पन्न होता है जिसका ठीक स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सकता।

(३) पित्त की कमी—पित्त आन्त्र को गति देता है तथा तद्गत सड़न की क्रिया को रोकता है। अतः पित्त की कमी आन्त्रस्थ पूतिभवन में सहायता करके इस प्रमेह को उत्पन्न करती है।

(४) शरीरगत पूति भवन—शरीर में कहीं भी पूय भवन, पूति भवन होने पर यह प्रमेह उत्पन्न होता है। जैसे अन्तःपूयता (Empyema), श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) फुफ्फुस के यक्ष्मज विवर (T. B. cavities) सड़नेवाले घातक अर्बुद; फुफ्फुस, शाखाएँ तथा अन्य स्थान के कोथ (Gangrene); प्रसवोत्तर गर्भाशय दुष्टि (Sepsis)

(५) इतर विकार—आन्त्रकृमि विशेषतया दीर्घ छिन्नालशिरकृमि (Dibothriocephalus latus), तीव्र औपसर्गिक रोग, तिरमीय मेह।

उत्पत्ति—सड़ने की क्रिया में शरीर में निनीलव (Indol) करके एक विषैला द्रव्य बनता है। शरीर उसको जारित करके निर्नीलजारल (Indoxyl) में परवर्तित करके निर्विष बना देता है। पश्चात् वह दहातु और शुल्वारिक अम्ल से संयुक्त होकर दहातु निनीलजारल शुल्वीय (Potassium indoxyl Sulphate) के रूप में मूत्र के साथ उत्सर्गित होता है। वही निनीलेन्य है।

पित्तमेह Choluria

शरीर में पित्त नष्ट होनेवाले लाल कणों के भीतर के रंग द्रव्य के अयस विरहित अंश (Ironfree moiety) से उत्पन्न होता है। शरीर में लालकण स्वस्थावस्था में प्रतिदिन अरबों की संख्या में नष्ट हुआ करते हैं और कुछ रोगों में यह संख्या कई गुना अधिक हो जाती है। पित्त इसलिए रक्त का स्वाभाविक संघटक होता है। स्वस्थावस्था में इसकी मात्रा २ लाख भाग में एक भाग होती है। यह मध्यम देहली द्रव्य (पृष्ठ १५) है। जब इसकी मात्रा ५०००० भाग में एक भाग हो जाती है तब इसका उत्सर्ग होने लगता है। जब पित्त की मात्रा स्वाभाविक से अधिक और वृक्क देहली से कम होती है तब उस अवस्था को गुप्त कामला (Latent jaundice) कहते हैं।

मूत्र में पित्त के उत्सर्ग का वही अर्थ होता है जो पित्त द्वारा शरीर के धातु रंजन का अर्थात कामला या पीलिया का होता है। इसलिए कामला के शोणांशिक (Hemolytic), यकृज्जन्य (Hepatogenous) और अवरोधजन्य (Obstructive) करके जो तीन कारण होते हैं वे पित्तमेह के भी होते हैं। प्रायः धातु रंजन के अर्थात् कामला प्रकट होने से पहले पित्तमेह अर्थात् मूत्र में पित्त का उत्सर्ग हुआ करता है। इसके लिए अपित्त मेहिक कामला (पृष्ठ २६६ देखिये) अपवाद है। कामला में प्रथम पित्तमेह, पश्चात् आंखों का पीलापन और अन्त में त्वचा का पीलापन उत्पन्न होता है और जब कामला ठीक होने लगती है तब प्रथम पित्तमेह नष्ट होता है और अन्त में त्वचा का पीलापन जाता रहता है।

हेतुकी—(१) *रक्तनाश*—जिन जिन रोगों में रक्त का अधिक नाश होता है उन सब रोगों में पित्तमेह हो सकता है। जैसे शोणांशिक कामला, सहज कौटुम्बिक (Congenital familial) कामला।

(२) *यकृत् के विकार*—जैसे तीव्र यकृच्छोथ, तीव्र यकृत् पीतक्षय (Yellow atrophy), भास्वर विष (Phosphorus Poisoning)

(३) *पित्तमार्गावरोध* (Biliary obstruction)—पित्तवाहिनियों का मार्गावरोध प्रायः पित्तवाहिनी प्रशोथ या अश्मरी के कारण भीतर से या अर्बुद, अभिवृद्ध लस ग्रन्थियाँ इनके कारण बाहर से हो जाता है।

पित्तमेह में मूत्र में पित्त के दोनों संघटक अर्थात् लवण और रागक (Salts and pigments) उत्सर्गित होते हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये दोनों संघटक बराबर उत्सर्गित हों। रागक के बिना पित्तमेह हो नहीं सकता इसलिए पित्तमेह को पित्तरक्ति मेह भी (Bilrubinuria) कभी कभी कहते हैं। लवणों की अपेक्षा रागक की मात्रा सदैव अधिक रहती है। पित्तमेह में लवण उसके साथ हो सकते हैं, परन्तु रागक के बिना केवल लवणों का उत्सर्ग नहीं होता। विविध कामलाओं में इन दोनों के उत्सर्ग का सम्बन्ध निम्न प्रकार का होता है।

(१) शोणांशिक अर्थात् रक्तनाश जन्य कामला में रक्त में पित्तरक्ति नं० १ (Bilirubin No 1) बहुत अधिक मात्रा में उपस्थित रहती है। परन्तु इसकी वृक्क देहली बहुत ऊँची (High renal threshold) होने के कारण (६ सहस्रिधान्य mg%) वृक्कों द्वारा उसका उत्सर्ग प्रायः होता ही नहीं। इसलिए इस प्रकार की कामला को अपित्तमेहिक (Acholuric) कामला कहते हैं। परन्तु जब किसी कारण से इस ऊँची मर्यादा से अधिक पित्त रक्त में संचित होता है तब मूत्र में उसका उत्सर्ग होने लगता है, परन्तु उसके साथ लवण नहीं रहते हैं, लवण के स्थान में मूत्रपित्ति (Urobilin) रहती है।

(२) अवरोध—कामला में जब कि अवरोध पूर्ण रहता है मूत्र में रागक तथा लवण दोनों भी उपस्थित रहते हैं। परन्तु रोग जीर्ण होने पर लवणों का उत्सर्ग बन्द होकर केवल रागक निकला करते हैं। इस कामला में मूत्र में मूत्रपित्ति नहीं उत्सर्गित होती। जब अवरोध अपूर्ण होता है तब

रागक और लवण इनका सम्बन्ध पूर्वोक्त स्वरूप का ही रहता है परन्तु मूत्र में मूत्रपित्ति का उत्सर्ग होता है।

(३) यकृज्जन्य—कामला में मूत्र में पित्त रागक, पित्त लवण और मूत्रपित्ति इनका उत्सर्ग अपूर्ण अवरोध जन्य कामला के समान होता है।

मूत्रपित्तिमेह Urobilinuria

मूत्रपित्ति की उत्पत्ति—पित्त के रागकों के समान मूत्रपित्ति और मूत्रपित्तिजन रक्त की शोणवर्तुलि से व्युत्पादित (Derived) द्रव्य हैं। आन्त्र में पित्त की जो पित्तरक्ति (Bilirubin) उत्सर्गित होती है वह आन्त्रस्थ प्रह्रासक तृणाणु (Reducing bacteria) ओं की क्रिया से मूत्रपित्तिजन में (Urobili nogen) प्रह्रसित होती है। इसका अधिकांश मलके साथ उत्सर्गित होता है जिसके कारण मलका अपना विशेष रंग होता है। मल के साथ रहने से इसको विष्ठापित्ति (Stercobilin) भी कहते हैं। प्रतिदिन ४०—२८० सहस्रिधान्य (Mg) तक यह द्रव्य मल के साथ उत्सर्गित हुआ करता है। मूत्रपित्तिजन का केवल अल्प अंश आन्त्र से प्रचूषित होता है। उसका एक भाग यकृत् में पित्तरक्ति में परिवर्तित होकर और कुछ भाग वैसे ही अपरिवर्तित स्थिति में पित्त के साथ आन्त्र में फिरसे उत्सर्गित होता है और कुछ अंश रक्त द्वारा वृक्कों में आकर मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है। मूत्रपित्तिजन का मूत्र द्वारा दैनिक उत्सर्जन $\frac{1}{2}$—२ सहस्रिधान्य तक होता है।

मूत्र में अभाव या अल्पता—नवजात बालकों में आन्त्र में प्रह्रासक तृणाणु न होने से तथा पूर्ण अवरोधजन्य कामला में आन्त्र में मूत्रपित्तिजन की उत्पत्ति ही न होने से मूत्र में इसका अभाव होता है। क्षुधा, अनशन, अपूर्ण अवरोधज कामला इत्यादि अवस्थाओं में आन्त्र में पित्तरक्ति का उत्सर्ग कम होने से मूत्र में इसकी मात्रा घटती है। वैसे ही तीव्र वृक्कशोथ में वृक्कों की उत्सर्जक शक्ति घटने से मूत्र में यह कम मात्रा में पाया जाता है।

मूत्र में जब मूत्रपित्ति की मात्रा स्वाभाविक से अधिक होती है तब उसको मूत्रपित्तिमेह कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना

चाहिए कि मूत्र में मूत्रपित्तिजन उत्सर्गित होता है जो प्राणवायु से सम्बन्धित होने पर कुछ घण्टों में मूत्रपित्ति में परिवर्तित होता है। सद्योत्सृष्ट मूत्र में मूत्रपित्ति अत्यल्प होती है। निम्न अवस्थाओं में मूत्रपित्तिमेह उत्पन्न होता है।

(१) *आन्त्र में अधिक पित्तोत्सर्ग*—शोणांशिक रक्तक्षय, वैनाशिक रक्तक्षय, शोणांशिक कामला, विषमज्वर इत्यादि रक्तनाशक रोगों में।

(२) *यकृत् की अकार्यक्षमता*—यकृच्छोथ, यकृदाल्युदर (Cirrhosis), हृद्रोगजन्य यकृत् की अधिरक्तता (Congestion) इत्यादि रोगों में यकृत् की कार्यक्षमता घटने के कारण।

(३) *कुछ औपसर्गिक ज्वर*—लोहित ज्वर (Scarlet fever) फुफ्फुसपाक इत्यादि ज्वरों में रक्तनाश तथा यकृत् की खराबी के कारण।

उपयोग—*सापेक्ष निदान में*—रक्तक्षय रक्तनाश से तथा रक्तस्राव से हो सकता है। प्रथम में मूत्रपित्तिमेह होगा परन्तु दूसरे में न होगा जिससे दोनों में पार्थक्य हो जायगा। मूत्रगत मूत्रपित्तिजन के साथ मलगत उसकी मात्रा का आगणन करना भी जरूरी होता है क्योंकि यदि रक्तनाश रहा तो मूत्र के समान मलगत उसकी मात्रा स्वाभाविक से अधिक (३००-२००० सहस्रिधान्य) रहेगी।

(२) *यकृत् कार्यक्षमताज्ञानार्थ*—यकृदाल्युदर, हृद्रोग, विष इनमें यकृत् की कार्यक्षमता कितनी घट गयी है इसका अनुमान मूत्रपित्तिजन की मात्रा से होता है क्योंकि यकृत् की कार्यहानि की न्यूनाधिकता के अनुसार मूत्र में मूत्रपित्तिजन की न्यूनाधिकता हुआ करती है।

(३) *गुप्त रक्तस्राव*—मस्तिष्क या शरीर के अन्य अंगों में जब रक्तस्राव होता है और वह बाहर नहीं आ सकता तब उसका अनुमान मूत्रगत मूत्रपित्तिजन की अधिकता से किया जा सकता है क्योंकि स्रुत रक्त के प्रचूषण से इसकी अधिक उत्पत्ति हुआ करती है।

पयोलसमेह Chyluria

इसमें मूत्र में पयोलस (Chyle) उत्सर्गित होता है और उसके कारण मूत्र का रंग दुधिया (Milky) रहता है। यह दुधिया रंग चरबी

के सूक्ष्मकणों के कारण होने से चरबी युक्त आहार के पश्चात् मूत्र का रंग अधिक दुधिया रहता है, इतर समय पर कम और कभी कभी मूत्र में उसका पूर्ण अभाव भी हो सकता है। इस प्रमेह की उत्पत्ति रसवाहिनियाँ रसप्रपा रसकूल्या (Thoracic duct) इत्यादि के रसप्रवाह में अड़चन उत्पन्न होने से होती है। इससे नीचे की रसवाहिनियाँ विस्फारित तथा कुटिल (Vericose) होती हैं। धीरे धीरे इनकी विस्फार तथा कुटिलता मूत्राशय गत रसवाहिनियों तक पहुँचता है जिनके विदीर्ण (Rupture) होने से तद्‌गत पयोलस मूत्र में मिल जाता है। यह रसप्रवाहबाधा निम्न कारणों से होती है।

(१) श्लीपद कृमि—भारतवर्ष में पयोलसमेह का यह बहुत सामान्य कारण है। इसमें रसवाहिनियों या रसप्रपा इत्यादि में कृमि अवस्थान करके उनको अवरूद्ध कर देते हैं। यह विकार बच्चों की अपेक्षा जवानों में और पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक दिखाई देता है।

(२) रसवाहिनियों पर बाहर से दबाव—जैसे गर्भ, उदरान्तर्य अर्बुद, अभिवृद्ध ग्रन्थियाँ इत्यादि। रसवाहिनियों का प्रशोथ (Inflamation) तथा आघात अभिघात से उनका निर्दीर्ण होना।

(३) अनुतीव्र वृक्कशोथ—(Subacute nephritis)—कभी कभी इस रोग में यह विकार दिखाई देता है जिसका ठीक विवरण नहीं किया जाता।

पूयमेह Pyuria

अपजनित, नष्टभ्रष्ट मृत श्वेतकायाणुओं को पूयकोशा (Pus cell) कहते हैं। और मूत्र में जब ये पाये जाते हैं तब उसको पूयमेह कहते हैं। मूत्र में पूयकोशाओं की संख्या अल्प या अधिक हो सकती हैं। पूयमेह के अनेक कारण होते हैं जो मूत्रण संस्थान गत तथा मूत्रण संस्थान बाह्य करके दो भागों में बाँट सकते हैं। इनमें कारण कोई हो और किसी विभाग का हो पूयमेह का मुख्य हेतु उपसर्ग (Infection) ही होता है। इनमें मूत्रण संस्थान गत कारण विशेष महत्व के होते हैं।

(१) *मूत्रण संस्थान गत*—वृक्कालिन्दशोथ, वृक्कविद्रधि, पूयाप वृक्कता, वृक्काश्मरी, वृक्कयक्ष्मा, घातक वृक्कार्बुद, गवीनीगत अश्मरी, मूत्राशयशोथ, मूत्राशयगत अश्मरी, मूत्राशययक्ष्मा, मूत्राशयव्रण तथा उसके

अर्बुद, अष्ठीलाशोथ अष्ठीलाभिवृद्धि, अष्ठीलाश्मरी, अष्ठीलाविद्रधि, मूत्रमार्ग शोथ, मूत्रमार्गोपसंकोच, इत्यादि ।

(२) *मूत्रण संस्थान बाह्य*—इनमें स्त्रियों में श्वेतप्रदर (Luecorrhoea) और पुरुषों में निरूद्धप्रकाश (Phimosis) जन्य शिश्न मार्ग शोथ विशेष महत्व के है । इनके अतिरिक्त उण्डुकपुच्छ, बीजवाहिनी, कटिलम्बिनी (Psoas) इत्यादि अंगों की विद्रधियों का बस्ति में विदीर्ण होना भी पूयमेह का कारण होता है ।

पूयोत्पत्ति का स्थान—पूयमेह में पूयोत्पत्ति के स्थान का कुछ अनुमान मूत्र की प्रतिक्रिया, मूत्र के साथ पूय के निकलने का समय, उसके साथ पूय के मिले रहने की स्थिति (२५५ पृष्ठ पर त्रिपात्र परीक्षा देखो) तथा उसकी मात्रा इत्यादि से किया जा सकता है ।

(अ) मूत्रस्रोत (Urethra) या अष्ठीला—जब पूय इनसे आता है तब वह संपूर्ण मूत्र के साथ मिला हुआ न होकर मूत्र के प्रथम अंश में अर्थात् प्रथम पात्र में आता है, मध्यम राशि में रहता है और मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल रहती है ।

(आ) मूत्राशय—जब पूय इससे आता है तब वह संपूर्ण मूत्र से मिला हुआ नहीं रहता, मूत्र के अन्तिम अंश में अर्थात् तीसरे पात्र में अधिक आता है, अधिक राशि में होता है और प्रति क्रिया में मूत्र क्षारिय तथा दुर्गन्धित होता है।

(३) गवीनी या वृक्क—जब पूय इन से आता है तब वह संपूर्ण मूत्र से मिला हुआ रहता है, तीनों पात्रों में समान रूपेण पाया जाता है, प्रायः अल्प राशि में होता है और मूत्र की प्रति क्रिया अम्ल रहती है ।

(४) अन्तरित—बीच बीच में दिखाई देनेवाला पूयमेह बहुधा पूयाप वृक्कता (Pyonephrosis) या वृक्क विद्रधि का सूचक होता है । यकायक अधिक राशि में आनेवाला पूय प्रायः मूत्राशय में विदीर्ण होनेवाली विद्रधि से आता है । यन्त्रपरीक्षण से भी इसमें सहायता होती है । २-३ बार टांकिक (Poric) या लवण (Saline) विलयन से बस्ति धोने के पश्चात् १०-१५ मिनिट तक उसमें स्वच्छ द्रव मिल जाय और उसके पश्चात् वह आविल (Turbid) हो तो पूय वृक्क से आ रहा है ऐसा समझ सकते हैं । बस्तिवीक्षण यन्त्र से मूत्राशय का परीक्षण इससे अधिक सहायक होता

है। इससे मूत्राशय स्वस्थ है या विकृत इसका ज्ञान होता है। यदि मूत्राशय स्वस्थ रहा हो तो गवीनीद्वार और उनसे आनेवाले मूत्र का परीक्षण करके पूयोत्पत्ति के उच्च स्थानों का अनुमान किया जा सकता है।

मूत्र के सूक्ष्मपरीक्षण—से भी बहुत सहायता मिलती है। पूयमेह में रसायनिक परीक्षण का कोई उपयोग नहीं होता। सूक्ष्म परीक्षण में अधिच्छदीय (Epithelial) कोशाएं महत्त्व की हैं। इनके आकार प्रकार के अनुसार विकृत स्थान का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त मूत्र का तृणाणुविषयक (Bacteriological) परीक्षण भी होना चाहिए। मूत्र में पूय उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं में पूयजनक गोलाणु विशेषतया गुह्यगोलाणु (Gonococcus), स्थूलान्त्र दण्डाणु, यक्ष्मदण्डाणु, आन्त्रिक दण्डाणु विशेष महत्व के हैं।

वायुमेह या फेनमेह

Pneumaturia

जब मूत्र मार्ग से मूत्र के साथ या उसके बिना भी वायु निकलता रहता है तब उसको वायुमेह कहते हैं। इसके कारणों के निम्न दो वर्ग होते हैं—

(१) *आन्त्र से सम्बन्ध*—उण्डुक, उण्डुकपुच्छ, मलाशय, गुद इत्यादि का मूत्रण संस्थान के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होना। यह सम्बन्ध मूत्राशय, मलाशय,उण्डुक, अवग्रहाभस्थूलांत्र (Sigmoid colon), गर्भाशय इत्यादि के कर्कट के (Cancer) कारण या अर्बुद, उण्डुकपुच्छ इनकी विद्रधि के कारण, मलाशयशोथ (Proctitis), परिमलाशयशोथ (Periproctitis), के कारण या आघात, अभिघात प्रसव इत्यादि से उत्पन्न हुए बस्तिमलाशयनाडीव्रण (Fistula) के कारण होता है। इसमें वायु के साथ मूत्रमार्ग से मलद्रव्य भी निकला करता है।

(२) *उपसर्ग*—मूत्राशय या मूत्रण संस्थान के अन्य अंग का वायुजनक जीवाणुओं से उपसृष्ट होना। वायुजनक जीवाओं में सामान्य स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. Coli communis) विशेष महत्व के होते हैं। ये दण्डाणु प्रायः वायुमेह के बिना केवल दण्डाणुमेह (Bacilluria) उत्पन्न करते हैं। परन्तु इनसे वायुमेह भी उत्पन्न होता है। इसमें कभी कभी पूय नगण्य होता है, शुक्ति लेशमात्र रहती है, प्रतिक्रिया

प्रायः अम्ल होती है और तिक्तातिं की या अन्य किसी प्रकार की दुर्गन्ध तक नहीं होती। इसके विपरीत कभी कभी इसमें निकलनेवाला मूत्र इतना विष्ठासम दुर्गन्धित रहता है कि मूत्राशय का स्थूलान्त्र के साथ कहीं न कहीं जरूर सम्बन्ध होगा ऐसा जबरदस्त सन्देह उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में बस्तिवीक्षणात्मक (Cystoscopic) परीक्षण से सन्देह दूर हो सकता है। फिर भी गर्वीनीशीर्ष का यदि इस प्रकार का सम्बन्ध हो तो उसका पता बस्तिवीक्षण से नहीं चल सकता।

वायुमेह को उत्पन्न करनेवालों में दूसरे महत्व के जीवाणु प्रकिण्व (Yeasts) होते हैं। ये अधिकतर शर्करामेहियों में पाये जाते हैं। इनका सन्देह होने पर प्रथम मूत्र में शर्करा को देखना चाहिए। यदि शर्करा हो तो सलाई से मूत्र निकालकर उसमें प्रकिण्वों को देखना चाहिए। प्रकिण्व जन्य वायुमेह में मूत्र में न पूय कोशाएं पायी जाती हैं, न अन्य कोई जीवाणु रहते हैं और स्वतन्त्रतया वायु न निकलकर मूत्र के साथ छोटे छोटे बुलबुलों के रूप में उत्सर्गित होता है। इसलिए वायुमेह को फेनमेह[1] भी कहते हैं।

वायुमेह उत्पन्न करनेवाला तीसरा वेलचीदण्डाणु (B. welchii) है। यह दण्डाणु स्थूलान्त्र दण्डाणु के समान मनुष्यों के आन्त्र में रहता है और उसी के समान मूत्राशय में पहुँच सकता है।

निर्मोकमेह या स्तम्भमेह

Cylindruia

जिस विकार में मूत्रनलिकाओं के निर्मोक मिलते हैं उसको निर्मोकमेह कहते हैं। निर्मोक वृक्कविकार का निदर्शक होता है परन्तु उनकी संख्या का विकृति की न्यूनाधिकता से सम्बन्ध नहीं होता। कभी ये अल्पकालिक वृक्क प्रकोप (Irritation) तथा अधिरक्तता (Congestion) में बहुत अधिक संख्या में निकलते हैं, कभी वृक्कशोथ में इनकी बीच बीचमें वर्षा (Shower) हुआ करती है जो चिन्ताजनक होती है और कभी रोग ठीक होने के समय मूत्रसंचार अच्छा होने के कारण मूत्र नलिकाओं में अटके हुए निर्मोक अधिक संख्या में एक समय पर निकला करते हैं।

---

(१) फेनयुक्तं फेनमेही मेहति ॥ सुश्रुत ॥

स्फटिकमेह और सिकताहमेह[1]

Crystaluria, Passing of gravel

मूत्र में अनेक स्फटिकाकार द्रव्य (Crystaline) उत्सर्गित होते हैं। परन्तु जब सद्यस्क मूत्र में उनके स्फटिक पाये जाते हैं तब उस अवस्था को स्फटिकमेह कहते हैं। ये स्फटिक मूत्र प्रतिक्रिया पर निर्भर होते हैं। अम्ल मूत्र में चूर्णातु तिग्मीय (Cal:oxalate) और मिहिक अम्ल के, क्षारिय में भास्वीयों (Phosphates) के और शुल्बारि समवर्त (Sulphur metabolism) के कुजज विकार में विषाणी Cystine) के स्फटिक मिलते हैं। इनमें तिग्मीयमेह और भास्वीयमेह विशेष महत्व के हैं।

(अ) *तिग्मीयमेह* (Oxaluria)—

जब मूत्र के सूक्ष्म परीक्षण में चूर्णातु तिग्मीय के स्फटिक पाये जाते हैं तब उसको तिग्मीयमेह कहते हैं। तिग्मियों की दैनिक मात्रा १५--२० सहस्रिधान्य होती है और ३५ सहस्रिधान्य तक स्वाभाविक मर्यादा समझ सकते हैं। चूर्णातु तिग्मीय की विलेयता बहुत ही कम होने के कारण (५००००० भाग में १ भाग) मूत्र कुछ काल रहने के पश्चात् उसमें तिग्मीय के स्फटिक मिलना सदैव तिग्मीयमेह का सूचक नहीं होता। क्योंकि जब तक तिग्मिक अम्ल क्षारातु-दहातु (Sodium--Potassium) के साथ मिलता है तब तक उसके लवण विलेय होने के कारण स्फटिक नहीं बनते हैं। परन्तु अनेक बार तिग्मिक तथा अन्य अम्लों और चूर्णातु तथा क्षारातु--दहातु के प्रमाण (Proportion) ऐसे बदल जाते हैं कि चूर्णातु तिग्मीय बनने लगता है जो मूत्रण संस्थान में या उपसृष्ट मूत्र में स्फटिकों के रूप में परिवर्तित होता है। तिग्मीयमेह निम्न अवस्थाओं में पाया जाता है—

---

(१) स्फटिकमेह और सिकतामेह दोनों एकही स्वरूप के विकार हैं। अन्तर केवल बाहर निकलनेवाले द्रव्यों के छोटेबड़ेपन पर होता है। जब निकलनेवाले द्रव्य अणुस्वरूप होने से केवल सूक्ष्मदर्शक के द्वारा दिखाई देते तब उसको स्फटिकमेह और जब बालु के समान बड़े बड़े कणों के रूप में निकलेंगे तब उसको सिकतामेह कहा जायगा। पीछे पृष्ठ १२६ की टिप्पणी भी देखिए।

(१) आहार—चाय, काफी, कोको, पालक, टोमाटो, अंजीर, चिकरी, चाकोलेट शलगम (Beetroot), चीर्मा, सेम गाजर, पातगोभी, प्याज, अंजीर, अंगूर, सन्तरा, नीबू इत्यादि तिग्मिक अम्ल युक्त द्रव्यों का अति सेवन ;

(२) विकार—अजीर्ण, अपचन, प्रांगोदियों का आन्त्र में सड़ना, यकृन्मन्दता (Sluggish liver) इत्यादि अनम्लता (Achlorhydria) जनित पचन सम्बन्धी विकार। इन विकारों से पीड़ित कुछ रोगियों में ऐसी विचित्र प्रवृत्ति दिखाई देती है कि एक समय उनका मूत्र अम्ल रहकर तिग्मीयमेह और दूसरे समय मूत्र क्षारिय बनकर भास्वीयमेह उत्पन्न होता है। इस विपर्यय का कोई विशेष महत्व नहीं होता। अत्यम्लता (Hyperchlorhydria) अम्लपित्त में भी तिग्मिक अम्ल का अधिक प्रचूषण होने से तिग्मीयमेह उत्पन्न होता है।

(३) तिग्मीयमेह प्रवृत्ति (Oxaluric diathesis)—तिग्मीय मुख्यतया आहार से उत्पन्न होते हैं। इसलिए इस प्रकार के तिग्मियों को बाह्यजात (Exogenous) कहते हैं। परन्तु अनेक बार आहार का कोई सम्बन्ध न होते हुए भी तिग्मियों का उत्सर्ग दिखाई देता है। ये कहाँ से उत्पन्न होते हैं इसका ठीक ज्ञान नहीं है परन्तु माना जाता है कि ये मिहिक अम्ल (Uric acid) क्र्यीर्या (Creatine) तथा उस श्रेणी के अन्य द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं अर्थात् आंतरजात (Endogenous) हो सकते हैं। इस कल्पना की पुष्टि इस बात से होती है कि एक ही रोगी में मिहिक अम्ल और चूर्णातु तिग्मीय के स्फटिक साथ साथ मिलते हैं या भिन्न भिन्न दिनों पर पाये जाते हैं तथा वातरक्ती (Gouty) में चूर्णातु तिग्मीयमेह उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक होती है। तिग्मीयमेह की प्रवृत्ति वातरक्त, नाड्यवसन्नता (Neurasthenia), मस्तिष्कदौर्बल्य जीर्ण त्वग्रोग, शोणितस्रवता (Haemophilia) इत्यादि से पीड़ितों में दिखाई देती है।

तिग्मीयमेह मुख्यतया आहार जन्य होकर उसमें विकृति जनक कोई विशेष गुण नहीं है। परन्तु जब तिग्मीयमेह बराबर बना रहता है तब वातिक दुष्पाचनता (Nervous dyspepsia), नाड्यवसन्नता, विषण्णता (Hypochondria) इत्यादि सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतः इन रोगों से पीड़ितों में मूत्रपरीक्षण जरूर करना चाहिए और यदि मूत्र

में चूर्णातु तिग्मीय स्फटिक मिल जाँय तो अन्य चिकित्सा के साथ आहार चिकित्सा पर भी ध्यान दिया जाय।

तिग्मीयमेह जैसे कुछ सार्वदैहिक लक्षण उत्पन्न करता है वैसे मूत्रण प्रजनन संस्थान में भी प्रकोप करके निम्न लक्षण उत्पन्न करता है।

(१) जब मूत्र में तिग्मीयों की मात्रा अधिक होने के कारण वे मूत्राशय में स्फटिकों में परिवर्तित होने लगते हैं तब अपने खरखरे और कठिन पृष्ठ भाग (Surface) के कारण वे मूत्राशय में प्रकोप करके दिन में मूत्रण की वारम्वारता (Frequency) को बढ़ाते हैं और रात में शय्यामूत्र (Nocturnal enuresis) को उत्पन्न करते हैं। विशेषतया स्त्रियों में शय्यामूत्र अधिक हुआ करता है।

(२) मूत्राशय के साथ वीर्याशय भी सम्बन्धित रहने के कारण मूत्राशय प्रकोप का परिणाम उन पर होकर मूत्र में कुछ वीर्य भी आने लगता है जिसके कारण मूत्र में शुक्रकीटाणु पाये जाये हैं। रात में इस प्रकोप का परिणाम स्वप्नदोष (Spermatorrhoea) में होता है।

(३) नैदानिकीय दृष्टया तिग्मीयमेह का सबसे अधिक महत्व अश्मरी उत्पन्न करने की उसकी प्रवृत्ति के कारण होता है। तिग्मीयमेह में मूत्र में प्रायः कुछ श्वेतकण तथा रुधिरकायाणु (शोणितमेह पष्ट २५६) बराबर पाये जाते हैं। परन्तु अश्मरी की दृष्टि से महत्त्व की बात यह है कि आहार जन्य या मस्तिष्क विकार जन्य प्रमेह में जैसे तिग्मियों के स्फटिक अलग अलग दिखाई देते हैं वैसे मूत्रण संस्थान में कहीं भी इसकी अश्मरी होने पर नहीं मिलते, वे प्रायः संपिण्डित (Agglomerated) होकर सूक्ष्म अश्मरी (सिकता) के रूप में पाये जाते हैं। अतः यदि अश्मरी के लक्षण होने पर मूत्र में तिग्मीयों के संपिण्डित स्फटिक मिल जाँय तो मूत्रण संस्थानगत अश्मरी के सन्देह की पुष्टि हो जाती है। फिर उसकी निश्चिति क्ष रश्मि चित्रण के द्वारा कर सकते हैं।

भास्वीयमेह या क्षारमेह

Phosphaturia

व्याख्या—इस प्रमेह में मूत्र में भास्वीयों का उत्सर्ग होता है। परन्तु कितना उत्सर्ग होने पर उसको भास्वीयमेह कहा जाय इसके सम्बन्ध में निम्न मतभेद हैं।

(१) कुछ लोग ताप कसौटी के समय भास्वीयों का निस्साद मिलने पर उसको भास्वीय मेह कहते हैं।

(२) कुछ लोग मूत्र कुछ काल तक मूत्रपात्र में रहने पर भास्वीयों के निस्साद बनने की स्थिति को भास्वीय मेह कहते हैं।

(३) अन्य लोग जब भास्वीयों का निस्साद मूत्राशय में होकर मूत्र गाढ़ा और दूधिया निकलता है तब उसको भास्वीयमेह कहते हैं।

(४) अन्य लोग स्वस्थावस्था में भास्वीयों की जो अत्यधिक (Maximum) मात्रा उत्सर्गित होती है उससे अधिक मात्रा में उत्सर्ग होने पर भास्वीयमेह कहते हैं।

निम्न अवस्थाओं में भास्वीयमेह होता है—तीव्र ज्वरों की संनिवृत्तावस्था (Convalescence), अत्यधिक दूध और मांसाहार, क्षारिय औषधियों का सेवन, मूत्राशय शोथ, अग्निमान्द्य (Dyspepsia) यकृत् का तीव्र-पीत क्षय, अस्थिवक्रता (Rickets) अस्थिमृदुता (Osteomalacia) इत्यादि अस्थि विकार, राजयक्ष्मा, मन और मस्तिष्क संस्थान के विकार, भास्वीय मधुमेह (Phosphatic diabetes)

मूत्र में भास्वीयों का अस्तित्व उनके अविलेय रहने पर या बनने पर विदित होता है और यह अविलेयता मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारिय रहने पर या उनका रूपान्तरण बनने पर उत्पन्न होती है। अतः जिन विकारों में या अवस्थाओं मे भास्वीय मेह उत्पन्न होता है उनमें भी प्रायः भास्वीय स्वाभाविक से अधिक मात्रा में उत्सर्गित नहीं होते किन्तु मूत्रप्रतिक्रिया क्षारिय होने के कारण वे अविलेय बनकर निस्सादित (Precipitate) होते हैं जिससे वे अधिक मात्रा में उत्सर्गित हो रहे हैं ऐसा ख्याल हो जाता है। ताप कसौटी में जो भास्वीयों का अभ्र उत्पन्न होता है वह केवल उष्ण मूत्र में भास्वीयों की विलेयता (Solubility) घट जाने के कारण नहीं, परन्तु उनके कुछ अंश का अविलेय चूर्णातु भास्वीय में रूपान्तरण होने से उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त अवस्थाओं में, केवल भास्वीयिक मधुमेह ही ऐसी अवस्था है जिसमें वस्तुतः भास्वीयों का उत्सर्ग स्वाभाविक से बहुत अधिक मात्रा में होता है। इसलिए इसको वास्तविक भास्वीयमेह (Essential phosphaturia) भी कहते हैं। इसमें भास्वीयों का दैनिक उत्सर्ग ८–९ धान्य तक अर्थात् दैनिक स्वाभाविक औसत मात्रा से लगभग तिगुना हुआ

करता है। इसके अतिरिक्त इस विकार में बहुमूत्रता, तृषा, कृशता कण्डु तथा शुष्कचर्मता इत्यादि मधुमेह के (मूत्रगत मधुम को छोड़कर) लक्षण भी हुआ करते हैं।

भास्वीय के प्रकार—मूत्र में दो प्रकार के भास्वीय पाये जाते हैं—अना-कारी और स्फटिकाकरी। इनमें से पहले के उत्सर्ग का कभी कभी या कोई कोई यथार्थ (True) भास्वीयमेह या क्षारमेह कहते हैं। यह क्षारमेह स्वस्थ व्यक्ति में भी अनेक बार भोजन के उपरान्त मूत्र की जो क्षारियवेला (Alkaline tide) होती है उसमें पाया जाता है। क्वचित् इन अना-कारी भास्वीयों का निस्सादन मूत्राशय में होता है और ये मूत्रण के अन्त में सफेद द्रव के रूप में निकला करते हैं जिसको नौजवान अनेक बार शुक्रमेह (Spermatorrhoea) समझ कर घबड़ा जाते हैं।

(ढ) शुल्बस्फटिक मेह—औषधियों से उत्पन्न होने वाले स्फटिकमेहों में यह प्रमेह बहुत ही महत्त्व का है। शुल्बौषधियों के प्रयोग के समय रोगी के मूत्र की राशि १५०० घ.शि.मा. से कम न होनी चाहिए। स्फटिक मेह का जरा सा सन्देह होने पर औषधियों को बन्द करके पर्याप्त मात्रा में पानी तथा क्षारीय द्रव्य देने चाहिए। यदि आवश्यक हो तो गवीनीय शलाकाकरण (Ureteral catheterization) भी करना चाहिए।

—❀❀❀—

मूत्राघात-प्रमेह-विज्ञान

विशेष विवरण

मूत्रविषमयता Ureamia

व्याख्या — वृक्कों द्वारा अपना कार्य ठीक न होने से या उनके कार्य में बाधा उत्पन्न होने से शरीर समवर्त में उत्पन्न हुए अनेक स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक ज्ञात तथा अज्ञात समवर्तितों (Metabolites) के शरीर में संचित होने से तथा उनके कारण रक्त के अम्लक्षार संतुलन में बिगाड़ (Disturbance of acid--base equilibrium) होने से जो विकृति उत्पन्न होती है उसको मूत्र विषमयता कहते हैं।

वर्गीकरण—मूत्र विषमयता वृक्क कार्यहानि से उत्पन्न होती है और यह कार्यहानि अनेक कारणों से उत्पन्न होती है। ये सब कारण वृक्क की दृष्टि से तीन विभागों में बांटे जाते हैं और उनके अनुसार मूत्रविषमयता के तीन वर्ग किये जाते हैं।

मूत्रविषमयता

वृक्कपूर्व	वृक्कस्थ	वृक्कोत्तर

(१) *वृक्कपूर्व* (Prerenal)—यह मूत्रविषमयता वृक्क की या मूत्रण संस्थान के अन्य उपांगों की विकृति से न होकर अन्य कारणों से वृक्कों में विकृति होने से या वृक्कों में आनेवाली रक्त की राशि कम होने से या रक्तसंचार की गति मन्द होने से अर्थात् वृक्कों में रक्त की कमी (Ischaemia) होने से होता है। बहुधा अनेक कारणों के संयोग से विकृति होती है। इसके हेतु वृक्क से पहले तथा वृक्क के बाहर उपस्थित होने के कारण इसको वृक्कपूर्व या वृक्कबाह्य (Extrarenal) मूत्रविषमयता भी कहते हैं। इसके निम्न कारण होते हैं—

हैतुकी—(१) निजठर (Pylorus) तथा आन्त्र के मार्गावरोध से होनेवाला तीव्र तथा प्रदीर्घ (Protracted) वमन, विसूचिका, प्रवाहिका (Diarrhoea), इत्यादि क्षारोत्कर्ष (Alkalosis) करनेवाले पचन संस्थान के विकार।

(२) मधुमेह जन्य अम्लोत्कर्ष तथा द्रवापहरण।

(३) महास्रोत तथा गर्भाशय इत्यादि स्थानों का प्रच्छन्न अत्यधिक रक्तस्राव।

(४) रक्ताधिक्य युक्त (Congestive) हृदयातिपात। इसमें नमक की मात्रा बहुत कम रखने से मूत्रविषमयता उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ती है।

(५) अभिघात (Trauma), शस्त्रकर्मजन्य स्तब्धता (Shock), विस्तृत गम्भीर दग्ध, तथा उपसर्ग इनसे उत्पन्न हुआ परिसरीय वाहिन्यतिपात (Peripheral circulatory failure)।

(६) एडीसन के रोग की दारुण अवस्थाएँ (Crisis)।

(७) अत्यधिक क्षार सेवन जैसे कि जठर-ग्रहणी व्रण में या अम्लपित्त (Hyperacidity) में किया जाता है, विशेषतया अधेड़ उम्र के रोगियों में। पीछे क्षारतोत्कर्ष (पृष्ठ २२०) देखिये।

(८) कालमेह ज्वर, असंयोज्य रक्तसंक्रम (Incompatible blood transfusion), पिच्चित संरूप (Crush syndrome), व्याल विष (Viparine poison), मारात्मक परमाततिं (Malignant hypertension)।

उपर्युक्त सब अवस्थाओं में वास्तविक वृक्कविकृति से पार्थक्य करने के लिए मूत्रविषमयता के लक्षण उत्पन्न करनेवाले कारण का पता लगाना बहुत महत्व का होता है, क्योंकि यदि पता लगाकर उसको जल्दी दूर किया जाय तो वृक्कों को स्थायी हानि नहीं पहुँचती। परन्तु यदि यह स्थिति अधिक काल तक रही तो वृक्कों की स्थायी तथा अप्रतिवर्त्य (Irreversible) स्वरूप की हानि होती है।

(३) वृक्कोत्तर (Postrenal) —इसमें मूत्रण संस्थान में विकृति होते हुए वह वृक्कोत्तर उपांगों में रहती है। अर्थात् वृक्कों में

कोई विकृति नहीं होती, मूत्र अच्छी तरह बनता रहता है, परन्तु उसके बहिर्गमन में रुकावट होने से मूत्रविषमयता होती है। इसलिए इसको वृक्कोत्तर कहते हैं। इसको गुप्त (Latent) विषमयता भी कहने का रिवाज है। इसके निम्न कारण हैं—

हैतुकी—(१) अष्ठीलाभिवृद्धि (Enlargement of prostate) तथा उसका कर्कट।

(२) श्रोणिगुहागत विशेषतया गर्भाशय ग्रीवा का कर्कट जो दोनों ओर के गवीनी द्वारों को दबाता हो।

[३] मूत्राशय के अर्बुद जो गवीनी द्वारों को दबाते हों।
[४] गवीनी या मूत्रस्रोत के उपसंकोच (Stricture)।
[५] गवीनियों का मार्गावरोध करनेवाली अश्मरियाँ।
[६] दोनों ओर की जलापवृक्कता या पूयापवृक्कता।

इस मूत्रविषमयता में भी वृक्कों में प्रारम्भ में कोई खराबी नहीं होती और यदि मूत्रमार्ग की रुकावट जल्दी दूर कर दी जाय वृक्क साफ साफ बच जाते हैं। इसके विपरीत यदि रुकावट बनी रही तो वृक्कों में विकृति होकर उससे रोगी का मृत्यु हो जाता है।

(३) वृक्कय (Renal)— इसमें वृक्कों के भीतर विकृति होती। इसलिए इसको प्राथमिक या वास्तविक मूत्रविषमयता भी कहते हैं। इसमें वृक्कगत विकृति प्रायः धीरे धीरे बढ़कर मूत्रविषमयता उत्पन्न होती है। इसलिए यह विकार जीर्ण (Chronic) भी कहलाता है। जब विकृति के कारण वृक्कों का पर्याप्त अन्तःसार (Parenchyma), बेकार अर्थात् कार्यहीन होकर उसका अवशिष्ट अन्श शरीर स्वास्थ्य रक्षा के लिए जितना उत्सर्जक कार्य कम से कम अपेक्षित होता है उतना भी नहीं कर सकता तब मूत्र विषमयता उत्पन्न होती है। वृक्क के जिन जिन रोगों में उसकी कार्यक्षमता घटती है उन सब रोगों में मूत्रविषमयता उत्पन्न हो सकती है। परन्तु उन सब रोगों में जीर्ण गुल्सकीय वृक्कशोथ सबसे प्रधान (पृष्ठ ७४) है जिसमें अधिकतर रोगी (पृष्ठ ७५) इसी उपद्रव से मर जाते हैं। इस रोग के अतिरिक्त तीव्र वृक्क शोथ [पृष्ठ ६०], मारात्मक वृक्क जरठता [पृष्ठ ९८], विमेदांभ

अपवृक्कता [पृष्ठ ९१] वृक्काजिन्दशोथ, बहुकोष्ठीय वृक्क (पृष्ठ १५१) इत्यादि वृक्क विकारों भी यह उपद्रव हुआ करता है।

शारीरिक विकृतियां—*रक्त*—वृक्कों का कार्य ठीक न होने से उसका सर्वप्रथम परिणाम रक्त के ऊपर होकर उसमें कुछ स्वाभाविक संघटक बढ़ते हैं तथा कुछ अस्वाभाविक संघटक इकट्ठा होने लगते हैं। नीचे महत्त्व के संघटकों का विवरण दिया जाता है।

अप्रोभूजिनभूयाति [Nonprotein nitrogen N. P. N.]—मूत्र विषमयता में इसकी मात्रा जरूर बढ़ जाती है। स्वस्थावस्था में इसकी मात्रा २५—३३ सहस्त्रिधान्य [mg.] १०० सी. सी. रक्त में होती है। मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा ३०० तक बढ़ सकती है। इसकी अधिकता की स्थिति को अजीवातिमयता [Azotemia] कहते हैं। इसकी अधिकता मूत्रविषमय [Uremic] स्थिति में जरूर पायी जाती है। इसलिए उसका स्वाभाविक होना मूत्रविषमयता के निदान के विरुद्ध होता है। परन्तु इसके विपरीत कथन ठीक नहीं होता, क्योंकि इसकी अधिकता होते हुए मूत्र विषमयता के कोई चिन्ह या लक्षण नहीं दिखाई दे सकते। इसका तात्पर्य यह है कि मूत्रविषमयता की सौम्यता या तीव्रता के साथ इसकी मात्रा का कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा का क्रमशः अवलोकन किया जाय तो उसकी न्यूनाधिकता रोग की घट-बढ़ को अच्छी तरह प्रदर्शित कर सकती है। धीरे धीरे बढ़नेवाले रोग में इसकी मात्रा बहुत अधिक होने पर ही मूत्रविषमयता के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत शीघ्रता से बढ़नेवाले रोग में मात्रा बहुत अधिक न होने पर भी रोग गम्भीर स्वरूप धारण करता है और रोगी मर जाता है। जैसे बहुकोष्ठीय वृक्क रोग में तथा अष्ठीलाभिवृद्धि में अ. प्रो. भू. २०० सहस्त्रिधान्य होने पर भी मूत्रविषमयता के लक्षण नहीं होते। साधारणतया वृक्कय और वृक्कोत्तर मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा १००—३०० मि० ग्राम तक बढ़ती है। वृक्कपूर्व मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा बहुत कुछ कम रहती है।

मिह [Urea]—इसकी मात्रा मूत्रविषमयता में बढ़ती है। स्वाभाविक मात्रा २०—३० सहस्त्रिधान्य होती है। ५० मि० ग्राम से अधिक मात्रा विकृति दर्शक होती है। वृक्कशोथ जन्य मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा

१०० सहस्रिधान्य और गुप्त मूत्रविषमयता में ३०० सहस्रिधान्य तक बढ़ सकती है। इसकी मात्रा पर यकृत् विकार, आहार में प्रोभूजिनों की अल्पता, श्वेतमयता इत्यादि वृक्कोत्तर अवस्थाओं का परिणाम होने से इसकी मात्रा का आगणन अप्रोभूजिन भूयाति के समान विश्वसनीय नहीं होता।

क्रियेयी [Creatinine]—रक्त में इसकी स्वाभाविक मात्रा २ सहस्रिधान्य [mg.] तक होती है। इससे अधिक होने पर वह वृक्क विकार की, ३·५ से अधिक होने पर बहुत कुछ वृक्कनाश की और ५ से अधिक होने पर गम्भीरता की सूचक होती है। मूत्रविषमयता में इसकी मात्रा १० तक बढ़ सकती है।

कभी कभी वृक्कों में खराबी न होते हुए भी इसकी मात्रा बढ़ सकती है। इसलिए तथा मूत्रविषमयता में इसकी घटबढ़ बहुत अधिक न होने से अप्रोभूजिन भूयाति [N. P. N] के समान इसके आगणन का उपयोग रोगनिदान में तथा रोग की घटबढ़ जानने के लिए प्रायः नहीं किया जाता।

मिहिक अम्ल [Uric acid]—इसकी स्वाभाविक मात्रा २–३ सहस्रिधान्य होती है। वृक्क विकार में इसकी मात्रा बढ़ती है। वृक्क विकार में उपर्युक्त तीनों भूयात्य द्रव्यों के वृद्धि का क्रम निम्न प्रकार का होता है। जब मिहिक अम्ल ६ सहस्रिधान्य से अधिक होता है तब मिह [Urea] की मात्रा बढ़ने लगती है और अन्त में क्रियेयी की मात्रा बढ़ती है।

दर्शव और वैष्ठेयी [Phenol, Guanidine]—ये विषैले द्रव्य भी रक्त में संचित होने लगते हैं।

खनिज द्रव्य—भ्राजातु [Mg.], दहातु, भास्वर [Phosphorus] इनकी मात्रा बढ़ जाती है। दहातु [Potassium] की राशि [स्वाभाविक $4\frac{1}{2}$—$5\frac{1}{2}$] $7\frac{1}{2}$—$10\frac{1}{2}$ सहस्रिधान्य तक बढ़ जाती है। चूने की मात्रा घटती है। नीरेयों [Chlorides] की मात्रा वमन के कारण कम हो जाती है। परन्तु जब द्रवापहरण से रक्त गाढ़ा हो जाता है या अमूत्रता उत्पन्न होती है तब इसकी मात्रा स्वाभाविक से अधिक हो जाती है। नीरेयों के आगणन का महत्त्व निदान की अपेक्षा चिकित्सा के लिए होता है

क्योंकि इसके ज्ञान के बिना नमक का पानी रोगी को देने से हानि हो सकती है ।

पैत्तव [Cholesterol]—इसकी मात्रा [१५०—२५० सहस्रिधान्य स्वाभाविक] घट कर ५० सहस्रिधान्य तक कम हो जाती है ।

प्रतिक्रिया—मूत्रविषमयता में अम्लोत्कर्ष होता है । इसलिए रक्त की क्षारियता तथा उसका उदजनायन सकेन्द्रण [pH] घटता है । स्वस्थ रक्त का उ० सं० ७·३—७·५ तक होता है । मूत्रविषमयता में वह इससे कम होकर संन्यास की स्थिति में ७ से भी नीचे हो जाता है । इसके साथ साथ प्रां० द्वि० संयोग शक्ति [CO_2 Combining power] जो स्वस्थावस्था में ५५—७५ परिमा [पृष्ठ ४४] होती है घटकर ३० से भी नीचे चली जाती है ।

रक्त की कायाणिवकी [Cytology]—मूत्रविषमयता का परिणाम रक्तक्षय में जरूर हो जाता है । मज्जा विषाक्त होने से यह क्षय होता है । इसका स्वरूप अल्पवर्णिक [Hypochromic] और सूक्ष्म कायाणिवक [Microcytic] होता है । इसके अतिरिक्त लसकायाणूत्कर्ष [Lymphocytosis] के साथ श्वेतापकर्ष [Leucopenia] भी रहता है । घनासकायाणुओं की संख्या कम रहती है । ये रक्तगत परिवर्तन मूत्रविषमयता के लक्षण प्रकट होने से पहले हुआ करते हैं ।

अन्य विकृतियां—मस्तिष्क—इसमें सूजन उत्पन्न होती है, उसकी संघनता [Consistancy] घटती है उसका भार बढ़ता है, उसकी पिण्डिकाएं [Convolutions] चपटी और सिताएं [Sulci] संकुचित हो जाती हैं । म. सु. जल की मात्रा बढ़कर उसका दाब अधिक हो जाता है ।

श्लेष्मल, लसिक्य कला, त्वचा—परिफुफ्फुस, पर्युदर और परिहृदय विशेषतया अन्तिम में लसिकतन्त्वीय [Serofibrinous] शोथ उत्पन्न होता है । जठर, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र इनकी श्लेष्मकला में सूजन, व्रणोत्पत्ति और रक्ताधिक्य होता है । त्वचा, श्लेष्मकला, लसिक्यकला [Serous], हृत्कालिन्द इनमें अगणित नीलोहक्क [Petechie] और नीलाञ्छन [Ecchymosis] उत्पन्न होते हैं । त्वचा पर स्वेद के साथ मिह, मिहिक

अम्ल निकलकर उनके कण दिखाई देते हैं। इसको मिह तुषार [Urea frost] कहते हैं।

फुफ्फुस—कभी कभी फुफ्फुस में तीव्र सूजन [Acute oedema] उत्पन्न होती है।

सम्प्राप्ति—मूत्र विमयता मूत्रस्थ संघटकों का रक्त में तथा शरीर धातु रसों में संचय होने से होती है इसमें सन्देह नहीं है। इसमें भी सन्देह नहीं रहा है कि यद्यपि इस अवस्था में मिह (Urea) की मात्रा रक्त में बहुत अधिक इकट्ठा होती है तथापि रोग की उत्पत्ति या तीव्रता से उसका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं होता या अत्यल्प होता है। अभी तक मूत्रविषमयता के विविध लक्षणों की उत्तरदायित्व मूत्रस्थ किसी एक द्रव्य पर प्रस्थापित करने में सफलता नहीं मिला है। इसलिए यह माना जाता है कि यह अवस्था अनेक विषैले द्रव्यों के मिश्रण से उत्पन्न होती है। इस समय इस रोग में उत्पन होनेवाले विविध लक्षणों की सम्प्राप्ति निम्न प्रकार से बतायी जाती है—

दर्शव (फेनाल)—उसके योग मस्तिष्क मे सूजन पैदा कर तथा उस पर विषैला असर डालकर संन्यासादि मस्तिष्कगत लक्षण और अस्थि मज्जा पर कार्य करके रक्तक्षयादि उत्पन्न करते हैं। दहातु (पोटयासियम) की अधिकता हाथ पैरों की संवेदना में विकृति करती है और हृदय को कमजोर बनाकर एकाध बार आकस्मिक मृत्यु का कारण होती है। रक्त में चूने की कमी से नाडियों और पेशियों में चिड़चिड़ाहट (Irritability) होकर पेशीकम्प, पेशी जड़ता (Rigidity), ऐंठन इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। रक्त में अधिक मात्रा में उपस्थित रहनेवाला मिह पसीने के साथ उत्सर्गित होकर मिहतुषार (Ureafrost) और कण्डू उत्पन्न करता है। वहां मिह जठरान्त्र में श्लेष्मकला से उत्सर्गित होता है और आन्त्रस्थ तृणाणुओं द्वारा तिक्तातु (Ammonia) में परिवर्तित होकर जठरान्त्र में प्रकोप पैदा करके वमन, प्रवाहिका रक्तस्राव इत्यादि उपद्रव उत्पन्न करता है संक्षेप में वमन, प्रवाहिका कण्डू, ये लक्षण शरीरान्तर्गत विष को बाहर निकालने के प्रयत्न के फलस्वरूप उत्पन्न होते है। परिहृदयशोथादि उपद्रवों में अनेक रोगियों में उपसर्ग पाया जाता है। अन्यों में इसका कारण भास्वर (Phosphorus) की अधिकता बतायी जाती है। इसमें यकृत्

में कुछ विकृति जरूर हो जाती है जिससे पूर्वघनास्रि (Prothrombin) की कमी होकर त्वचा, श्लेष्मकला में निलोहांकादि उत्पन्न होते हैं।

लक्षण— मूत्र विषमयता के गुप्त, तीव्र और जीर्ण करके तीन विभाग किये जाते हैं। गुप्त प्रकार मुख्यतया अमूत्रता उत्पन्न करनेवाले विकारों में (पृष्ठ २२६) पाया जाता है। तीव्र प्रकार अधिकतर जीर्ण अन्तःसारीय वृक्कशोथ में जवानों में और जीर्ण प्रकार धमनीजरठ वृक्क में तथा जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ मे पाया जाता है। इस रोग में जो विविध लक्षण पाये जाते हैं उनके तीन प्रधान विभाग किये जाते हैं। [१] मस्तिष्कगत— तीव्र और स्फूर्जक रोग में मस्तिष्क संस्थान के लक्षण प्रधान होते हैं। [२] श्वसनगत—जिसमें अम्लोत्कर्ष अधिक होता है उसमें श्वसन के लक्षण प्रधान होते हैं। [३] पचन संस्थानगत—जीर्ण दीर्घकालानुबन्धी रोग में ये लक्षण प्रधान होते हैं। इनको प्रकार (Type) कहने का भी रिवाज है।

मस्तिष्कगत लक्षण— इसका प्रारम्भ तीव्र शिरःशूल से होता है। यह शिरःशूल प्रायः पश्चिम कापालिक (Occipital गुहा के पास) होकर धीरे धीरे ग्रीवा में फैलता है। इसके साथ कुछ चक्कर भी (Giddiness) होता है। इसके बाद शयालुता (Drowsiness)

(१) चरक संहिता मे असाध्य वमन की सम्प्राप्ति और लाक्षणिकी निम्न प्रकार से वर्णित है—विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरूध्य ...र्ध्वमेति। उत्सन्न दोषस्यसमाचितं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ विण्मूत्रयोस्तमगन्धवर्णं तृट्श्वास हिक्कार्तियुक्त प्रसक्तम्। प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयार्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ चिकित्सा २० ॥ इसको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह वर्णन मूत्रविषमयता के वमन का है। जहां पर मूत्र के सड़ने से तिक्ताति (अमोनियां) का गन्ध आता है और वह गन्ध मूत्र का माना जाता है। मूत्र विषमयता मे आन्त्र मे मिह का उत्सर्ग होकर उसके विघटन से तिक्ताति बनता है जो जठरान्त्र मे प्रकोप पैदा करके वमन कराता है और वमन के साथ निकलता भी है। इसलिए इस वमन को मूत्रगन्धी कहा है। आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति का स्थान आन्त्र माना गया है। इसके अनेक कारणों में वमन में मूत्र का गन्ध मिलना एक कारण है। विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकार की 'Ayurvedic conception about urine formation in the human body' देखिए।

और पेशियों में कम्प (Twitching) उत्पन्न होते हैं। रोग बढ़ने पर कम्प अपस्मारसम आक्षेपों में (Epileptiform convulsions) और शयालुता संन्यास में परिवर्तित होकर रोगी मर जाता है। इन प्रधान लक्षणों के अतिरिक्त और भी कई लक्षण अनेक बार पाये जाते हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है --

उन्माद (Mania)—कुछ व्यक्तियों में मानसिक या वृक्कय विकृति की कुछ भी पूर्वसूचना न होते हुए यह लक्षण यकायक पैदा होता है इससे निदान में अनेक बार भ्रम होता है। उन्माद में रोगी प्रायः साहसिक या उग्र (Violent) न होकर अनिद्र, बेचैन और बकवासी (Talkative) होता है।

भ्रमात्मक पागलपन (Delusional insanity)—अनेकों के मन में इस प्रकार के भ्रम पैदा होते हैं कि दूसरे लोग उनको पीड़ा दे रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप वे लोग आत्महत्या कर लेते हैं।

आक्षेप (Convulsions)—ये यकायक या पूर्वोक्त पूर्वरूपों के पश्चात् प्रारम्भ होते हैं। ये सार्वदैहिक होकर अपस्मार के समान रहते हैं परन्तु इनमें अपस्मार के समान प्रारम्भिक शब्द नहीं होता। आक्षेपों के दौरे बराबर आते हैं और दौरों के बीच के काल में रोगी प्रायः बेहोश रहता है। कभी कभी ज्वर भी रहता है, परन्तु अधिकतर शरीर का ताप घटकर रोगी दौरे के पश्चात् मर जाता है।

सार्वदैहिक आक्षेपों के अतिरिक्त स्थानिक आक्षेप भी आते हैं जिनके फल स्वरूप अन्धता (Amaurosis) उत्पन्न होती है। यह अन्धता एकाध रोज रहकर दूर हो जाती है। कभी कभी यह बिना आक्षेपों के भी उत्पन्न होती है। इसको मूत्र विषजन्य (Uraemic) अन्धता कहते हैं। आँखों के अन्दर कोई विकृति नहीं दिखाई देती।

संन्यास (Coma)—मूत्रविषमयता का यह एक प्रधान लक्षण है जो प्रायः आक्षेपों के साथ रहता है। परन्तु अनेकों में उनके बिना भी उत्पन्न होता है। प्रायः इसके होने से पहले शिरःशूल होता है और रोगी सुस्त और मन्द हो जाता है। अनेक बार ऐसे रोगियों में वृक्क विकार के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते जिससे मूत्र परीक्षा के बिना निदान करना कठिन हो जाता है। संन्यास के साथ पेशियों के कम्प भी रहते हैं जो

अधिकतर मुख और हाथों में दिखाई देते। अनेकों में पेशियाँ अविकृत रहती है।

अंगघात (Palsies)—कुछ रोगियों में एकांगघात, अर्धांगघात, अवाक्यता (Aphasia) इत्यादि घात यकायक या आक्षेपावेग के पश्चात् उत्पन्न होते हैं। देखने में ये मस्तिष्क विकृतिजन्य अंगघातों के समान रहते हैं परन्तु इनमें मस्तिष्कविकृति शोथ के अतिरिक्त और नहीं होती।

अन्य लक्षण—त्वचा में रुधिरवर्णता (Erythema), अत्यधिक कण्डू चुमचुमायन (Tingling) सुन्नता (Numbness) इत्यादि लक्षण भी उत्पन्न होते हैं।

श्वसन संस्थान के लक्षण—इसमें मुख्य लक्षण श्वासकृच्छ्र होता है। यह श्वासकृच्छ्र सन्तत प्रावेगिक (Paroxysmal) या मिश्र स्वरूप का हो सकता है। श्वास के दौरे प्रायः रात में आते हैं। साँस प्रायः तेज या स्वाभाविक रहती है। क्वचित् मन्द (मन्दश्वसन Bradypnea) भी होती है। साँस के समय घर्घर और सीत्कार (Hissing) भी रहता है। इसके अतिरिक्त मुखपाक, छिद्रे मसूढ़े (Spongy gums) और साँस में तिक्तातिं की गन्ध (Ammoniacal odour) ये भी विशेषताएं रहती हैं।

कभी कभी चेन--स्टोक श्वसन (Cheyne--Stokes breathing)—भी इसमें दिखाई देता है। उस समय श्वसन के चक्रनेमिक्रम के साथ मस्तिष्कगत लक्षणों में भी नियतकालिकता आ जाती है। जैसे घर्घर युक्त अधिक श्वसन के समय नाड़ी तेज होती है, पुतलियाँ फैलती हैं, रोगी बेचैन होकर अधिक होश पर आता है। इसके विपरीत अश्वसन (Apnea) के काल में रोगी अधिक शान्त और संन्यस्त (Comatose) होता है, नाड़ी मन्द हो जाती है और पुतलियाँ सिकुड़ती हैं। श्वसन संस्थान के ये लक्षण प्रायः संन्यास के साथ रहते हैं और अन्तिम दशा में दिखाई देते हैं।

पचन संस्थान के लक्षण—रक्तस्थ मिहादि विषैले द्रव्य बहुत अधिक मात्रा में जठर तथा आन्त्र में उत्सर्गित होने से ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

इनमें हृल्लास वमन अग्नि की मन्दता हिचकी और प्रवाहिका प्रधान हैं। इनमें जठर के लक्षण दीर्घकालिक होते हैं। मूत्र की परीक्षा न करने से इसको सामान्य अग्निमान्द्य समझने की भूल हो सकती है। परन्तु दोनों में भेद यह है कि सामान्य अग्निमान्द्य में चिकित्सा से अग्नि की मन्दता और वमन दोनों ठीक हो जाते हैं। परन्तु मूत्रविषजन्य विकार में अग्नि की मन्दता ठीक होने पर भी वमन जारी रहता है। रोग असाध्य होने पर वमन का नियन्त्रण करना अशक्य हो जाता है।

वमन के साथ प्रवाहिका होती है। परन्तु बिना वमन के भी प्रवाहिका हो सकती है। कभी कभी प्रवाहिका बहुत अधिक रहती है और उसके साथ स्थूलान्त्र में प्रसेकी (Catarrhal) या रोहिणीसम कलावान् शोथ होता है

मूत्रविषमयता में मुखपाक भी होता है। इसकी कुछ विशेषताएँ होने के कारण इसको मूत्रविषजन्य (Uraemic) मुखपाक कहते हैं। इसमें होंठ, मसूढ़े, जिह्वा की श्लेष्मकला फूली हुई और रक्तवर्ण होती है, लार कम होकर मुख कुछ सूखा रहता है जिससे चबाने में तथा निगलने में कठिनाई होती है, जिह्वा अत्यन्त मैली और साँस मूत्रगन्धी होती है।

मूत्र—विषमयता में मूत्र की अपनी कोई विशेषताएँ नहीं होती हैं फिर भी उसका स्वरूप निम्न प्रकार का होता है—मूत्र की अल्पता या अमूत्रता, निर्मोकों की अधिकता और मिह की अल्पता। इसके अतिरिक्त वृक्क विकृति के निदर्शक शुक्लि, अधिच्छदीय कोशाएँ इत्यादि की उपस्थिति। मूत्रविषमयता के मूत्र में शौक्ता द्रव्य प्रायः नहीं होते। परन्तु यदि अनशन और द्रवापहरण रहा तो मिल सकते हैं। परन्तु उनकी मात्रा मधुमेह के समान अधिक नहीं होती।

निदान—*लाक्षणिक*—मूत्रविषमयता के लक्षणों में अपनी कोई विशेषता न होने से तथा वे लक्षण अन्य अंगों की इस प्रकार की विकृतियों में मिल जाने से मूत्रण संस्थान की विकृति का पता जब तक नहीं लगता तब तक इसका निदान करना कठिन होता है।

मूत्र परीक्षण—मूत्रण संस्थान की विकृति की ओर ध्यान आकर्षित होने की दृष्टि से मूत्र परीक्षण सबसे प्रधान होता है। मूत्र में शुक्लि, निर्मोक की

उपस्थिति और मिह की अल्पता से इस स्थिति का पता लग जाता है। अतः मूत्रविषमयता के समान लक्षण दिखाई देने पर सर्वप्रथम मूत्र का परीक्षण करें।

रक्तपरीक्षण—मूत्र परीक्षण से किये हुए अनुमान की पुष्टि रक्त के संघटको के आगणन से होती है। रक्त में अप्रोभूजन भूयाति (N.P.N) १२० सहस्रि धान्य से अधिक, मिहभूयाति ८० से अधिक, मिहिक अम्ल और क्रिय्ययी ४ से अधिक मिलने पर मूत्रविषमयता की पुष्टि हो जाती है। इसके अतिरिक्त रक्तगत नीरेयों (Chlorides) की मात्रा और प्रांगार द्विजारेय के साथ संयोग की उसकी शक्ति (CO2 Capacity) का भी ज्ञान किया जाता है। इससे निदान में तो सहायता हो ही जाती है। परन्तु इससे अधिक साध्यासाध्यता और चिकित्सा में होती है। मूत्रविषमयता के निदान में वृक्ककार्यक्षमता के ज्ञान का कोई उपयोग नहीं होता। अतः वृक्क कार्यक्षमता की कसौटियों को (पृष्ठ १७) काम में नहीं लाया जाता।

सापेक्ष निदान—प्रथम वृक्क पूर्वकारणों का विचार किया जाय। रोगी क्षार सेवन करता था या नहीं इसकी विचारणा करनी चाहिये। वृक्क पूर्व विकार में साधारणतया अप्रोभूजिन भूयाति तथा मिह इनकी रक्तगत मात्रा वृक्क्य विकार से कम रहती है। यदि अत्यधिक प्रदीर्घ वमन के कारण यह विकार उत्पन्न हुआ हो तो रोगी के मूत्र में मिह की मात्रा अधिक रहती है। केवल हृदयातिपात जन्य विकार में मूत्र में मेहीय (Urates) अधिक होते हैं, उसकी गुरूता अधिक होती है, पेशीकम्प नहीं होते और रक्त में मिह की मात्रा स्वाभाविक या कुछ-ही अधिक होती है। मस्तिष्क सूजन (Oedema) जन्य विकार में रोगी प्रायः ४० से कम उम्र का होता है, आँखों के भीतर रक्तस्राव और सूजन होती है, रक्त निपीड अधिक रहता है और मस्तिष्कसुषुम्ना जल का दबाव बढ़ा हुआ रहता है।

सन्यास—(Coma) मूत्रविषमयता चाहे जिस प्रकार की हो उसमें अन्त में रोगी संन्यस्त (Comatose) हुए बिना नहीं रहता। अतः इस अवस्था में पहुँचे हुए रोगी के निदान के लिए बेहोशी उत्पन्न करने वाले सब कारणों का तथा रोगों का तुलनात्मक विचार करना पड़ता है। वे सब कारण और रोग निम्न विभागों में बाँट सकते हैं।

(१) मस्तिष्क के विकार—सिर की चोट, करोटी पीठ भङ्ग (Fract

ure of the base of the skull), संघट्टन (Concussion) संपीडन (Compression), रक्तस्राव, अन्तःशल्यता (Embolism) घनास्रता (Thrombosis) मस्तिष्कावरणशोथ, मस्तिष्क के अर्बुद अपतन्त्रक (Hysteria), अपस्मार (Epilepsy), मस्तिष्क फिरंग, विद्रधि इत्यादि ।

(२) विषौषधियाँ—अफीम, मार्फिया, धतूर, मद्य, मधुनिषूदनि (Insulin) प्रांगार एक जारेय (CO) प्रां द्विजारेय (CO^2) इत्यादि ।

(३) समवर्तके रोग—मधुमेह, पित्तविषमयता (Cholaemia) गर्भविषमयता (Eclampsia) इत्यादि ।

(४) ज्वर—विषमज्वर, आन्त्रिकज्वर, लू लगना इत्यादि ।

निदान के साधन—(१) पूर्ववृत्त—इसमें मद्य तथा अन्य मादक द्रव्यों का सेवन, पूर्व रोग, विशेषतः मिरगी के आवेग इत्यादि के बारे में विचारणा होनी चाहिये ।

(२) परिस्थिति—इसमें रोगी के कमरे में दवाई की शीशी या पुड़िया वमन, रक्त इत्यादि का तथा लू लगने की दृष्टि से कमरे का तथा बाह्य वातावरण का अवलोकन किया जाता है।

(३) शरीर परीक्षण—इसमें रोगी के शरीर पर विशेषतः सिर पर चोट के निशान, नासा-कर्ण से म० सुषुम्ना जल या रक्त निकलना, होंठ या जीभ कट जाने के चिन्ह, कपड़ों पर तथा शरीर केझगड़े के निशान, जेब में चिट्ठी पत्र इत्यादि देखे जाते हैं ।

(४) वय—बाल्यावस्था में अपस्मार, मस्तिष्कावरण शोथ, मध्यकर्ण शोथजनित सिरासरित् घनास्रता (Sinus thrombosis) इत्यादि विकार अधिक होते हैं । युवावस्था में मस्तिष्क में अन्तः शल्यता, घनास्रता, फिरंग विकृतियाँ अधिक हुआ करती हैं । मध्यम आयु के पश्चात मधुमेह, अपसंज्ञता (Apoplexy, मस्तिष्कगत रक्तस्राव), वृक्क विकार जन्य मूत्रविषमयता ये विकार अधिक होते हैं ।

(५) सांस—मधुमेह जन्य बेहोशी में साँस में फलोंकासा (Fruity) मधुरगन्ध, अफीम और मद्य सेवन में उनका गन्ध, मूत्रविषमयता में मूत्र कासा या तिक्तालि का गन्ध आता है । मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अफीम,

मस्तिष्काघात इनमें साँस मन्द और घर्घर युक्त होती है। मधुमेह, मूत्रविषमयता में शीघ्र होती है।

(६) ताप—उष्णीष (Pons) में रक्तस्राव होने पर, लू लगने पर, विषम ज्वर में, मस्तिष्कावरण शोथ में शरीर ताप स्वाभाविक से अधिक और अफीम, मद्य के विष में तथा मूत्रविषमयता में ताप कम रहता है।

(७) नेत्र—मस्तिष्कगत रक्तस्रावादि विकृतियों में पुतलियां विषम (Unequal) रहती हैं और उष्णीषगत (Pontine) रक्तस्राव में तथा अहिफेन विष में सूचीमुखी (Pinpoint) होती हैं। वृक्कविकार, मस्तिष्क विद्रधि, मस्तिष्कार्बुद, मस्तिष्क फिरंग, मस्तिष्कावरणशोथ इत्यादि विकारों में अक्षिबिम्ब (Optic disk) में सूजन (Papilloedema) दिखाई देती है। धमनीजरठता जन्य विकारों में कड़ी धमनियाँ दिखाई देती हैं।

(८) हृदय और धमनियां—(१) वृक्कज मूत्रविषमयता, मस्तिष्कगत रक्तस्राव इनमें हृदय परमपुष्ट और अभिस्तीर्ण (Dilated), धमनियाँ कठिन, रक्तनिपीड अधिक, नाड़ी मन्द होती है। (२) हृदयातिपात में हृदय परमपुष्ट और अभिस्तीर्ण होने पर भी नाड़ी मन्द और धमनियाँ कठिन नहीं होतीं। (३) मस्तिष्कार्बुद, अफीम विष में हृदय में कोई खराबी नहीं होती, परन्तु नाड़ी मन्द रहती है।

(९) अंगघात परीक्षण—मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अन्तःशल्यता, घनास्रता, अपसंज्ञता (Apoplexy) इत्यादि मस्तिष्कगत रोगों में पेशियों का घात होता है। इसके लिए रोगी का हाथ या पैर ऊपर उठाकर छोड़ देने से मृत के समान नीचे धड़ाम से गिरता है। अर्थात् यह अंगघात एकपक्ष में होता है। गाल की पेशियाँ घातित होने से श्वास के समय गाल फूलता है, मुँह टेढ़ा होता है और आँखों का संयुक्त विचलन (Conjugate deviation of eyes) होता है।

(१०) मूत्र परीक्षा—मधुमेह में मूत्र में शर्करा और शौक्ता (Acetone) मिलते हैं। वृक्कविकार में शुक्ति, निर्मोक पाये जाते हैं। मूत्र सलाई से निकाल कर देखा जाय।

(११) रक्त परीक्षा—रक्त का परीक्षण विषमज्वर कीटाणु, श्वेतकायाणु, वासरमन या कान प्रतिक्रिया; रक्तगत शर्करा, मिह या अप्रोभूजिन भूयाति, इत्यादि के लिए किया जाय।

(१२) मस्तिष्क सुषुम्नाजल—कटिवेध करके म० सु० जल को देखा जाय मस्तिष्क रक्तस्राव में उसमें रक्त पाया जाता है। मस्तिष्कावरणशोथ में वह बहुत अधिक राशि में और अधिक दबाव से धारा के रूप में निकलता है और उसमें तृणाणु तथा कायाणु बहुत पाये जाते हैं।

(१३) जठर परीक्षण—जठर नलिका से भीतरी वस्तु को निकाल कर विष की दृष्टि से उसका परीक्षण किया जाय।

व्यावहारिक सूचना—बेहोशी उत्पन्न करने वाले कारण इतने अधिक और विविध होते हैं कि ठीक निदान किये बिना उसकी उचित चिकित्सा नहीं की जा सकती और यदि की जाय तो भी रोग आत्ययिक स्वरूप का होने के कारण उसके बचने की बहुत कम आशा होती है। बेहोशी का निदान अनेक बार रोगी का पूर्व इतिहास, बेहोशी उत्पन्न करने की परिस्थिति का ज्ञान तथा अन्य आवश्यक ज्ञातव्य विषय मालूम न होने से, मद्यसेवन और सिर पर चोट लगना, मधुमेह और मस्तिष्कगत रक्तस्राव इत्यादि अनेक कारण कारणभूत होने से या किसी भी एक कारण के ठीक ठीक लक्षण या चिन्ह न मिलने से कठिन हो जाता है। इसमें बुद्धि से ही रोगी का वय, लिङ्ग, सामान्य स्वरूप, लक्षण तथा चिन्ह इत्यादि का समष्टिरूपेण विचार करके निर्णय करने की आवश्यकता होती है और वह भी जितनी शीघ्रता से हो सके उतनी शीघ्रता से। इसमें प्रायोगिक परीक्षाएँ बहुत कुछ सहायता दे सकती हैं। उनका महत्त्व और क्रम अपनी बुद्धि से तय करना चाहिए। परन्तु परिपाटी के तौर पर रोगी के पास पहुँचते ही मूत्र, रक्त और म० सु० जल को निकाल कर परीक्षणार्थ भेज दिया जाय जिससे रोगी के शारीरिक परीक्षण के साथ उनका भी परीक्षण प्रारम्भ हो और उसकी समाप्ति तक उनका भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय।

साध्यासाध्यता—मूत्र विषमयता वृक्क विकार की अन्तिम अवस्था होने से सदैव चिन्ताजनक होती है। तीव्र प्रकार तुरन्त घातक होता है और जीर्ण प्रकार सप्ताहों या मासों तक जारी रह सकता है। परन्तु इससे भी बचने की आशा नहीं की जा सकती। लक्षणों में अन्य संस्थान की अपेक्षा मस्तिष्क संस्थान के लक्षण अधिक चिन्तादायक होते हैं। उनमें भी आक्षेप और अन्धता यद्यपि अधिक चिन्तादायक मालूम पड़ते हैं तथापि उनकी अपेक्षा संन्यास सबसे अधिक चिन्तादायक होता है। श्वासकृच्छ्र, सीत्कार-

या घर्घर, मुखपाक,मसूढ़ों से रक्तस्राव और संन्यास मरणसूचक लक्षणसमूह होता है। तीव्र रोग में रोगी मूत्रविष से ही मर जाता है परन्तु जीर्ण में कभी कभी पर्युदरशोथ. परिहृदयशोथ, परिफुफ्फुसशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, अन्तर्हृच्छोथ इत्यादि के कारण भी मरता है।

चिकित्सा—रोगी को बिस्तरे पर आराम से गरम कपड़ों में लपेट कर रक्खें। त्वचा की सफाई और कोष्ठ शुद्धि पर ध्यान दिया जाय। मूत्र विषमयता की चिकित्सा के संरक्षक या संशामक (Conservative) और संशोधक या दोषहर (Eliminative) करके दो विभाग होते हैं। संशामक चिकित्सा में खाद्यपेयों का इस प्रकार नियंत्रण किया जाता है कि रक्तगत दोष बढ़ने न पावे। संशोधक चिकित्सा में विरेचन, स्वेदन सिरावेधन, द्रव श्लेषण (Dialysis) इत्यादि पद्धतियों द्वारा रक्तस्थ दोष दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। इन मुख्य चिकित्सा पद्धतियों के अतिरिक्त लाक्षणिक चिकित्सा भी होती है।

आहार—रक्त में भूयात्य (Nitrogenous) द्रव्यों की अधिकता से रोग होने के कारण इसमें रोगी को ये द्रव्य बहुत कम दिये जाते हैं। इसके कारण खाद्य द्रव्यों में शालोपिष्टमय या प्रांगोदीय द्रव्यों (Carbohydrates) की अधिकता, स्नेह की मध्यमता और प्रोभूजिनों की अत्यल्पता रक्खी जाती है। पानी की मात्रा २–२॥ प्रस्थ तक कम की जाती है और नमक बन्द किया जाता है। आहार्य द्रव्यों की उष्मोत्पादन शक्ति १५००–२५०० उष (Calory) तक रक्खी जाती है। रोग की तीव्रावस्था में ४०० धान्य मधुम (Glucose), १०० धान्य मटर का तेल (Pea nut oil, २०० धान्य मण्ड (Starch) १ प्रस्थ (Litre) पानी में निलम्बन (Emulsion) बना करके दिन भर में रोगी को दिया जाता है। यह आहार रक्तगत भूयात्य(Nitrogenous)द्रव्यों को जैसे कम करता है वैसे दहातु (Potassium) को भी। इसलिए इसके साथ दहातु द्वयंगारीय (Bicarbonate) १-२ धान्य दिन भर में देना चाहिये। दीर्घकालानुबन्धी रोग में प्रारम्भिक एक दो सप्ताह अल्पप्रोभूजिनयुक्त आहार देने पर पश्चात् प्रोभूजिन की मात्रा एक सेर शरीर भार के पीछे ½–१ धान्य तक बढ़ायी जाय और सप्ताह में १-२ दिन प्रोभूजिन की मात्रा कम रक्खें।

स्वेदन—इसमें त्वचा के द्वारा रक्त दोषों का निर्हरण करने का प्रयत्न किया जाता है। इससे रक्तगत भूयात्य द्रव्य बहुत अधिक मात्रा में नहीं निकाले जा सकते हैं। यह देखा है कि जहाँ आन्त्र के द्वारा २४ घण्टे में ८ धान्य भूयाति (Nitrogen) निकाला जा सकता है वहाँ पर त्वचा के द्वारा अर्थात् स्वेदन से केवल ३ धान्य भूयाति निकलता है। स्वेदन के लिए निम्न उपाय काम में लाये जाते हैं—गरम पेय, उष्ण जल स्नान, विद्युत पंजर (Electrical cage) में उष्णवात स्नान, बाष्प स्नान, उष्ण आवेष्टन (Hot Pack) और नमतफली (Pilocarpine) की $\frac{1}{8}$—$\frac{1}{2}$ ग्रेन की सुई। स्वेदन से जो द्रवापहरण होता है उसको दूर करने के लिये पश्चात ५ प्रतिशत मधुमयुक्त नमक पानी आधे से एक सेर तक गुद द्वारा, त्वचा द्वारा या सिरा द्वारा धीरे धीरे २४ घण्टे मे दिया जाय।

दोष—अत्यधिक द्रवापहरण से स्वेदन रक्तगत विषों के संकेन्द्रण को बढ़ाता है, हृदय को दुर्बल बनाता है और शरीर ताप को कभी कभी स्वाभाविक से भी कम कर देता है। इसलिए पसीना निकलना प्रारम्भ होने के पश्चात् स्वेदन १५ मिनट से अधिक काल तक जारी न रखना चाहिये तथा स्वेदन काल में रोगी की नाड़ी और हृदय पर ध्यान रखना चाहिये। यदि हृदयातिपात के लक्षण मालूम हो तो विषतिन्दुकी (Strychnine) बाहूर्ती (Atroprine) इनकी सूई लगानी चाहिये तथा पीने के लिए हृदयोत्तेजक औषधि देनी चाहिए। नमतफली (पायलोकार्पाइन) हृदयावसादक होने से आजकल इस काम के लिए उसका उपयोग प्रायः नहीं किया जाता। फुफ्फुस की सूजन में इसका उपयोग न करना चाहिए। बाष्पस्नान, ऊष्ण स्नान, उष्ण आवेष्टन के पश्चात रोगी को गरम कपड़ों में लपेट रक्खें और पीने के लिए गरम पेय दें। इससे पसीना आने में सहायता होती है।

विरेचन—आन्त्र के द्वारा भूयात्य द्रव्य अर्थात् मिह अधिक मात्रा में उत्सर्गित होने से इसका उपयोग किया जाता है। इस रोग में जो प्रवाहिका होती है वह रक्तगत विष के निष्कासन का नैसर्गिक उपाय है। अतः यदि बहुत कष्टदायक न हो तो उसको रोकना न चाहिए। विरेचन के लिए तीव्र विरेचक या पारद के योग न प्रयुक्त किये जाँय। न उनका प्रयोग इस प्रकार किया जाय कि उससे बीच बीच में मलावरोध या सदा

के लिए प्रवाहिका पैदा हो जाय । विरेचन के लिए म्याग्नेशियम सल्फेट (½–१ ड्राम), पल्व जालप को (१–१½ ड्राम) मिक्स्चर सेनी को (१ औंस) और यष्ट्यादि चूर्ण (१–१½ ग्राम) उत्तम होता है ।

सिरावेधन—इसका उपयोग शिरःशूल, आक्षेप, अन्धता इत्यादि लक्षणों से युक्त तीव्रावस्था में, तथा हृदय पर जब रक्त संचार का भार अधिक पड़ने से (Overburdened heart) हृदयातिपात का डर रहता है तब अच्छा होता है । इसमें सिरावेधन करके २०–५० तोले रक्त निकाला जाता है और उसके पश्चात् लगभग उतना ही ५% मधुम युक्त लवण जल प्रविष्ट किया जाता है । सिरावेधन का प्रयोग जीर्ण रोग में न किया जाय ।

व्याश्लेषण (Dialysis)—रक्तस्थ दोष निर्हरण की यह आधुनिक पद्धति है । वृक्क में अर्धप्रवेश्य कला के द्वारा जिस प्रकार रक्तस्थ विषैले द्रव्य निकालने का काम किया जाता है उसका अनुकरण इस पद्धति में किया जाता है । इसका उपयोग अमूत्रता या अल्प मूत्रता की स्थिति में किया जाता है, जीर्ण रोग में नहीं । व्याश्लेषण का कार्य निम्न साधनों से किया जाता है—

(१) कृत्रिम वृक्क (Artificial kidney)—इसमें व्याश्लेषण का कार्य काचामपत्र (Cellophane) करता है । रोगी का रक्त उसकी बहिःप्रकोष्ठीया (Radial) धमनी से लेकर एक विशिष्ट संघटन के लवण जल में परिभ्रमण करने वाले एक रम्भे (Cylinder) पर लपेटी हुई एक काचामपत्र की नलिका में जाकर (यही कृत्रिम वृक्क है) फिर रोगी की सिरा में वापिस चला जाता है

(२) पर्युदरीय (Peritoneal) व्याश्लेषण—इसमें एक विशिष्ट संघटन का घोल रोगी के पर्युदर में एक ओर से प्रविष्ट किया जाता है और दूसरी ओर विशिष्ट आयोजना के द्वारा निकाला जाता है । इसमें व्याश्लेषण का कार्य पर्युदर कला करती है ।

(३) आन्त्रिक (Intestinal) व्याश्लेषण—इसमें विलयन मध्यान्त्र में (Jejunum) प्रविष्ट किया जाता है और गुद द्वारा बाहर निकलता है ।

इसमें आन्त्र की श्लेष्मकला व्याश्लेषण का कार्य करती है। आन्त्रिक व्याश्लेषण आधुनिकतम तथा सर्वोत्तम बताया जाता है।

औषधिचिकित्सा—डेसेक्सीकार्टिकोस्टेरोन (D. O. C. A.) एसीटेट और टेस्टोस्टेरोन का उपयोग अमूत्रता या अल्पमूत्रता की तीव्रावस्था में करने से मूत्रवर्धन होकर रक्तगत मिह की मात्रा घटती है। इसके साथ कटि प्रदेश पर तोम्बी (Dry cupping) लगाने से लाभ होता है।

शिरःशूल के लिए ब्रोमाइड, क्लोरल हैड्रेट, कोडीन, एस्प्रीन इत्यादि औषधियों का उपयोग किया जाय। मस्तिष्क प्रकोप के कारण जब शिरःशूल होता है तब कटिवेध से १०–२० घ० शि० मा० मस्तिष्कसुषुम्नाजल निकालना हितकर होता है। यदि कटिवेध से शिरःशूल बढ़ जाय तो इसको तुरन्त बन्द कर दिया जाय।

वमन प्रवाहिका से यदि कष्ट हो तो भिदातु (Bismuth) उदश्यामिक अम्ल (HCn), उपवृक्की इनका प्रयोग किया जाय।

रक्तक्षय मूत्रविषमयता का एक महत्त्व का उपद्रव (पृष्ठ२८३) होता है। यह रक्तक्षय अयस, यकृत् इत्यादि रक्तवर्धक औषधियों से ठीक नहीं होता। उसके लिए रक्तदान ही सर्वश्रेष्ठ उपाय होता है।

रक्त के अम्लोत्कर्ष को दूर करने के लिए रोगी को मुख द्वारा क्षारातु द्विप्रांगारीय (Na_2CO_3) और सिरा द्वारा उसका घोल (२% १००–२०० घ० शि० मा०) दिया जाय।

मूत्रस्थ उपसर्ग के लिए कूचकि या अन्य प्रतिजीवी द्रव्य का प्रयोग किया जाय।

आक्षेपों के लिए क्लोरोफार्म सूंघने के लिए दिया जाय।

गुप्त मूत्रविषमयता

Latent ureamia

हेतुकी—मूत्रविषमयता का यह प्रकार अवरोध जन्य अमूत्रता उत्पन्न करनेवाले विकारों में (पृष्ठ २२७) उत्पन्न होता है। इसमें वृक्क में विकृति नहीं होती, परन्तु रक्त में मूत्र के मिहादि द्रव्य इकट्ठा होने से मूत्रविषमयता कहते हैं।

लक्षण—इस मूत्रविषमयता में रोगी धीरे धीरे कमजोर होता है, उसके शरीर का ताप कम होता जाता है, वह सुस्त और शयालु होता है। परन्तु इसमें वमन, श्वासकृच्छ्र, शरीर शोफ, आक्षेप इत्यादि लक्षण नहीं होते और रोगी में संन्यस्तावस्था बहुत कम होती है। इसकी तीन अवस्थाएँ होती है—

(१) *सहिष्णुता की अवस्था* (Tolerance)—पाँच छ दिन जब तक बरदाश्त कर सकता है तब तक रोगी अपना काम करता रहता है। इस काल में कभी कभी अल्प मात्रा में रक्तमिश्र मूत्र प्रायः निकलता रहता है। रक्त में मिह की मात्रा बढ़ती जाती है और जब २०० सहस्रि-धान्य तक पहुँचती है तब विषैले लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

(२) *अन्तर्विषता की अवस्था* (Intoxication)—इस अवस्था में ठोस अन्न के लिए अनिच्छा, पानी पीने के लिए इच्छा, तृषा, हृल्लास, वमन, हिचकी, जिह्वा सूखी और मलावृत, मलावरोध, आध्मान इत्यादि लक्षण होते हैं। यदि वृक्क पहले से विकृत रहे तो ये लक्षण जल्दी उत्पन्न होते हैं।

(३) *संन्यास की अवस्था*—इसमें रोगी शयालु, अनवहित (Listless) उदासीन (Apathetic), संभ्रान्त (Confused) रहता है। नाड़ी प्रथम मन्द और कठिन पश्चात् शीघ्र और मृदु हो जाती है। श्वास मन्द, गम्भीर और घर्घर होता है। शरीर का ताप धीरे धीरे घटता जाता है और अन्त में रोगी संन्यस्त होकर मर जाता है।

चिकित्सा—शस्त्रकर्म द्वारा मूत्रमार्गावरोध को दूर करना यही इसका एक मात्र उपाय है। यही कार्य प्रारम्भ में ही किया जाय तो रोगी पूर्णतया ठीक होता है और वृक्क साफ साफ बच जाते हैं। यदि कोई चिकित्सा न हुई तो अमूत्रता का रोगी एक दो सप्ताह तक जीवित रह सकता है। विलम्ब से चिकित्सा करने पर वृक्कों को स्थायी हानि पहुँचती है।

उदकमेह

पर्याय—बहुमूत्रमेह उदमेह (Diabetes insipidus)

व्याख्या—यह एक शरीरगत जलसंतुलन (Water balance) का

विकार है जो पोषणिका ग्रन्थिपश्चिमखण्ड के या कन्दाधारिकभाग के निध्वंसक विक्षत से उत्पन्न होता है तथा जिसमें बहुमूत्रता तथा बहुतृषा प्रधान लक्षण होते हैं।

हेतुकी—यह रोग १०-४० वर्ष की वयोवस्था में पुरुषों में अधिक पाया जाता है। इसमें कुछ कुछ कौटुम्बिक प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। यह रोग पोषणिका के दृष्टिनाडी परिखा (Sellaturcica), दृक्कन्द (Pineal body) इनके अर्बुद से, फिरंगज, यक्ष्मज मूलमस्तिकावरणशोथ से (Basic meningitis) निद्रालसी मस्तिष्कशोथ से, हँण्ड शूलर क्रिश्चन (Handschuller Christion) रोग से, करोटीपीठ भङ्ग (Fracture of the ase of the skull) से या करोटीपीठ में वेधन होने से पोषणिका ग्रन्थि पश्चिम खण्ड के विध्वंस के कारण या पोषणिका कन्दाधारिकभाग का आपस का सम्बन्ध विच्छेद होने के कारण होता है। परन्तु अनेकबार इस प्रकार के कोई स्पष्ट कारण न होते हुए अर्थात् अज्ञात कारणिक (Idiopathic) भी यह रोग होता है। ऐसी अवस्था में चित्तोद्वेग, मनोभ्याघात (Shock) भय इत्यादि इसके कारण हो सकते हैं। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति और गर्भ धारण से कभी कभी यह होता है।

संप्राप्ति—*बहुमूत्रता*—मस्तिष्क में जो पोषणिकाग्रन्थि (Pituitary) होती है उसके आग्रम (Anterior) और पश्चिम (Posterior) करके खण्ड होते हैं। अग्रिम से जो स्राव निकलता है उससे मूत्र की राशि बढ़ती है। इसलिए उसको मूत्रल (Diuretic) स्राव कहते हैं। पश्चिम खण्ड से जो स्राव निकलता है उसका सम्बन्ध मूत्रनलिकओं द्वारा होने वाले जल के प्रचूषण से (पृष्ठ १३) होता है और वह तद् द्वारा मूत्रराशि को कम किया करता है। इसलिए उसको अमूत्रल (Antidiuretic) स्राव कहते हैं। पश्चिम खण्ड के स्राव को ही पोषणिकि (Pituitrin) कहते हैं। पश्चिम खण्ड का कार्य ठीक चलने के लिए कन्दाधारिक (Hypothalamus) भाग के साथ उसका सम्बन्ध अविच्छिन्न रहना बहुत जरूरी है। उपर्युक्त विकारों से जब पोषणिका का पश्चिम खण्ड विध्वस्त हो जाता है या कन्दाधरिक भाग से उसका सम्बन्ध टूट जाता है तब उसका अमूत्रल स्राव बन्द होकर अग्रिमखण्ड के मूत्रल स्राव का कार्य जारी रहता है और उदकमेह उत्पन्न होता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि उदकमेह पोषणिका के अग्रिम

खण्ड स्वस्थ रहते हुए पश्चिम खण्ड के विध्वंस से उत्पन्न होता है। यदि पश्चिम खण्ड के साथ पूर्वखण्ड भी विध्वस्त हो जाय तो यह रोग नहीं हो सकता।

तृषाधिक्य—मूत्रद्वारा उत्पन्न, हुए द्रवापहरण (Dehydration) का यह परिणाम है क्योंकि द्रवापहरण में रक्त की जो स्थिति होती है वही इस रोग में भी पायी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्यादा पानी पीने से बहुमूत्रता नहीं होती परन्तु बहुमूत्रता के कारण तृषाधिक्य होता है। परन्तु कभी कभी यह तृषार्तता उदकमेह के परिणाम स्वरूप न होकर मस्तिष्क के अन्य अंगों की विकृति के परिणाम स्वरूप हो सकती है।

लक्षण—इसके लक्षण धीरे धीरे या यकाएक प्रारम्भ हो सकते हैं। रोगी का स्वास्थ्य वैसे अच्छा रहता है। इसके मुख्य दो लक्षण होते हैं।

बहुमूत्रता और बहुतृषा—(Polydipsia) मूत्र की राशि दिन रात में ५-१० सेर तक होती है और कुछ रोगियों में ३० सेर तक (८-५० पाइन्ट) हो सकती है।

मूत्र में शर्करा या शुक्लि नहीं होती है। उसकी गुरुता लगभग जल के बराबर १००५—१००२ तक (जल की १०००) होती है और उसका वर्ण जल के समान रहता है। इसलिए इस प्रमेह को उदकमेह कहते हैं। रोगी सदा तृषित रहता है और मूत्र की राशि के अनुसार पानी का सेवन अधिक मात्रा में किया करता है। क्वचित् उसको भूख भी अधिक लगती है। तृषा के कारण जैसे उसका मुँह सूखा रहता है वैसे द्रवापहरण के कारण त्वचा सूखी होती है। बहुमूत्रता के कारण रोगी कुछ सचिन्त रहता है, उसको रात में अनेक बार मूत्र त्यागने के लिए उठना पड़ता है जिससे उसको ठीक नींद नहीं आती। धीरे धीरे रोगी कृश और क्षीण-बल होने लगता है। बाल्यावस्था में रोग होने पर शरीर विकास रुक जाता है।

रोग क्रम औरसाध्यासाध्यता—यह दीर्घकालानुबन्धी रोग है जो १०—१५ वर्ष तक चल सकता है। यदि चिकित्सा न हुई तो दुस्स्वास्थ्य (Cachexia) उपसर्ग या संन्यास से रोगी मर जाता है।

१—अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्।
श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति॥ चरक॥

निदान—बहुमूत्रता और तृषा, मूत्र परीक्षा और क्ष-रश्मि द्वारा कपार का परीक्षण, दृष्टिपटल परीक्षण इनसे निदान हो जाता है।

सापेक्षनिदान—सापेक्षनिदान में बहुमूत्रता के सब कारणों का विचार (पृष्ठ२३१) करना चाहिये। अपतन्त्रकीय (Hysterical) बहुमूत्रता—इसमें बहुमूत्रता रात की अपेक्षा दिन में अधिक होती है जिसमें रात में रोगी का निद्राभंग नहीं होता। इसके अतिरिक्त अपतन्त्रक रोगी का स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

मधुमेह—इसमें मूत्र की गुरुता अधिक होती है तथा उसमें शर्करा होती है। जीर्णवृक्कशोथ में मूत्र में शुक्लि तथा निर्मोक पाये जाते हैं। हैण्ड-शलर-क्रिश्चन रोग सहज और कौटुम्बिक होता है, उसमें बहिरक्षिगोलकता (Exopthalmos) और यकृत्प्लीहाभिवृद्धि, त्वचा का पीलापन, क्ष-रश्मि द्वारा खोपड़ी में गाँठें इत्यादि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—इसके लिए पोषणिका ग्रन्थि के योग प्रयुक्त किये जाते हैं जिससे स्राव की कमी की पूर्ति हो जाय। पिट्रेसिन (Pitressin) १०–२० एकक या ४½ घ० शि० मा० की मात्रा में अधस्त्वक् सूचिका भरण से दिन में त्रिवार। यदि सुई के स्थान में प्रतिक्रिया हो जाय तो इसका प्रयोग बन्द करना चाहिए, क्योंकि प्रतिक्रिया से इसका प्रभाव नष्ट होता है। तेल में पिट्रेसिन टयानेट १ सी० सी० पेश्यन्तर्य। इसका परिणाम दीर्घकालिक होने से एक दिनान्तरित इसकी सुई लगायी जा सकती है। पश्चिम पोषणिका चूर्ण का नासा में प्रधमन (Nasal insufflation) भी दिन में ५–६ बार प्रयुक्त किया जाता है। दिन भर की कुल मात्रा ८० मि० ग्राम। प्रधमन की पद्धति में सुई की अपेक्षा दोष बहुत कम होते हैं। परन्तु कुछ लोगों में नासाप्रकोप बहुत अधिक हो जाता है। उनमें सुई का उपयोग न करना चाहिए। जिनमें नासाप्रकोप नहीं होता उनमें भी मुख की पाण्डुरता और आन्त्र तथा गर्भाशय शूल हुआ करते हैं। रोगियों को इस बात की पूर्वसूचना देनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त नासा में पोषणिका के श्लेष्मक (Gelly) को लगाना या उसके द्रव में रूई का फाया भिगोकर रखना इनका भी उपयोग किया जाता है। कुछ लोग अमिडोपायरीन (Amyidopyrone) प्रतिदिन

और प्रति चौथे दिन उसके बदले पिट्रेसिन इस प्रकार प्रयोग करते हैं। पोषणिका चिकित्सा से बहुमूत्रता और तृषा कम हो जाती है। इससे रोगी की चिन्ता दूर हो जाती है, रात्रि में निद्राभंग नहीं होता, उसका भार बढ़ने लगता है और वह यथापूर्व स्वस्थ हो जाता है। बच्चों में इसका परिणाम आश्चर्यजनक होकर उनका रुका हुआ शरीर का विकास यथायु होने लगता है।

तमाखू की ताम्रकूटी (Nicotine) पोषणिका ग्रन्थि के अमूत्रल स्राव को बढ़ानेवाली है। इसलिए जिनमें पोषणिका ग्रन्थिका पूर्ण विध्वंस नहीं हुआ है उनमें उससे लाभ होता है।

जिनमें कान या वासरमन अस्त्यात्मक मिलती है है उनमें फिरंगहर चिकित्सा से लाभ हो सकता है। कुछ रोगियों में अवटुका निस्सार (Thyroid extract) से लाभ होता है।

रोगी को पानी पीने से न रोकें। भोजन में लवण कम दिया जाय। चाय काफी तथा मूत्र को बढ़ानेवाले द्रव्यों का सेवन वर्ज्य करें।

क्षीणमूत्रमेह

पर्याय—(Diabetes Tenuifluus) तनुमूत्रमेह।

व्याख्या—पश्चिम पोषणिका के अमूत्रल स्राव के अतियोग की यह विकृति है जिसमें मूत्रराशि की क्षीणता और अतृष्णा होती है।

हेतु—यह रोग उदकमेह के समान कभी कभी अज्ञान कारणिक हो सकता है, परन्तु प्रायः पोषणिका संरूप, फ्राहलिक संरूप (Frohlich's syndrome), पोषणिका या अपर पोषणिका (Para pituitary) के अर्बुद, पोषणिकाजन्य स्थूलता (Adiposity) इत्यादि विकारों में पाया जाता है। शाखा बृहती (Acromegaly) में अवस्थानुसार उदकमेह या क्षीण मूत्रमेह पाया जाता है।

लक्षण—यह बहुत ही विरल दृष्टि रोग है। इसमें मूत्र की क्षीणता और तृषा का अभाव ये दो प्रधान लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें स्वेदाधिक्य भी रहता है।

संप्राप्ति—इस रोग में पश्चिम पोषणिका के स्राव का अतियोग होता है जिससे वृक्कों में अत्यधिक जल का प्रचूषण होकर मूत्र की क्षीणता होती है। संक्षेप में इसकी संप्राप्ति उदकमेह की संप्राप्ति से ठीक उलटी रहती है।

कभी कभी इस रोग में परमाततित, परमवर्णिक (Hyperchromic) रक्तक्षय, जठर की अनम्लता, प्रांगोदीय समवर्त (Carbohydrate metabolism) की विकृति इत्यादि उपद्रव भी होते हैं।

निदान—हृदय और वृक्क की विकृति न होते हुए मूत्राल्पता तथा तृषाभाव और उसके साथ स्वेदाधिक्य हो तो इसका ध्यान रखना चाहिए।

चिकित्सा—पोषणिका ग्रन्थि की विकिरण चिकित्सा (Radiation therapy) करने से कभी कभी बहुत लाभ होता है।

मधुमेह

पर्याय—क्षौद्रमेह (Diabetes mellitus)।

व्याख्या—यह एक सर्वसाधारण समवर्त (Metabolism) का रोग है जिसमें विशेष रूपेण प्रांगोदीय (Carbohydrate) समवर्त में बाधा उत्पन्न होकर रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ती है और इसके परिणाम स्वरूप मूत्र में उसका उत्सर्ग (शर्करा मेह Glycosuria) होता है। आगे चल कर स्नेह समवर्त और प्रोभूजिन समवर्त में भी बाधा होकर अम्लतोत्कर्ष (Acidosis) होता है।

हेतुकी—(१) कुलज प्रवृत्ति—मधुमेह में कुलज प्रवृत्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु कुलजता के किस नियम के अनुसार उसकी परम्परा अपत्यों में जारी रहती है इसका ठीक ज्ञान न होने के कारण इसके सम्बन्ध में मतमतान्तर दिखाई देते हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि यदि माता पिता दोनों मधुमेही रहे तो अपत्यों में मधुमेह उत्पन्न होने की परम्परा की प्रतिशतता सबसे अधिक होती है। और यदि दोनों में एक मधुमेही रहा तो उससे कम होती है। यदि दोनों मधुमेही न रहे परन्तु मधुमेहियों के समीप सम्बन्धी रहे तो भी उनके अपत्यों में रोग उत्पन्न होता

---

(१) आयुर्वेद में मधुमेह कुलज बतलाया गया है—जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीज दोषात्। ये चापि के चित् कुलजाविकाराभवन्वितांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान्। माधव विदान। कुलजा इत्यने नैव मेहस्याप्यसाध्यतायांलब्ध तायां पुनस्तद्वचनं प्रमेहिणां प्रायेण सन्तानानु बन्धित्वप्रदर्शनार्थम्। उक्तं च प्रमेहोऽनुसङ्गिनाम्॥ चरक॥ तत्रादि बल प्रवृत्ता शुक्रशोणित दोषान्वयाः कुष्ठार्शप्रभृतयः। सुश्रुत॥ प्रभृति ग्रहणान्मेहक्षयादयः। डल्हण॥

है परन्तु इसकी प्रतिशतता सबसे कम रहती है। मधुमेह की प्रवृत्ति मण्डेल के कुलजताविज्ञान के अनुसार पश्चापसारी (Recessive) गुण माना जाता है। विवाहबद्ध होने पर मधुमेहियों के अपत्यों की क्या स्थिति होती है इसका एक उदाहरण लिंकन ने दिया है जिसमें यह बताया है कि एक मधुमेही दम्पती को ९ अपत्य रहे। दो बचपन में मधुमेह से मरे और जो सात बचे वे सब स्थूल तथा मधुमेही ही रहे।

कुटुम्बियों में मधुमेह की उत्पत्ति कुलज प्रवृत्ति के कारण जैसे होती है वैसे विहारादि के समता के कारण भी हो सकती है। अनेक बार यह देखा गया है कि पति या पत्नी मधुमेही होने पर दूसरे में भी मधुमेह उत्पन्न हो जाता है।

मधुमेह औपसर्गिक रोग न होने से उसकी उत्पत्ति में संपर्क का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता अर्थात् समान जीवन यही एक कारण हो सकता है। कुलज प्रवृत्ति का परिणाम रोग की उत्पत्ति जल्दी अर्थात् अल्पायु में होने में भी होता है। मधुमेहियों में कुलज प्रवृत्ति मिलने वाले रोगियों का प्रतिशत प्रमाण रोग उत्पन्न होने की आयु से सदैव व्यस्त (Inversely proportional) रहता है। इसका अर्थ यह है कि अल्पायु में मधुमेह से पीड़ित होने वालों में कुलप्रवृत्ति के रोगी अधिक होते हैं और अधिक आयु में पीड़ित होनेवालों में कुलज प्रवृत्ति के रोगी अल्प मिलते हैं। जिनमें कुलज प्रवृत्ति बिलकुल नहीं होती उनमें रोग उत्तर आयु में, जिनमें एकपक्षीय कुलप्रवृत्ति होती है उनमें मध्यम आयु में और जिनमें माता पिता के कुल से प्रवृत्ति होती है उनमें बहुत जल्दी रोग उत्पन्न होता है और प्रत्येक पीढ़ी में उसकी उत्पत्ति अधिकाधिक जल्दी होने लगती है।

(२) *वंश*—यहुदियों में और आयरिश लोगों में, यह रोग बहुत अधिक होता है। भारतियों और लंका निवासियोंमें भी यह रोग अधिक पाया जाता है। भारत के हिन्दुओं में और उनमें भी ब्राह्मणों में अधिक और प्रान्त की दृष्टि से बंगालियों में अधिक होता है। चीनियों और नीग्रो में बहुत कम होता है।

(३) *वय*—यह रोग मध्यमवय का है जो ३५-५० तक सबसे अधिक होता है। मधुमेहियों के नवजात बालकों में भी यह मिल सकता है परन्तु बाल्यावस्था में तथा ७० के पश्चात् बहुत कम दिखाई देती है। बाल्यावस्था

में जब प्रकट होता है तब प्रायः तीव्र और आशुकारी (Rapid incourse) होता है।

(४) *लिंग*—पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में यह रोग अब तक कम दिखाई (७५% २५%) देता रहा। परन्तु अब उनमें भी मधुमेह बढ़ रहा है क्योंकि उनका अल्पाहारी, परिश्रमी जीवन धीरे धीरे नष्ट होकर मधुमेहोत्पादक आलसी, आरामतलब पर्यावरण (Environment), जिसको आधुनिक काल में जीवन की सुधार (Betterment) कहते हैं, उनके लिए भी बन रहा है। जीवन सुधार के शिखर में पहुंचे हुए अमेरिका में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में मधुमेह अधिक दिखाई देने लगा है।

(५) *आहार*—आहार का मधुमेह की उत्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योंकि मधुमेह आहार समवर्त का रोग है। मिष्टान्न और स्निग्धान्न का अति सेवन (over indulgence) मधुमेह जनक होता है। (आगे स्थौल्य देखिये) मधुमेह विशेषज्ञों का कहना है कि जैसे जैसे और जहाँ जहाँ चीनी का उत्पादन और सेवन बढ़ता जा रहा है वैसे वैसे और वहाँ वहाँ पर मधुमेह भी बढ़ता जा रहा है। गुड़ के सेवन में यह दोष नहीं है।

जीवतिक्तियों की, विशेषतया क, ख, ग (A, B. C) की हीनता मधुमेह तथा उसके उपद्रवों की उत्पत्ति में सहायक होती है।

शाकाहार और मांसाहार का मधुमेह की उत्पत्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु यह देखा जाता है कि शाकाहारियों में रोग सौम्य और मांसाहारियों में कुछ तीव्र हुआ करता है।

(६) *स्थूलता*—(Obesity) कुल प्रवृत्ति के पश्चात् स्थूलता मधुमेह का दूसरे क्रमांक का कारण माना जाता है। जब मनुष्य अत्यधिक मात्रा में मिष्टान सेवन करता है तब दैनिक आवश्यकताओं से अधिक शर्करा

(४-५) आयुर्वेद में मधुमेह की उत्पत्ति का निदान निम्न प्रकार :से वर्णित है—दिवास्वप्नाव्यायामालस्यप्रसक्तं शीतस्निग्धमधुर मेद्य द्रवान्नपानसेविनं पुरुषं जानीयात् प्रमेही भविष्यतीति ॥ सुश्रुत ॥ स्त्रियों में प्रमेह कम होता है यह भाव पुरुष शब्द से प्रदर्शित किया है। इसके सम्बन्ध में प्राचीनकाल में भी मतभेत रहा—तत्राहुरेके—रजः प्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः ॥ इति एतत्तु न युक्तं सर्वतन्त्राप्रसिद्धेः प्रत्यक्षविरोधाच्च ॥ निबन्धसंग्रह ॥

चरबी में परिवर्तित होकर शरीर में संग्रहित हो जाती है और शरीर स्थूल बनता है। परिवर्तन का यह कार्य लँगरहन के अन्तरीपों के स्राव से अर्थात् मधुनिषूदनि (Insulin) से ही होता है। इसका अर्थ यह है कि अत्यधिक मिष्टान्न सेवन करने का भार लंगरहन के अन्तरीपों पर ही पड़ता है। जब तक ये अन्तरीप इस भार को सहन करने में समर्थ होते हैं तब तक शरीर दिन प्रति दिन स्थूल होता जाता है और मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग नहीं होता। कुछ काल के पश्चात् इस अतिभार का फल इनके क्षीण (Atrophy) होने में होता है जिससे शर्करा चरबी में परिवर्तित होने का काम बन्द होकर वह मूत्र में आने लगती है। संक्षेप में आहार स्थौल्य और मधुमेह की परम्परा निम्न प्रकार की होती है।

आहार का अतियोग + स्थूलता + मधुमेह—

स्थूलता की दृष्टि से साधारणतया यह कहा जा सकता है कि वय और ऊँचाई की दृष्टि से जिनका शरीर अधिक स्थूल होता है उनमें मधुमेह उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। इसके विपरीत जो अपने वय और ऊँचाई के अनुसार अल्पभारिक और कृश होते हैं उनमें मधुमेह अपवाद रूपेण दिखाई देता है। इसके आधार पर जोस्लीन (Joslin) नामक मधुमेह विशेषज्ञ ने निम्न मधुमेह का नियम (Diabetic law) बनाया है—

२० वर्ष से अधिक वय के मनुष्य में जो सदैव कृश और अल्पभार रहा है, मधुमेह विरलदृष्ट होता है और जब उत्पन्न होता है तब या तो वह कम तीव्र होता है या सौम्य।

स्थूलता और मधुमेह के परस्पर सम्बन्ध में जोस्लिन (Joslin) का मत—'मधुमेह अधिकतर स्थूलता का दण्ड[1] (Penalty) मालूम पड़ता है। और जितनी स्थूलता अधिक निसर्ग के द्वारा उतना ही यह दण्ड अधिक लादने की सम्भावना बनी रहती है।

---

(१) आयुर्वेद मे स्थौल्य से प्रमेहपीडकादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं इसका निर्देश है—(स्थूलः) प्रमेह पीडिका ज्वर भगन्दर विद्रधि वातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति ॥ सुश्रुत ॥ मन्दोत्साहमतिस्थूलमतिस्निग्धं महाशनम्। मृत्युः प्रमेह रूपेण क्षिप्रमादाय गच्छति ॥ चरक ॥ आयुर्वेद में मधुमेही के स्थूल और कृश करके दो भेद भी किये है—स्थूल प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च ॥चरक॥

(७) *यकृत् के रोग*—रक्तगत शर्करा की मात्रा से यकृत का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिए यकृद्दाल्युदरूपे (Cirrhosis), विषजन्य यकृद्विनाश (Necrosis) तथा यकृत् के अन्य उपसर्ग शर्करा सहनीयता (Sugar tolerance) को घटाकर मधुमेह उत्पत्ति में सहायता करते हैं सदैव मद्यसेवन भी यकृत् में विकृति करके एक सहायक कारण होता है। शरीर के उपसर्ग भी यकृत् को हानि पहुँचाकर मधुमेह को बढ़ाते हैं। यकृत् के विकारों से शरीर में जीवतिक्ति क (Vitamin A) की हीनता हो जाती है जो मधुमेही में उपसर्गोत्पत्ति में सहायक होती है।

(८) *व्यवसाय और आदतें*—अमीरी, आलस्य, अनुद्योग, व्यायामाभाव, बैठे व्यवसाय (Sedentary occupations) इनसे युक्त परिस्थिति (३०८ पृष्ठ परपाद टिप्पणी देखो) मधुमेह सहायक होती है। इसलिए इसमें रहनेवाले लोग—जैसे राजे, महाराजे, अमीर उमरा, जमींनदार, पूंजीपति वकील, चिकित्सक, प्राध्यापक इससे प्रायः पीडित रहते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में रहनेवाले लोग प्रथम स्थूल होते हैं और पश्चात् मधुमेह उत्पन्न होता है।

(९) *मनस्थिति*—दीर्घकालिक मनस्ताप, चित्तोद्वेग, चिन्ता, पागलपन एकाग्रता इत्यादि मानसिक अवस्थाएँ उपवृक्कादि अन्तःस्रावी, ग्रन्थियों को उत्तेजित करके इसकी उत्पत्ति में सहायता करती है। इनसे क्षणिक शर्करामेह उत्पन्न होता है जिसको चित्तोद्वेगज (Emotional) कहते हैं।

(१०) *अभिघात*—सिर, मस्तिष्क (खोपड़ी के भीतर निपीडवृद्धि Intracranial pressure), पृष्ठवंश,नाडीचक्र (Nerve plexuses), अग्न्याशय, यकृत् इत्यादि शरीर के विविध अंगों के अभिघात (Trauma) कभी कभी मधुमेहोत्पत्ति में सहायक होते हैं। इसके सम्बन्ध में शास्त्रज्ञों की राय है कि किसी भी अंग के अभिघात से मधुमेह उत्पन्न नहीं होता। परन्तु यदि कोई व्यक्ति संभावी (Potential) मधुमेही हो तो उसमें उत्तर काल में उत्पन्न होने वाला रोग अभिघात से जल्दी उत्पन्न हुआ करता है। अनेक बार उदर के शस्त्र कर्मों के पश्चात् रोगियों में मधुमेह प्रकट होता है। वह अल्पकालिक होता है। इसको शस्त्र कर्मोत्तर अल्पकालिक (Post

operative temporary) मधुमेह कहते हैं। इसका भी समावेश अभिघातज में कर सकते हैं ।

(११) *अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के विकार*—अवटुका (Thyroid) उपवृक्क, यकृत् , पोषणिका बीजग्रन्थि, अग्न्याशय इनके स्रावोंका सम्बन्ध प्रांगोदीय समवर्त (Carbohydrate metabolism) के साथ होने से इन ग्रन्थियों के विकारों में मधुमेह उत्पन्न होता है। जैसे तीव्र अग्न्याशय शोथ (Acute pancreatitis) में ५–१०%रोगियों में मधुममेह (Glycosuria) उत्पन्न होता है और उससे रोग निवृत्त हुए अनेक व्यक्तियों में आगे मधुमेह उत्पन्न होता है। मध्य और उत्तर वय में अनेक लोगों में जीर्ण अग्न्याशय शोथ से मधुमेह होता है। वैसे ही परमावटुकता(ग्रेव का रोग) से पीड़ित रोगियों में अन्यों की अपेक्षा मधुमेह अधिक (३ प्र०) दिखाई देता है। उपवृक्क के अर्बुद में तथा स्त्रियों में रजोनिवृत्तिकालीन बीज ग्रन्थि (Ovary) के विकार के कारण कभी कभी मधुमेह उत्पन्न होता है। इसी कारण से कुछ लोगों का यह मत है कि गर्भधारणा से आगे मधुमेह उत्पन्न होने में सहायता होती है। आजकल अनेक रोगों की चिकित्सा में पोषणिका और उपवृक्क ग्रन्थि के स्राव (*ए० सी० टी० एच और कार्टिसोन*) प्रयुक्त होते हैं और अनेक रोगियों में उसके परिणाम स्वरूप आगे चलकर मधुमेह की उत्पत्ति देखी जाती है।

(१२) *वातरक्त* (Gout)—मधुमेह के साथ मिलने वाला यह एक रोग है। इसका कारण यह है कि मिहकी समवर्त (Purine metabolism) और रक्तशर्करा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अनेक बार वातरक्त पीड़ितों में शर्करा मेह पाया जाता है और वातरक्त प्रकृति (Diathesis) के रोगियों में मधुमेह होता है।

(१३) *उपसर्ग* (Infections)—मुख, दन्तमांस तथा अन्य अंगों के दूषित स्थान(Septic focus),आन्त्रिक, फुफ्फुसपाक, फिरंग, विषम ज्वर इत्यादि नवीन और जीर्णउपसर्ग तथा उनके अन्तर्विष अग्न्याशय का विरोध करने वाली शरीर की अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर कार्य करके उनके स्रावों को घटाबढ़ाकर मनुष्यों की शर्करा सहनीयता (Sugar tolerance) कम कर देते हैं और इस प्रकार मधुमेह की उत्पत्तिमें सहायता करते हैं। मधुमेह होने पर जब कोई उपसर्ग होता है तब मधुमेह

बढ़ता है और उपसर्ग भी तीव्र और गम्भीर रूप धारण करता है। इस कारण से उपसृष्ट मधुमेही में मधुनिषूदनि की मात्रा अधिक देने की आवश्यकता होती है।

(१४) जलवायु—शीत तथा समशीतोष्ण (Temparate) कटिबन्ध की अपेक्षा उष्ण और अनुष्णकटिबन्ध (Tropical and Subtropical) में मधुमेह अधिक होता है क्योंकि उष्ण जलवायु से शरीरकी शर्करा सहनीयता घट जाती है। भारत लंका में मधुमेह अधिक होने के कारणों में एक कारण जलवायु भी है।

आहार समवर्त्त (Food metabolism)—मधुमेह में मूत्र में विकृति होते हुए भी वृक्कों में कोई विकृति नहीं होती। यह आहार समवर्त का रोग है और उस विकृति के कारण रक्त में शर्करा की अधिकता होकर वृक्कोंद्वारा उसका उत्सर्ग (३१४ पृ०) होने से शर्करा मेह उत्पन्न होता है। आहार समवर्त में पाचन (Digestion), प्रचूषण (Absorption) सात्म्यीकरण या संग्रहण (Assimilation or storage), उपयोजन (Utilization) और मलोत्पादन तथा मलोत्सर्जन इत्यादि कार्य होते हैं।

पाचन—आहार में पानी, जीवतिक्तियाँ, खनिज, प्रांगोदीय (Carbohydrates) स्नेह और प्रोभूजिन (Proteins) ये षड्विध पदार्थ होते हैं। इनमें केवल अन्तिम तीनों का पाचन होता है या पाचन की आवश्यकता केवल अन्तिम तीनों के लिए होती है।

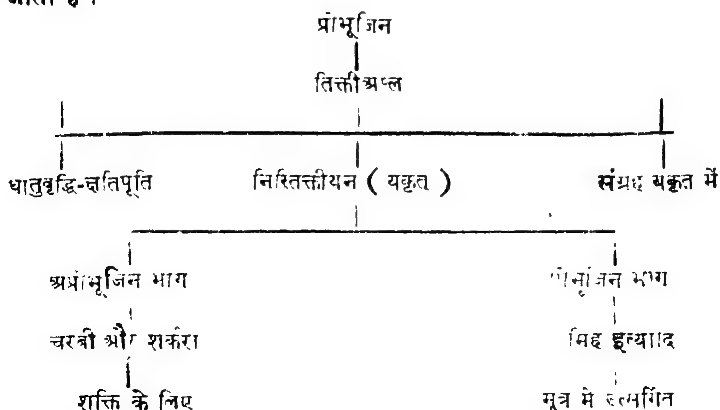
प्रांगोदीय—पाचन होने पर ये मधुम (Glucose), चीरधु (Galactose) और फलधु (Fructose) इन एकशर्कराओं में (Monosaccharides) में परिवर्तित होते हैं।

प्रोभूजिन—पाचन होनेपर ये तिक्तीअम्लों (Amino acids) में परिवर्तित होते हैं। विविध प्रोभूजिनों के पाचन से उत्पन्न होनेवाली विविध तिक्ती अम्लों की संख्या इस समय २२ है। प्रोभूजिनों के प्रचूषण के लिए उनका तिक्ती अम्लों तक पूर्ण पाचन होना आवश्यक नहीं है। वे अर्धपाचित या अपाचित अवस्था में भी सूक्ष्मांश में प्रचूषित होते हैं।

स्नेह द्रव्य—पाचन होने पर ये स्नेहिक अम्ल (Fatty acids) और मधुरी (Glycerine) में परिवर्तित होते हैं।

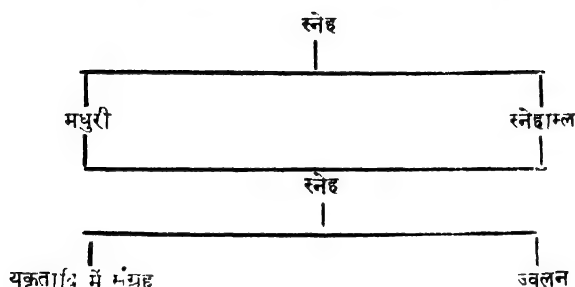
प्रचूषण—इनमें स्निग्ध द्रव्यों के पाचित योग पयस्विनी प्रणालिकाओं (Lacteals) द्वारा सीधे रक्त में पहुंचते हैं। प्रोभूजिनों और प्रांगोदीयों के पाचित द्रव्यों का प्रचूषण प्रतीहारिणी सिरा की शाखा प्रशाखाओं द्वारा होकर वे प्रथम यकृत में चले जाते हैं।

संग्रहण, उपयोजन और मलोत्सर्जन-प्रोभूजिन—इनके तिक्ती अम्ल प्रचूषित होने पर रक्त के द्वारा शरीर के संपूर्ण धातुओं के पास पहुंचते हैं और वे धातु अपने अपने संघटन के अनुसार उनमें से योग्य तिक्ती अम्लों को ग्रहण कर अपनी धातुवृद्धि और क्षतिपूर्ति कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक धातु उनका संग्रहण भी किया करता है। संग्रहण की दृष्टि से मांस धातु और यकृत सब से महत्व के हैं। कुछ तिक्ती अम्ल यकृत, वृक्क, आन्त्र की कोशाओं में निस्तिक्तीयित (Deaminized) होते हैं और उनका तिक्तांश (NH2) मिह (urea) में परिवर्तित होकर मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है। दूसरा अप्राभूजिनांश (Non protein fraction) जारित (oxidized) होकर शक्ति उत्पादन के काम में आता है या शर्करा या चरबी में परिवर्तित होकर शरीर में संग्रहित होता है और आवश्यकतानुसार उर्जा या शक्ति (Energy) के लिए उपयोग में लाया जाता है।



स्नेह—चरबी के पाचन से उत्पन्न हुए योग प्रचूषित होकर उनमें फिर चरबी बनती है और उसका अधिकांश त्वचा के नीचे, आन्त्रनिबन्धिनी,

वपा (Omentum), वृक्कादि (पृष्ठ १५३) कुछ अंगों के चारों ओर और कुछ अंश यकृत् तथा अन्य धातु में संग्रहित होता है और कुछ अंश शक्ति तथा उष्णता के लिए खर्च होता है। इसके (ज्वलन या जारण) लिए चरबी को शर्करा की आवश्यकता होती है जैसे तेल या घी को बत्ती की। यकृत् में जैसे चरबी के संग्रहण का काम होता है वैसे उसके उपयोजन के लिए उन्हें शर्करा में परिवर्तित करनेका भी काम होता है।

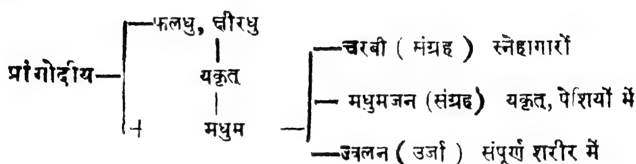


चरबी के रूप में या मधुजन के रूप में — इसके लिए शर्करा की आवश्यकता

प्रांगोदीय—इनके पाचन से अनेक एकशर्करेय उत्पन्न होते हैं जिनमें मधुम (Glucose) सबसे अधिक तथा सबसे प्रधान होता है। इन एक शर्करेयों के प्रचूषण की यह खूबी होती है कि आन्त्र में इनकी राशि कितनी भी अधिक क्यों न हो प्रचूषण की गति एक मर्यादा से अधिक नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह होता है कि जब अधिक मिष्टान्न सेवन किया जाता है तब इन शर्कराओं का प्रचूषण अधिक काल तक चलता है, न कि अधिक शीघ्र गति से। रक्त में शर्करा की मात्रा वृक्क देहली से अधिक होकर उसकी व्यर्थ हानि न हो इसकी सुरक्षा के लिए शरीर में जो अनेक साधन रक्खे गये हैं उनमें प्रचूषण गति की यह विशिष्टता प्रथम साधन है। एकशर्करेयों में जो मधुम (Glucose) होता है वह रक्त में वैसा ही रहता है, परन्तु जो अन्य शर्कराएं होती हैं वे प्रचूषित होने पर यकृत में जाकर मधुम में प्रथम परिवर्तित होती हैं। संक्षेप में शरीर के भीतर प्रांगोदीयों द्वारा जो कार्य होता है वह केवल मधुम के द्वारा होता है, अन्यों द्वारा नहीं। इसलिए मधुम को चालू सिक्का (Current coin) कहते हैं।

इस प्रकार प्रांगोदियों से बने मधुम का कुछ अंश शरीर में जब आता

है, कुछ अंश यकृत में मधुजन (Glycogen) में परिवर्तित होकर उसमें तथा पेशियों में इसी रूप में संग्रहीत होता है। कुछ अंश चर्बी में परिवर्तित होकर चर्बी के स्थानों में संग्रहीत होता है। कुछ अंश पेशियों में दुग्धिक (Lactic) अम्ल में परिवर्तित होता है। इस प्रकार पाचन द्वारा प्राप्त प्रांगोदीयों का शरीर में बंटवारा होता है। शरीर में जितनी शर्करा होती है उसका केवल १५ प्र० श० रक्त में रहता है, और अवशिष्ट भाग धातुओं में संग्रहीत रहता है।



यकृत् और रक्त शर्करा—स्वस्थ मनुष्य के रक्त में शर्करा की जो न्यूनाधिक मात्रा होती है उसको बनाये रखने में यकृत् का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भोजन के उपरान्त जब रक्त में शर्करा अधिक मात्रा में आती है तब यकृत् उसको मधुजन [Glycogen] में परिवर्तित करता है। इसको मधुजनन [Glycogenisis] कहते हैं। यह मधुजन पेशियों में तथा यकृत में संग्रहीत होता है। रक्त में शर्करा की मात्रा वृक्कदेहली से कम रखने का यह दूसरा [पृष्ठ ३१०] साधन है। इससे भोजनोत्तर होने वाली परममधुमयता [Hyperglycemia] नहीं हो पाती। जब दो भोजनों के बीच में आन्त्र से शर्करा का आना बन्द होकर रक्त में शर्करा की मात्रा घट जाती है तब यकृत् अपने भीतर के मधुजन को मधुम में परिवर्तित करके रक्त में छोड़ता है। इसको मधुजनव्यशन [Glycolysis] कहते हैं। इससे रक्त में अल्पमधुमयता [Hypoglycemia रक्त में शर्करा की मात्रा का स्वाभाविक अल्पतम मात्रा से कम होना] नहीं हो पाती। इस प्रकार से अल्पमधुमयता तथा परममधुमयता से बचाकर रक्त में शर्करा की स्वाभाविक मात्रा के धारण [Maintain] का काम करने वाला शरीर में यकृत को छोड़कर दूसरा कोई अंग नहीं है। परन्तु यकृत् के द्वारा होनेवाला यह रक्त शर्करा का नियन्त्रण पूर्ण या परिनिष्पन्न [Perfect] नहीं है। इससे कभी कभी खाना खाने के बाद रक्त में शर्करा की

मात्रा वृक्क देहली मर्यादा से अधिक होकर शर्करामेह हो जाता है। इसको प्राशोत्तर शर्करामेह [Post prandial glyco suria] कहते हैं।

रक्तशर्करा का उद्गम (Sources)—पहले यह बताया जा चुका है कि शरीर में शर्करा का (पृष्ठ ३१०) चलन केवल मधुम (Glucose) के द्वारा होता है। इसलिए प्रांगोदीयों से जो अन्य शर्कराएं बनती हैं वे भी यकृत से मधुम में परिवर्तित की जाती हैं। इस मधुम का मुख्यांश प्रांगोदीयों से आता है। इसके अतिरिक्त प्रोभूजिनों के तिक्त अम्लों से तथा चरबी के स्नेहीय अम्लों से भी मधुम उत्पन्न होता है। चरबी का $\frac{1}{10}$ वाँ हिस्सा और प्रोभूजिनों का आधे से कुछ अधिक (५८ प्रतिशत) हिस्सा मधुम में परिवर्तित होता है या हो सकता है। इसके अतिरिक्त पेशियों में जो दुग्धाम्ल (Lactic acid) बनता है वह फिर से भी मधुम में परिवर्तित होता है। अन्य द्रव्यों से मधुम उत्पन्न करने की इस प्रक्रिया को मधुनवजनन (Gluconeogenisis) कहते हैं। ये सब कार्य यकृत् में होते हैं।

संक्षेप में रक्तशर्करा के उद्गम—(१) मधु प्रत्यक्ष आहार से प्राप्त

(२) तिक्त अम्ल (३) स्नेह, स्नेहीय अम्ल (४) चीरधु, फलधु (५) मधुजन (संग्रहित)	अप्रत्यक्ष यकृत् के संस्कार से प्राप्त

स्वस्थ मनुष्य की रक्त शर्करा की मात्रा पर मुख्यतया प्रांगोदीयों के तथा शर्कराओं के सेवन का परिणाम होता है, प्रथम का धीरे धीरे और अधिक काल तक और दूसरे का शीघ्र और अल्प काल तक। प्रोभूजिनों से जो शर्करा उत्पन्न होती है उससे स्वस्थ व्यक्तियों में रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ती नहीं है। परन्तु मधुमेही में प्रोभूजिन भी रक्तशर्करा का एक बहुत महत्व का उद्गम बन जाता है जिससे उसमें प्रोभूजिनों के सेवन से रक्त शर्करा की मात्रा बढ़ सकती है। मधुमेही में यह देखा जाता है कि भोजन में प्रांगोदीयों (Carbohydrates) को पूर्णतया बन्द करने पर भी मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग होता रहता है। अर्थात् यह शर्करा मुख्यतया प्रोभूजिनों के रूपान्तरण से आती है।

यकृत् के कार्य—यकृत् शरीर की केवल सबसे बड़ी ही नहीं बहुगुणी (Multiple organ) भी ग्रन्थि है। जन्मपूर्व रक्तोत्पादन, जन्मोत्तर रक्त का संचय, सिरागत अधिरक्तता (Venous congestion) में आप्लाव वेश्म (Flood chamber), (पेशियों के पश्चात् दूसरे क्रमांक में), पित्तोत्पादन, रक्तक्षयान्तक द्रव्य (Antianaemic principle) ताम्र, जसद (zink) अयस और जीवनिक्तियों इनका संग्रहण प्रचूषित विषैले द्रव्यों का निर्विषीकरण इत्यादि उसके बहुविध कार्य होते हैं। आहार समवर्त की दृष्टि से यकृत् के निम्न कार्य होते हैं—

(१) *संग्रहण*—भोजन के तथा उसके पाचन के समय आहारगत शर्करजातीय द्रव्यों का $\frac{1}{4}$ तक भाग यकृत् मधुजन (Glycogen) के रूप में संग्रहीत करता है। इससे भोजनोत्तर रक्त शर्करा की मात्रा मर्यादा से अधिक नहीं हो पाती। मधुजन के अतिरिक्त यकृत में तिक्ती अम्ल और चरबी तथा स्नेहीय अम्लों का भी संग्रह अल्पांश में होता है। संक्षेप में यकृत् प्रचूषित खाद्य द्रव्यों का भाण्डागार होता है।

(२) *रूपान्तरण* (Conversion)- (अ) मधुमजनन (Glucogenesis)—क्षीरधु तथा फलधु करके जो एकशर्करेय प्रांगोदीयों के पाचन से उत्पन्न होते हैं वे यकृत् में मधुम में परिवर्तित किये जाते हैं।

(आ) मधुमनवजनन (Gluconeogenesis)—दुग्धिक अम्ल (Lactic), स्नेहीय अम्ल, तिक्ती अम्ल (Amino), मधुरी इत्यादि अप्रांगोदीय पूर्वसरों (Noncarbohydrate precursor) से जब मधुम यकृत में बनता है तब उसको मधुमनवजनन कहते हैं।

(इ) मधुजनन (Glycogenesis)—जब मधुम से मधुजन बनता है तब उसको मधुजनन कहते हैं। यह कार्य भी यकृत् में होता है।

(ई) मधुजननवजनन (Glyconeogenesis)—जब दुग्धिक अम्लादि द्रव्य (ऊपर आ देखिए) सीधे मधुजन में परिवर्तित किये जाते हैं तब उसको मधुजननवजनन कहते हैं। यह कार्य भी यकृत् में होता है।

चित्र नं० ३—रक्तशर्करा के उद्गम स्थान, विविध अवस्थाओं में उसकी मात्रा और मधुमेह की सम्प्राप्ति का रेखा चित्र।

(ई) मधुजनव्यंशन (Glycolysis)—यकृत उपर्युक्त द्रव्यों से बनाये हुए मधुजन को रक्त में जब शर्करा कम होती है तब फिर मधुम में परिवर्तन करके रक्त में छोड़ा करता है ।

शर्करा समवर्त में यकृत् के इतने महत्व के कार्य होते हुए प्रत्यक्ष मधुमेह की उत्पत्ति में उसका सम्बन्ध बहुत कम होता है । परन्तु जब यकृत तन्तूत्कर्ष (Fibrosis cirrhosis), धातुविनाश (Necrosis), उपसर्ग इत्यादि से विकृत रहता है तब मनुष्य की शर्करा सहनीयता (Sugar tolerance) घट जाती है अर्थात यकृत शर्करा को मधुजन में परिवर्तित करने में असमर्थ होता है जिससे रक्त मे शर्करा की अधिकता रहती है जो अग्न्याशय के ऊपर कार्य करके (पृष्ठ ३०५) अप्रत्यक्षतया मधुमेह उत्पन्न करने में सहायता करती है । इसी कारण से जब किसी मधुमेही में यकृत के ये विकार रहते हैं तब उसमें मधुनिषूदनि का ठीक कार्य नहीं होता अर्थात् रोगी को उससे उतना लाभ नही होता जितना अन्य यकृद्विकार विहीन रोगी को होता है ।

(अ) अन्य कार्य—शर्करा सम्बन्धित उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त रक्तरस के तन्त्विजन, पूर्वघनास्रि (Prothrombin), यकृति (Heparin) इत्यादि प्रोभूजिन शोणवर्तुलि (Hemoglobin) व्यूहाणु के कुछ पूर्वसर मिह, मिहिकअम्ल इत्यादि द्रव्यों की उत्पत्ति का कार्य भी यकृत् में होता है ।

रक्तगत शर्करा की मात्रा—स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में शकरा की मात्रा ८०-१२० सहिस्रधान्य (Mg) प्रति १०० घ० शि० मा० (C. C.) में हुआ करती है । भोजन के उपरान्त यह मात्रा कुछ अधिक होती है परन्तु १५०-१६० से अधिक नहीं होती । रक्तगत यह मात्रा निम्न प्रक्रियाओं पर निर्भर होती है—

[१] पचन संस्थान से प्रचूषण की गति ।

[२] यकृत् में मधुजनन और मधुजनव्यंशन की अर्थात् मधुम से मधुजन की और मधुजन से मधुम की उत्पत्ति की तुलनात्मक गति ।

[३] धातुओं में मधुम के जलन की गति ।

[४] धातुओं में मधुम का चर्बी या मधुजन में रूपान्तरण ।

रक्तशर्करा का नियन्त्रण—रक्त में शर्करा की राशि स्वाभाविक मर्यादाओं के भीतर रहने की दृष्टि से ऊपर जो चार प्रक्रियाएं बतायी गयी हैं उनमें प्रथम में नियन्त्रण का सम्बन्ध बहुत कम है क्योंकि प्रचूषण की गति प्रायः स्थिर (पृष्ठ ३१०) रहती है अर्थात् आन्त्र में जब तक शर्करा आर्तीय द्रव्य है तब तक उनका प्रचूषण एक गति से होता रहेगा। शेष जो तीन प्रक्रियाएं हैं उनमें नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। ये प्रक्रियाएं मुख्यतया यकृत् में होने के कारण रक्तशर्करा का नियन्त्रण का अर्थ अधिकतर यकृत्कार्यों का नियन्त्रण होता है। यह नियन्त्रण अंशतः खाद्य द्रव्यों के संघटन पर और रक्तगत शर्करा की मात्रा द्वारा अर्थात् आत्मगतिक (Automatic आप से आप होनेवाला) और अंशतः स्वतन्त्र नाडीसंस्थान और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा हुआ करता है। आत्मगतिक का विचार यहाँ पर करने का कोई कारण नहीं है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा जो नियन्त्रण होता है उसमें दो विरोधी दल होते हैं और इनके आपस के सहयोग से यकृत् के द्वारा रक्तगत शर्करा की मात्रा मर्यादा में रहती है। एक पक्ष में अग्न्याशय और दूसरे पक्ष में पोषणिका, उपवृक्क और अवटुका होती हैं।

पोषणिकाग्रंथि (Pituitary) यह ग्रन्थि मानसिक भावनाओं से उत्तेजित होती है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं अपना काम भी किया करती है। इसके अनेक अन्तःस्राव (Hormones) होते हैं। एक अन्तःस्राव प्रत्यक्ष आहार समवर्त से सम्बन्धित होता है। उसको समवर्तिक अन्तःस्राव (Metabolic Hormone) कहते हैं। इससे मधुम के उपयोजन में बाधा उत्पन्न होती है और मनुष्य की प्रांगोदीय सहनीयता (Carbohydrate tolerance) घटकर रक्त में शर्करा की अधिकता तथा शर्करामेह उत्पन्न होता है। शाखाबृहती (Acromegaly) से पीड़ित रोगियों में इस कारण से अनेक बार शर्करामेह या मधुमेह पाया जाता है। समवर्त के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाले इस अन्तःस्राव के अतिरिक्त उपवृक्कपोषक (Adrenotrophic) और अवटुकापोषक (Thyrotrophic) अन्तःस्राव भी होते हैं जो उपवृक्क और अवटुका ग्रन्थियों को अपने कार्यों में उत्तेजित करते हैं।

उपवृक्कग्रंथि (Adrenal gland)—इस ग्रन्थि का कार्य एक ओर पोषणिका ग्रन्थि के उपवृक्कपोषक अन्तःस्राव से और दूसरी ओर काम,

क्रोध, चिन्ता इत्यादि चित्तोद्वेगों से तथा व्यायाम, शीत, उपसर्ग इत्यादि से स्वतन्त्र नाडीसंस्थान द्वारा उत्तेजित होता है। इस ग्रन्थि के शल्क और मगज करके दो विभाग होते हैं। शल्क या बाह्यभाग (Cortex) के अन्तःस्राव से तिक्तिअम्ल शर्करा में परिवर्तित किये जाते हैं जिसको मधुनवजनन (Glucogenesis) कहते हैं। उसके मज्जक (Medulla) के अन्तःस्राव से यकृत्गत मधुजन मधुम में परिवर्तित होता है जिसको मधुजनव्यंशन (Glycogenolysis) कहते हैं। संक्षेप में इस ग्रन्थि के कार्य से रक्त में शर्करा की अधिकता या परममधुमयता (Hyperglycemia) उत्पन्न होती है।

अवटुकाग्रन्थि (Thyroid)—इस ग्रन्थि के कार्य में पोषणिका ग्रन्थि के अवटुकापोषक अन्तःस्राव से सहायता होती है। इसके स्राव से यकृत् के भीतरी मधुजन से मधुम उत्पन्न होता है अर्थात् यह स्राव मधुजन व्यंशन (Glycogenolysis) करके रक्त में शर्करा को बढ़ाता है।

अग्न्याशय (Pancreas)—इसके अन्तः स्राव और बहिःस्राव करके दो स्राव होते हैं। बहिःस्राव महास्रोत में अन्न पाचन के काम में आता है और अन्तःस्राव रक्त और धातुओं में शर्करा समवर्त में उपयोगी होता है। उसी को मधुनपूदनि (Insulin) कहते हैं। स्राव का नियन्त्रण मुख्यतया रक्त शर्करा के द्वारा होता है। अर्थात जब रक्त शर्करा की मात्रा अधिक रहती है तब इसका स्राव और कार्य अधिक होता है। जब रक्त शर्करा कम रहती है तब इसका स्राव और कार्य घटता है। संक्षेप में वह रक्त शर्करानुसार निरन्तर न्यूनाधिक होता है। जिससे रक्त शर्करा की मात्रा में ज्यादा उच्चावचन (ऊँचा नीचापन (Fluctation) नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त मन और प्राणदा (Vagus) नाड़ी ऊपर स्वतन्त्र नाडी तन्तुओं (Parasympathitic) द्वारा भी होता है। इसका कार्य यकृत् तथा पेशियों मधुजन जनन, शरीर में मधुम का उपयोजन तथा मधुम का स्नेह रूपान्तरण करने का होता है। इसके रक्तगत शर्करा की मात्रा कम होकर अल्पमधुमयता (Hypoglycemia) उत्पन्न होती है।

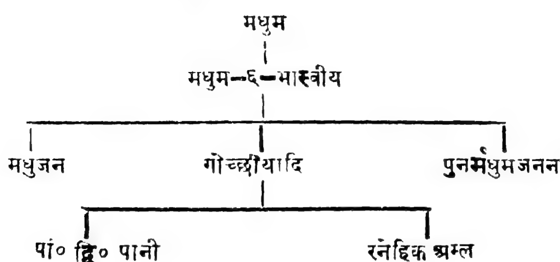
शर्करा नियन्त्रण में शर्करा—जैसे रक्तगत प्रांगार द्विजारेय (CO_2) की मात्रा का नियन्त्रण उसी का प्रभाव श्वसन नियन्त्रण केन्द्र (Respiratory centre) के ऊपर होकर वह स्वाभाविक मर्यादा में नियन्त्रित

की जाती है उसी प्रकार रक्तगत शर्करा की मात्रा का प्रभाव उसके नियन्त्रक अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर होकर वह स्वभाविक मर्यादा में नियन्त्रित की जाती है। जब रक्त में शर्करा कम हो जाती है तब उसका प्रभाव शर्करा की मात्रा बढ़ाने वाला उपवृक्क और पोषणिका ग्रन्थियों की कोशाओं पर होकर उनके अन्तःस्राव बढ़ते हैं और शर्करा की मात्रा बढ़ती है। जब रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ती है तब इसका प्रभाव अग्न्याशय की कोशाओं पर होकर मधुनिषूदनी का स्राव बढ़ता है और शर्करा की मात्रा घट जाती है।

शर्करा कैसे उपयुक्त होती है ?—शरीर में प्रांगोदीयों का उपयोग मधुमके रूप में होता है। वैसे ही प्रांगादीय (Non carbo hydrates) द्रव्य भी मधुम में परिवर्तित होने पर उपयुक्त होते है। इस मधुम (Glueose) का उपयोग संग्रहण (Storage) के लिए या शक्ति और उष्णता प्राप्त करने के लिए शरीर में किया जाता है। इन दोनों कार्यों के लिए मधुम उपयुक्त होने से पहले उसका रूपान्तरण प्रसरणशील (Diffusible) मधुम ६ भास्विक (Glucose 6 phos phoric) अम्ल में होना जरूरी होता है। यह कार्य षट्प्रविकर (Hexokinase) नामक अन्तःकिण्व (Enzyme)से होता है। इस अन्तःकिण्व की क्रियाशीलता अग्रिम पोषणिका स्राव और अग्न्याशय स्राव से नियन्त्रित होती है। अग्रिम पोषणिका स्राव इसके कार्य में बाधा उत्पन्न (Inhibition) करता है और अग्न्याशय का अन्तः स्राव अर्थात् मधुनिषूदनि (Insulin) इस स्वाभाविक बाधा को दूर करता है। तात्पर्य यह है कि मधुनिषूदनि से रक्तगत मधुम का चरबी और मधुजन में संग्रहण या धातुओं में उपयोजन होकर रक्तगत उसकी मात्रा घटती है और उसके न होने से ये कार्य न होकर रक्त में मधुक की मात्रा बढ़ती है।

मधुम उपयोजन की प्रक्रिया—चाहे जहाँ से मधुम प्राप्त (पृष्ठ३१२) हुआ हो वह प्रथम षटप्रविकर से मधुम-६ भास्वीय में परिवर्तित होता है। उसके पश्चात् यकृत् में उसका रूपान्तरण फिर से मधुम में हो सकता है, मधुजन में हो सकता है या एम्बडेन मेयरहाफ चक्र (Embden Meyerhof Cycle) में फसकर गोच्छीय (Pyruvate), दुग्धीय (Lactate) तथा अन्य त्रिप्रांगार टुकड़ों (Three Carbon fragments) में हो जाता है। गोच्छीय का कुछ अंश प्रां० द्वि० (CO_2) और पानी में और

अधिकांश स्नेहीय अम्लों विभेदजनन (lipogenesis) परिवर्तित होता है। साधारणतया शरीर में मधुम से जितना मधुजन बनता है उससे कई गुना अधिक विभेदजनन होता है।



परममधुमयता (Hyperglycemia)— रक्त में शर्करा की मात्रा स्वाभाविक से अधिक होने की स्थिति को परममधुमयता कहते हैं। मधुमेह की यह वास्तविक विकृति है : यह विकृति शरीर धातु पधातुओं में तथा अंग प्रत्यंगों में शर्करा का ठीक उपयोजन न होने से, मधुजन और चर्बी में उसका ठीक रूपान्तरण न होनेसे या प्रोभूजिनों और स्नेहोंका शर्करा में अधिक रूपान्तरण होने से उत्पन्न हो सकती है। यह स्थिति शरीर में मधुनिषूदनि (Insulin) की अल्पता (अल्पमधुनिषूदनीयता Hypoinsulinism) से, मधुनिषूदनि का अधिक उपयोग होने से, या उसका नाश या विरोध होने से अर्थात् सापेक्षतया मधुनिषूदनि की अल्पता (Relative deficiency) होने से हो सकती है। शारीरिक विकृति की दृष्टि से यह स्थिति अग्न्याशय विकृति से हो सकती है, या उसका विरोध करने वाली पोषणिका, उपवृक्क, अवटुका ग्रन्थियों की विकृति से हो सकती है। संक्षेप में मधुमेह जैसे अग्न्याशय विकृति से होता है वैसे पोषणिकादि ग्रन्थियों की विकृति से भी हो सकता है। मधुमेहों की जाँच पड़ताल इस व्यापक ख्याल से करनी चाहिए।

संप्राप्ति—इस प्रकार यद्यपि मधुमेह अग्न्याशय या उसके विरोधी पोषणिकादि ग्रन्थियों की विकृति से होता है तथापि अधिक संख्य मधुमेहियों में अग्न्याशय की ही विकृति पायी जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मधुमेह का प्रारम्भ चाहे जैसा हुआ हो जब वह प्रस्थापित हो जाता है

तब अग्न्याशय में विकृति हुए बिना नहीं रहती। इस विकृति की परम्परा निम्न प्रकार से बता सकते हैं—

(१) पहले बताया जा चुका है कि मधुमेह में कुलज प्रवृत्ति होती है। यह कुलज प्रवृत्ति लँगरहँन के टापु के सहज दोष या दुर्बलता के रूप में शरीर में विद्यमान् रहती है।

(२) जब अग्न्याशय में या अन्य स्थानों में उपसर्ग रहता है या अन्तर्विष उत्पन्न होता है तब वह उपसर्ग या विष अग्न्याशय के इस सहज दोष या दुर्बलता को बढ़ाता है या उसके अन्तः स्राव का नाश करता है। कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि यकृत् और परावटुका (Para thyroid) शरीर गत विषों का निर्विषीकरण (Detoxi Cation) करती है जिससे मधुनिषूदनि (Insulin) के कार्य के सहायता होती है। जब ये ग्रंथियाँ निर्विषीकरण का कार्य ठीक नहीं करती तब अन्तर्विष का असर अग्न्याशय पर तथा मधुनिषूदनि पर हानि कर होता है।

(३) जब शर्करा जातीय तथा स्निग्ध खाद्य द्रव्यों का सेवन निरन्तर अधिक मात्रा में करने से या पोषणिकादि ग्रन्थियों के विरोधी कार्य से रक्त में शर्करा की मात्रा बराबर अधिक रहा करती है तब अग्न्याशय पर अधिक बोझ पड़ता है। जब यह बोझ दीर्घकालीन होता है तब उसका परिणाम अग्न्याशय के क्षय में होता है। इसको अतियोगक्षय (Overuse atro phy) कहते हैं। यदि अग्न्याशय सहज दुर्बल रहा तो यह परिणाम और भी अधिक होता है।

(४) जब रक्त में शर्करा की अधिकता होकर मूत्र द्वारा उसका उत्सर्ग होने लगता है जब शरीर में शर्करा की कमी होती है। इसका परिणाम एक ओर प्रोभूजिनों से शर्करोत्पत्ति में (Gluconeo genisis) और दूसरी ओर स्नेह द्रव्यों का ठीक ज्वलन (oxadise) न होने से रक्त में अम्ल द्रव्यों के संचय होने में अर्थात् अम्लोत्कर्ष (Acidosis) होने में होता है। अम्लोत्कर्ष मधुनिषूदनि का विरोधी होता है। इससे अग्न्याशय पर का बोझा और भी बढ़ता है। और इसका क्षय अधिकाधिक होता जाता है।

अग्न्याशय क्षय का परिणाम रक्त में शर्करा की मात्रा दिनों दिन बढ़ने में होता है। शर्करा की मात्रा वृक्क देहली से अधिक होने पर मूत्र द्वारा उसका उत्सर्ग होकर शर्करामेह उत्पन्न होता है प्रारम्भ में यह

शर्करामेह केवल भोजनोत्तर होता है परन्तु जब शर्करा की मात्रा सदा के लिए वृक्क देहली से अधिक रहा करती है तब वृक्कों द्वारा शर्करा का निरन्तर उत्सर्ग होकर अनशन के समय भी मूत्र में शर्करा पायी जाती है। पहले यह बताया जा चुका है कि स्वस्थ व्यक्ति के रक्त में अनशन के समय ८०-१०० सहस्रिधान्य (मि०:ग्राम) प्र० श० शर्करा होती है और १२० सहस्रिधान्य से अधिक नहीं होती और भोजनोत्तर समय में यह मात्रा १२०-१६०तक बढ़ती है और१८०से अधिक नहीं (पृष्ठ३१४)होती। जब शरीर में शर्करा का संग्रहण और उपयोजन ठीक नहीं हो पाता तब रक्तगत शर्करा की मात्रा अनशन के समय १२० से अधिक और भोजनोत्तर १८० से अधिक होकर शर्करामेह उत्पन्न होता है। इसका अर्थ सेवन किये हुए शर्करा का या शर्करा में परिवर्तित होने वाले प्रोभूजिनादि आहार्य द्रव्यों का व्यर्थ में नाश होता है। जब शारीरिक किसी अंग के कार्य में हानि उत्पन्न होती है तब शरीर उस हानि की पूर्ति करने का प्रयत्न किया करता है। हृदयादि अंगो की परमपुष्टि (Hypertrophy) इस प्रकार के प्रयत्न का एक फल है। मधुमेह वृक्कों का रोग न होने से उसमें वृक्कों की परमपुष्टि नहीं होती। परन्तु शरीर वृक्कों की शर्कराबन्धन मर्यादा को अर्थात् वृक्क देहली को (Renal threshold) ऊँचा करके तद्द्वारा शर्करा हानि को दूर करने का प्रयत्न किया करता है। इसके परिणाम स्वरूप धीरे धीरे मधुमेही में शर्करा की वृक्क देहली काफी ऊँची (२५०—३०० सहस्रि-धान्य तक) रहा करती है जिससे रक्त में शर्करा की मात्रा स्वाभाविक सेबहुत अधिक होने पर भी मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग नहीं हो पाता या उतनी अधिक मात्रा में नहीं होता। वृक्क देहली अधिक वय के रोगियों में, दीर्घकालीन मधुमेह में, शरीर में धमनीजरठता उत्पन्न होने पर ऊँची होती है। ऐसे रोगियों में रोग की तीव्रता का और मूत्रगत शर्करा की राशि का विषम प्रमाण (Disproportion) रहता है अर्थात् रोग तीव्र होने पर भी मूत्र में शर्करा अल्पराशि में हो सकती है तथा रक्त में शर्करा स्वाभाविक से अधिक रहने पर भी मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग नहीं हो सकता। इससे यह स्पष्ट होगा कि मधुमेह की निदानकर या विशिष्ट विकृति परममधुमयता (Hyperglycemia रक्त में स्वाभाविक से अधिक मात्र में शर्करा की विद्यमानता) है न कि शर्करामेह। वृक्कों के द्वारा शर्करा का उत्सर्ग होने के लिए वृक्कों से अधिक पानी भी उत्सर्गित

होने की आवश्यकता होती है। जिसके परिणाम स्वरूप बहुमूत्रता (Polyuria) उत्पन्न होती है। मूत्र के द्वारा इस प्रकार रक्त का जलांश निकल जाने से धातुओं में पानी की कमी हुआ करती है जिसके परिणाम स्वरूप रोगी को अधिक प्यास (बहुतृषा Poly dipsia) मालुम होती है।

शरीर से शर्करा व्यर्थ निकल जाने के कारण प्रोभूजिन समवर्तन में बिगाड़ होकर भूयात्य द्रव्य (मिह urea) मूत्र के द्वारा अधिक मात्रा में उत्सर्गित होने लगते हैं) इसको अजोवातिमेह [Azoturia] कहते हैं। मूत्र द्वारा शर्करा और प्रोभूजिनों का अधिक उत्सर्ग होने से भारक्षय, बलक्षय और क्षुधाधिक्य [Polyphagia] उत्पन्न होते हैं। अन्त में चरबी का समवर्त भी बिगड़ जाता है और रक्त में शुक्ता द्रव्य (Acetone bodies) इकट्ठा होकर रक्त द्वारा उत्सर्गित होते है। इस प्रकार शुक्तामेह (Acetonuria) और अम्लोत्कर्ष (Acidosis) उत्पन्न होते हैं।

संन्यास में रक्त में शौक्तोत्कर्ष और अम्लतोत्कर्ष होता है। परन्तु यद्यपि ये द्रव्य संन्यास के कुछ लक्षणों को उत्पन्न करते हैं तथापि जैसे मूत्रविषमयता (ureamia) की विसंज्ञता के लिए मिह (urea) जिम्मेदार(पृष्ठ२८८) नहीं है वैसे मधुमेहज संन्यास की गम्भीर संविज्ञता के लिए शौक्तादि द्रव्य जिम्मेदार नहीं होते। इसका प्रभावी कर्ता कौन है इसका अभी तक ज्ञान नहीं हुआ है।

रक्त में अम्लता की अधिकता का दुष्परिणाम तद्गत खनिज द्रव्यों के ऊपर (Mineral balance) होकर रक्त की प्रांगार द्विजारेय वहन शक्ति घट जाती है और धातुओं में प्रां० द्वि० (CO_2) इकट्ठा होकर उसके परिणाम स्वरूप वाताशना (Air hunger) उत्पन्न हो जाता है।

शर्करा की अधिकता होने पर रक्त उपसर्गकारी तृणाणुओं (Bacteria) के लिए अच्छा खाद्य होने के कारण तथा उपसर्ग के लिए रक्त अल्प प्रतिकारक बनने के कारण मधुमेही में अनेक उपसर्ग विशेष करके पूयजनक तृणाणुओं के उत्पन्न होते हैं। इनसे शर्करा सहनीयता घटने से उपसर्ग तीव्र रूप धारण करते हैं। इस प्रकार का यह कुचक्र होने के कारण उनसे मधुमेही का घात हो जाता है। रक्त की अम्लता त्वचा में प्रकोप पैदा करती है जिससे कण्डू फोड़े फुन्सियाँ इत्यादि त्वग्विकार उत्पन्न होते हैं। वे उपसृष्ट होने पर विषाक्त प्रमेहपिडकाएं (Carbuncle अंगारिका, उत्पन्न होती हैं। रक्तगत अम्लता जैसे त्वचा में प्रकोप

करती है वैसे धमनियों की प्राचीर में भी प्रकोप पैदा करती है। इससे धमनियों में विलेपीजरठता (Atherosclerosis) तथा धमनीजरठता (Arteriosclerosis) की विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। इससे रक्तनिपीड वृद्धि और उसके लक्षण उत्पन्न होते हैं।

शर्करायुक्त रक्त के समान शर्करायुक्त मूत्र भी तृणाणुओं के संवर्धन के लिए अच्छा खाद्य होता है। इसलिए मधुमेही में वृक्कालिन्दशोथ, बस्तिशोथ इत्यादि मूत्रण संस्थान के उपसर्ग औरों की अपेक्षा अधिक उत्पन्न होते हैं और यदि पहले से रहे तो शर्करामेह उत्पन्न होने पर बढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय के आस पास जहाँ पर मीठे मूत्र का संपर्क होता है वहाँ पर प्रकिण्वों (yeast) की वृद्धि होकर कण्डू, पपामा (छाजन Eczema) इत्यादि त्वग्विकार उत्पन्न होते हैं।

शारीरिक विकृतियाँ—*अग्न्याशय*—इस ग्रन्थि में द्राक्षासमधातु (Aciner tissue) और लंगरहन्स के अन्तरीप (Langerhans islets) करके दो विभाग होते हैं। लंगरहन्स के अन्तरीप अपने स्वरूप का एक निराला धातु हैं। इसका द्राक्षासम धातु से कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें मधुनिषूदनि (Insulin) की उत्पत्ति होती है जिसकी सापेक्ष या वास्तविक अल्पता के कारण मधुमेह होता है।

लंगरहन्स के अन्तरीप—ये अग्न्याशय के धातु में इतस्ततः बिखरे हुए होते हैं। इनकी संख्या ३०-४० तक होती है। सब मिलकर इनका औसत प्रमाण १% से कुछ अधिक होता है। बच्चों के अग्न्याशय में इनका प्र० श० ·६–३·६ और जवानों में ·६–२·७ तक होता है। अग्न्याशय में इनका प्रतिशत प्रमाण ·६ से कम होने पर मधुनिषूदनि की अल्पता हो जाती है। मधुमेहियों में प्रायः इनका प्रमाण ·६ से कम रहा करता है। ३·६ प्रतिशत से अधिक प्रमाण होने पर मधुनिषूदनि की अधिकता होती है जिसका परिणाम अल्पमधुमयता (Hypoglycaemia) में होता है।

लंगरहान के अन्तरीपों में चार प्रकार की कोशाएं पायी जाती हैं। उनमें अवर्ण (अल्फा) कोशाएं २०% आवर्ण (बीटा) कोशाएं ७५ प्र० श० इवर्ण (ग्यामा) कोशाएं अत्यल्पसंख्य और ईवर्ण (डेल्टा) कोशाएं ५ प्र० श० होती हैं। यह प्रतिशत प्रमाण मध्यम या औसत है। प्रत्येक अन्तरीप में इन चारों का प्रमाण भिन्न भिन्न हुआ करता है। इनमें

शर्करा समवर्त के साथ आवर्ण कोशाओं का [Beta or B cells] सम्बन्ध होता है अर्थात् मधुनिषूदनि की उत्पत्ति इन कोशाओं में हुआ करती है। अन्य कोशाओं के कार्य अभी तक अज्ञात हैं। परन्तु नवीन अन्वेषकों का यह अनुमान है कि अवर्ण [आल्फा] कोशाओं का भी मधुमेहोत्पत्ति में घनिष्ट सम्बन्ध हो सकता है। मधुमेह में अग्न्याशय की इन कोशाओं का क्षय हुआ करता है। प्रारम्भ में यह क्षय जैसे अतियोग से होता [पृष्ठ ३२०] है वैसे आगे चलकर धमनीजरठताजनित रक्त की अपर्याप्तता से हुआ करता है। अन्य कोशाओं पर तथा अन्य धातु पर उसका कुछ भी परिणाम नहीं होता। इसलिए इनका क्षय होते हुए स्थूल रूप से उसमें कोई विशेष फर्क नहीं दिखाई देता। वह कुछ अपुष्ट [Atrophic] और कठिन प्रतीत होता है। उसकी विकृति सूक्ष्म और अपजनन [Degeneration] के स्वरूप की होती है। यह अपजनन कई प्रकार का होता है। तिहाई से कुछ अधिक रोगियों में काचरीभवन [Hyalinization], तिहाई रोगियों में तन्तूत्कर्ष [३३·५ प्र०श० Fibrosis] होता है। इसके अतिरिक्त परमचय [Hyperplasia ६·४] प्रतिशत औदकीय अपजनन [Hydropic २·६ प्रतिशत], सान्द्रवर्णता [Pyknosis २·५ प्र०श०], शोणाभिवर्णता [Hemocromatosis २.१ प्रतिशत] लसकायाविक अन्तर्भरण [Lymphatic infiltration १.८ प्रतिशत] इत्यादि अनेक प्रकार भी दिखाई देते हैं।

संक्षेप में मधुमेह में अग्न्याशय के लंगरहान्स के अन्तर्रापों में विकृति होती है जिससे वे संख्या में कम होकर क्षीण तथा अपजनित हो जाते हैं। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि लगभग २० प्रतिशत मधुमेहियों के अग्न्याशय पूर्णतया स्वस्थ भी पाये जाते हैं। इस कारण से तथा लंगरहन्स के अन्तर्राप क्षीण होने पर भी केवल १ प्रतिशत ही होने के कारण मधुमेह से मृत व्यक्ति का अग्न्याशय स्थूल दृष्टि से देखने पर पूर्ण स्वस्थ मालूम पड़ता है।

रक्त—मधुमेह में रक्त की विकृति विशेष महत्व की होती है और रोगनिदान, साध्यासाध्यता तथा संन्यासादि की चिकित्सा में उसका ज्ञान बहुत ही उपयोगी होता है। सबसे प्रधान तथा प्राथमिक विकृति

रक्तशर्करा की मात्रा में होती है। स्वस्थावस्था में अनशन के समय इसकी मात्रा ८०–१२० सहस्रिधान्य तक होती हैं। मधुमेही में यह मात्रा ८००–१००० सहस्रिधान्य तक बढ़ जाती है। कुछ रोगियों में यह मात्रा २००० सहस्रिधान्य तक पाया गया है।

शर्करा का समवर्त विकृत होने का परिणाम चरबी के समवर्त विकृति में होकर रक्त में पैत्तव [Cholesterol] इकट्ठा होने लगता है और स्वाभाविक २०० सहस्रिधान्य (Mg) %से उसकी मात्रा बढ़कर ४०० सहस्रिधान्य तक या इससे भी अधिक हो जाती है। इसके कारण लसिका दूधिया (Milky) या मोतिया [Pearly white] रंग की दिखाई देती है। पैत्तव की अधिकता की इस स्थिति को परमपैत्तवमयता [Hypercholesterolemia] कहते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त में क्लीबस्नेह (Neutral fat) तथा अन्य स्नेह द्रव्य भी रहते हैं। स्वस्थावस्था में कुल स्नेह की मात्रा ·६ से ·८ प्रतिशत तक होती है। मधुमेह में यह मात्रा बहुत अधिक होती है। इसको विमेदमयता [Lipemia] कहते हैं। मधुमेहजन्य संन्यास में स्नेह की मात्रा २० तक अधिक पायी जा सकती है। पीछे पृष्ठ ८३ देखिए। रक्तगत शर्करा की मात्रा की अपेक्षा रक्तगत चरबी की मात्रा रोग की तीव्रता को अधिक प्रकट करती है। अर्थात् परममधुमयता की अपेक्षा विमेदमयता की अधिकता अधिक चिन्ताजनक होती है।

रक्त का पैत्तव प्रलवण [Easters] के रूप में जालिकान्तश्छदीय संस्थान [R. E. System] की कोशाओं में संग्रहित होता है। इसके कारण वे कोशाएं फूलकर गोले [Globules] बन जाती हैं। इनको फेनकोशाएं [Foam cells] कहते हैं। ये कोशाएं यकृत और प्लीहा में दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त यह विमेदाभ [Lipoid] द्रव्य महाधमनी में छोटे छोटे पीले धब्बे के रूप में [Patches] संचित होता है। त्वचा में भी इससे छोटी छोटी गांठें बनती हैं। जिनको मधुमेहज पीतार्बुद [Xanthoma diabeticum] कहते हैं।

चरबी का समवर्त ठीक न होने का परिणाम जैसे रक्त में इसकी मात्रा बढ़ने में होता है वैसे रक्त में उनसे बननेवाले बी–उदजार घृतिक अम्ल B. hydroxy butric acid], द्विशुक्तिक [Diacetic] अम्ल, शुक्ता

[Acetone] इत्यादि द्रव्यों के इकट्ठा होने में होता है। इसको शौक्तोत्कर्ष [Ketosis] या अम्लोत्कर्ष [Acidosis] कहते हैं। संन्यास [Coma] उत्पन्न होने का मुख्य कारण अम्लोत्कर्ष ही होता है। रक्त में जो शुक्ता उपस्थित होती है वह साँस के साथ अंशतः उत्सर्गित होने से मधुमेही की साँस में शुक्ता का फल का सा गन्ध (Fruity odour) आता है।

रक्तगत अन्य परिवर्तन—द्रवापहरण के कारण रक्त का जलांश कुछ कम होकर वह सान्द्र [Viscous] होता है। इससे लाल कणों की संख्या ६०–७० प्रति घन सहस्रिमान (Per cmm) तक बढ़ सकती है। यह अवस्था संन्यास के समय विशेषतया दिखाई देती है। लाल कणों की संख्या बढ़ी हुई दिखाई देने पर भी पोषणहीनता के कारण अल्पवर्णिक (Hypochromic) रक्तक्षय रहता है। शौक्तोत्कर्ष और संन्यास के समय श्वेतकायाणुओं की भी संख्या १५–३० सहस्र तक बढ़ जाती है। परन्तु शौक्तोत्कर्ष और संन्यास की उत्पत्ति में उपसर्ग एक महत्व का सहायक कारण होने से श्वेतकायाण्वुत्कर्ष मिलने पर वह केवल शौक्तोत्कर्ष का निदर्शक है ऐसा समझकर सन्तोष न करें परन्तु उपसर्ग के सम्बन्ध में भी रोगी की जाँच पड़ताल करें। मधुमेही में श्वेतकणों के भीतर मधुजन के भी कण इकट्ठा हुए दिखाई देते है।

रक्त में पैत्तव के जो प्रलवण (Cholesterol in easter form) होते हैं वे स्थूलभक्षों (Macrophages) द्वारा रक्त वाहिनियों की प्राचीर में स्थान स्थान पर निक्षिप्त (Deposited) किये जाते हैं जिससे संयोजक धातु की वृद्धि होकर व्रणवस्तु बनती है। यह विकृति अधिकतर विलेपी-जरठता (Atherosclerosis) के स्वरूप की होती है।

रक्तवाहिनियां—शरीर की रक्तवाहिनियों का अपजनन (Vascular degeneration) मधुमेह की बहुत ही महत्त्व की शारीरिक विकृति है। वयोवृद्धि के साथ रक्तवाहिनियों में जो स्वाभाविक अपजनन होता है मधुमेह उसी को तेजी से बढ़ाता (Accelerated aging) है। यह विकृति मधुमेह की सौम्यासौम्यता पर निर्भर न होकर उसकी कालावधि पर निर्भर होती है। इसका कारण उपर्युक्त रक्त संघटन की विकृति विशेषतया परम पैत्तवमयता (Hypercholesterolemia) जिनमें मधुनिषूदनि तथा आहार

नियन्त्रण के द्वारा रक्त का संघटन लगभग प्राकृत रखने का प्रयत्न किया गया है। उनमें यह विकृति कम होती है तथा बहुत विलम्ब से होती है परन्तु हुए बिना नहीं रहती। इसका कारण यह है कि मधुमेह में जो आहार समवर्त का दोष (Metabolic disorder) उत्पन्न होता है वह बहुत जटिल होने से बाहर से मधुनिषूदनि का प्रयोग करने पर वह दोष पूर्णतया ठीक नहीं होता अर्थात् शरीरगत आहार समवर्त की प्रक्रिया पूर्णतया स्वाभाविक नहीं होती।

मधुमेह में शरीर की संपूर्ण रक्तवाहिनियों में अपजनन होता है फिर भी मस्तिष्क, वृक्क, हृदय और अधोशाखाएं इनमें अधिक और पहले हुआ करता है। इस अपजनन का सामान्य स्वरूप जरठता (Sclerosis) शब्द से प्रदर्शित किया जा सकता है जिससे धमनियों में कठिनता तथा नाली संकोच, धमनिकाओं में सूक्ष्म विस्तार (Micro aneurisms), केशिकाओं में भङ्गुरता (Fragility), सिराओं में कुटिलता (Vericosity) इत्यादि परिवर्तन होकर रक्त निपीड का बढ़ना, कोथ (Gangrene) दृष्टि पटल विकृति (Retinopathy) हृदयधमनी घनास्रता (Coronary thrombosis) इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं। हृदयधमनी घनास्रता जैसे धमनीजरठता जन्य विकार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक दिखाई देते हैं। चिकित्सा में मधुनिषूदनि का जबसे प्रयोग प्रारम्भ हुआ है तब से मधुमेह के रोगी मधुमेह से अर्थात् मधुमेहजन्य संन्यास (Coma) से नहीं मरते बल्कि धमनी जरठता जन्य उपद्रवों से मरते हैं।

हृदय—शरीर में आहार का ठीक उपयोग न होने से मधुमेही का हृदय स्वाभाविक से कुछ छोटा रहता है। आगे चलकर जब निपीड बढ़ता है तब भी वह बढ़ता नहीं या बहुत कम बढ़ता है। अन्वेषकों का यह कहना है कि परमातति (Hypertension) युक्त मधुमेहियों में हृदयाभिवृद्धि का प्रमाण अमधुमेहियों की तुलना में केवल आधा ही रहता है और विद्युद्हृल्लेखन (Electro Cardiograph) के द्वारा परमातति में जो परिवर्तन हृदय में पाये जाते हैं वे मधुमेही के हृदय में नहीं मिलते।

नाडी संस्थान—मधुमेह में मस्तिष्क, सुषुम्ना, परिसरीय नाडियाँ, स्वतन्त्र नाडी संस्थान इत्यादि नाडी संस्थान के संपूर्ण अंगों में विकृति होती है। परन्तु परिसरीय नाडियों में (Peripheral nerves) अधिक होती

है। इसकी उत्पत्ति में जीवतिक्तियों की विशेषतया ख (B.) की हीनता सहायक(पृष्ठ३०४)होती है। यह हीनता आहार द्रव्यों में उनकी अल्पता या अनुपस्थिति के कारण न होकर आहार समवर्त के दोष से हुआ करती है। इससे स्पर्श, शीतोष्णसंवेदना, पीडा, मलमूत्रोत्सर्जन, गति (Gait) इत्यादि में अनेक दोष उत्पन्न होकर चार्कटसंधि (Charcot's joint) परिसरीय नाडीशोथ (Peri pheral neuritis), सुषुम्ना की पश्चिम तन्त्रिकाओं में तन्तूत्कर्ष (Sclerosis of posterior columns) प्रत्यक्षि-गोल (Retrobulber) नाडीशोथ, नैश प्रवाहिका (Nocturnal diarrhoea) इत्यादि उपद्रव प्रकट होते हैं।

वृक्क—मधुमेही में वृक्क आकार में कुछ बढ़े हुए, मृदु तथा हलके पीले रंग के होते हैं। उनकी मूत्रनलिकाओं (Tubules) के अधिच्छद (Epithelium) में अभ्रशोफ (Cloudy swelling) और स्नेहीय अपजनन होकर उसमें विशेषतया हेनल के नलिका पाश (Loop of Henle) में मधुजन का संचय या अन्तराभरण (Infiltration) हुआ करता है जिसके कारण कोशाएँ बहुत साफ और पारदर्शक दिखाई देती हैं। जिनमें चिकित्सा के लिए मधुनिषूदनि का उपयोग किया जाता है उनमें वृक्कगत यह विकृति बहुत कम दिखाई देती है। मधुमेह में वृक्कों में और एक प्रकार की विकृति होती है जो मधुमेह की खास मानी जाती है। इस विकृति से युक्त वृक्क को किमेल स्टील विल्सन वृक्क (Kimmel stiel–Wilson kidneys) कहते हैं। रक्त निपीड की वृद्धि होने पर यह विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को ग्रन्थिक अन्तराकेशिकीय वृक्क जरठता (Nodular intercapillary nephrosclerosis) या गुत्सक जरठता (Glomerulosclerosis) या गुत्सक तन्तूत्कर्ष (Glomerulofibrosis) कहते हैं। इसमें बोमन की आटोपिका की केशिकाएँ अभिस्तीर्ण (Dilatation) होती हैं और केशिकाओं के बीच में एक विशेष प्रकार का उषसिप्रिय काचर द्रव्य (Eosinophil hyaline) पुंजों में निस्त्रावित होता है। आधुनिक विशेष रंजन पद्धतियों से यह द्रव्य (Polymerized and depolymerized mucopolysaccsharides, fibrin and fat) दूसरे किसी भी वृक्क विकृति में नहीं पाया जाता। अर्थात् यह मधुमेह विशिष्ट होता है। यह विकृति दीर्घकालीन (१४-१५ वर्ष के पुराने) मधुमेही में उत्पन्न होती है। इसके उत्पन्न होने पर

शुक्लिमेह, परमाततिं (Hypertension), सूजन, दृष्टि पटल विकृति, वृक्क अकार्यक्षमता, इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके साथ साथ शर्करामेह कम होता जाता है या दूसरे शब्दों में वृक्क विकृति जैसे बढ़ने लगती है वैसे मधु निषूदनि की मात्रा घटती जाती है और एक समय ऐसा भी आ सकता है जब शर्करामेह पूर्णतया बंद हो सकता है। इस-लिए कीमेलस्टील का यहाँ तक कहना है कि किसी अधेड़ उम्र के मनुष्य में मध्यम परमातति, शुक्लिमेह और शरीर पर सूजन ये लक्षण शर्करामेह न होने पर भी मधुमेह के सूचक होते हैं। इसलिए एवं गुणविशिष्ट व्यक्ति में मधुमेह का पता शर्करा सहनीयता कसौटी से लगाना चाहिए। मधुमेह से पीड़ितों में वृक्क विकृति की प्रतिशतता १८-६३ तक औसत ३५ होती है। यह विकृति वर्धनशील होती है और इसका प्रारम्भ शुक्लिमेह से होता है। इनमें अन्य मधुमेहियों की तुलना में संन्यास और शौक्तोत्कर्ष भी बहुत कम दिखाई देता है।

यकृत्—मधुमेह में यकृत् की भी कुछ अभिवृद्धि होती है। यकृत् कोशाओं के भीतर मधुजन का अन्तराभरण (Infiltration) होता है। इसके अतिरिक्त रक्त में चरबी की अधिकता होनेवाले रोगियों में यकृत् की कूफर कोशाओं के भीतर चरबी भी भरी हुई रहती है। परन्तु इन विकृतियों से यकृत् के कार्य में कोई बाधा नहीं होती। संक्षेप में यदि पहले से यकृत् विकृत न रहा हो तो मधुमेह के कारण उसके कार्य में विकृति नहीं होती।

प्लीहा—रक्त में चरबी की अधिकता रहने पर यकृत् के समान प्लीहा की कोशाओं में चरबी भरी रहती है।

त्वचा—सुचिकित्सित मधुमेही के अधिचर्म (Epidermis) में मधुजन की काफी मात्रा सञ्चित रहती है। परन्तु जब मधुनिषूदनि की उचित मात्रा रोगी को नहीं मिलती तब वह सब निःशेष हो जाती है। अनेक मधुमेहियों की त्वचा के बृहत् एककायाणुओं (Large mono nuclears) में पैत्तव (Cholesterol) तथा अन्य चरबी के द्रव्य इकट्ठा होकर गाँठें उत्पन्न होती हैं। इनको मधुमेहज पीतार्बुद (Xanthoma) कहते हैं। ये आँखों के पलकों में विशेषतया दिखाई देते हैं। कभी कभी ये गाँठें गलकर व्रणित होती हैं। इस प्रक्रिया को

मधुमेहज विमेदाभ विमृतजीवन (Diabetic lipoid necrobiosis :) कहते हैं।

नेत्र—मधुमेह जब १५-२० वर्ष का पुराना हो जाता है तब दृष्टिपटल विकृति (Retinopathy) उत्पन्न होती है। यह विकृति दृष्टिपटलगत रक्तवाहिनियों की विकृति के परिणामस्वरूप होती है। इसमें दृष्टिपटल के अन्तःस्तर की केशिकाओं में सूक्ष्मविस्तार (Microaneurisms) उत्पन्न होते (पृष्ठ ३२७) हैं जो अक्षिवीक्षणयन्त्र (Ophthalmoscope) से दृष्टिपटल परीक्षण करने पर काले काले गोले (Globules) से दिखाई देते हैं। रक्तवाहिनियों की यह विकृति जब तक मध्यगर्तिका (Fovea centralis) में नहीं होती तब तक कोई दृष्टिदोष नहीं उत्पन्न होता। इसके अतिरिक्त आँखों के वीक्षों (Lens) की शुक्लता या पारान्धता (Opacity), परावर्तन (Refraction) दोष, पश्चाक्षि-गोलक (Retrobulber) नाड़ीशोथ इत्यादि अनेक विकार भी होते हैं।

त्वचा—मधुमेह में रक्त के समान त्वचा में भी शर्करा की अधिकता होती है। परन्तु वह सौम्यावस्था में नहीं होती। रोग बढ़ने पर त्वचागत शर्करा बढ़कर कण्डू तथा अनेक उपसर्ग उत्पन्न होते हैं कभी कभी रक्त में शर्करा अधिक न होते हुए त्वचा में अधिक रहती है। उस समय भी त्वग्विकार होते हैं। इसको त्वङ् मधुमेह (Skin diabetes) कहते हैं।

शुक्रवाहिनी (Vas deferens)—४० वर्ष की आयु के पश्चात् मधुमेह उत्पन्न होने पर और १३ साल से अधिक रहने पर यह विकृति होती है। इसमें शुक्रप्रणाली का चूर्णीयन होता (Calcification) है। कुछ लोगों के मतानुसार मधुमेह का यह खास उपद्रव है।

लक्षण—अधिक उम्र के लोगों में रोग का आक्रमण प्रायः धीरे धीरे और रोग जीर्ण स्वरूप का होता है। जवानों और नौजवानोंमें इसका प्रारम्भ चित्तोद्वेग, अभिघात, सर्दी, रोमान्तिका, तुण्डिकाशोथ इत्यादि से यकायक होता है और रोग तीव्र स्वरूप का रहता है। इस रोग में निम्न लक्षण महत्त्व के हैं—

तृषाधिक्य (Polydipsia)—मधुमेह का यह बहुत महत्त्व का लक्षण है। रक्त में शर्करा को विलीन रखने के लिए (Keep in solution) तथा वृक्कों द्वारा उसका उत्सर्ग करने के लिए अधिक पानी की आवश्यकता होती है जो तृषा के रूप में प्रकट होती है। साधारणतया मूत्रद्वारा उत्सर्गित जल की राशि के अनुसार रोगी पानी का सेवन करता है। अर्थात् मूत्र की राशि बहुत अधिक होने पर रोगी बहुत अधिक राशि में पानी सेवन करेगा और मूत्र की राशि बहुत अधिक न होने पर मध्यम राशि में पानी सेवन करेगा। दिन भर रोगी को प्यास मालूम होती है परन्तु भोजन के उपरान्त १-२ घण्टे तक रक्त में शर्करा बहुत अधिक रहने से वह बहुत अधिक रहती है।

क्षुधाधिक्य (Polyphagia)–यह भी मधुमेह का एक महत्त्व का लक्षण है। सेवन किये हुए अन्न का बहुत कुछ अंश मूत्र द्वारा व्यर्थ हो जाने के कारण रोगी को भूख भी बहुत अधिक लगती है। रोगी की पाचन शक्ति अच्छी रहती है।

मूत्र—बहुमूत्रता (Polyuria) का मधुमेह एक उत्तम उदाहरण (पृष्ठ २३१) है। सौम्य रोग मे मूत्र की राशि दिन रात में ३-४ प्रस्थ (Litre, स्वाभाविक १½ प्रस्थ) और प्रगल्भ रोग में १५-२० प्रस्थ तक अधिक हो सकती है। क्वचित् कुछ रोगियों में बहुमूत्रता नहीं पायी जाती। बहुमूत्रता के कारण रोगी को रात्रि में भी मूत्रत्यागने की आवश्यकता होती है। इसलिए बहुमूत्रता के साथ नक्तमूत्रता या नक्तमेह (पृष्ठ२०) (Nocturia) भी रहती है।

उच्च गुरुता—मधुमेह में मूत्र की गुरुता अधिक रहती है और शर्करा की मात्रानुसार वह न्यूनाधिक होती है। साधारणतया गुरुता १०२५-१०४० तक रहती है परन्तु इससे अधिक भी मिल सकती है अधिक से अधिक १०७४ तक गुरुता पायी गयी है। गुरुता की उच्चता नौजवान और जवान मधुमेहियों में अधिकतर पायी जाती है। अधिक उम्र के रोगियों में मूत्र स्वाभाविक रंग का रह कर गुरुता १०१८ से अधिक नहीं हो सकती और क्वचित् १०१० तक कम पायी जाती है। इसलिए निम्न गुरुता पाने पर मूत्र में शर्करा नहीं हो सकती इस प्रकार का अनुमान कम से कम अधिक उमके रोगियों में नहीं किया जा सकता।

शर्करा—शर्करामेह मधुमेह का मुख्य लक्षण होता है। शर्करा की मात्रा एक छटाँक मूत्र के पीछे लेशमात्र से ३ माशे तक हो सकती है और २४ घण्टे में उसकी मात्रा कुछ रोगियों में आधे से एक सेर उत्सर्गित हो सकती है। सौम्य रोग में शर्करा का प्रतिशत प्रमाण ½–२ और तीव्र रोग में ५–१० तक भी हो जाता है। सौम्य रोग में विशेषतया अधेड़ उम्र के रोगियों में जब कि रोग धीरे धीरे बढ़ता है मूत्र त्यागने के पश्चात बूटों पर, जूतों पर या वस्त्रों पर मूत्रगत शर्करा के धब्बे बनने से या मूत्र में चींटे[१] लगने से इस रोग की ओर रोगियों का ध्यान आकर्षित होता है।

मधुमेही के मूत्र में सदैव और मुख्यतया उत्सर्गित होनेवाली शकरा मधम [Glucose] होती है। परन्तु इसके अतिरिक्त मूत्र में मधुजन (Glycogen) भी अल्पांश में रहता है और क्वचित् कुछ रोगियों में मधुम के अतिरिक्त दुग्धधु (Lactose), वामधु (Levulose), पंचधु (Pentose) इत्यादि शर्कराएं भी पायी जाती हैं।

शौक्तद्रव्य—शर्कराओं के अतिरिक्त मधुमेही के मूत्र में सौम्यावस्था में अल्प मात्रा में शुक्ता [Acetone], द्विशुक्तिक अम्ल [Diacetic acid] जार घृतिकअम्ल [Oxybutric acid] इत्यादि शौक्त द्रव्य (Ketone bodies) पाये जाते हैं। इसको शौक्तमेह [Ketonuria] कहते हैं। अम्लोत्कर्ष [Acidosis) या शौक्तोत्कर्ष [Ketosis] की स्थिति में ये द्रव्य पाये जाते हैं और रोगवृद्धि के साथ इनकी मात्रा बढ़ती जाती है। संन्यास की अवस्था में इनका उत्सर्ग सबसे अधिक होता है। उस समय जारघृतिक अम्ल का उत्सर्ग २४ घण्टे में १०० धान्य (ग्राम) से भी अधिक हो सकता है।

अन्य द्रव्य—इन द्रव्यों के अतिरिक्त मूत्र में चरबी का भी कुछ अंश आ सकता (वसामेह Lipuria) है, बस्ति में मूत्रगत शर्करा का अभिषवण [Fermentation] होने से हवा के बुलबुले (वायुमेह (Pneumaturia) आ सकते हैं, कुछ शुक्लि भी (Albumin) उपस्थित रह सकती है और कुछ काचर और कणिकामय निर्मोक

---

(१) षट्पदपिपीलिकाभिश्चशरीरमूत्राभिसरणम्। मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥ चरक, प्रमेह निदान चिकित्सा ॥

भी पाये जा सकते हैं। संक्षेप मे मधुमेह मे मूत्र राशि में अधिक, पानी के समान फीका, गाढ़ा, मधुरगन्धी और मधुर स्वाद का होता है।

कृशता और दौर्बल्य—मधुमेही में केवल प्रांगोदीयों (Carbohydrates) का ही उत्सर्ग शर्करा के रूप में होता है यह बात नहीं प्रोभूजिन और स्नेह द्रव्य भी शर्करा में परिवर्तित (पृष्ठ ३१२) होकर मूत्र के द्वारा उत्सर्गित होते हैं। इसलिए अत्यधिक मात्रा में अन्न का सेवन करने पर भी रोगी धीरे धीरे कृश और दुर्बल होता जाता है। मधुमेह जब जवानी में होता है तब ये लक्षण विशेष रूप से दिखाई देते हैं, उत्तर आयु में उत्पन्न होने पर उतने स्पष्ट नहीं होते।

कृशता, भारक्षय, और कमजोरी शर्करामेह और बहुमूत्रता से सम्बन्धित होते हैं। अर्थात् शर्करामेह अधिक रहने पर रोगी में कृशतादि लक्षण अधिक होते हैं और आहार चिकित्सादि द्वारा शर्करामेह कम होने पर रोगी के कृशतादि लक्षण कम होते हैं।

अन्य लक्षण—मूत्र के द्वारा द्रवापहरण होने से शरीर की त्वचा शुष्क और रूक्ष रहती है। पसीना बहुत कम आता है। कभी कभी बहुमूत्रता के बदले स्वेदाधिक्य उत्पन्न होता है। सार्वदैहिक कण्डु विशेषतया गुह्यांग कण्डु (Pruritus pudendi) उत्पन्न होती है। कभी कभी यह लक्षण प्रारम्भ से ही रहता है। शरीर का तापमान स्वाभाविक से भी कुछ कम रहता है। जिह्वा सूखी, लाल और चमकीली (Glazed) होती है। द्रवापहरण के कारण लार बहुत कम बनती है। प्रायः मलावरोध रहता है।

उपद्रव-*संन्यास*(Coma)—मधुमेहका यह सब से महत्व का उपद्रव है जो मधुनिषूदनि के द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ होने से पहले बहुत दिखाई देता था, परन्तु उसके पश्चात् अब यह उपद्रव अत्यन्त तीव्र, निदान न हुए रोगियों में, दुश्चिकित्स्य या अचिकित्सित रोगियों में, तथा उपसृष्ट मधुमेहियों में दिखाई देता है। अपचन, मलावरोध अभिघात, शस्त्रकर्म, आहार में यकायक परिवर्तन, अत्यधिक परिश्रम और उपसर्ग इसकी उत्पत्ति में सहायक होते हैं। शरीर में जब शर्करा का उपयोजन ठीक न होने से चरबी का समवर्त बिगड़ जाता है और रक्त में शौक्त-द्रव्य इकट्ठा होने लगते है तब यह अवस्था उत्पन्न होती है। शौक्त द्रव्य स्वयं विषले नहीं हैं

परन्तु वे धातु तथा रक्त के स्थिर क्षारीय द्रव्यों (Fixed bases) के साथ मिलकर मूत्र के साथ उनका उत्सर्ग कराते हैं और इस प्रकार रक्त की क्षारियता को घटा कर अम्लतोत्कर्ष में सहायता करते हैं। संक्षेप में मधुमेहज संन्यास एक प्रकार का अम्लतोत्कर्ष है और इसी को ही शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) कहते हैं। इसके प्रारम्भ में मूत्र में शुक्ता (Acetone) का, उसके पश्चात् द्विशुक्तिक अम्ल का और अवस्था गंभीर होने पर बी-उदजार घृतिक अम्ल (B. hydroxy butric acid) का उत्सर्ग होने लगता है।

इसके उत्पन्न होने से पहले अपचन, मलावरोध, उदरपीड़ा, बेचैनी, चिड़चिड़ाहट ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें सिरदर्द होता है, नाड़ी तेज होती है, रक्तनिपीड़ नीचा रहता है, शरीर का ताप स्वाभाविक से कम होता है, पेशियाँ शिथिल होती हैं, अक्षिगोलक मृदु (Soft) और भीतर धँसे हुए होते हैं, होंठ और जीभ सूखा रहता है, साँस में शुक्ता का गन्ध आता है और रोगी बेहोश रहता है। इसका मुख्य लक्षण परमश्वसन (Hyperpnea) होता है। रक्त में अम्लतोत्कर्ष होने से उसको दूर करने के लिए रोगी अधिक से अधिक हवा सेवन करने की कोशिश करता है। इसको कुसमौल की वाताशना (Air hunger of Kussmaul) कहते हैं। इसमें साँस की कठिनाई, जिसको श्वासकृच्छ्र (Dyspnea) कहते हैं, नहीं होती। इसमें साँस बहुत ही धीमे धीमे चलती है। इसको मन्द श्वसन (Bradypnea) कहते हैं। इसमें साँस की गति प्रति मिनिट १८ से १२, १६ से ४ इस प्रकार कम होते होते क्वचित् ६ तक घटती है। इस वाताशना में रोगी एक नियत काल में जल्दी जल्दी अधिक से अधिक श्वासोच्छ्वास (Breathing) करने की अपेक्षा धीरे धीरे प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में अधिक से अधिक हवा भीतर लेने की और धीरे धीरे बाहर छोड़ने की कोशिश करता है। अन्तः श्वसन (Inspiration) के समय रोगी का सिर धीरे धीरे पीछे की ओर जाता रहता है, साथ साथ मुख भी अधिकाधिक खुलता जाता है। जब भीतर हवा लेना असम्भव होता है तब अन्तः श्वसन बन्द होकर कुछ देर के लिए श्वसन बन्द रहता है। उसके पश्चात् बहिःश्वसन प्रारम्भ होता है। वह भी बहुत धीरे धीरे चलता है। उसके साथ साथ सिर आगे की ओर आने लगता है और मुख कुछ बन्द होने लगता है। बहिःश्वसन पूर्ण होने पर कुछ देर तक श्वसन

बन्द रहता है। फिर यथापूर्व अन्तःश्वसन प्रारम्भ होता है। इस प्रकार के श्वसन में रोगी के चेहरे पर श्यावता (Cyanosis) नहीं होती। अश्यामक श्वासकृच्छ्र (Acyanotic dyspnoea) अम्लतोत्कर्ष का सर्वोत्तम निदर्शक होता है।

इस उपद्रव के दो रूप दिखाई देते हैं। एक में बेहोशी अधिक और प्रारम्भ से होती है। दूसरे में वाताशना अधिक होती है और रोगी अन्त में बेहोश होता है। अनेक बार दोनों का मिश्रण भी दिखाई देता है। यह उपद्रव सदैव चिन्ताजनक होता है। बेहोशी और वाताशना उत्पन्न होने पर रोगी बहुधा ४८ घण्टे के भीतर मर जाता है।

उपसर्ग (Infections)—रक्त और मूत्र में शर्करा की उपस्थिति के कारण ये दोनों द्रव्य उपसर्गकारी तृणाणुओं की वृद्धि के लिए उत्तम वर्धनक होने के कारण तथा शरीर की प्रतिकारता घट जाने के कारण मधुमेही अनेक उपसर्गों से पीड़ित होता है। इसके अतिरिक्त उपसर्ग उत्पन्न होने पर मधुमेह बढ़ता है जिससे उपसर्ग जोर करता है। मधुमेही में होनेवाले उपसर्गों में फोड़े फुन्सियां (Boils) प्रमेहपिडका (Carbuncle), फुफ्फुसपाक, श्वसनी फुफ्फुसपाक, राजयक्ष्मा महत्व के हैं। इनके अतिरिक्त फुफ्फुसविद्रधि फुफ्फुसकोथ, बस्तिशोथ वृक्कालिन्दशोथ (Pyelonephritis) आन्त्रपुच्छशोथ, मध्यकर्णशोथ, कर्णमूलिकशोथ (Parotitis) इत्यादि उपद्रव भी होते हैं।

राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis)—मधुमेह से पीड़ित होनेवाले क्षयी बहुत कम होते हैं परन्तु क्षय से पीड़ित होनेवाले मधुमेही बहुत अधिक दिखाई देते हैं। सांख्यिकी का अनुमान है कि अमधुमेहियों की अपेक्षा मधुमेहियों में राजयक्ष्मा १३-२६ गुणा अधिक दिखाई देता है। मधुमेह जितना अधिक तीव्र और दीर्घकालीन उतनी राजयक्ष्मा उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए सामान्यव्यक्तियों में जहाँ राजयक्ष्मा १५–३० वर्ष के वय में उत्पन्न होता है मधुमेहियों में उसका उद्भव ४० वर्ष के पश्चात् दिखाई देता है तथा निम्न कारणों से कृच्छ्रसाध्य होता है—(१) शरीर की अप्रतिकारता (२) व्रणरोपण की विलम्बता (३) तेल्ला से वृद्धि (४) व्रणस्थान के चारों ओर संरक्षक तान्तव धातु की अल्पोत्पत्ति (५) विकृति में किलाटीभवन (Caseation) और

विवरीभवन (Cavitation) की अधिक प्रवृत्ति (६) उत्तर आयु में रोग की उत्पत्ति (७) धमनीजरठता, वृक्कशोथ इत्यादि उपद्रवों की उपस्थिति (८) कृत्रिम वातोरस (A. P.) में उत्स्यन्दन (Effusion) की की प्रवृत्ति। इसलिए जब कोई अधेड़ उम्र का मधुमेही प्रतिश्याय, खाँसी छाती में पीड़ा, थकावट, अरोचक, अकारणिक भारक्षय, स्वरघ्न, मन्दज्वर इत्यादि से पीड़ित होता है तब सर्व प्रथम राजयक्ष्मा का ध्यान करना चाहिए। वैसे ही अधेड़ उम्र के मधुमेहियों का छः छः मास पर क्ष-रश्मि द्वारा बराबर परीक्षण करते रहना चाहिए ताकि राजयक्ष्मा का जल्दी पता लग जाय।

वृक्कशोथ—कीमेलस्टील-विल्सन वृक्क धमनीजरठता के फलस्वरूप (पृष्ठ ३२८) उत्पन्न होते हैं। इसके होने पर मूत्र में शुक्लि, निर्मोक और रक्तकण मिलने लगते हैं। इसके पश्चात् दृष्टिपटल विकृति, सूजन, परमातति रक्त में भूयाति विधारण होकर अन्त में वृक्कातिपात होता है।

नाडी संस्थान के उपद्रव—मधुमेह में शीर्षनाडियाँ (Cranial nerves) सुषुम्ना, परिसरीय नाडियाँ इनमें विकृति होने से सुन्नता (Numbness) चुमचुमायन (Tingling), नाडीशूल, विपरीत स्पर्शता (Parasthesia) कक्ष्या (Herpes zoster) गृध्रसी (Sciatica) निच्छिद्रक पादव्रण (Perforating ulcer of the foot) नैश पीडिकोद्वेष्टन (Nocturnal cramps) इत्यादि उपद्रव होते हैं। फिरंग के समान सुषुम्ना में विकृति होने से चलने में कठिनाई होती है। इसको मधुमेहज खञ्जता (Diabetic tabes) कहते हैं। कभी कभी शाखाक्षघात (Paraplegia) हो जाता है। स्वतन्त्र नाडी संस्थान में विकृति होने से नक्त प्रवाहिका (Nocturnal diarrhoea), मूत्राशय प्रकोप (Atonicity) मूत्राशय प्रकोप (Irritability) इत्यादि उपद्रव होते हैं।

नेत्र के उपद्रव—मधुमेह में नेत्रनाडी, दृष्टिपटल बीच (lens) तथा दूरसमीपवीक्षण शक्ति (Accomodation) इनमें विकृति होकर उसका परिणाम अन्धता, रतौंधी, मोतिया बिन्द (Cataract) अदूरदृष्टि (Myopia) दूर दृष्टि (Hypermetropia) इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होने में होता है। मोतियाबिन्द अधिक उम्र के मधुमेहियों में प्रायः पाया जाता है।

रोग तीव्र और अनियन्त्रित रहने पर अवानों में भी यह होता है। मधुमेह में मोतियाबिन्द अधिक होता है ऐसा सब शास्त्रज्ञों का मत नहीं हैं।

हृदय रक्तवाहिनी के उपद्रव—विलेप्यर्बुद (Atheroma) धमनी जरठता मधुमेह के महत्त्व के विकार होते हैं। इनसे परमाततति (Hypertension) दृष्टिपटलविकृति, पादकोथ (Gangrene of the foot) हृदमनी अन्त:स्फान (Coronary infarct) हृदमनी घनास्रता (Thrombosis) हृत्पेशी का अपजनन और हृदयातिपात (Heartfailure) इत्यादि उपद्रव उत्पन्न होते हैं। हृद्विकृति होने पर दौर्बल्य, थकावट श्रमश्वासकृच्छ्र (Dyspnea on exertion) नैश (Nocturnal) श्वासकृच्छ्र दिल में धड़कन, उरः शूल (Angina pectoris) इत्यादि लक्षण होते हैं।

त्वचा के उपद्रव—फोड़े फुन्सियाँ, चिप्य (Onychia), प्रपामा (Eczema), खाज, स्त्रियों में गुह्यांग कण्डु (Pruritus pudendi), पुरुषों में शिस्नमणिशोथ (Balanitis) इत्यादि उपद्रव होते हैं। विरल उपद्रवों में पीतार्बुद (Xanthoma) और कॉस्यवर्णता (Bronzing) निर्देश करने योग्य हैं। अन्तिम उपद्रव कॉस्य मधुमेह (Bronzed diabetes) में उत्पन्न होता है।

प्रजोत्पादन और मधुमेह—मधुमेह का पुरुषों के प्रजोत्पादन शक्ति पर परिणाम होकर वे पुंस्त्वहीन हो जाते हैं। अर्थात् यह अवस्था प्रारम्भ में नहीं, उत्तर काल में उत्पन्न होती है। स्त्रियों में मधुमेह से दुर्बलता उत्पन्न होकर उसका परिणाम अनार्तव या अनियमितार्तव में होता है जो प्रजोत्पादन शक्ति की हीनता का निदर्शक होता है। इसलिए मधुमेही स्त्रियों में गर्भधारणा बहुत कम होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मधुमेही स्त्री पुरुषों से सन्तान होती नहीं।

गर्भधारणा और मधुमेह—अनेक गर्भवती स्त्रियों के प्रसवपूर्व काल में मूत्र में शर्करा मिलती है। परन्तु वह मधुम (Glucose) न होकर दुग्ध शर्करा (Lactose) होती है। इसको दुग्धमेह (Lactosuria) कहते हैं। इसका मिलना न अस्वाभाविक है न विकृतिदर्शक होता है। इसको मधुमेह नहीं कह सकते। मधुमेह और गर्भावस्था का सम्बन्ध विविध स्वरूपों का होता है—जैसे—(१) गर्भधारणा के कारण आगे मधुमेह उत्पन्न हो सकता है। (२) गर्भधारणा के काल में मधुमेह उत्पन्न

होकर आगे अदृश्य हो सकता है (३) गर्भधारणा में उत्पन्न हुआ मधुमेह आगे जारी रह सकता है । (४) गर्भधारणा के प्रथमार्ध का मधुमेह उत्तरार्ध में गायब होकर प्रसूति के पश्चात् फिर प्रकट हो सकता है। (५) मधुमेह के कारण गर्भधारणा हो नहीं सकती। (६) मधुमेह ठीक होने पर गर्भधारणा हो सकती है और उस समय मधुमेह फिर प्रकट नहीं हो सकता। (७) मधुमेही स्त्री में गर्भधारणा से मधुमेह बढ़ सकता है।

गर्भिणी और मधुमेह—मधुमेह गर्भिणी के लिए सदैव आपत्तिजनक रहा है। इन स्त्रियों में गर्भज विषमताएँ (Toxaemias of pregnancy) अन्य स्त्रियों की अपेक्षा सदैव अधिक हुआ करती हैं। इसका सम्बन्ध मधुमेह की तीव्रता की अपेक्षा गर्भाशयस्थ बालक के मृत्यु के साथ हुआ करता है। इनमें संन्यास (Coma) भी बहुत उत्पन्न होता है। मृत्यु प्रसव के समय या कुछ दिनों के पश्चात् संन्यास, मूर्च्छा, शक्तिपात इत्यादि से हो जाता है।

गर्भ और मधुमेह—माता का मधुमेह गर्भ के लिए बहुत घातक होता है। मधुमेह से गर्भाशय में जलोल्बता (Hydramnios) उत्पन्न होती है अर्थात् गर्भोदक की अतिवृद्धि होती है। तथा उसमें शर्करा भी पायी जाती है। गर्भ की अधिक वृद्धि होकर वह भार और आकार में सर्वसाधारण गर्भों की अपेक्षा बड़ा रहता है। उसमें कुछ व्यंग (Congenital abnormalites) भी उत्पन्न होते हैं। गर्भाधान के पश्चात् २–३ मास तक मधुमेह कुछ घट जाता है और अन्तिम २–३ मास में फिर बढ़ता है। अधिक संख्य गर्भ इस समय गर्भाशय में मर जाते हैं। इससे गर्भपात होकर गर्भ मृतजात (Still born) होते हैं। अनेक गर्भ प्रसव के समय मरते हैं और जो बचते हैं वे भी सहज व्यंग से या उपसर्ग सेजन्मोत्तर मर जाते हैं। माता की अल्पायु, बहुप्रसवता (Multi parity), दीर्घकालीन मधुमेह और शौक्लोत्कर्ष गर्भ के लिए घातक होते हैं।

पूर्वमधुमेह (Prediabetes)—गर्भधारणाका परिणाम जिन स्त्रियों में भविष्य में मधुमेह उत्पन्न होने में होता है वे गर्भधारण काल में अधिक स्थूल होती है, गर्भज विषमयता से पीड़ित होती हैं, उनमें गर्भोदक अधिक उत्पन्न होता है, उनके गर्भ अधिक बड़े होते हैं, और उनमें

स्तन्य की अधिकता होती है और उनकी शर्करासहनीयता में कुछ अन्तर आ जाता है। प्रत्यक्ष मधुमेह उत्पन्न होने से पहले स्थूलता, स्थूल गर्भता (Macro-infantia), जलोल्बता (Hydramnios), अतिस्तन्यता (Overlactation) इत्यादि लक्षणों की स्थिति को पूर्व मधुमेह कहते हैं। गर्भधारण काल में जो ये स्थूलगर्भतादि लक्षण होते हैं वे पोषणिका ग्रन्थि के शरीरपोषक (Somatotrophic) स्राव की अधिकता का परिणाम है और इसी से आगे मधुमेह भी उत्पन्न होता है।

अन्य उपद्रव —मधुमेही में पित्ताश्मरी और अग्न्याशय के कर्कार्बुद (Cancer) अन्य रोगियों की अपेक्षा अधिक पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त मध्यकर्णशोथ, गोस्तनकोटरशोथ (Mastodoitis) ये शारीरिक और उदासीनता, विषण्णता, चिन्ता, बेचैनी ये मानसिक उपद्रव भी दिखाई देते हैं।

व्रणरोपण—मधुमेही में शर्करा और प्रोभूजिनों का धातु निर्माण में ठीक उपयोजन न होने से तथा धमनीजरठता के कारण रक्त संचार ठीक न होने से व्रणों का रोपण जल्दी (२) नहीं होता।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—जिसको याप्य कहते हैं उस स्वरूप का मधुमेह रोग है। यह शीघ्रघाती रोग नहीं है। परन्तु यदि उचित चिकित्सा न की जाय तो घातक जरूर हो जाता है। इसके साथ साथ यदि आहार औषधि द्वारा इसकी उचित चिकित्सा की जाय और बराबर जारी रक्खी जाय तो रोगी का स्वास्थ्य अच्छा रह कर वह अपना दैनिक व्यवसाय कर २५-३० वर्ष तक मजे में जीवित रह सकता है। मधुनिषूदनि का प्रयोग उचित मात्रा में जारी रखने के कारण पहले की अपेक्षा मधुमेहियों की आयु बढ़ गयी है इसमें कोई सन्देह नहीं है। मधुमेह की साध्यासाध्यता निम्न बातों पर निर्भर होती है।

(१) *कुलजता*—मधुमेह में कुलज प्रवृत्ति होती है। इससे रोग अल्पायु में उत्पन्न होता है तेजी से बढ़ता है, तीव्र रूप धारण करता है और जल्दी घातक होता है। इसके विपरीत जिनमें मनस्थिति, शारीरिक

(२) आयुर्वेद में इसलिए मधुमेहियों के व्रण कृच्छ्रसाध्य बताये हैं—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषांचापि व्रणे व्रणाः॥ सुश्रुत॥

परिश्रम- व्यवसाय, आहार इत्यादि के दोषों के कारण रोग उत्पन्न होता है उनमें प्रायः उत्तर आयु में रोग प्रकट होता है सौम्य रहता है और चिकित्सा साध्य होता है। संक्षेप में कुलज कृच्छ्रसाध्य और अर्जित (Acquired) चिकित्सासाध्य होता है।

(२) *स्थूलता और कृशता*—मधुमेहियों के स्थूल और कृश (Fat and thin) करके दो वर्ग किये जाते हैं। पृष्ठ ३०५ पर पाद टिप्पणी देखिये। स्थूल वर्ग के मधुमेही अधिक उम्र के पुष्ट होते है, बहुक्षुधा बहुतृषा, बहुमूत्रता से अधिक पीड़ित नहीं होते, आहार, नयन्त्रण से बहुमूत्रतादि लक्षणों से बहुत कुछ निवृत्त हो जाते हैं, अपना व्यवसाय करते रहते हैं और संन्यासादि उपद्रवों से प्रायः पीड़ित नहीं होते। कृश मधुमेही कम उम्र के होकर दुबले पतले रहते हैं तृषा क्षुधा, बहुमूत्रता से अधिक पीड़ित होते हैं, बहुत जल्दी क्षीण होते जाते हैं, आहार नियन्त्रण से बहुमूत्रतादि लक्षणों से बहुत कम निवृत्त होते हैं और सन्न्यासादि उपद्रवों से पीड़ित होकर जल्दी मर जाते हैं।

(३) *वय*—साधारणतया अल्पायु में उत्पन्न होनेवाला रोग अधिक तीव्र स्वरूप का होता है और उत्तर आयु में प्रकट होने वाला रोग प्रायः सौम्य स्वरूप का होता है। इसके विपरीत भी क्वचित् रोगी दिखाई देते हैं।

(४) *उपसर्ग और अन्य रोग*—राजयक्ष्मा तथा अन्य रोग और स्त्रियों में गर्भधारणा मधुमेह को बढ़ाते हैं और अम्लोत्कर्ष के द्वारा संन्यास उत्पन्न करके घातक होते हैं। अतः इनकी उत्पत्ति होने पर मधुसूदनि की मात्रा बढ़ाकर अम्लोत्कर्ष और संन्यास जिस प्रकार न उत्पन्न होने पावे उस प्रकार चिकित्सा करनी चाहिए।

(५) *निदान*—मधुमेह आहार समवर्त का रोग है। इसमें सेवन किए हुए आहार्य द्रव्यों का ठीक उपयोग हो नहीं पाता जिससे अम्लोत्कर्ष (Acidosis) जैसे तीव्र स्वरूप के या धमनीजरठता जैसे दीर्घकालिक विकार उत्पन्न होते हैं। यदि रोग का निदान जल्दी (Early) हो जाय तो चिकित्सा के द्वारा समवर्त दोष दूर हो जायगा और उससे होने वाले तीव्र तथा दीर्घकालीन उपद्रव न हो जायँगे और रोगी अकाल मृत्यु से बचेगा।

(६) *चिकित्सा*—मधुनिषूदनि से मधुमेह की चिकित्सा में मन्वन्तर उत्पन्न हो गया है। इससे रोग निर्मूल नहीं होता परन्तु इसका निरन्तर

उचित उपयोग किया जाय तो रोग का नियन्त्रण जरूर हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः रोग निदान होते ही यदि आहार-निषूदनि द्वारा रोग का उत्तम नियन्त्रण (Good control) किया जाय तो रोगी २५-३० वर्ष तक अपना व्यवसाय करके मजे में जीवन व्यतीत कर सकता है। बाल मधुमेही जो मधु निषूदनि के आविष्कार के पहले १०० प्रतिशत मर जाते थे आजकल लगभग १०० प्रतिशत बच जाते हैं। स्त्रियाँ पहले की अपेक्षा अधिक गर्भधारणक्षम हो गयी हैं। गर्भवती स्त्रियाँ भी पहले संन्यास या विषमता से बहुत मर जाती थीं। आजकल प्रायः कोई नहीं मरतीं। परन्तु गर्भ को बचाने में आधुनिक चिकित्सा पूर्ण सफल नहीं हुई है। अब भी गर्भ मर जाते हैं।

उत्तम नियन्त्रण का अर्थ स्वास्थ्य और व्यवसाय की दृष्टि से प्रांगोदीयादि सब द्रव्यों का उचित मात्रा में सेवन और उसके साथ रक्त में २४ घण्टे शर्करा की मात्रा का स्वाभाविक-मर्यादा में रहना और शौक्ता द्रव्यों की अनुपस्थिति तथा मूत्र के द्वारा शर्करा का अनुत्सर्ग। यह कार्य आहार्य द्रव्यों का उचित नियमन, तदनुसार दिन में २-३ बार उचित मात्रा में मधु निषूदनि का सूचिकाभरण और २-३ बार मूत्रगत शर्करा का परीक्षण करने से होता है। नियन्त्रण की सफलता के लिए भोज्य द्रव्यों की विशेषतया शर्कराजातीय द्रव्यों की राशि, भोजन की वेला, मधु निषूदनि की मात्रा और उसके सूचिकाभरण का समय निश्चित होने पर निर्भर होती है।

रोगी का ज्ञापकत्व और सहयोग—मधुमेह याप्य या नियन्त्रण से साध्य स्वरूप का रोग होने के कारण रोगी बुद्धिमान् और वैद्यवाक्यस्थ होने से रोगियों का भविष्य आशादायक होता है। इसके विपरीत निम्न प्रकार के रोगी पाये जाते हैं। (१) कुछ रोगी बुद्धिमान् होते हैं और नियन्त्रण का महत्त्व समझते हैं परन्तु कार्य बाहुल्य के कारण वैद्य वाक्यानुसार कार्य कर नहीं सकते हैं। (२) कुछ रोगी नियन्त्रण का महत्व ही समझते नहीं तो वे नियन्त्रण क्या करेंगे। (३) कुछ रोगी नियन्त्रण का महत्व समझते हैं परन्तु लालची होने से खाने पीने का पथ्य पालन कर नहीं सकते। उन तीनों प्रकार के रोगियों का भविष्य चिन्ताजनक होता है। इनके विपरीत जो बताये हुए नियम के अनुसार आहार-औषधि का सेवन करते हैं उनको मधुमेह से अकाल में मरने का कोई कारण नहीं है। मधुनिषूदनि के द्वारा मधुमेही को

शर्करा स्वाभाविक मर्यादाओं के भीतर रखने का प्रयत्न किया जाता है। नियन्त्रण की सफलता मुख्यतया शर्करा नियन्त्रण पर निर्भर होती है। अधिक संख्य रोगियों में इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। परन्तु कुछ रोगियों में मध्याह्न या मध्यरात्रि में अल्पमधुमयता के आवेग (Attacks of hypoglycemia) आते हैं। रोगी के भविष्य की दृष्टि से इनका आना श्रेयस्कर नहीं होता। ऐसे रोगियों को आवेगों के पूर्व कुछ शर्करा सेवन करने के लिए कहना चाहिए। यदि इससे ये आवेग बन्द न हो तो मधुनिषूदनि की मात्रा इस प्रकार निश्चित की जाय कि कुछ शर्करामेह बना रहे। मधुनिषूदनि से मधुमेही का भविष्य उज्ज्वल होकर उसका मृत्यु काफी दूर चला गया है। फिर भी उसका निर्मूलन वर्तमान कालीन चिकित्साशास्त्र की शक्ति से परे है।

मधुमेही का मृत्यु संन्यास, वृक्कशोथ और मूत्रविषमयता हृदयातिपात, हृदयधमनीघनास्रता, मस्तिष्क में रक्तस्राव, फुफ्फुसपाक, श्वसनी, फुफ्फुसपाक राजयक्ष्मा, पादकोथ, कर्कट इत्यादि अनेक विकारों से होता है। भारतवर्ष में जहाँ पर राजयक्ष्मा बहुत है कुछ चिकित्सकों का यह मत है कि २५ प्रतिशत मधुमेही केवल राजयक्ष्मा से मरते हैं। मधुनिषूदनि का उपयोग जब से प्रारम्भ हुआ है तब से मधुमेही संन्यास से कम मरने लगे हैं। वैसे ही कूर्चकी (Penicillin) के कारण अब सर्वसाधारण उपसर्ग से भी बहुत कम मधुमेही मरते हैं। मधुमेही जितने अधिक वर्ष जीवित रहते हैं उतने ही वे धमनीजरठता, परमाततेि, वृक्कविकार इत्यादि धमनीविकृतियों से अधिक पीड़ित होते तथा मरते हैं। यूरूप—अमेरिका में जहाँ पर मधुमेहियों का उत्तम नियन्त्रण किया जाता है ६० प्रतिशत मधुमेही हृदयरक्तवाहिनी-वृक्कविकृति से, १५ प्रतिशत उपसर्ग से, ८ प्रतिशत कर्कट से, ४ प्रतिशत राजयक्ष्मा से, ४ प्रतिशत मधुमेहज संन्यास से और ६ प्रतिशत इतर उपद्रवों से मरते हैं।

निदान—(१) *लाक्षणिक*—बहुमूत्रता; तृषाधिक्य; क्षुधाधिक्य; शक्ति और भार का घटना; क्षणिक या अल्पकालिक दृष्टिदोष विशेष करके जवानों में; त्वचा में रागकाभरण (Pigmentation) विशेषतया हाथों के पृष्ठ भाग पर; फोड़े-फुन्सियाँ, खाज विशेषतया गुह्यांगों की खाजन (Eczema) इत्यादि की उत्पत्ति; घाव होने पर उसका ठीक

और जल्दी न भर आना, मूत्र स्थान पर चीटियों का लगना इन लक्षणों से मधुमेह की ओर ध्यान आकर्षित होना चाहिए।

(२) *मूत्र में शर्करा*—इसका ज्ञान मूत्र परीक्षण से होता है। मधुमेही का मूत्र चीनी के शर्बत के समान पाण्डुरवर्ण मधुगन्धी होता है और रसायनिक परीक्षा से उसमें शर्करा पायी जाती है। ये शर्कराएं अनेक प्रकार की होती हैं और अनेक कारणों से पायी जाती हैं। इसका अर्थ शर्करामेह अनेक शर्कराओं की उपस्थिति से तथा मधुमेह के अतिरिक्त अनेक कारणों से उत्पन्न होता है। परन्तु शर्करामेह का मुख्यतया सर्व-साधारण कारण मधुमेह ही होने से जब तक प्रयोगों और परीक्षाओं द्वारा अन्य कोई कारण सिद्ध नहीं हुआ तब तक मूत्र में शर्करा मिलने पर उसका कारण मधुमेह ही समझना चाहिए।

मूत्रगत शर्करा की उपस्थिति फेलिंग और बेनिडिक्ट कसौटियों से (आगे मूत्र परीक्षा में विशेष विवरण) मालूम की जाती है। फेलिंककसौटी शर्कराओं के अतिरिक्त मिहिक अम्ल, क्रिथ्ययी (Creatinine) मधु-मूत्रश्विकअम्ल (Gycuronic acid) इत्यादि द्रव्य उपस्थित होने पर भी अस्त्यात्मक (Positive) होती है। इसलिए शर्करा की उपस्थिति की अपेक्षा अनुपस्थिति मालूम करने के लिए अच्छी कसौटी है। बेनीडिक्ट कसौटी शर्कराओं के अतिरिक्त केवल समानकिरातिक (Homogentisic) अम्ल के लिए अस्त्यात्मक होती है, दूसरों के लिए नहीं। अतः शर्कराओं की उपस्थिति मालूम करने के लिए यह कसौटी अधिक विश्वसनीय है।

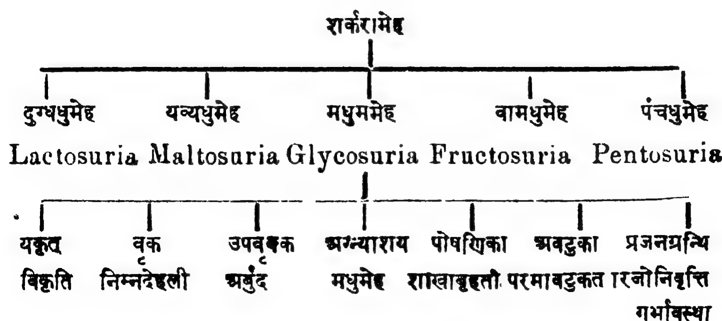
परन्तु मधुमेह का निदान मूत्रगत शर्करा की उपस्थिति पर नहीं परन्तु मधुम [Glucose] की उपस्थिति पर किया जा सकता है, क्योंकि मधुमेही के मूत्र में मुख्य शर्करा मधुम होती है। अतः बेनीडिक्ट की कसौटी अस्त्यात्मक मिलने पर शर्करा मधुम है इसका निर्णय आभिस्पन्द-मान [Polarimeter] किण्व द्वारा अभिषवण [Fermentation] और दर्शलउद्राजीवी [Phenyl hydrazine] कसौटी के द्वारा बनाये हुए ध्वजीवा [Osazone] स्फटिकों से कर लेना चाहिए। बेनीडिक्ट कसौटी जिन द्रव्यों के लिए अस्त्यात्मक होती है उनकी पृथक्करणात्मक सारणी नीचे दी जाती है।

अभिषवण, दर्शक्षउद्‌राजीवी और बाइल की कसौटी का विवरण आगे मूत्र परीक्षा में देखिये।

बेनीडिक्ट प्रह्रासक द्रव्यों की पार्थक्यकर सारणी

नाम	अभिस्पन्दमान	अभिषवण	ध्वजीवा स्फटीक
(१) मधुम (Glucose)	दक्षिणावर्ती (Dextrorotatory)	+	मधुमध्वजीवा (Glucosazone)
(२) वामधु (Laevulose)	वामावर्ती (Laevorotatory)	+	,,
(३) दुग्धधु (Lactose)	दक्षिणावर्ती	—	दुग्धध्वजीवा (Lactasazone)
(४) पञ्चधु (Pentose)	,,	—	बाइलकीकसौटी
(५) समान किरातिक अम्ल	—	—	रखने पर काला

मूत्रगत शर्कराएं—मूत्र में अनेक शर्कराएँ पायी जाती हैं। परन्तु इक्षु शर्करा (Sucrose) नहीं पायी जाती। यह शर्करा छद्मचर (Malingerer) अपने को मधुमेही जताने के लिए अज्ञानवश मूत्र में डालते हैं। परन्तु यह शर्करा प्रह्रासक (Reducing) स्वरूप की न होने से फेलिंग या बेनी डिक्ट कसौटी के द्वारा मालूम नहीं होती। अन्य शर्कराओं के मेह (संक्षिप्त विवरण आगे मूत्र परीक्षा में देखिये) नीचे दिये जाते हैं।



उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि मधुमेह का निदान मूत्र में शर्करा की कसौटी अस्त्यात्मक मिलने पर नहीं किया जा सकता, शर्करा का प्रकार मालूम करने की आवश्यकता होती है क्योंकि मूत्र में मधुम मिलने के भी अनेक कारण होते हैं। इसलिए नीचे मधुम मिलने के मधुमेहेतर कुछ कारणों का विवरण किया जाता है —

वृक्क्य शर्करामेह (Renal glycosuria)—रक्तगत शर्करा के लिए वृक्कों की एक बन्धन मर्यादा होती है जिसको वृक्क देहली (Renal threshold) कहते हैं। सर्व साधारण उसकी मर्यादा ·१६० ·१८० प्रतिशत होती है। कुछ व्यक्तियों में वृक्कों की मूत्रनलिकाओं के शर्करा प्रचूषण के सहज दोष के कारण यह देहली नीची (Low threshold) रहती है। परिणाम यह होता है कि भोजन के पश्चात् शर्करा १८० सहस्रिधान्य (Mg) से कम रहने पर भी मूत्र में इसका उत्सर्ग होने लगता है। वृक्क देहली नीचे रहने के कारण जो शर्करामेह उत्पन्न होता है उसको वृक्क्य शर्करामेह कहते हैं। इसकी निम्न विशेषताएं होती है—(१) कुटुम्ब में औरों को होने का इतिहास (२) अनेक वर्षों का शर्करामेह का इतिहास (३) रोग का न बढ़ना (४) मूत्रगत शर्करा की मात्रा में न्यूनाधिकता का अभाव (५) मधुमेह के बहुमूत्रतादि लक्षणों का अभाव (६) शर्करा जातीय द्रव्यों के सेवन का रक्त शर्करा मात्रा और मूत्र शर्करा मात्रा से कोई सम्बन्ध न होना (७) लङ्घन के समय रक्त शर्करा स्वाभाविक मर्यादा में रहना है और शर्करा सेवन करने पर बढ़ी हुई शर्करा का अविलम्बेन नीचे उतरना। (७) शर्करामेह का स्वास्थ्य के ऊपर कोई असर न होना। संक्षेप में आहार समवर्त का कोई दोष न होने के कारण इसको निर्दोष या अनपकारी मधुमेह (Diabetes innocens) भी कहते हैं।

अन्नज शर्करामेह (Alimentary glycosuria)—सामान्य व्यक्तियों में मिष्टान्न तथा प्रांगोदीयों का अधिक सेवन करने पर रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ती है, परन्तु वह वृक्क देहली से अधिक नहीं होती क्योंकि आन्त्र से शर्करा प्रचूषण की गति स्थिर रहती है तथा रक्त में आयी हुई शर्करा रुपान्तरित होकर संग्रहित हो जाती है। कुछ व्यक्तियों में मिष्टान्न अधिक सेवन करने पर रक्त शर्करा वृक्क देहली से

अधिक होकर मूत्र द्वारा उत्सर्गित हुआ करती है। ऐसा क्यों होता है यह ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु शास्त्रज्ञों का कथन है कि इनमें आन्त्र से शर्करा प्रचूषण की गति सामान्य व्यक्तियों से अधिक तेज़ (पृष्ठ ३१०) होती है तथा रक्त में आई हुई शर्करा का रूपान्तरण जल्दी नहीं हो सकता। यह विकृति पोषणिका, यकृत, पित्ताशय इनके विकारों में, गर्भधारणा होने पर, अवटुकाविषाक्तता (Thyrotoxicosis) में तीव्र उपसर्गों में मद्यपों में पायी जाती है। वातरक्त या वातरक्त प्रकृति से इसका घनिष्ट सम्बन्ध होता है। इस लिए कुछ लोग अन्नज शर्करामेह को वातरक्तज (Gouty) शर्करामेह का पर्याय समझते हैं।

मधुमेह का प्रारम्भ इसी प्रकार होता है। इसलिए अन्नज शर्करामेह को मधुमेह की प्रारम्भिक स्थिति से विभिन्न करना कठिन होता है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि यदि शर्करामेह वस्तुतः अन्नज हो तो मिष्टान्न, मद्य और रहन सहन में पथ्य से रहने पर कदापि मधुमेह में परिवर्तित नहीं होता। अन्नज शर्करामेह से पीड़ित रहने वालों का यह कर्तव्य होता है वे सदैव आहार विहार में पथ्य से रहे।

काँस्य मधुमेह (Bronzed diabetes)—इसी को रंजित यकृदाल्युदर (Pigmentary cirrhosis) भी कहते हैं। यह एक अत्यन्त विरलदृष्ट रोग है जो प्रायः पुरुषों में हुआ करता है। इसमें कौटुम्बिक तथा कुलज प्रवृत्ति होती है। रोग प्रायः ३०-६० वर्ष की आयु में होता है। इसमें यकृत की विकृति के कारण भोज्य द्रव्यों के साथ सेवन किया हुआ लोह अच्छी तरह उपयुक्त नहीं होता जिसके परिणाम स्वरूप मस्तिष्क को छोड़कर यकृत, प्लीहा, अग्न्याशय, वृक्क, त्वचा इत्यादि अंगों में लोहयुक्त शोणायस्वि (Hemosiderin) और लोहविरहित शोण-धूमलि (Hemofuscin) नामक रंग द्रव्य संचित होते हैं। इसमें यकृत् की बहुत अभिवृद्धि होकर वह मण्डूरवर्ण या गैरिकवर्ण (Ochre colour) होता है। प्लीहाभिवृद्धि होती है। त्वचा में रंग द्रव्य का संचय होकर उसका वर्ण काँसे के समान होता है। अग्न्याशय के लंगरहन के अन्तर्द्वीपों में रंग द्रव्य का संचय होकर वे नष्ट हो जाते हैं जिससे मधुमेह उत्पन्न होता है। त्वचा और अग्न्याशय की विकृति के आधार पर इस रोग को कांस्यमधुमेह नाम रक्खा गया है।

यकृत् की विकृति के कारण प्रतिहारी सिरा [Portal vein] गत रक्तसंचार में बाधा होकर अन्न नलिका गुद इत्यादि अंगों में सिराओं की विस्तृति और कुटिलता [Vericosity] उत्पन्न होती है, जलोदर होता है। मृत्यु प्रायः मधुमेह, सिरागत रक्तस्राव हृदयातिपात, या उपसर्ग से होता है।

इस रोग में प्रथम यकृत् की विकृति होती है और पश्चात् अग्न्याशय की विकृति होकर मधुमेह उत्पन्न होता है। इसलिए जब मूत्र में शर्करा पायी जाती है तब यकृत् प्लीहाभिवृद्धि, त्वचा की कौस्यता ये लक्षण रोगी में पाये जाते हैं जिससे रोगनिदान में कठिनाई नहीं होती।

ग्रेव का रोग (Grave's disease)—इसी को बहिरक्षिगलगण्ड [Exopthalmos] कहते हैं। यह रोग अवटुका ग्रन्थि के अतिकार्य से होता है। यह रोग स्त्रियों में अधिकतर [६ः १] १०-३० वर्ष की अवस्था में दिखाई देता है। इसमें आँखों का बाहर की ओर निकलना [बहिरक्षिगोलकता Exopthalmos], अत्यधिक क्षुधा और अधिक अन्न सेवन के साथ शरीर का कृश होना, अवटुका ग्रन्थि की अभिवृद्धि, हृदय की शीघ्रता, अतिरिक्त संकोच [Extrasystole ,] धमनियों और केशिकाओं में दृश्यस्पन्दन,सांकोचिक रक्तनिपीड अधिक, हृत्स्फारिक स्वाभाविक या उससे कम, नाडी निपीड अर्थात् स्वाभाविक या अधिक, हाथों में कम्प पुरुषों में षण्ढता और स्त्रियों में अल्पार्तव या अनार्तव इत्यादि लक्षणों के साथ अल्पकालिक तथा आहार से असम्बन्धित शर्करामेह होता है। परन्तु शर्करा सेवन करने पर वह ऊँची होती है और अधिक काल तक ऊंची रहती है। इसमें लंघन के समय रक्त शर्करा की मर्यादा स्वाभाविक या उससे भी कम रहती है। क्वचित् इसमें वास्तविक मधुमेह भी उत्पन्न होता है। परन्तु रक्त शर्करा आगणन से तथा अन्य लक्षणों से इसका निदान हो जाता है।

शाखा बृहती (Acromegaly)—पोषणिका ग्रन्थि के वृद्धि पोषक (Growth promoting) स्राव के अतियोग से यह रोग होता है। यह रोग २०-४० वर्ष के बीच में हुआ करता है। इसमें हाथ पैरों (शाखाएं) की हड्डियाँ बहुत बड़ी होती हैं। इनके अतिरिक्त सिर की हड्डियाँ

विशेषतया अधोहनु भी बढ़ती है। त्वचा भी काफी मोटी होती हैं। यकृत् प्लीहा, फुफ्फुस, वृक्क इत्यादि अभ्यन्तरीय अंगों की भी अभिवृद्धि होती है। परन्तु वृषण, बीजग्रन्थि और अग्न्याशय का क्षय होता है। जिससे पुरुषों में षण्ढता और स्त्रियों में अनार्तव उत्पन्न होते हैं। आधे रोगियों में बीच बीच में मधुमेह के लक्षणों के बिना परम मधुमयता और शर्करामेह पाया जाता है और थोड़े रोगियों में लक्षणों के साथ पाया जाता है।

उपवृक्क ग्रन्थि के अर्बुद—उपवृक्क ग्रन्थि के मज्जक (Medulla) के अर्बुदों में इस ग्रन्थि के कार्य में अतियोग होता है। यह अतियोग समय समय पर उपवृक्की (Adrenaline) की अधिक मात्रा रक्त में पहुंचने से होता है। इससे प्रावेगिक परमातनीय दारुणग (Paroxysmal hypertensive crisis) उत्पन्न होता है जिसमें हृल्लास, वमन, शाखाओं की श्यावता (Cyanosis), शिरः शूल, उरः शूल, त्वचा की पाण्डुरता, शीतता, स्वेदाधिक्य, कंपकपी (Shivaring), पैर की पिण्डलियों में एंठन (Cramps), परमाततिं (Hypertension) इत्यादि लक्षण होते हैं। ये प्रावेगिक आक्रमण न्यूनाधिक काल पर बराबर आते रहते हैं। इसी काल में रक्त में शर्करा की अधिकता होकर शर्करा मेह भी होता है। साथ साथ शुक्लिमेह भी रहता है।

गर्भज शर्करामेह—गर्भिणी के मूत्र में अनेक बार दुग्धमधु (Lactose) का उत्सर्ग होता है। बेनीडिक्ट कसौटी से इस शर्करा को मधुम से (Glucose) पृथक् नहीं कर सकते। इसलिए उसको मधुमेह समझने की भूल हो सकती है। इसको मालूम करने के लिए क्षोल उद्याजीवी और अभिषवण कसौटी (पृष्ठ ३४४) का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। परन्तु अनेक बार गर्भवती के मूत्र में मधुम का भी उत्सर्ग हो सकता है। इसका कारण यह है कि गर्भधारण से शरीराभ्यन्तरीय अन्तः स्रावी ग्रन्थियों में जो उथल पुथल होती है उससे मधुमेह उत्पन्न होने में सहायता होती है और आगे उनमें मधुमेह (पृष्ठ ३३७) उत्पन्न होता है। इसलिए गर्भवती के मूत्र परीक्षा में बेनीडिक्ट कसौटी अस्त्यात्मक (Positive) मिलने पर उस ओर दुर्लक्ष्य न करके शर्करा का पता लगाना बहुत जरूरी है। और यदि शर्करा मधुम (Glucose) रही

तो उसको मधुमेह समझकर गर्भधारण तथा स्तन्य काल समाप्त होने पर रक्त शर्करा का मापन करके तदनुसार आहार विहार का नियन्त्रण करना चाहिए। गर्भधारण और स्तन्य काल में रक्त शर्करा की मात्रा पर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए रोगनिदानार्थ पश्चात् रक्त मात्रा का आगणन किया जाता है।

शर्करा सहनीयता कसौटी (Sugar tolerance test)—मधुमेह का सन्देह होने पर तथा मधुमेह के सीमा प्रान्त पर रहने वाले व्यक्तियों में निदान के लिए इसका बहुत उपयोग होता है। तथा वृक्क्य शर्करामेह का निदान करने का यही एक मात्र साधन है। इसमें लङ्घन तथा एक समय में बहुत शर्करा सेवन करने की आवश्यकता होने से इसमें कुछ भय भी बना रहता। इसके अतिरिक्त इससे यद्यपि मधुमेह की तीव्रता का कुछ पता चल जाता है तथापि वह पूर्णांश में ठीक नहीं होता तथा इसके द्वारा प्राप्त अंकों से मधुनिषूदनि की मात्रा का भी निर्धारण नहीं होता। अतः जब एक बार मधुमेह का निदान हो जाता है तब इसकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

(१) *प्रमाप सहनीयता कसौटी* (Standard test)—कसौटी करने से पहले तीन दिन परीक्ष्य व्यक्ति को प्रतिदिन २५ तोले (३०० धान्य) प्रांगोदीय युक्त पूर्णाहार सेवन करना जरूरी है। परीक्षण दिन के पूर्व रात में भोजन करने के पश्चात् दूसरे दिन प्रयोगशाला में आने तक रोगी को कुछ भी न खाना चाहिए। रोगी का रक्त और मूत्र लेने के पश्चात् उसको प्रति किलोग्राम के पीछे १ ग्राम के हिसाब से या वैसे ही १०० धान्य मधुम ५०० घ. शि. मा. पानी में सन्तरे के रस के साथ या वैसे ही पीने के लिये देना चाहिये। शर्करा सेवन करने के पश्चात् आधे घण्टे, एक घण्टे, दो घण्टे और तीन घण्टे पर उसका मूत्र और रक्त लेकर उसका परीक्षण शर्करा और शर्करामात्रा के लिए करना चाहिए।

स्वस्थ व्यक्ति में परीक्षा फल—(१) लंघन समय में रक्तशर्करा ८०–१२० सहस्रिधान्य १०० घ. शि मा. रक्त में। (२) रक्तगत शर्करा की उच्चतम मात्रा $\frac{1}{2}$ घण्टे के रक्त में पायी जाती है और १८० से अधिक नहीं होती। (३) दूसरे और तीसरे घण्टे में रक्त शर्करा लंघन कालीन रक्त

शर्करा के समान हो जाती है अर्थात् स्वाभाविक हो जाती है। (४) मूत्र में किसी भी समय शर्करा नहीं मिलती।

मधुमेही में परीक्षा फल—(१) लंघनकालीन रक्त शर्करा प्रायः १२० सहस्रिधान्य या उससे अधिक। क्वचित् कम भी हो सकती है। (२) तीन घण्टे में किसी समय के रक्त में शर्करा की मात्रा १८० सहस्रिधान्य से अधिक रहती है। (३) तीन घण्टे के काल में रक्तशर्करा स्वाभाविक मर्यादा तक कम नहीं होती। (४) मूत्र में शर्करा पायी जाती है।

दोष—इस कसौटी में ५ बार सिरावेधन करना पड़ता है तथा ५ बार रक्त और मूत्र परीक्षण करने की आवश्यकता होती है तथा रोगी को ३ घण्टे तक कष्ट होता है। इस को दूर करने की दृष्टि से निम्न पद्धति से भी यह कसौटी की जाती है।

(२) *एक घण्टा, दो मात्रा कसौटी*—इसकी आयोजना एक्स्टन (Exton) और रोझ (Rose) ने की है। इसमें पूर्व पद्धति के अनुसार लङ्घनकालीन रक्त और मूत्र ग्रहण किया जाता है। इसके पश्चात् रोगी को उपर्युक्त १०० धान्य शर्करा घोल का आधा भाग पीने के लिए दिया जाता है। आधे घण्टे पर रोगी का रक्त और मूत्र ग्रहण करके बचा हुआ आधा घोल फिर दिया जाता है। आधे घण्टे के पश्चात् फिर मूत्र और रक्त ग्रहण किया जाता है।

स्वस्थ व्यक्ति में परीक्षा फल—(१) लंघनकालीन रक्त शर्करा १२० सहस्रिधान्य से कम। (२) एक घण्टे पर लिये हुए रक्त में शर्करा की मात्रा १६० सहस्रिधान्य से कम। (३) आधे घण्टे पर लिये हुए रक्त में शर्करा की मात्रा १ घण्टे पर लिये हुए रक्त की शर्करा मात्रा से अधिक। (४) मूत्र में किसी समय शर्करा नहीं मिलती।

मधुमेही में परीक्षा फल—(२) लंघन कालीन शर्करा १२० सहस्रिधान्य या इससे अधिक। (२) एक घण्टे पर रक्त शर्करा १८० सहस्रिधान्य से अधिक। (३) आधे घण्टे पर रक्त में जो शर्करा की मात्रा पायी जाती है वह एक घण्टे पर पायी जाने वाली मात्रा से २५ सहस्रिधान्य कम। (४) मूत्र में प्रायः शर्करा मिलेगी। परन्तु क्वचित् न भी मिल सकती है।

एक घण्टा दो मात्रा परीक्षा की विशेषता—इसमें ३ घण्टे के स्थान में १ घण्टे में काम हो जाता है तथा मूत्र एवं रक्त के ५ परीक्षणों के स्थान

में केवल तीन ही परीक्षण करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शरीर में मधु निषूदनि के प्रांगोद्वीय समवर्त के कार्य का ज्ञान प्रथम कसौटी की अपेक्षा इससे अधिक अच्छी तरह होता है। इसकी उपपत्ति निम्न प्रकार से बतायी जाती है। स्वस्थ व्यक्ति में प्रथम शर्करा सेवन के पश्चात् दिया हुआ शर्करा का दूसरा खोराक रक्त शर्करा को और बढ़ाता नहीं बल्कि प्रायः घटाता ही है। अर्थात् प्रथम खोराक सेवन करने के पश्चात् आधे घण्टे पर रक्त में शर्करा का जो प्रतिशत प्रमाण होता है वह दूसरा खोराक सेवन करने के आधे घण्टे के पश्चात् मिलने वाले शर्करा के प्रतिशत प्रमाण से अधिक रहता है। इस घटना को स्टौब—ट्रौगार्ट विपाक (Staub–Traugort effect) कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है कि प्रथम खोराक सेवन करने पर स्वस्थ व्यक्ति में लंगरहन अन्तर्रीप उत्तेजित होकर अधिक मधु-निषूदनि (पृष्ठ ३१८) को रक्त में छोड़ने लगते हैं जो दूसरे खोराक के समय रक्त में उपस्थित रहने के कारण रक्त में शर्करा का अधिक होने नहीं देती। मधुमेही में अन्तर्रीप अपजनित रहने के कारण प्रथम खोराक से उत्तेजित नहीं होते जिससे रक्त में मधु निषूदनि नहीं रहती और दूसरा खोराक पहले के समान रक्तगत शर्करा को बढ़ाने में समर्थ होता है।

(३) *भोजनोत्तर कसौटी*—इसका उपयोग अस्त्यात्मक निदान की अपेक्षा नास्त्यात्मक निदान के लिए कर सकते हैं और इसमें उपर्युक्त दोनों कसौटियों से भी अधिक सरलता होने से सन्देह होने पर इसका उपयोग किया जा सकता है।

इसमें प्रातःकालीन जलपान करके भोजन के पूर्व रक्त और मूत्र परीक्षण किया जाता है। फिर भोजन के दो घण्टे के पश्चात् रक्त मूत्र लेकर देखा जाता है।

स्वस्थ व्यक्ति में दोनों समय पर मूत्र में शर्करा नहीं होती तथा प्रथम रक्त में शर्करा १२० सहस्रिधान्य से अधिक और भोजनोत्तर रक्त में १८० सहस्रिधान्य से अधिक नहीं होती।

संन्यास का सापेक्ष निदान—सन्न्यास मधुमेह का एक महत्व का उपद्रव है। यह उपद्रव अचिकित्सित रोगियों में, मधुनिषूदनि का

शर्करा के समान हो जाती है अर्थात् स्वाभाविक हो जाती है। (४) मूत्र में किसी भी समय शर्करा नहीं मिलती।

मधुमेही में परीक्षा फल—(१) लंघनकालीन रक्त शर्करा प्रायः १२० महस्रिधान्य या उससे अधिक। क्वचित् कम भी हो सकती है। (२) तीन घण्टे में किसी समय के रक्त में शर्करा की मात्रा १८० सहस्रिधान्य से अधिक रहती है। (३) तीन घण्टे के काल में रक्तशर्करा स्वाभाविक मर्यादा तक कम नहीं होती। (४) मूत्र में शर्करा पायी जाती है।

दोष—इस कसौटी में ५ बार सिरावेधन करना पड़ता है तथा ५ बार रक्त और मूत्र परीक्षण करने की आवश्यकता होती है तथा रोगी को ३ घण्टे तक कष्ट होता है। इस को दूर करने की दृष्टि से निम्न पद्धति से भी यह कसौटी की जाती है।

(२) *एक घण्टा, दो मात्रा कसौटी*—इसकी आयोजना एक्स्टन (Exton) और रोझ (Rose) ने की है। इसमें पूर्व पद्धति के अनुसार लङ्घनकालीन रक्त और मूत्र ग्रहण किया जाता है। इसके पश्चात् रोगी को उपर्युक्त १०० धान्य शर्करा घोल का आधा भाग पीने के लिए दिया जाता है। आधे घण्टे पर रोगी का रक्त और मूत्र ग्रहण करके बचा हुआ आधा घोल फिर दिया जाता है. आधे घण्टे के पश्चात् फिर मूत्र और रक्त ग्रहण किया जाता है।

स्वस्थ व्यक्ति मे परीक्षा फल—(१) लंघनकालीन रक्त शर्करा १२० सहस्रिधान्य से कम। (२) एक घण्ट पर लिये हुए रक्त में शर्करा की मात्रा १६० सहस्रिधान्य से कम। (३) आधे घण्ट पर लिये हुए रक्त में शर्करा की मात्रा १ घण्टे पर लिये हुए रक्त की शर्करा मात्रा से अधिक। (४) मूत्र में किसी समय शर्करा नहीं मिलती।

मधुमेही में परीक्षा फल—(२) लंघन कालीन शर्करा १२० सहस्रिधान्य या इससे अधिक। (२) एक घण्टे पर रक्त शर्करा १८० सहस्रिधान्य से अधिक। (३) आधे घण्टे पर रक्त में जो शर्करा की मात्रा पायी जाती है वह एक घण्टे पर पायी जाने वाली मात्रा से २५ सहस्रिधान्य कम। (४) मूत्र में प्रायः शर्करा मिलेगी। परन्तु क्वचित् न भी मिल सकती है।

एक घण्टा दो मात्रा परीक्षा की विशेषता—इसमें ३ घण्टे के स्थान में १ घण्टे में काम हो जाता है तथा मूत्र एवं रक्त के ५ परीक्षणों के स्थान

में केवल तीन ही परीक्षण करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों का यह भी कहना है कि शरीर में मधु निषूदनि के अग्नाशयीय समवर्त के कार्य का ज्ञान प्रथम कसौटी की अपेक्षा इससे अधिक अच्छी तरह होता है। इसकी उपपत्ति निम्न प्रकार से बतायी जाती है। स्वस्थ व्यक्ति में प्रथम शर्करा सेवन के पश्चात् दिया हुआ शर्करा का दूसरा खोराक रक्त शर्करा को और बढ़ाता नहीं बल्कि प्रायः घटाता ही है। अर्थात् प्रथम खोराक सेवन करने के पश्चात् आधे घण्टे पर रक्त में शर्करा का जो प्रतिशत प्रमाण होता है वह दूसरा खोराक सेवन करने के आधे घण्टे के पश्चात् मिलने वाले शर्करा के प्रतिशत प्रमाण से अधिक रहता है। इस घटना को स्टौब—ट्रौगार्ट विपाक (Staub–Traugort effect) कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जाता है कि प्रथम खोराक सेवन करने पर स्वस्थ व्यक्ति में लंगरहन अन्तर्राप उत्तेजित होकर अधिक मधु-निषूदनि (पृष्ठ ३१८) को रक्त में छोड़ने लगते हैं जो दूसरे खोराक के समय रक्त में उपस्थित रहने के कारण रक्त में शर्करा का अधिक होने नहीं देती। मधुमेही में अन्तर्राप अपजनित रहने के कारण प्रथम खोराक से उत्तेजित नहीं होते जिससे रक्त में मधु निषूदनि नहीं रहती और दूसरा खोराक पहले के समान रक्तगत शर्करा को बढ़ाने में समर्थ होता है।

(३) *भोजनोत्तर कसौटी*—इसका उपयोग अस्त्यात्मक निदान की अपेक्षा नास्त्यात्मक निदान के लिए कर सकते हैं और इसमें उपर्युक्त दोनों कसौटियों से भी अधिक सरलता होने से सन्देह होने पर इसका उपयोग किया जा सकता है।

इसमें प्रातःकालीन जलपान करके भोजन के पूर्व रक्त और मूत्र परीक्षण किया जाता है। फिर भोजन के दो घण्टे के पश्चात् रक्त मूत्र लेकर देखा जाता है।

स्वस्थ व्यक्ति में दोनों समय पर मूत्र में शर्करा नहीं होती तथा प्रथम रक्त में शर्करा १२० सहस्रिधान्य से अधिक और भोजनोत्तर रक्त में १६० सहस्रिधान्य से अधिक नहीं होती।

संन्यास का सापेक्ष निदान—सन्न्यास मधुमेह का एक महत्व का उपद्रव है। यह उपद्रव अचिकित्सित रोगियों में, मधुनिषूदनि का

उचित समय पर प्रयोग न करने पर, अति मात्रा में प्रयोग करने पर, मिष्टान्न का अधिक सेवन करने पर उत्पन्न होता है। सन्न्यास अन्य अनेक कारणों से भी उत्पन्न होता है। अतः नीचे सबका विवरण दिया है।

(१) *मधुमेहज सन्न्यास*—मधुमेही के मूत्र में शर्करा, तथा शौक्ता द्रव्य (Ketone bodies) बहुत अधिक उपस्थित रहते हैं, शुक्लि तथा निर्मोक अल्प होते हैं। रक्त में अप्रोभूजिन भूयाति (N. P. N.) स्वाभाविक या जरा सा अधिक, परन्तु शर्करा २०० सहस्रिधान्य प्रतिशत से अधिक रहती है। मस्तिष्क सुषुम्ना जल निर्मल, दबाव कुछ कम और उसमें भी शर्करा बहुत अधिक (२००–३०० सहस्रिधान्य प्रतिशत) रहती है। रोगी की साँस में शुक्ता का फल का सा गन्ध आता है।

(२) *तीव्र मदात्यय* (Acute alcoholism)—अत्यधिक मद्य सेवन करने से बेहोशी होती है। इसमें रोगी के मूत्र में शर्करा मिल जाती है क्वचित् इसमें द्विशुक्तिक अम्ल और शुक्ता भी (Acetone) मिलते हैं। मधुमेहज सन्न्यास से इसका पार्थक्य मुख में मद्य के गन्ध से और मूत्र की अल्प गुरुता (१००८–१०१०, मधुमेही में १०३५–१०४०) से कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त में कोई विशेषता नहीं होगी।

(३) *मस्तिष्काभिघातज सन्न्यास*—संपीडन, संघट्टन(Concussion) मस्तिष्कगत रक्तस्राव, करोटीमूल भंग, पृष्ठवंश का भङ्ग-विश्लेष (Fracture-dislocation) इत्यादि अभिघातों में मूत्र में शर्करा मिल जाती जाती है। परन्तु उसमें शौक्ता द्रव्य नहीं रहते। रक्त में शर्करा की मात्रा प्रारम्भ में कुछ अधिक हो सकती है परन्तु आगे स्वाभाविक हो जाती है। मस्तिष्क सुषुम्ना जल में रक्त प्रायः रहता है और शर्करा कुछ अधिक हो सकती है। मधुमेह सन्न्यास से पार्थक्य मूत्र में शौक्ता द्रव्यों का अभाव, रक्त में शर्करा का अधिक न होना, म. सु. जल में रक्त की उपस्थित और अभिघात का इतिहास तथा नासा से या कान से रक्त स्राव, म. सु. जल स्राव इत्यादि अभिघात के चिन्हों से हो जाता है।

मूत्रविषमय सन्यास (Uremic coma)—इसमें मूत्र में शर्करा और शौक्ता द्रव्य प्रायः मिल सकते हैं, शुक्लि कुछ अधिक रहती है, रक्त में अ. प्रो. भूयाति बहुत अधिक मात्रा में होता है, म. सु. जल में

भी वह अधिक रहता है। मधुमेहज सन्न्यास से पार्थक्य मूत्र में शुक्लि की अधिकता, म. सु. जल में तथा रक्त में अ. प्रो. भूयाति की अधिकता, सांस में मूत्र का गन्ध, रक्तनिर्पीड की अत्यधिकता इत्यादि से हो जाता है।

(४) *मधुनिषूदनिज सन्न्यास* (Insulin coma)—मधुमेह चिकित्सा की मधुनिषूदनि खास औषधि है। इससे रक्तगत शर्करा घट जाती है। जब इसका मात्राधिक्य होता है, या उसकी सूई लगाने के पश्चात् उचित समय पर भोजन नहीं सेवन किया जाता या अधिक व्यायाम या परिश्रम होता है तब रक्त में अल्पमधुमयता (Hypoglycemia स्वाभाविक से कम मात्रा में रक्त में शर्करा का होना) उत्पन्न होती है। जब शर्करा की मात्रा ·०७ प्रतिशत से कम होती है तब रोगी को बेचैनी, घबड़ाहट मालूम होती है। जब ·०६ से कम होती है तब कमजोरी, घबड़ाहट, चक्कर, दृष्टिदोष स्वेदाधिक्य हस्तकम्प, उदर में पीड़ा इत्यादि लक्षण होते हैं। जब शर्करा ·०४ प्रतिशत तक कम होती है तब, बोलने की शक्ति का नाश, दृग्भ्रम (Disorientation), बुद्धिभ्रम, प्रतिक्षेपाभाव (Loss of reflexes), अपस्मारसम आक्षेप, पेशियों का असहकार (Ataxia) और बेहोशी ये लक्षण होते हैं। इसी को मधुनिषूदनिजन्य संन्यास कहते हैं।

मधुनिषूदनिज संन्यास	मधुमेहज संन्यास
१ त्वचा पाण्डुरवर्ण या प्राकृत	१ त्वचा रक्तवर्ण
२ सांस में शुक्तागंध का अभाव	२ सांस में शुक्ता का फल का सा गन्ध
३ श्वसन उत्तान	३ श्वसन गम्भीर (औदरिक)
४ प्रारम्भिक को छोड़कर शर्करा विहीन तथा शौक्तद्रव्य विहीन मूत्र	४ मूत्र में बहुत शर्करा और शौक्तद्रव्य उपस्थित
५ अक्षिगोलकगत तनाव स्वाभाविक या अधिक	५ अक्षिगोलकगत तनाव स्वाभाविक से बहुत कम
६ रक्तशर्करा ·०७—·०४ मि.ग्रा.प्रतिशत तक कम	६ रक्तशर्करा२००मि.ग्रा.प्रतिशत से बहुत अधिक५००—८००मि.ग्रा.प्रतिशत तक

मधुमेह चिकित्सा

मधुमेह चिकित्सा का उद्देश रक्तगत शर्करा को सदा सर्वकाल स्वाभाविक मर्यादा में रखकर शर्करामेह को न होने देने का होता है। यदि इस उद्देश्य में अच्छे नियन्त्रण (Control) से सफलता रही तो मधुमेह के सब लक्षण मिट जाते हैं, उसके उपद्रव उत्पन्न नहीं होते और यदि रोग सौम्य रहा तो इससे लंगरहन्स के अन्तरीपों को आराम मिल जाने के कारण वे ठीक हो जाने से मधुमेह सदा के लिए निर्मूलित हो सकता है। चिकित्सा का विवरण करने से पहले चिकित्सोपयोगी मधुमेहियों के वर्ग प्रथम दिये जाते हैं—

मधुमेहियों के वर्ग (Types)—(१) *मेदोवृद्ध* (Lipoplethoric)—मधुमेहियों का यह सर्व सामान्य वर्ग है। इसके रोगी स्थूल, परमाततिक (Hypertensive), अशौक्तोत्कर्षिक (Non-ketotic) होते हैं। मुख्य चिकित्सा स्थौल्यापकर्षण होती है।

(२) *मधुनिषदनिहीन* (Insulin deficient)—यह मध्यम सामान्य वर्ग है। इसके रोगी बालक या नौजवान, पतले, शौक्तोत्कर्षिक (Ketotic) होकर इनमें मधुमेह के सब लक्षण पूर्ण विकसित रूप से पाये जाते हैं। इनको मधुनिषूदनि की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

(३) *मेदः क्षीण* (Lipo-atrophic)—यह अत्यन्त विरल दृष्ट वर्ग हैं। इसमें मधुनिषूदनि की कमी की अपेक्षा उसके विरोधियों की अधिकता होती है। इसलिए इसमें प्रतिदिन सैकड़ों से लेकर हजार दो हजार एकक तक मधुनिषूदनि की आवश्यकता होती है।

मधुनिषूदनि के कार्य की दृष्टि से उपर्युक्त तीन वर्गों का विवरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं। (१) मधुनिषूदनि सूक्ष्मवेदी (Insulin sensitive)—इसमें मधुनिषूदनि जितनी आवश्यक उतनी बहुत कार्यक्षम भी होती है। यह मधुनिषूदनि हीन वर्ग है। (२) मधुनिषूदनि-असूक्ष्मवेदी (I. insensitive)—इसमें मधुनिषूदनि उतनी आवश्यक नहीं होती है न कार्यक्षम रहती है। इसमें मेदोवृद्ध वर्ग आता है। (३) मधुनिषूदनि-

विरोधी (I. resistant)—इसमें मेदःक्षीण वर्ग आता है। मधुमेह की चिकित्सा के निम्न आधार होते हैं।

(१) *हेतुपरिवर्जन*—इसमें कुलजता, वय, वंश, जाति इत्यादि अपरिहार्य हेतुओं को छोड़कर अन्य परिहार्य हेतुओं का वर्जन किया जाता है। जैसे यथोचित शारीरिक मानसिक परिश्रम करना, चित्तोद्वेगादि भावनाओं को छोड़कर चित्त का समयोग रखना, शरीर के भीतर कोई दूषित स्थान (Septic focus) हो तो उनको निर्दोष करना, उपसर्गों से तथा अभिघातों से बचकर रहना, फिरंग वातरक्त या अन्य सहायक रोग होने पर उनको ठीक करना, विरेचन से कोष्ठ शुद्धि रखना और इन सबों को करने के लिए रोग के हेत्वादिकी अच्छी जानकारी प्राप्त करना इत्यादि।

आहार—मधुमेह की उत्पत्ति में आहार का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से उसकी चिकित्सा में भी उसका बहुत महत्व होता है। बल्कि सौम्य रोग में, मेदोवृद्ध प्रकार में मधुमेह की चिकित्सा केवल उचित आहार से ही होती है। आहार में आहार्य द्रव्यों की कुल मात्रा और रसायनिक संघटन के अनुसार उनके विविध प्रकारों के आपस में प्रमाण के ऊपर ध्यान दिया जाता है। यह रोग भुक्खड, पेटू, अत्यधिक भोजन सेवन करने वालों में होता है तथा शरीर की दृष्टि से स्थूल व्यक्तियों में होता है। इस लिए आहार चिकित्सा का प्रथम सिद्धान्त मात्राल्पता होता है। इसका अर्थ अपतर्पण और लङ्घन के द्वारा शरीर का रूक्षण या कर्शन करना है। यह रोग प्रांगोदीयों और शर्कराओं का अधिक सेवन करने से होता है। इसलिए आहार्य द्रव्यों में प्रांगोदीयों की अल्पता और शर्करा जातीय शुद्ध प्रांगोदीयों की अत्यल्पता यह दूसरा सिद्धान्त होता है। स्निग्ध द्रव्यों की अधिकता से जैसे रोग होता है वैसे उनका ठीक ज्वलन न होने से शौक्तोत्कर्ष, अम्लोत्कर्ष और इससे संन्यासादि तीव्र तथा धमनीजरठतादि दीर्घकालीन उपद्रव होते हैं। अतः स्नेह की भी अल्पता तीसरा सिद्धान्त है। मधुमेह में नाड़ी संस्थान के उपद्रवों की उत्पत्ति में तथा अन्य तरह से जीवतिक्तियों की हीनता मधुमेह पोषक होती है। इसलिए भोज्य द्रव्यों में जीवतिक्तयों की विशेषतया ख और ग (B and C) की अधिकता यह चौथा सिद्धान्त होता है।

शरीर के केवल जीवन कार्य चलाने के लिए जितना आहार आवश्यक

होता है उसको आधारभूत आहार (Basal diet) कहते हैं। इसकी मात्रा प्रति सेर भार के पीछे २४ उष (Calories) की मानी जाती है। अर्थात् एक डेढ़ मन तोल के व्यक्ति के लिए आधारभूत आहार की मात्रा १४४० उष होगी। प्रोभूजिनों की मात्रा प्रति सेर भार के पीछे १ धान्य (ग्राम) लगभग उतना ही स्नेह और शेष प्रांगोदीय रहे। बच्चों में प्रोभूजीनों की मात्रा अधिक रखनी चाहिए। २ वर्ष तक प्रतिसेर भार के पीछे ४ धान्य ६ वर्ष पर ३ धान्य और १२ वर्ष पर २ धान्य मात्रा रहे। इस आधारभूत आहार पर रोगी एक सप्ताह रहने से मध्यम रोग में मूत्र से शर्करा का उत्सर्ग नष्ट होता है। फिर धीरे धीरे आहार की मात्रा बढ़ायी जाय जिसमें मुख्य प्रांगोदीय ही रहे। स्नेह द्रव्यों की मात्रा १०० धान्य से अधिक न रहे। अधिक रहने पर विमेदमयता (Lipaemia) उत्पन्न होकर उसके उपद्रव (पृष्ठ ३२५) उत्पन्न होने की संभावना होती है। साधारणतया परिश्रमी व्यक्ति को ३००० उष मात्रा का आहार उचित समझा जाता है। परन्तु मधुमेही को १८००-२२५० तक का ही आहार उपयुक्त होता है। स्थूल व्यक्तियों को सप्ताह में, दो सप्ताह में एक दिन लङ्घन रखना चाहिए जिस दिन चाय, काफी, जल, दूध, फलों के रस इत्यादि का सेवन किया जाय। पेयों को मधुर बनाने के लिए शर्करी (Saccharine) का उपयोग किया जाय।

आहार्य द्रव्य—गेहूँ, जौ, बजड़ा इत्यादि की रोटी, चपाती, फुलका, बिस्कीट, दूध, मक्खन, मलाई, घी, मठा, दही, अण्डा, मांस, मछली, दालें, इत्यादि अन्न द्रव्य; भिण्डी, भण्टा, गोभी, पातगोभी, गड्डा गोभी, मूली, ककड़ी, खीरा' अनार, तरबूज, टोमाटो, करेला, कद्दू, लौकी, परवल, ग्वारी (गोराणी), पालक, निनवा, गाजर इत्यादि साग सब्जियाँ; नारियल, उसका पानी, मूंगफली, बादाम, अंजीर सेव, पपीता, जामून, सन्तरा, मोसंबी, अंगूर इत्यादि फल इनका सेवन किया जा सकता है। साग सब्जी का रेशादार खोलों (Covered with cellulose) में रहनेवाला मायड (Starch) तथा फूलों की शर्करा मधुमेहियों के लिए अधिक अच्छी होती है। इसके अतिरिक्त मधुमेह की उत्पत्ति में जीवतिक्तियों की भी कुछ कमी (पृष्ठ ३०४) रहती है। उसको दूर करने की दृष्टि से भी साग सब्जी और फलों का सेवन मधुमेही के लिए हितकर

होता है। चावल, आलू, शकरकन्दी, आम (पक्व) शर्करा के बनाये हुए मिष्टान्न मधुमेही के लिए अहितकर होते हैं।

कुछ सूचनाएं—(१) शरीर स्वास्थ्य तथा दैनिक व्यवसाय की दृष्टि से उचित मात्रा मे आहार सेवन किया जाय। (२) आहार द्रव्यों में काफी विविधता रहे। (३) प्रांगोदीयों की बहुत कुछ मात्रा शाक फलों से सेवन की जाय। (४) आधार भूत आहार के प्रयोग के पश्चात् स्वास्थ्य रक्षा और व्यवसाय के लिए आवश्यक आहार मात्रा निश्चित होने पर उसी मात्रा का और निश्चित स्वरूप का आहार निरन्तर सेवन किया जाय। (५) भोजन के ऊपर भोजन अर्थात् अध्यशन न किया जाय। दो भोजनों के बीच में काफी अन्तर रहे ताकि रक्तगत बढ़ी हुई शर्करा भोजन के पूर्व अपनी निम्न मर्यादा तक उतर जाय। (६) बीच बीच में शरीर का तोल देखा जाय और आहार विहार इस प्रकार रक्खा जाय कि तोल स्थिर रहे या दुबले पतले रोगियों में कुछ बढ़े।

मधुनिषूदनि (Insulin)—मधुमेह की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तर होते हुए भी उसकी सम्प्राप्ति (Pathogenesis) की दृष्टि से यह निश्चित हो गया है कि इसमें शरीरगत प्रांगोदीय समवर्त (Carbohydrate metabolism) के लिए आवश्यक अग्न्याशय से निकलने वाली मधुनिषूदनि अपर्याप्त होती है, फिर वह अपर्याप्तता वास्तविक या सापेक्ष क्यों न हो। इसलिए मधुनिषूदनि मधुमेह की एक मात्र और खास औषधि होती है, परन्तु अन्य खास औषधियों के समान यह औषधि रोगनिर्मूलक न होकर केवल हानिपूरक होने से जीवन भर सेवन करने की आवश्यकता होती है और इस प्रकार सेवन की जाय तो मधुमेह के लक्षण मिट जाते हैं और उससे अकाल मृत्यु का डर भी बहुत कुछ जाता रहता है। इसलिये मधुमेह याप्य व्याधि का एक उत्तम उदाहरण बताया जाता है।

उपयोग के निर्देश (Indications)—(१) जब स्वास्थ्य-रक्षण और नैत्यिक कार्य नियन्त्रित आहार पर ठीक नहीं हो सकते और उनकी दृष्टि से आहार बढाने पर शर्करामेह हो जाता है तब।

(२) तीव्रमधुमेह जिसमें परममधुमयता और शर्करामेह बहुत अधिक हो।

(३) शौक्तोत्कर्ष, अम्लोत्कर्ष, सन्न्यास में।

(४) फुफ्फुसपाक, प्रमेहपिडिकाएं, फोड़े कुन्सियाँ तथा अन्य उपसर्ग।

(५) मधुमेही के शस्त्रकर्म।

(६) बच्चों और जवानों के मधुमेह।

निषेध—(१) वृद्धस्थ मधुमेह में रक्तगत शर्करा की मात्रा स्वाभाविक रहने के कारण उसमें इसका निषेध है। अतः इसका उपयोग करने से पहले एक बार रक्तशर्करा गणन करना उचित होता है।

(२) हृत्पेशीय अपजनन में इसके उपयोग से हानि होती है। इसलिए इसका उपयोग करने से पहले हृदय का परीक्षण किया जाय।

(३) अधिक उम्र के स्थूल रोगियों में भी के शर्करामेह रहने पर इसका उपयोग न किया जाय। उनमें आहारनियन्त्रण और शरीरापकर्षण यही सर्वोत्तम उपाय होता है। परन्तु यदि शर्करामेह के साथ शुक्तामेह (Acetonuria) रहो तो इसका उपयोग कर सकते हैं।

मात्रा—मधुनिषूदनि की अपनी कोई मात्रा नहीं होती। परन्तु शर्करा समवर्त के साथ उसकी मात्रा का कुछ सम्बन्ध होता है। साधारणतया इसका एक एकक (Unit) १–३ धान्य (ग्राम) शर्करा का उपयोजन या समवर्तन कर सकता है। रोगी में इसकी मात्रा निम्न बातों पर निर्भर होती है—

(१) मूत्र शर्करा—शरीर स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मात्रा का अर्थात् नियन्त्रित आहार केवन करने पर जिनमें शर्करामेह उत्पन्न होता है उनमें इसका प्रयोग करते हैं। ऐसे रोगियों में २४ घण्टे के मूत्र में जितनी शर्करा उत्सर्गित होती है उसके अनुसार इसकी मात्रा निर्णीत की जाती है। साधारणतया १ प्रतिशत शर्करा के लिए ५ एकक २ प्रतिशत के लिए १० एकक, इससे अधिक होने पर १५–२० एकक मधुनिषूदनि दी जाती है। मात्रा निर्धारण आहार निश्चित करके मूत्र परीक्षा से किया जाता है। यही कारण है कि मधुनिषूदनि के सेवनकाल में आहार नियमित तथा निश्चित रखना चाहिए। अन्यथा अपाय होने की सम्भावना होती है। साधारणतया मधुनिषूदनि की मात्रा इतनी रक्खी जाय कि मूत्र में लेशमात्र शर्करा का उत्सर्ग होता रहे। इससे मधुमेही को भी लाभ होता है और अल्पमधुमयता (Hypoglycemia) का भी डर नहीं रहता।

(२) उपसर्ग और अनूर्जता—उपसर्ग का परिणाम शर्करासहनीयता घटने में होने से जब मधुमेही में कोई उपसर्ग हो जाता है, फिर वह प्रतिश्याय (Cold) जैसा बहुत क्षुद्र भी क्यों न हो तो मात्रा बढ़ानी पड़ती है और मात्रावृद्धि उपसर्ग की उग्रता तथा तीव्रता के अनुसार होती है। अनूर्जिक अवस्थाओं (Allergic states) में भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

(३) रोग की तीव्रातीव्रता—सौम्य मधुमेह में मधुनिषूदनिका एक एकक जितनी शर्करा का निषूदन कर सकता है उतना तीव्र मधुमेह में नहीं कर सकता। इसका अर्थ सौम्य की अपेक्षा तीव्र रोग में इसकी मात्रा बहुत अधिक देने की आवश्यकता होती है।

(४) अम्लोत्कर्ष और संन्यास—इन अवस्थाओं में रक्त के भीतर शर्कराधिक्य के अतिरिक्त स्नेहीय अम्लों की अधिकता होती है। इनके नाश के लिए अधिक शर्करा की आवश्यकता होती है। अतः इन अवस्थाओं में मधुनिषूदनि के साथ मधुम भी दिया जाता है। इसलिए उसकी अधिक मात्रा आवश्यक होती है। स्नेहीय अम्लों पर मधुनिषूदनि का कोई असर नहीं होता।

(५) आहार—मधुनिषूदनि का सम्बन्ध केवल आहारगत शर्करा जातीय द्रव्यों के साथ होता है। इसके आधार पर मधुनिषूदनि की मात्रा के सम्बन्ध में निम्न दो नियम ध्यान देने योग्य है—

(१) यदि समान उष्मिक अर्हा (Equal caloric value) का स्नेह भूयिष्ठ आहार एक रोगी में रहे और प्रांगोदीय भूयिष्ठ आहार दूसरे में रहे और दोनों को मधुनिषूदनि की समान मात्रा दी जाय तो स्नेह भूयिष्ठ आहार वाले रोगी की रक्त शर्करा पर उसका जितना प्रह्रासक परिणाम होगा उसकी अपेक्षा प्रांगोदीय भूयिष्ठ आहार वाले रोगी की रक्त शर्करा पर अधिक होगा अर्थात् उसकी रक्त शर्करा पहले रोगी की अपेक्षा बहुत कम हो जायगी।

(२) सेवन की हुई प्रांगोदीयों की राशि का और उसके समवर्तन और शर्करामेह प्रति बन्धन का मधुनिषूदनि की मात्रा का सीधा या सरल (Linear) सम्बन्ध नहीं होता है। यह सम्बन्ध आसन्नतया छेदा श्रेणी (Approximateiy Logarithmic) में होता है। इसका अर्थ यह

है कि प्रांगोदीयों की एक राशि पर मधुनिषूदनि का एक एकक जितनी शर्करा का समवर्तन करता है उसकी अपेक्षा अधिक प्रांगोदीयों का सेवन करने पर वही एकक अधिक शर्करा का समवर्तन कर सकता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि भोजन में एक विशिष्ट राशि प्रांगोदीयों की होने पर मधुनिषूदनि के जितने एकक उसके पूर्ण उपयोजन के लिए लगते हैं, भोजन में प्रांगोदीयों की राशि दुगुनी करने पर मधुनिषूदनि के एकक दुगुने नहीं लगेंगे उससे बहुत कम लगेंगे।

मधुनिषूदनि के आविष्कार के पहले मधुमेहियों को स्नेह भूयिष्ठ, प्रांगोदीय अल्पिष्ठ आहार दिया जाता था। अब शरीर स्वास्थ्य और कार्य क्षमता की दृष्टि से प्रांगोदीयों पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता नहीं रही। जितने प्रांगोदीय आवश्यक होते हैं उतने दे सकते हैं और उतने देने पर यदि शर्करामेह होता हो तो शर्करा के अनुसार मधुनिषूदनि का उपयोग कर सकते हो।

(६) अवटुका और पोषणिका ग्रन्थि विकार—ये ग्रन्थियाँ अग्न्याशय विरोधी होती हैं। इसलिए जिनमें परमावटुकता (Hyper thyroidism) और परमपोषणिकता (Hyperpituitarism) अर्थात् इन ग्रन्थियों के कार्य की अधिकता होती है उनमें मधुनिषूदनि उनके स्रावों से नाश होने के कारण बहुत अधिक मात्रा में देने की आवश्यकता होती। ऐसे एक मधुनिषूदनि-विरोधी (Resistant) संन्यास पूर्व (Precoma) स्थिति में पहुँचे हुए रोगी में संन्यास प्रतिबन्धनार्थ २४ घण्टे में ३२५० एकक देने की जरूरत पड़ी और उसके पश्चात प्रतिदिन कुछ दिनों तक ४४० एकक दिये गये। ये मधुमेही अग्न्याशय विकृति के नहीं होते। अग्न्याशय विकृतिजन्य मधुमेह में ५०–६० एकक से अधिक मधुनिषूदनि की आवश्यकता नहीं होती।

(७) व्यायाम—व्यायाम और मधुनिषूदनि का रक्तशर्करा और धातु शर्करा पर समान परिणाम होता है। इसलिए व्यायाम सेवन करनेवालों में मात्रा कम होनी चाहिए और न सेवन करनेवालों में अधिक होनी चाहिए। वैसे ही मधुनिषूदनि सेवन करनेवाले मधुमेहियों को जैसे आहार मात्रा--विशेषतया शर्कराजातीय द्रव्यों की मात्रा निश्चित रखनी पड़ती है वैसे दैनिक व्यायाम भी निश्चित

रखना आवश्यक होता है। यदि किसी दिन अनपेक्षित अधिक व्यायाम परिश्रम हो तो अल्पमधुमयता का डर बना रहता है। इन रोगियों को इसलिए अपने पास शर्करा रखनी चाहिए और कभी अधिक परिश्रम करना पड़े तो उसका सेवन करना चाहिए।

मधुनिषूदनि के प्रकार—(१) विलेय (Soluble)—यह द्रव्य विलेय होने से जल्दी प्रचूषित होता है, सेवन करने के १ घण्टे के पश्चात् इसका कार्य प्रारम्भ होता है, ३-४ घण्टे तक बहुत अधिक रहता है और उसका असर ८ घण्टे तक रहकर पश्चात् समाप्त होता है। इसके कार्य पर व्यायाम परिश्रम का परिणाम होता है। अतः इनका प्रयोग होने पर आधे घण्टे के भीतर प्रांगोदीयों का (भोजन) सेवन करना आवश्यक होता है, भोजन की संख्या के अनुसार दिन में २-३ बार लेना पड़ता है और व्यायाम का प्रमाण निश्चित रखना पड़ता है। इसका प्रचूषण तथा कार्यसमाप्ति जल्दी हो जाने के कारण दिन में २-३ बार सेवन करने पर भी रक्तगत शर्करा की मात्रा में काफी उच्चावचन (Fluctuation) हुआ करता है। तथा इसमें अल्पमधुमयता उत्पन्न होने का डर अधिक रहता है। परन्तु संन्यास में बहुत उपयोगी होता है।

(२) अविलेय (Insoluble)—ये अविलेय होने के कारण जल्दी प्रचूषित नहीं होते तथा जल्दी उत्सर्गित भी नहीं होते, विलेय की अपेक्षा थोड़ी मात्रा में सेवन करने पड़ते हैं, ३ घण्टे के पश्चात इनका कार्य प्रारम्भ होता है और २४-४८ घण्टे तक असर जारी रहता है, व्यायाम या परिश्रम का उतना परिणाम नहीं होता। संक्षेप में कुछ कुछ स्वाभाविक मधुनिषूदनि स्राव के समान कार्य होता है। इसलिए भोजन के पूर्व इनका प्रयोग न होकर भोजनों के बीच में और दिन में या दो दिन में एक बार इनका प्रयोग हुआ करता है। इसका प्रचूषण धीरे धीरे होने के कारण रक्तगत शर्करा की मात्रा में उतना अधिक उच्चावचन नहीं हो पाता तथा मात्रा अधिक होने पर अल्पमधुमयता (Hypoglycemia) का उतना डर नहीं रहता। इसी के कारण संन्यास में जहाँ पर शीघ्रता की आवश्यकता होती है इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। मधुनिषूदनि की अविलेयता उसके साथ प्रतिक्ली (Protamine) तथा यशद (zinc) और आवर्तुलि मिला कर उत्पन्न की गयी है। उसके अनुसार इस अविलेय के

आवर्तुलि मधुनिषूदनि (Globulin insulin) और प्रतिक्ती यशद मधु-निषूदनि (Protamine zine insulin) करके दो प्रधान प्रकार होते है। प्रतिक्ती यशद मधुनिषूदनि में कुछ फर्क करके एन. पी, एच. ५० (N. P. H 50) करके एक और प्रकार बनाया गया है। इनके अतिरिक्त आजकल लेन्टे (Leute) नामक भी मधुनिषूदनि का एक और प्रकार निकला है। इनमें आवर्तुलि मधुनिषूदनि में कुछ दोष होने के कारण वह अधिक प्रयुक्त नहीं होती परन्तु अन्यों का उपयोग बहुत होता है और आजकल अविलेय योग ही अधिक प्रयुक्त किये जाते हैं।

(३) संयुक्त प्रयोग (Combi nation)—विलेय और अविलेय दोनों में गुणाव गुण होने के कारण दोनों का संयुक्त प्रयोग काम में लाया जाता हैं। इसमें प्रत्येक अकेले द्रव्यकी अपेक्षा अधिक.कार्यक्षमता होती है जिससे संयुक्त मात्रा कुछ कम रखनी पड़ती है। ये दोनों द्रव्य एक साथ मिला करके या स्वतन्त्रतया दे सकते हैं। इनका आपस में प्रमाण रोगी की आवश्यकताओं तथा शर्करामेह के अनुसार २ : १ ; १ : १, १ : : २ इस प्रकार हो सकता है।

प्रदान मार्ग—मधुनिषूदनि प्रोभूजिन (Protein) वर्ग की औषधि होने से मुख द्वारा सेवन करने पर अन्य प्रोभूजिनों के समान विघटित (Decompose) हो जाती है। अतः उसको मुख द्वारा नहीं दे सकते, सूचिका भरण से देना पड़ता है। इसको अधोजिह्व (Sublingually), नासा (सूँघनी के रूप में) तथा रक्षक द्रव्यों से आवृत करके (Coated) मुख द्वारा देने के प्रयत्न हुए परन्तु इन मार्गों से इसका प्रचूषण अनिश्चित तथा नगण्य (Negligible) होता है। सर्वसाधारण नैत्यिक मार्ग अधस्त्वक् (Subcuteneous) होता है। आत्ययिक अवस्था में सिरा द्वारा दिया जाता है।

अधस्त्वक् अन्तरोंप (Subcuteneous implants)—प्रतिदिन एक या दो बार घड़ी के अनुसार सुई का लेना और ठीक समय पर भोजन करना इससे मधुमेही का जीवन बहुत बन्धा हुआ हो जाता है। इससे बचने के लिए जो दो चार मास तक चल सके ऐसे प्रोटामाइन-झिङ्क-इन्शुलिन-कोलेस्टेरोल के मिश्रण बना करके उसके अन्तरोंप (Implants) त्वचा के नीचे करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इससे २-३ मास तक सुई

लगाने की आवश्यकता नहीं होती। यदि इसमें सफलता पूर्ण मिले तो मधुमेह की चिकित्सा में आश्चर्यकर मन्वन्तर पैदा होगा।

समय और मात्रा—मधुनिषूदनि का प्रयोग भोजन से पहले ½ घण्टा किया जाता है और उसके पश्चात् भोजन करना जरूरी होता है। अन्यथा अल्पमधुमयता उत्पन्न होती है। विलेय प्रकार भोजन के अनुसार दिन में २-३ बार सेवन करना चाहिए। अविलेय प्रकार प्रायः एक बार प्रातः सेवन किया जा जाता है। संयुक्त प्रकार एक बार या दो बार आवश्यकतानुसार लेना चाहिए। रोगी स्वयं अपनी सुई लेने का अभ्यास करे और प्रतिदिन एक दो बार लेने की आवश्यकता होने के कारण सुई के स्थान को बराबर बदलता रहे। अन्यथा स्थानिक विकृति (पृष्ठ ३६५) होने की सम्भावना रहती है।

मधुनिषूदनि की मात्रा आहार राशि, स्वास्थ्य और शर्करामेह इनके अन्वीक्षण और स्खलन (Trial and error) के आधार पर निर्धारित करनी पड़ती है। एक बार मात्रा निर्धारित करने पर आहार मात्रा, औषधि मात्रा और व्यायाम इनको सदा के लिए निश्चित और नियमित करना पड़ता है। अनेक रोगियों में आगे चलकर मधुनिषूदनि की मात्रा कम हो जाती है। मात्रा निर्धारित करने में मूत्रगत शर्करा परीक्षण बहुत महत्व का साधन है। इसलिए रोगी को शर्करा परीक्षण का ज्ञान होना भी जरूरी है। मधुनिषूदनि की मात्रा कैसी निर्धारित की जाती इसका उदाहरण ग्राहाम की योजना से स्पष्ट होगा इसलिए नीचे दिया जाता है।

ग्राहाम की योजना (Graham's scheme)—यदि कोई रोगी सबेरे २० और रात को १६ एकक विलेय मधुनिषूदनि लेता हो तो संयुक्त में इसको २० विलेय के और १२ प्रोटामीन झिंक के एक साथ मिला करके सबेरे दिये जायँगे। दोनों का मिश्रण अधिक कार्यक्षम होने के कारण अविलेय की मात्रा कम कर दी गयी है। इसके पश्चात् औषधि का असर (१) मध्यान्ह में (२) मध्यान्ह और सायंकाल के बीच में (३) और सायं और प्रातः के बीच में देखा जायगा। यदि मध्यान्ह में अल्प मधुमयता के लक्षण प्रकट हों तो सामान्य मधुनिषूदनि की मात्रा २ एकक से लक्षण सौम्य होने पर, और ४ एकक से, लक्षण तीव्र होने पर कम कर दी जाय। यदि सन्ध्या के समय अल्प मधुमयता के लक्षण प्रकट हों तो लक्षण सौम्य

होने पर प्रत्येक के दो दो और लक्षण तीव्र होने पर चार चार एकक कम कर दिये जाँय। यदि रात्रि से प्रातः काल के बीच में लक्षण प्रकट हों तो सौम्य या तीव्र के अनुसार अविलेय के दो या चार एकक कम कर दिये जाँय।

यदि प्रातः काल के मूत्र में शर्करा रही तो अविलेय की मात्रा प्रति तीसरे दिन शर्करामेह नष्ट होने तक दो दो एकक से बढ़ायी जाय। यदि सायंकाल के मूत्र में शर्करा रही तो विलेय की मात्रा शर्करामेह नष्ट होने तक प्रति तीसरे दिन दो दो एकक से बढ़ायी जाय।

संयुक्त मधुसूदनि केवल विलेय या अविलेय की अपेक्षा अधिक हितकर होती है। इसलिए मधुमेह की चिकित्सा में वही अधिक लोकप्रिय हुई है।

एन. पी. एच. ५० (N.P.H. 50)—यह संपरिवर्तित (Modified) प्रोटामीनजिंक इन्शुलिन है। इसका गुण २ भाग विलेय और एक भाग अविलेय मधुनिषूदनि के मिश्रण के समान होता है। दिन में एक बार इसकी सुई लगायी जाती है। इसका कार्य २ घण्टे पश्चात् प्रारम्भ होकर १०-२० घंटे तक अधिक से अधिक कार्य होता है और ३० घण्टे तक इसका कार्य जारी रहता है। संक्षेप में इसका कार्य कुछ कुछ स्वाभाविक मधुनिषूदनि के समान होता है ऐसी इसके आविष्कार करनेवालों की राय है?

मूत्रपरीक्षण—मधुमेह की चिकित्सा आहार नियन्त्रण से हो या आहार और मधुनिषूदनि से हो, शर्करा के लिए मूत्र का परीक्षण सफल चिकित्सा का एक आवश्यक अंग होता है। अतः बेनीडिक्ट के घोल से शर्करा परीक्षण, निस्साद (Precipitate) के रंग के अनुसार शर्करा की अनुमानिक प्रतिशतता इत्यादि का ज्ञान रोगी को जरूर होना चाहिए। यदि आहार नियन्त्रण से चिकित्सा होती हो तो सध्या के समय एकबार शर्करा के लिए मूत्र का परीक्षण और यदि मधुनिषूदनि का प्रयोग होता हो तो सुई के पहले प्रातः सायं दो बार परीक्षण करना चाहिए। जब एक बार आहार मात्रा और तदनुसार मधुनिषूदनि मात्रा निर्धारित होकर जारी हो जाती है तब प्रतिदिन परीक्षण करने की आवश्यकता नहीं होती प्रसंगानुसार तथा बीच बीच में देखते रहना चाहिए। मधुमेह चिकित्सा का उद्देश्य मूत्र में शर्करा का उत्सर्ग बन्द करने का होता है। शर्करा का उत्सर्ग बन्द होने पर मधुमेह के लक्षण बहुत कुछ कम होते हैं।

शर्करामेह बन्द होने पर भी रक्तशर्करा अधिक रह सकती है। परन्तु उससे कोई हानि नहीं होती। उसका गर्थ केवल विलम्ब से रक्तशर्करा का उपयोजन (Delayed utilization) इतना ही होता है।

मधुनिपूदनि के उपद्रव—(१) अनूर्जिक या अनवधानिक प्रतिक्रियाएं (Allergic and Anaphylactic reactions)—चिकित्सा के प्रारम्भ में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। ये प्रतिक्रियाएं घुलनशील तथा अघुलनशील दोनों में मिल सकती हैं। घुलनशील की अपेक्षा अघुलनशील (प्रोटामोन झिंकइन्शुलिन) में अधिक (१५-२०%) पायी जाती हैं। ये स्थानिक तथा सार्वदैहिक दोनों प्रकार की होती हैं। स्थानिक अधिक और सार्वदैहिक कम दिखाई देती है। सार्वदैहिक में कभी कभी चक्कर सिरदर्द, शोणितमेह,पेशी नियन्त्रणघात(Lack of muscular control) अल्पकालिक अर्धांगघात इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये प्रतिक्रियाएं मधुनिषूदनि गत अशुद्धियों के कारण उत्पन्न होती हैं ऐसा माना जाता है, परन्तु शुद्ध औषधि से भी ये उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

(२) विमेद दुष्पुष्टि (Lipodystrophy)—मधुनिषूदनि की सुई लगनेवाले रोगियों में सुई के स्थान में यह विकृति होती है इसमें त्वचा के नीचे की चरबी अधिक भी हो सकती है। परन्तु अधिकसंख्य रोगियों में वह क्षीण (Lipoatrophy) हो जाती है। जिन रोगियों में सुई से स्थानिक प्रतिक्रियाएं होती है उनमें आगे चलकर ७–८ मास के बाद विमेद क्षीणता उत्पन्न होती है। घुलनशील योगों की अपेक्षा अघुलनशील योगों के प्रयोग से यह अधिक (ऊपर देखिए) होती है तथा पुरुषों की, अपेक्षा स्त्रियों में ३ गुना अधिक दिखाई देती हैं। ४५ प्रतिशत रोगियों में इसका स्वरूप अत्यल्प, ३६ प्रतिशत रोगियों में मध्यम और १९ प्रतिशत रोगियों में तीव्र होता है। इसका ठीक कारण अज्ञात होने से इसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती। परन्तु एकही स्थान में बारबार सुई लगाने से धातुक्षय और सन्तूत्कर्ष (Fibrosis) उत्पन्न होकर यह होती है। अतः इसका प्रतिबन्धन निम्न प्रकार से किया जा सकता है। जहाँ पर एक बार सुई लगाया गया है वहाँ पर तथा उसके चारों ओर १ वर्ग शतिमान (Square centimeter) क्षेत्र में १ मास तक सुई न लगायी

जाय। संक्षेप में सदैव दूर दूर स्थानों में सुई अदल बदल करके लगाने से यह विकृति नहीं होती।

(३) संन्यास (Coma)—यह उपद्रव मधु निषूदनि के मात्राधिक्य से रक्त में शर्करा की अल्पता होने से उत्पन्न होता है। इसका विवरण पीछे सापेक्ष निदान (पृष्ठ ३५३) में किया गया है। सौम्यावस्था में मधुम चिनी संतरे या मोसंबे या टोमाटो के का रस या अन्य कोई शर्करा जातीय द्रव्य तुरन्त सेवन करने से काम हो जाता है। लक्षण कुछ तीव्र होने पर चीनी का शरबत या चीनी और पानी तुरन्त पीना चाहिए। यदि रोगी न पी सकता हो तो पोषणिका की (Pitui trin) या उपवृक्की (Aclveualin) की सुई (१ सी. सी.) लगाने से काम होता है। यदि रोगी संन्यस्त हो तो २५ प्र० श० मधुम का घोल १०–२० सी. सी. सिरान्तर्य मार्ग से दिया जाय। और होश पर आने पर आधा छटाँक चीनी पानी के साथ उसको दी जाय। यदि सिरा द्वारा मधुम देना अशक्य हो तो एक छटांक चीनी या मधुम पाव भर पानी घोलकर जठर नलिका द्वारा पेट में प्रविष्ट की जाय या उसको विधारण बस्ति (Retention enema) दी जाय।

अन्य औषधियाँ—मधु निषूदनि के पहले मधुमेह की चिकित्सा में अफीम, कोडीन, पंक्रियाप्टिन, पानमेलोटस, इलिक्सिअर ग्लिसरोफास्फेट इत्यादि अनेक औषधियां प्रयुक्त होती थीं। ये औषधियां सौम्य रोग में कुछ लाभ करती थीं। परन्तु तीव्र रोग में इनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता था। सिन्थ्यालिन (Synthalin) और डेचोलिन (Decholin) में रक्त शर्करा कम करने का गुण है परन्तु ये औषधियाँ विषैली होने के कारण अब इनका उपयोग नहीं किया जाता। अतः अन्त में मधुमेह के लिए विश्वासनीय औषधि केवल मधु निषूदनि ही रह जाती है।

उपद्रवों की चिकित्सा—*संन्यास*—रोगी को बिस्तरे पर आराम से रक्खा जाय। रोगी प्रायः ठण्डा और निपतित (Cellapsed) रहता है। इसलिए उसको गरम कमरे में गरम कपड़ों से ढककर गरम पानी की बोतलों से गरम रक्खा जाय तथा उपवृक्की, पोषणिकी इत्यादि हृद्य औषधि दी जाय। प्रायः रोगी बद्धकोष्ठ (Constipated) रहता है। इसलिए यदि पी सकता है तो उसको एरण्डी का तेल दिया जाय या न

पी सकता हो तो विरेचक बस्ति दी जाय। संन्यास में रक्त की क्षार संचिति बहुत घट जाती है इसलिए रोगी को मुख द्वारा सोडा बायकार्ब ४ धान्य की मात्रा में प्रति ४ घण्टे पर दिया जाय। यदि मुख द्वारा न ले सके तो उसको सिरा द्वारा २ प्र० श० सोडाबायकार्ब का ६०० घ० शि० मा (सी. सी.) जल दिया जाय। रोगी को पर्याप्त मात्रा में पानी भी देना जरूरी होता है। साधारणतया प्रत्येक घण्टे पर पाव भर पानी ६ घण्टे तक लगातार मुख द्वारा या नासा नलिका द्वारा दिया जाय।

मधुमेहज संन्यास घातक उपद्रव है। मधुनिषूदनि उसकी रामबाण औषधि है। इसलिए इसकी चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र मधुनिषूदनि से करनी पड़ती है। इसमें प्रायः रक्त शर्करा बहुत अधिक रहती है इसलिए ५०–१०० एकक मधुनिषूदनि रोगी को अधस्त्वक मार्ग से दी जाय, यदि स्थिति बहुत खराब हो तो सिरान्तर्य मार्ग से दिया जाय। यदि ३ घण्टे में रोगी की स्थिति में कोई सुधार न मालूम हो तो उतनी मधुनिषूदनि फिर से दिया जाय। रोगी के मूत्र को प्रारम्भ में तथा प्रत्येक ३ घण्टे पर निकालकर शर्करा के लिए देखा जाय। प्रथम और तीन घण्टे पर निकाले हुए मूत्र में शर्करा जरूर मिल जाती है। यदि ४–६ घण्टे के भीतर निकाले हुए मूत्र में शर्करा रही तो फिर से मधुनिषूदनि दी जाय। यदि न रही तो देने की आवश्यकता नहीं होती। साधारणतया मूत्र में शर्करा की अनुपस्थिति के साथ रोगी की स्थिति में सुधार होती है। यदि मूत्र में शर्करा की अनुपस्थिति होते हुए रोगी की सुधार के सम्बन्ध में शंका हो तो एक एकक के पीछे ४ धान्य के हिसाब से रोगी को शर्करा देकर फिर से मधुनिषूदनि दी जाय।

कुछ चिकित्सक संन्यास में मधुनिषूदनि के साथ मधुम देने के विरोधी है। उनके मतानुसार मधुम देने से सौम्य संन्यास गम्भीर में और गम्भीर घातक में परिवर्तित होता है। इसके लिए यह बताया जा सकता है कि यदि रक्तशर्करा परीक्षण का साधन हो तो और रक्त में शर्करा बहुत अधिक हो तो मधुनिषूदनि के साथ मधुम देने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जब रक्त में शर्करा कम रहती है तब मधुम देने की आवश्यकता होती है, क्योंकि मधुनिषूदनि स्वयं शौक्त द्रव्यों का निषूदन नहीं कर सकती, बल्कि मधुम के द्वारा कर सकती है। अतः रक्तशर्करा आगणन का साधन

होने पर रक्तगत शर्करा को देखकर मधुम का उपयोग करना न करना उचित होता है। परन्तु जब यह साधन नहीं होता उस समय मधुनिषूदनि से अल्पमधुमयता उत्पन्न होने की सम्भावना टालने के लिए मधुनिषूदनि की अधिक मात्रा के साथ मधुम ५० धान्य की मात्रा में देना श्रेयस्कर है।

संन्यास उत्पन्न होने के कारणों में उपसर्ग एक महत्व का कारण होने से संन्यस्त रोगी में कोई उपसर्ग तो नहीं है इसके लिए उसकी उचित परीक्षा करे और पश्चात् उसकी मथोचित् चिकित्सा करें।

उपसर्ग—मधुमेही में उपसर्गों से पीडित होने की प्रवृत्ति होती है। कोई उपसर्ग हो वह शर्करा सहनीयता को घटाता है। इसलिए उपसर्ग होने पर उसकी उचित चिकित्सा की जाय। साथ ही साथ सौम्य रोग में प्रतिदिन २-४ एकक मधुनिषूदनि और तीव्र रोग बहुत अधिक (परन्तु संन्यास से कम) मधुनिषूदनि की मात्रा बढ़ायी जाय।

शस्त्र कर्म—मधुमेही में शस्त्रकर्म का सदैव निषेध ही रहा है क्योंकि उसमें व्रण का रोपण ठीक नहीं होता। मधुनिषूदनि के आविष्कार के पश्चात् शस्त्रकर्म का डर चला गया है। अब निम्न बातों पर ध्यान देकर शस्त्रकर्म कर सकते हैं। (१) मधुनिषूदनि के उपयोग से रक्त शर्करा स्वाभाविक मर्यादा तक कम की जाय। (२) संमोहन के लिए इथर या क्लोरोफार्म का उपयोग न करके स्थानिक, सौषुम्न (Spinal), सिरान्तर्य संमोहक द्रव्य या नैट्रस आक्साइड ग्यास और प्राणवायु का उपयोग किया जाय। यदि गम्भीर संमोहन की जरूरत रही तो अल्प मात्रा में इथर का प्रयोग कर सकते हैं। शस्त्रकर्म के २ घण्टे पहले १६ एकक मधुनिषूदनि और छटाँक चीनी रोगी को दी जाय। यदि रोगी पहले से भली भाँति नियन्त्रित रहा तो रोगी को शस्त्र कर्म के ४ घण्टे पहले मधुनिषूदनि की नैत्यिक मात्रा देकर आधे घण्टे के पश्चात् छटाँक भर चीनी दी जाय। यदि रोगी दुर्नियन्त्रित (Badly controlled) रहा और शस्त्रकर्म अत्यावश्यक हो गया तो रोगी को १०-१२ एकक मधुनिषूदनि अतिरिक्त देकर काम कर लेना चाहिए और शस्त्रकर्म के पश्चात् रोगानुसार आहार और मधुनिषूदनि देना चाहिए। रोगी शस्त्रकर्म निवृत्त होने पर मधुमेह का आहार और अनुरूप मधुनिषूदनि जारी रखना चाहिए।

नाड़ी विकृति चिकित्सा—मधु मेह में स्पर्श वैपरित्य, परिहर्ष जानु प्रतिक्षेप का अभाव या अल्पता, मज्जावशोथ, नक्त प्रवाहिका, असंभूयता (Ataxta) इत्यादि अनेक नाड़ी संस्थान के विकार उत्पन्न होते हैं। उनके लिए मधुमेह के नियन्त्रण की चिकित्सा के अतिरिक्त जीवतिक्ति ख$_{१२}$ (B_{12}) का उपयोग लाभदायक होता है। तथा गर्भिणी स्तनी प्राणी के यकृत् का जलीय निस्सार (Watery extract of pregnant mammalian livers) ५ घ, शि. मा. (सी. सी.) की मात्रा में प्रतिदिन देने से भी बहुत लाभ होता है।

राजयक्ष्मा—क्षयी में मधु मेह होने पर और मधु मेही में क्षय होने पर दोनों की चिकित्सा में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। प्रत्येक की चिकित्सा उसके सिद्धान्तों के आधार पर ही की जाती है। मेही में राजयक्ष्मा का पता लगने पर तुरन्त उसकी चिकित्सा कृत्रिम वातोरस तथा प्रतिजीवी द्रव्यों से प्रारम्भ की जाय। मेही में कृत्रिम वातोरस तथा अन्य अधिक बड़े शस्त्र कर्मों का भी निषेध नहीं होता। केवल शस्त्रकर्मपूर्ण सावधानताएं रखनी पड़ती हैं। क्षयी मेही में एन पी. एच मधुनिषूदनि अधिक लाभकर होती है। रोगी को स्नेह द्रव्य कम और शर्कराजातीय तथा प्रांगोदीय एवं जीवतिक्तियां खाद्य द्रव्य अधिक दिये जायं। इसके अनुसार मधुनिषूदनि की मात्रा निर्धारित की जाय। अर्थात् उपसर्ग और प्रांगोदीयों की अधिकता के कारण मधु निषूदनि की मात्रा कुछ अधिक ही रखनी पड़ती है। साथ ही साथ उपसर्गों के कारण रक्त शर्करा में उच्चावचन (Fluctuation) अधिक होने के कारण मधु निषूदनि की मात्रा पर ध्यान देना चाहिए।

गर्भवती चिकित्सा—मधुमेह पीड़ित स्त्री गर्भवती होने पर अन्य मधुमेहियों के समान मधु निषूदनि और आहार के द्वारा उसकी चिकित्सा की जाय। परन्तु गर्भधारण होने पर मधुमेह में घटबढ़ होने से मधुनिषूदनि की मात्रा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार चिकित्सा करने से विषमयता सन्न्यास इत्यादि कोई उपद्रव उत्पन्न नहीं होते जिससे पहले की अपेक्षा मधुमेही माताओं का भविष्य बहुत कुछ अच्छा हो गया

है। उन पर अब जो आपत्ति रही है वह गर्भाशय में गर्भ के मरने से, अकाल प्रसव से, गर्भ के अधिक बड़े रहने के कारण कष्ट प्रसूति से है। इसके ऊपर माता की चिकित्सा का कोई विशेष असर नहीं होता।

गर्भ चिकित्सा—इसका उद्देश्य गर्भ को अतिवृद्धि को रोकने का और गर्भाशय में या प्रसूति के पश्चात् होनेवाले अकाल मृत्यु से बचाने का होता है। गर्भाशय में, प्रसव के समय तथा प्रसवोत्तर गर्भ के मृत्यु का कारण यह बताया जाता है कि मधुमेही गर्भिणी के रक्त में २०वें सप्ताह में जरायुज प्रजनपोषि (Chorionic gonadotrophin) करके जो द्रव्य रहता है बहुत अधिक मात्रा में इकट्ठा होता है। अतः इसकी चिकित्सा उस समय से ओस्ट्रोजन या उसके विविध योगों में से किसी एक के द्वारा (Oestradiol, stib oestrol; Diethyl stilboesterol) या प्रोजेस्टेरोन से की जाय। गर्भ की अत्यधिक वृद्धि को रोकने का कोई साधन नहीं है। अतः तथा आखिरी दिनों में हा अधिक संख्य गर्भ मरने के कारण ३६–३८ वें सप्ताह में अकाल कृत्रिम प्रसव किया जाय। अथवा सीझरीय उदरविपाटन (Caesarean section) से गर्भ को निकाला जाय। शस्त्रकर्म या प्रसूति के समय गर्भ रक्षा की दृष्टि से सार्वदैहिक संज्ञानाशन का (General anaesthesia) प्रयोग न करें तथा अम्लतोत्कर्ष और अल्पमधुमयता उत्पन्न न होने पावे इस दृष्टि से शर्करा और मधु निषूदनि का उपयोग शस्त्र कर्म या प्रसव के पूर्व करें। बालक में जन्म के समय अल्पमधुमयता (Hypoglycemia) होने का डर रहता है। अतः जन्म के पश्चात् उसको नाल (Cord) के द्वारा २५ प्र० श० मधुम का १० घ० शि० मा घोल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त गुद और मुख द्वारा भी शर्करा देने का प्रयत्न किया जाता है। शरीरताप का नियन्त्रण बाह्यताप से किया जाता है। आत्ययिक अवस्था में सिरा द्वारा भी मधुम दिया जा सकता है। शर्करा प्रदान रक्त शर्करा की मात्रा पर निर्भित किया जाता है। बालक का नासा में एपिनेफ्रिन (Epinephrine) के दो बूंद प्रत्येक दो दो घण्टे पर छोड़े जाते हैं। ८-१० दिनों के पश्चात् बालक को नियमित आहार दिया जाता है।

रजोनिवृत्तिज मधुमेह—रजोनिवृत्ति काल में अनेक स्त्रियों में बहुधा पोष-

णिका ग्रन्थि के कारण शर्करा सहनीयता घट कर मधुमेह उत्पन्न होता है। इनमें मधुनिषूदनि तथा आहार नियन्त्रण से कोई विशेष लाभ नहीं होता इसमें ओस्ट्रोन (Oestrone), प्रोजेस्टेरोन (Progesterone) इत्यादि स्त्री प्रजनग्रन्थि से सम्बन्धित औषधियों से लाभ होता है। जैसे— ओस्ट्राडायल बेन्झोएट (Oestradial benzoate) ५ मि:ग्राम० प्रति चौथे दिन ।

———

मूत्र का परीक्षण

Examination of urine

मूत्रपरीक्षण का महत्त्व—रक्त को शुद्ध, स्वस्थ और सुसंघटित रखना यह वृक्क का मुख्य कार्य होने के कारण केवल वृक्क के विकारों में ही नहीं वृक्केतर अन्य अनेक अंगों के तथा सार्वदैहिक विकारों में मूत्र में कुछ न कुछ परिवर्तन हो ही जाता है। इन परिवर्तनों के ज्ञान से अनेक रोगों के निदान में, साध्यासाध्यता में तथा चिकित्सा में बहुत सहायता होती है। रोगी से सम्बन्धित प्रयोगशालेय परीक्षाओं में (Laboratory examinations) मूत्र का परीक्षण प्रायः प्रथम किया जाता है और यदि उचित ध्यान देकर वह कार्य किया जाय तो उसके द्वारा अनेक रोगों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

मूत्रकी कसौटियां—परीक्षणार्थ जो मूत्र आता है वह प्रायः मूत्र ही रहता है, परन्तु कभी कभी छद्मचारी (Malingerers) मूत्र के नाम पर दूसरा द्रव दे सकते हैं। यदि इस प्रकार की आशंका हो तो सर्व प्रथम परीक्षणार्थ आया हुआ द्रव मूत्र है या नहीं इसको भी देखना पड़ता है। मूत्र का मुख्य और खास द्रव्य मिह होने से परीक्ष्य द्रव्य मूत्र है या नहीं इसका निर्णय मिह की उपस्थिति पर किया जाता है। यह उपस्थिति निम्न पद्धति से मालुम की जाती है।

(१) काँच की पटरी पर परीक्ष्य द्रव्य के कुछ बूंद रखकर उनको सुखावें। तत्पश्चात उस सूखे हुए मूत्र पर शुद्ध सफेद भूषिक (Pure white

nitric) अम्ल का या तिग्मिक (Oxalic) अम्ल का एक बूंद छोड़कर उस पर ढकने की काच रखकर सूक्ष्मदर्शक से देखें। मूत्र में मिह होने पर मिह भूयीय (Urea nitrate) या मिह तिग्मीय (Oxalate) के स्फटिक सूक्ष्मदर्शक से दिखाई देंगे।

(२) परीक्ष्यद्रव में कोई शुक्ति हो तो शुक्तिक अम्ल और ताप से निस्सादित करके छानकर अलग करलें। फिर निस्यन्द में डोरेमसहाइपब्रोमाइट मिहमापक (पृष्ठ ३७४) से मिह की मात्रा का आगणन करें। मूत्र होने पर उसमें २ प्रतिशत के लगभग मिह मिलेगा।

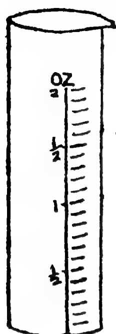
मिह के अतिरिक्त क्रव्यीयी (Creatinine) की उपस्थिति से भी परीक्ष्यद्रव्य मूत्र है या नहीं इसकी जाँच की जाती है।

मूत्र संग्रहण (Collection)—मूत्र परीक्षण में इस बात पर विशेष ध्यान देना जरूरी होता हैं। परीक्षणार्थ सद्योत्सृष्ट (Freshly voided) मूत्र सर्वोत्तम होता है। इसलिए आये हुए रोगी को वहीं पर एक स्वच्छ पात्र में मूत्र त्यागने के लिए कहना चाहिए। इससे उपर्युक्त स्वरूप का सन्देह भी दूर हो जाता है। बीमापरीक्षण में तो सामने किया हुआ मूत्र ही परीक्षणार्थ ग्रहण किया जाता है, दूसरा नहीं।

यदि घर से लाना हो तो बाहर निकलने से पहले मूत्रत्याग करके उसको ले आवें। संग्रहणार्थ पात्र स्वच्छ होना बहुत जरूरी है। मूत्र की राशि १० तोले से कम न लायी जाय। मूत्र का परीक्षण गुणात्मक (Qualitative) तथा द्रव्यमानात्मक (Quantitative) और संपूर्ण या विशिष्ट द्रव्यात्मक हो सकता है। अतः उसके अनुसार निम्न समयों पर उचित पद्धतियों से उसका संग्रहण किया जाय।

(१) *प्रातः कालीन मूत्र*—साधारणतया परीक्षण के लिए प्रातः उठने पर किया हुआ मूत्र ग्रहण किया जाता है। यह मूत्र गाढ़ा, और अम्ल रहने के कारण उसमें मूत्रविकृतिदर्शक संघटक अल्प मात्रा में ही क्यों न हो मिलने की अधिक संभावना रहती है। विशेष करके मूत्रण संस्थान की कोशाएँ तथा निर्मोक (Casts) अम्ल और गाढ़े मूत्र में अच्छी तरह परिरक्षित रहने के कारण उनके देखने के लिए प्रातः कालीन मूत्र ही सर्वोत्तम होता है। परन्तु शर्करामेह (Glycosuria) और

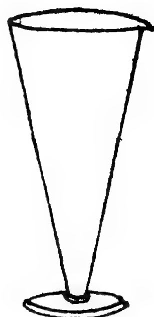
मूत्र परीक्षण के कुछ उपकरण



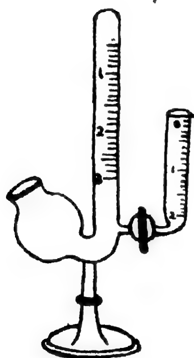
१



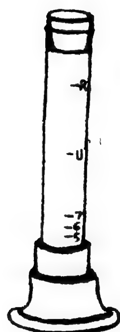
२



३



४



५

चित्र नं० ४

(१) मूत्रराशि मापक Measuring cylinder

(२) मूत्र गुरुता मापक Urinometer

(३) शङ्क्वाकार मूत्रकाचक Conical urine glass

(४) डोरेमस-हिण्डस मिहमापक Doremus-Hinds ureameter

(५) एस्बाक का शुक्लिमापक Esbach's albuminimeter

ऊर्ध्वस्थितिक शुक्लिमेह (Orthostatic albuminuria) से पीड़ित रोगियों में इस मूत्र में शर्करा और शुक्लि मिलने की आशा बहुत कम होती है। अतः इन रोगों का संदेह होने पर प्रातःकालीन मूत्र का परीक्षण न करना चाहिए।

(२) *भोजनोत्तर मूत्र*—भोज के उपरान्त डेढ़ से तीन घण्टे के बीच में किये हुए मूत्र के भीतर अस्वाभाविक तथा वैकृतिक द्रव्य मिलने की अधिक संभावना होती है। इसलिए परिपाटी के तौर पर अस्वाभाविक द्रव्यों के परीक्षणार्थ इसी समय के मूत्र को ग्रहण करना चाहिए। जब शुक्लि और निर्मोक देखने की आवश्यकता होती है तब भोजन में मांस जातीय द्रव्य अधिक रहें तथा जब शर्करा देखने की आवश्यकता होती है तब प्रांगोदीय (Carbo hydrate) तथा मिष्टान्न अधिक रहें। भोजन के पहले मूत्र त्याग करके मूत्राशय खाली करना चाहिए। यह भोजनोत्तर मूत्र दोपहर का तथा रात्रिका दोनों समय का हो सकता है।

(३) *चौबीस घण्टे का मूत्र*—इसका उपयोग दिन रात की मूत्र की कुल राशि मालूम करने के लिए तथा मूत्र का गुणात्मक तथा विशेषतया इयत्तात्मक परीक्षण करने के लिए किया जाता है। यद्यपि प्रत्यहं (Day by day) मूत्र का संघटन एक सा रहता है तथापि दिन भर में समय समय पर उसमें न्यूनाधिकता हुआ करती है। इसलिए २४ घण्टे के अच्छी तरह मिलाए हुए मूत्र की आवश्यकता परीक्षण के लिए होती है। इसके लिए प्रातः ८ बजे मूत्र करके उसको फेंक दिया जाता है। उसके पश्चात् २४ घण्टे तक जो मूत्र किया जाता है वह एक स्वच्छ पात्र में इकट्ठा किया जाता है। दूसरे दिन ८ बजे किया हुआ मूत्र इस २४ घण्टे के मूत्र में मिलाया जाता है। यदि ८ बजे मूत्र न होता हो तो सलाई से निकाला जाय। यह ८ घण्टे का मूत्र किसी ठण्डे स्थान में रक्खें। इस प्रकार २४ घण्टे में इकट्ठा हुआ मूत्र यदि कुल राशि मालूम करने की आवश्यकता हो तो प्रयोगशाला में ले जायँ और यदि केवल इयत्तात्मक परीक्षण करना हो तो सब मूत्र को अच्छी तरह मिलाकर उसमें से १५-२० तोले मूत्र परीक्षणार्थ ले लिया जाय।

(४) *दिन और रात्र का मूत्र*—इसकी आवश्यकता नक्तमेह (पृष्ट २०) मालूम करने के लिए तथा दिन-रात की मूत्र राशि का अनुपात

निकालने के लिए (पृष्ठ २०) होती है। इसमें दिन और रात का मूत्र पृथक् पृथक् पात्रों में इकट्ठा किया जाता है। रात्रि मूत्र का ग्रहण संध्या के भोजन के ३ घण्टे के उपरान्त होना चाहिए। इसलिए संध्याकाल ५ बजे भोजन सेवन किया जाय। फिर ८ बजे मूत्र त्याग करके रात भर का मूत्र एक पात्र में ग्रहण करें। फिर ८ बजे प्रातः मूत्र करके वह रात्रि के मूत्र में मिला दें और उस पात्र पर 'रात्रि का मूत्र' लिख दें। फिर दिन भर का मूत्र दूसरे पात्र में इकट्ठा करें और रात्र को ८ बजे मूत्र करके वह दिन भर के मूत्र में मिलादें और उस पर 'दिन का मूत्र' लिख दें।

(५) *शलाकाकृत मूत्र* (Catheterized urine)—परीक्षार्थ मूत्र ग्रहण करने से पहले मूत्र मार्ग द्वार को साबुन और पानी से भली भाँति धोना उचित होता है। सर्वसाधारण परीक्षण में इस सूचना पर ध्यान न.देने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु जहाँ पर मूत्रगत तृणाणवीय (Bacterial) और कोशिकीय (Cellular) द्रव्यों के परीक्षण का महत्व होता है वहाँ पर सलाई से मूत्र को निकाल कर उसको ग्रहण करना चाहिए। पुरुषों में प्रायः मूत्र द्वार, शिश्नमणि इत्यादि की ठीक स्वच्छता करने से काम हो जाता है, परन्तु स्त्रियों में मूत्र के योनिभगगत द्रव्यों के मिलने की बराबर संभावना रहने के कारण उनमें सलाई से ही मूत्र निकालना उचित होता है। मूत्र संवर्ध (Urine Culture) के लिए भी इसी प्रकार निर्जीवाणुक की हुई सलाई से निर्जीवाणुक पात्र में मूत्र ग्रहण करना चाहिए तथा उसमें कोई भी परिरक्षी द्रव्य (पृष्ठ ३७८) न छोड़ना चाहिए। क्षयदण्डाणु परीक्षणार्थ सलाई का उपयोग करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती।

(६) *द्वितीय पात्र मूत्र*—जब मूत्र में पूय होता है तब वह प्रारम्भ की अपेक्षा पीछे के मूत्र में अधिक रहता है। इसलिए मूत्र परीक्षण में जहाँ पर पूय का विशेषतया अल्प में पूय रहने का संदेह होता है वहाँ पर रोगी को पूर्वार्ध एक पात्र में और पश्चादर्ध दूसरे पात्र में ग्रहण करने के लिए और उस दूसरे पात्र का मूत्र परीक्षणार्थ ले आने के लिए कहना चाहिए। वैसे ही जब मूत्र संवर्ध की आवश्यकता होती है तब पुरुषों में मूत्र द्वार की सफाई करने के पश्चात् और पारदिक नीरेय (Mercuric

chloride) के घोल से धोने के पश्चात् इसी प्रकार दूसरे पात्र का मूत्र ग्रहण किया जाता है। उनमें सफाई की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(७) *विविध कालीन मूत्र*—इसमें दिन रात में विविध समय पर किया हुआ मूत्र प्रत्येक समय स्वतन्त्र पात्र में ग्रहण करके प्रत्येक का परीक्षण अलग अलग किया जाता है। इस प्रकार के मूत्र ग्रहण की आवश्यकता चक्रिक (Cyclic) ऊर्ध्व स्थितिक (Ortho static) या आसन जन्य (Postural) शुक्लिमेह में होती है, क्योंकि उसमें शुक्लि का उत्सर्ग बराबर न होकर किसी किसी समय पर हुआ करता है।

इस प्रकार आवश्यकतानुसार उचित पद्धतियों से मूत्र का ग्रहण करने पर मूत्र पात्र पर नाम, ग्रहण करने का समय, कोई विशेष सूचना हो तो उसका निर्देश इत्यादि सब बातों का उल्लेख करना चाहिए।

मूत्र संग्रहण की उपर्युक्त पद्धतियों में सर्व साधारण परीक्षण के लिए २४ घण्टे का मूत्र सर्वोत्तम होता है। यदि यह न हुआ तो प्रातःकालीन और सायंकालीन भोजनोत्तर मूत्रों का परीक्षण होना चाहिए। यदृच्छाया किसी एक समय पर किये हुए मूत्र के परीक्षण से धोखा हो सकता है।

मूत्र परिरक्षण (Preservation)—परीक्षणार्थ सद्योत्सृष्ट मूत्र ही उत्तम होता है। शीतकाल में अधिक से अधिक १२ घण्टे के भीतर और उष्ण काल में ६ घण्टे के भीतर परीक्षण होना जरूरी है। अन्यथा उसमें सड़ने का कार्य प्रारम्भ होता है। मूत्र अनेक जीवाणुओं के लिए बहुत अच्छावर्धनक (Culture media) होने से उनके द्वारा बहुत जल्दी विघटित (decompose) होता है। इससे उसकी स्वाभाविक अम्ल प्रतिक्रिया क्षारिय (Alkaline) हो जाती है, तद्गत मिह विघटित होकर उससे तिक्ताति (Ammonia) बनता है और उसका उग्र गन्ध आने लगता है, उसमें दानेदार (Granular) तथा स्फटिकाकार भास्वीयों (Phosphates) का तलछट बनता है और जीवाणुओं की संख्या वृद्धि होने से उसकी निर्मलता नष्ट होकर वह आविल (Hazy) हो जाता है। ऐसे विघटित मूत्र के परीक्षण से उसकी वास्तविकता की ठीक ठीक जानकारी नहीं हो सकती। अतः यदि मूत्र को अधिक काल तक रखना हो तो निम्न परिरक्षियों में से किसी एक का उपयोग करके उसको ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

मूत्र परिरक्षी (Preservatives)—मूत्र का विघटन जीवाणुओं के कारण होने से परिरक्षी जीवाणुवृद्धिविरोधक (Antiseptic) या जीवाणुनाशक (Disinfectant) होते हैं।

(१) शीत—अल्प काल तक रखने के लिए शीत स्थान या बर्फ सर्वोत्तम होता है। परन्तु अधिक काल तक रखना हो तो प्रशीतक (Refrigerator) का उपयोग किया जाय।

(२) टांकिक अम्ल (Boric acid)—१० तोले के पीछे ३ रत्ती की मात्रा में इसका उपयोग किया जाता है। इसमें दोष यह होता है कि इससे मिहिक अम्ल निस्सादित (Precipitate) होता है तथा मूत्र में किण्व (yeast) की वृद्धि नहीं रुकती।

(३) वभ्रसिव (Formalin)—इसका उपयोग ढाई तोले मूत्र के पीछे १ बूंद की मात्रा में किया जाता है। यह द्रव्य मूत्रगत कोशाएं निर्मोक इत्यादि सूक्ष्म द्रव्यों के परिरक्षणार्थ बहुत अच्छा है। इसमें दोष यह है कि यह द्रव्य निर्नीलिम्य (Indican) की ओबरमायर की कसौटी में बाधा डालता है, अधिक मात्रा में छोड़ने पर शर्करा और शुक्लि की प्रतिक्रियाएँ देता है और कुछ ऐसा निस्साद (Precipitate) उत्पन्न करता है जो मूत्र के सूक्ष्म परीक्षण में अड़चन उत्पन्न करता है।

(४) पर्णासीव (Thymol)—मूत्र परिरक्षण के लिए यह बहुत अच्छी चीज है। इसका एक छोटा सा स्फटिक मूत्र में छोड़ने पर वह ऊपर तैरता हुआ मूत्र को अनेक दिनों तक परिरक्षित करता है। इसमें दोष यह है कि जब इसका कुछ अंश मूत्र में घुल जाता है तब वह भूयिक अम्ल कसौटी में शुक्लि के समान प्रतिक्रिया देता है तथा शर्करा के इयत्तात्मक परीक्षण में बाधा डालता है।

(५) विरालेम्य (Toluene)—यह द्रव्य मूत्रगत रसायनिक द्रव्यों के विशेषतः शुक्ता (Acetone) और द्विशुक्तिक (Diacetic) अम्ल के परिरक्षणार्थ बहुत अच्छा द्रव्य है। इसको मूत्र में इतनी मात्रा में डाला जाय कि मूत्र पर उसकी एक अच्छी तह बन जाय। इसमें दोष यह ही है कि मूत्र पर इसकी पूरी तह बन जाने के कारण परीक्षणार्थ मूत्र को प्रत्येक समय नाडक (Pipette) से निकालना पड़ता है।

(६) नीरवम्ल (Chloroform)—यह बहुत अच्छा परिरक्षी नहीं है। इसमें दोष यह होता है कि फेलिंग के अभिकर्ता (Reagent) से शर्करा की झूठी प्रतिक्रिया मिलती है तथा मूत्र की तली में इसकी छोटी छोटी गुलिकायें (Globules) बैठ जाती है जो सूक्ष्म परीक्षा में बाधा डालती है।

(७) संकेन्द्रित यावनी जल (Aqua ptychotis Con)—इसका उपयोग प्रति ढाई तोले मूत्र के पीछे ५ बूँद की मात्रा में कर सकते हैं।

(८) कपूर (Camphor)—चूर्ण कपूर का एक छोटा सा ढेला मूत्र में छोड़ने से कुछ घण्टों तक उसका रक्षण हो जाता है।

(९) शुल्बारिक अम्ल (Sulphuric acid)—चूना तथा मूत्रगत निरिन्द्रिय (Inorganic) द्रव्यों के रक्षणार्थ यह बहुत अच्छा साधन है इससे मूत्र का तीव्र अम्लीकरण किया जाता है।

(१०) क्षारातु प्रांगारीय (Sodium Carbonate)—इसका उपयोग मुख्यतया मूत्रगत मूत्रपित्तिजन (Urobilinogen) की परिरक्षा के लिए किया जाता है। यह द्रव्य अच्छे क्षारिय मूत्र में और अंधेरे में रह सकता है। अतः यदि किसी रोगी में इसके मिलने की आशंका हो तो मूत्र करने से पहले मूत्र पात्र में आधा चमच यह द्रव्य रखकर मूत्र करने के पश्चात् वह पात्र अंधेरे में रक्खा जाय या रंगीन कागजों में लपेट कर उसको प्रयोगशाला में लिया जाय।

आदर्श परिरक्षी द्रव्य वह होता है जो मूत्र में तृणाणुओं (Bacteria) तथा फफुन्दियों (Moulds) की वृद्धि रोकते हुए उसके भौतिक, रसायनिक एवं सूक्ष्म परीक्षण में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालता। इस दृष्टि से शीत या प्रशीतक ही सर्वोत्तम परिरक्षी हैं। रसायनिक द्रव्यों में विरालेन्य (Toluene) प्रथम और वम्रस्वि (Formalin) दूसरे क्रम में आता है। नीरवम्ल (Chloroform) सब से घटिया है और शेष द्रव्य मध्य में होते हैं। इस प्रकार आवश्यकतानुसार यथोचित पद्धति से मूत्र का संग्रहण करने पर उसका परीक्षण निम्न तीन पद्धतियों से किया जाता है।

भौतिक परीक्षण

(Physical examination)

इसमें मूत्र के निम्न सर्व सामान्य लक्षणों (General characteristics) का विचार होता है।

(अ) राशि (Quantity)—परीक्षणार्थ आये हुए मूत्र की राशि मूत्र वृत्तान्त (Report) के लिए मापी जाती है, अन्यथा उसका कोई महत्त्व नहीं है । २४ घण्टे के दिन के १२ घण्टे के या रात के १२ घण्टे के मूत्र की राशि का मूत्र परीक्षण में महत्त्व होता है। एक प्रौढ़ व्यक्ति में दिन रात की मूत्र की राशि डेढ़ सेर या १५०० घ. शि. मा. के लगभग होती है। यह राशि एक ओर अन्न और द्रव के सेवन पर तथा दूसरी ओर त्वचा, फुफ्फुस और आन्त्र के द्वारा उत्सर्गित जलांश पर निर्भर होती है। ठोस खाद्य द्रव्यों से ३३-५० प्र० श० शरीर को जलांश प्राप्त होता है और शरीर से जो जलांश उत्सर्गित होता है उसका ५०-६५ प्र० श० तक औसत ७५ प्र० श० जलांश केवल वृक्कों द्वारा अर्थात् मूत्र में निकलता है। त्वचा और वृक्क का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होता है। जब त्वचा से स्वेद द्वारा बहुत अधिक जलांश उत्सर्गित होता है उस समय मूत्र की राशि बहुत कम होती है। मूत्र की राशि शरीर भार के अनुसार न्यूनाधिक होती है। इसलिए पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में उसकी राशि कम रहती है। परन्तु बच्चों में शरीर भार की दृष्टि से वह लगभग चौगुनी अधिक रहती है। जन्म के पश्चात् एक दो दिन मूत्र की राशि २०-५० घ० शि० मा रह कर पाँच से दस दिन में वह १५०-२५० तक हो जाती है। एक वर्ष के बालक में उसकी राशि २००-४०० घ० शि० मा० रहती है। दस से पंद्रह वर्ष की आयु में यह मात्रा प्रौढ़ (Adult) व्यक्ति के बराबर हो जाती है। रात्रि के समय शरीर के सब अन्तर्बाह्य व्यवहार बहुत मन्द होने के कारण रात्रि मूत्र की राशि बहुत कम अर्थात् दिन मूत्र की तिहाई या चौथाई होती है। वृक्क विकारों में दिन रात्रि मूत्र राशि का यह अनुपात बदलने लगता है और वृक्क विकार का यह बहुत प्रारम्भिक चिन्ह होता है। बच्चों में यह दिन रात्रि मूत्र राशि का अनुपात अस्थिर होने के कारण उस पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता।

(आ) रंग (Colour)—मूत्र में कुछ रंग होता है जो तद्गत रागकों (Pigments) की उपस्थिति पर निर्भर होता है। इनमें मूत्रवर्ण (urochrome) प्रधान है और अधिक मात्रा में रहता है। यह रागक पीला होने के कारण मूत्र का रंग प्रायः पीला होता है। मूत्र के साथ शरीर के बाहर आने के पश्चात् प्रकाश और प्राण वायु से सम्बन्धित होने पर कुछ घण्टों में मूत्रपित्त में परिवर्तित होता है। मूत्र का

दूसरा रागक मूत्रपित्ति (Urobilin) है। मूत्र में इसकी मात्रा बहुत कम रहती है, परन्तु इसको उत्पन्न करनेवाला मूत्रपित्तिजन (Urobilinogen) नामक वर्णांजन (Chromogen) अधिक मात्रा में होता है। मूत्रपित्तिजन आभ्यन्तरजात समवर्त का फल है, बहुधा पेशियों से उत्पन्न होता है और आहार से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण निश्चित मात्रा में उत्सर्गित होता है। मूत्र का रंग भूरा (Brown) होता है। कुछ रोगों में इसकी मात्रा बढ़ती है। तीसरा रागक मूत्ररुधिरि (Uroerythrin) होता है। इसका रंग गुलाबी (Pink) होता है और मिहिक अम्ल तथा मेहीय (Urate) के तलछट को (Deposit) इसका रंग रहता है। इसकी उत्पत्ति का ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। चौथा रागक शोणित पट्टरक्ति (Hemato porphyrin) है। यह रागक रक्त की शोणवर्तुलि (Haemoglobin) से बनता है। इसका रंग लाल है। कुछ विकारों में इसकी मात्रा बढ़ती है। परन्तु स्वस्थावस्था में यह बहुत ही अल्पमात्रा में मूत्र में रहता है। मूत्र का रंग उसके गहरापन, राशि, गुरुता, संकेन्द्रण और प्रतिक्रिया के अनुसार बदलता है। क्षारिय, नीच गुरुतायुक्त और अल्प संकेन्द्रित मूत्र का रंग कम गहरा और इसके विपरीत अर्थात् अम्ल प्रतिक्रिया का, उच्च गुरुता का अधिक संकेन्द्रित मूत्र अधिक गहरे रंग का होता है। संकेन्द्रण के अनुसार स्वस्थ मूत्र में निम्न प्रकार के रंग दिखाई दे सकते हैं।

१ जलवत् (Watery)
२ हलका पीला (Pale yellow)
३ तृणवत् (Straw coloured)
४ पीला (Yellow)
५ लाली लिए पीला (Reddish yellow)
६ पीलापन लिए लाल (Yellowish red)
७ लाल (Red)
८ भूरापन लिए लाल(Brownishred)
९ लाली लिए भूरा (Reddish brown)
१० भूरापन लिए काला (Brownish black)

मूत्र का स्वाभाविक रंग जैसे नित्यशः उपस्थित रहनेवाले उपर्युक्त रागकों के कारण होता है वैसे कभी कभी कुछ खाद्य द्रव्यों के कारण भी होता है जिनमें गाजर और चुकन्दर (Beet) (Carrots) निर्देश करने

योग्य है। मूत्र का अस्वाभाविक रंग मूत्र में रक्त, पित्त, पूय, पायस (Chyle) तथा विविध औषधियों और रसायनों के उत्सर्जित होने से होता है।

नीचे नित्यशः मिलने वाले मूत्र के मुख्य मुख्य रंगों के स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक कारण दिये जाते हैं।

(१) जलवत,हलका पीला या हलका हरा—बहुमूत्रमेह,उदकमेह,मधुमेह, चिरकालीन वृक्कशोथ, हरिद्रोग (Chlorosis) अपतन्त्रक, अपस्मार।

(२) पीला—संकेन्द्रित या गाढ़ा मूत्र, पित्त, गाजर, रेवाचीनी (Rubarb) सनाय (Senna) और अजवाइन सत् (Santonine) यदि मूत्र प्रतिक्रिया अम्ल हो।

(३) हरा (Green)—स्वाभाविक रागकों की अधिकता और मूत्र गाढ़ा होने पर। निनीलिन्य (Indican) की मात्रा अधिक होने पर तथा कुछ काल मूत्र रहने पर। पित्त। प्रोद्दलेन्य नील (Methylene blue)।

(४) लाल—स्वाभाविक मूत्ररुधिरि (Uroerythrin) की मात्रा अधिक रहने पर। रक्तकण, शोणवर्तुलि (Haemoglobin) चुकन्दर का सेवन। औषधियों में Pyramidon, Antipyrin, Mercury oxy cyanide। मूत्र क्षारिय होने पर Phenol sulphonephthalein, Chrysarobin, Senna, Rubarb, cascara, Santonine ऊपर (२) देखिये।

(५) काला(Black)—स्वाभाविक रागकों की तथा निनीलिन्य की अधिकता। रक्त, मलिमसि(Melanin) दर्शव (Phenol) के योग, क्षारासितद्रव्य (Alkapton bodies)।

(६) दुधिया (Milky)—स्वाभाविक भास्वीय (Phosphates) का निस्सादनाम्र स्वाभाविक में पूय (Pus) पायोलस (Chyle) कूटपयोलस अष्ठीलास्राव शुक्र इत्यादि या प्रत्यक्ष दूध की मिलावट।

(इ) पारदर्शकता—(Transparency) प्राकृतावस्था में सद्योत्सृष्ट मूत्र निरभ्र और पारदर्शक होता है। कुछ काल पात्र में रहने पर श्लेष्मा (Mucus) श्वेतकायाणु (Leucocytes) और अधिच्छदीय

(Epithelial) कोशाओं का फीका सा अभ्र (Cloud) नीचे तलों में बैठ जाता है। स्त्रियों में योनी से ये द्रव्य अधिक आने के कारण यह अभ्र अधिक मोटा होता है। यदि मूत्र की गुरूता अधिक हो तो यह अभ्र मूत्र के बीच में लटका हुआ रहता है।

मूत्र की अत्यधिक साभ्रता (Cloudiness, Haziness) भास्वीय (Phosphates) मेहीय (Urates), पूय, तृणाणु (Bacteria) और चरबी इनके कारण उत्पन्न होती है। अधिच्छदीय कोशाएँ और नलिका निर्मोक (Tube casts) इतनी अधिक संख्या में नहीं होते कि वे साभ्रता पैदा कर सकें, परन्तु अन्य द्रव्यों से उत्पन्न हुई साभ्रता को बढ़ाते हैं। शुक्लि (Albumin) से मूत्र में साभ्रता उत्पन्न नहीं होती। परन्तु यदि उसको हिलाया जाय तो वह मूत्र में काफी सफेद झाग उत्पन्न करता है।

मेहीय की साभ्रता अम्ल मूत्र में उत्पन्न होती है और मूत्र गरम करने पर नष्ट होती है। भास्वीय की साभ्रता क्षारिय मूत्र में होकर मन्द शुक्तिक अम्ल (Acetic acid) डालने पर नष्ट होती है। पूय की साभ्रता भास्वीय के समान ही होती है परन्तु उसका पता सूक्ष्मपरीक्षण से होता है। इन तीनों के द्वारा उत्पन्न हुई साभ्रता निस्यन्दन (Filter) करने पर दूर हो जाती है। तृणाणुजन्यसाभ्रता संपूर्ण मूत्र में एकसी होती है और निस्यन्दन से दूर नहीं होती। इसका पता सूक्ष्मदर्शक से लग जाता है। चरबी में मुख्य द्रव्य पायस (Chyle) होता है। इससे मूत्र का रंग दुधिया होता है। इसकी साभ्रता दक्षु (Ether) से बहुत कुछ दूर होती है।

अधिक काल रखने पर मूत्र में जो साभ्रता उत्पन्न होती है वह विघटन के कारण निस्सादित भास्वीयों से तथा तृणाणुओं की संख्यावृद्धि से होती है।

(ई) गंध-(Odor) सद्योत्सृष्ट मूत्र में एक हलकी मीठी मीठी महक रहती है जो गाढ़े मूत्र में विशेषतया प्रतीत होती है। विघटन होने पर तिक्ताति (Ammonia) उत्पन्न होने से उसको उग्र गन्ध आने लगता है, मूत्र का परिचय मुख्यतया इसी गंध से होता है, परन्तु मूत्र का यह वास्तविक गंध नहीं होता। मधुमेही में जब मूत्र में शुक्ता (Acetone) का उत्सर्ग होने लगता है तब उसका सुगन्ध आने लगता है। मूत्र में जब बिषाणि(Cystin)

होती है तब ऐसे मूत्र के सड़ने से उदजन शुल्वेय (H 2 S) का दुर्गन्ध आने लगता है। मूत्र के कुछ गन्ध सेवन किये हुए आहार्य और औषधि द्रव्यों के उत्सर्जन के कारण होते हैं। उनमें शतावरी (Aspargus), लशुन, चन्दन तैल, तार्पिन तैल, कोपेबा इत्यादि द्रव्य महत्त्व के हैं।

(उ) **प्रतिक्रिया** (Reaction)—२४ घण्टे के मिश्रित मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। वैसे प्रासंगिक मूत्रों की प्रतिक्रिया अम्ल, क्षारिय निष्प्रतिक्रिय (Neutral) या उभय प्रतिक्रिय (Amphoteric) हो सकती है। इस अम्लता का उदजनायन संकेन्द्रण (pH) ४·७–७·५ और औसत ६ होता है। यह अम्लता मूत्रगत सेन्द्रिय (Organic) अम्ल और भास्वीयों (Acid phosphates) इसके कारण होती है। मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल इसलिए रहती है कि सामान्य आहार में वृक्कों द्वारा उत्सर्गित होनेवाले द्रव्यों में अम्ल द्रव्य अधिक रहते हैं और शाकाहार की अपेक्षा मांसाहार में यह बात अधिक होने के कारण मांसाहारियों का मूत्र शाकाहारियों की अपेक्षा अधिक अम्ल प्रतिक्रिय होती है। प्रतिक्रिया शेवल पत्र (Litmus paper) से देखी जाती है। क्षार प्रतिक्रिया में लाल पत्र नीला होता है और अम्ल प्रतिक्रिया में नीला पत्र लाल हो जाता है और नीलापन या लाली के अनुसार अम्लता या क्षारियता की न्यूनाधिकता का अनुमान किया जाता है। अर्थात् इस काम के लिए प्रयुक्त शेवल पत्र विश्वसनीय होना चाहिए। साधारणतया मूत्र की अम्लता उसके संकेन्द्रण के अनुसार बदलती है और संकेन्द्रण रंग और गुरुता के अनुसार बदलता है। उभयविध प्रतिक्रिया में लाल पत्र नीला और नीला लाल हो जाता है और उभय प्रतिक्रियता मूत्र में क्षारिय भास्वीय (Na_2HPO_4) और अम्ल भास्वीय (NaH_2PO_4) दोनों रहने के कारण होती है।

भोजन के पश्चात् जठर में उदनीरिक (HCl) अम्ल का उत्सर्ग होने के कारण रक्त की क्षारियता बढ़ती है और इसको रक्त की क्षारिय बाढ़ (Alkaline tide) कहते हैं जिससे उस एक दो घण्टे में जो मूत्र बनता है वह क्षारिय रहता है। जो लोग जाठरिक अत्यम्लता (Hyperacidity) (जैसे अम्लपित्त) से पीड़ित होते हैं उनमें भोजन के उपरान्त मिलनेवाली मूत्र की क्षारियता अधिक रहती है और इसके विपरीत जो अल्पाम्लता (Hypoacidity) या अनम्लता से पीड़ित होते हैं (जैसे वैनाशिक

रक्तक्षय Pernicious anaemia) उनके भोजन के उपरान्त के मूत्र में क्षारियता न होकर अम्लता रहती है।

मूत्र की क्षारियता—उत्सर्ग होने के पश्चात् अधिक काल रहने पर मूत्र तद्गत मिह के विघटन से उत्पन्न हुए तिक्तांति (Ammonia) के कारण क्षारिय हो जाता है। जब जीर्ण बस्तिशोथ में तथा बस्तिघात या मूत्रमार्गावरोध में यह विघटन का कार्य मूत्राशय में ही प्रारम्भ होता है तब उत्सर्ग के समय ही मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारिय रहती है। तिक्तांति के कारण जो क्षारियता होती है उसको उत्पन (अर्थात् उड़नेवाली) क्षारियता (Volatile alkalinity) कहते हैं, क्योंकि ऐसे मूत्र से नीला हुआ शेवल पत्र गरम करने पर तिक्तांति उड़ जाने से आप से आप लाल हो जाता है। यह क्षारियता मूत्र बनने के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण रक्त के अम्लोत्कर्ष (Acidosis) से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। मूत्र की दूसरे प्रकार की क्षारियता होती है जिसको स्थिर क्षारियता (Fixed alkalinity) कहते हैं। यह क्षारियता वृक्कों द्वारा रक्तगत क्षारिय लवण उत्सर्गित होने के कारण अर्थात् मूत्र में क्षारिय लवण विद्यमान रहने के कारण होती है और अनुबद्ध (Persistant) वमन के समय, अनेक पाण्डुरोगों में, भोजन के उपरान्त (३८४ पृष्ठ क्षारिय बाढ देखो, फलों के अत्यधिक सेवन से, वानस्पतिक अम्लों के लवणों के (जैसे Citrates) सेवन से, फुफ्फुसपाक (Pneumonia) के दारुणज्वर मोक्ष के पश्चात् पाया जाता है।

अम्लोत्कर्ष की मूत्रक्षारियता कसौटी (Sellard's bicarbonate test)—स्वस्थ मनुष्य में मूत्र को क्षारिय बनाने के लिए ३–५ धान्य (३–५ माशा) क्षारातु अर्ध प्रांगारीय (खाने का सोडा) पर्याप्त होता है। अम्लोत्कर्ष की स्थिति में, जब कि रक्त की क्षारसंचिति (Alkaline reserve) नष्ट हो जाती है, मूत्र को क्षारिय बनाने के लिए बहुत अधिक क्षार देने की आवश्यकता होती है और उसकी मात्रा के अनुसार अम्लोत्कर्ष की न्यूनाधिकता का अनुमान हो जाता है। इसमें रोगी को प्रति दो या तीन घण्टे पर एक छटाँक पानी में ५ माशा खाने का क्षार (सोडा) मिलाकर दिया जाता है और प्रत्येक खोराक के समय मूत्र कराके इसकी प्रतिक्रिया देखी जाती है। प्रतिक्रिया देखने से पहले उत्पत क्षारियता को दूर करने के लिए मूत्र को अच्छी तरह उबालना चाहिए। मूत्र को क्षारिय करने के लिए

२०-३० धान्य की आवश्यकता मध्यम स्वरूप के अम्लोत्कर्ष की निदर्शक होती है जिसके कोई लक्षण नहीं होते। ४०-५० धान्य की आवश्यकता अधिक अम्लोत्कर्ष की निदर्शक होती जिसमें केवल परिश्रम करने पर श्वासकृच्छ्र रहता है। ७५-१०० धान्य की आवश्यकता चिन्ताजनक स्थिति की निदर्शक होती है। कभी कभी यह आवश्यकता १५० धान्य तक पहुँचती है।

अम्लता की अधिकता—मूत्र की अम्लता उसके अधिक संकेन्द्रित स्थिति में, ज्वरों में, मधुमेह में, जीर्ण अन्तरालीय (Inter stitial) वृक्कशोथ में, आहार में प्रोभूजिन अधिक रहने पर, अनशन के काल में, अम्लोत्कर्ष की स्थिति में तथा खनिज अम्ल, नोशादर (NH_4Cl) :अम्ल क्षारातु भास्वीय (Acid sodium phosphate) टांकिक अम्ल इत्यादि औषधियों में बढ़ती है। अम्ल मूत्र प्रकोपक (Irritating)रहने से मूत्र त्यागने की वारंवारता बढ़ती है और बच्चों में उसका परिणाम शय्यामूत्र (Enuresis) में हो जाता है। मूत्र के भौतिक परीक्षण में यद्यपि परिपाटी के तौर पर प्रतिक्रिया देखी जाती है तथापि उसके न देखने से भी परीक्षण में कोई विशेष वैगुण्य नहीं आता। परन्तु कभी कभी कुछ रोगों की आहार चिकित्सा में और कुछ औषधियों द्वारा चिकित्सा करने में उसका ज्ञान और वह भी यदि हो सके तो उदजनायन संकेंद्रण (p H) में अधिक सफलता मिलने की दृष्टि से तथा औषधियों के उपद्रव टालने की दृष्टि से बहुत ही आवश्यक होता है। जैसे शौक्ताजनक (Ketogenic) आहार चिकित्सा में, मूत्र मार्ग के उपसर्गों की औषधि चिकित्सा में, अपस्मार में मूत्र की प्रतिक्रिया का अम्ल (५ pH के आस पास) रहना और शुल्बौषधियों द्वारा (विशेषतया Sulpha thiazole, Sulpha diazine, Sulphamera zine) चिकित्सा करते समय मूत्र का क्षारिय (७ p H से ऊपर) रहना हितकर होता है।

(ऊ) विशिष्ट गुरुता (Sp gravity)—इसको नापने के लिए मूत्र मापक (Urinometer पृष्ठ ३७८) यन्त्र की आवश्यकता होती है। इसके ऊपर के डण्डे के ऊपर १००० से १०६० या इससे कुछ अधिक तक अंक लिखे हुए रहते हैं। काचक (glass) या चौड़ी नलिका में मूत्र

मत्र की

(Hypoac

उसमें यह यन्त्र रक्खा जाता है। गुरुता नापने से पहले यह देखना है कि यन्त्र मूत्र पात्र में स्वतन्त्रता से तैरता रहे और नीचे तली में

या चारों ओर किनारे पर कहीं न चिपके। वैसे ही यन्त्र के डण्डे के पास पृष्ठ भाग पर झाग या मूत्र के बबूले न लगे हों। यदि हो तो उनको सोक्ते से या नाइफ से निकाल दे। मूत्र का ऊपर का तल निम्न मध्य (Concave) होता है। अतः तल की निम्नता के बराबर मूत्रमापक पर जो अंक आता है उसको आँखों के सामने रख कर देखा जाता है।

अल्प मूत्र की गुरुता निकालने की पद्धतियां—

(१) जब मूत्र की मात्रा मूत्र मापक तैरने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होती है तब पानी डालकर उसको दुगुना, तिगुना या चौगुना पतला करके उपर्युक्त पद्धति से देखा जाता है और जो गुरुता मिलती है उसमे दाहिनी ओर के दो अंकों को जितना पानी मिलाया गया है उसके अनुसार द्विगुणित, त्रिगुणित या चतुर्गुणित करके मूत्र की वास्तविक गुरुता निकाली जाती है। जैसे, मान लीजियेगा कि द्विगुणित मिश्र मूत्र की गुरुता १०१२ है तो वास्तविक गुरुता १०२४ होगी।

(२) जब मूत्र की मात्रा बहुत ही कम (३ घ. शि. मा. के करीब) होती है तब स्याक्से के मूत्रघनत्वमापक (Urinopyknometer) से गुरुता निकाली जाती है। इस यन्त्र की तली में एक छोटी सी कुप्पी होती है जिसमें मूत्र भर के डाट लगाया जाता है और पश्चात यह यन्त्र तिर्यक् पातित (Distilled) पानी में छोड़कर गुरुता निकाली जाती है।

(३) जब मूत्र की राशि कुछ बूँदों में होती है, जैसे शलाका द्वारा गवीनी से प्राप्त (Ureteral catheterization) मूत्र, तब इस पद्धति का उपयोग किया जाता है। इसका उपयोग रक्त की गुरुता मालूम करने के लिए भी किया जाता है। इसमें दो द्रव जो गुरुता में एक दूसरे से बहुत अन्तर रखते हैं, परन्तु जो आपस में बहुत अच्छी तरह मिल जाते हैं और परीक्ष्य द्रव से नहीं मिलते (जैसे Benzol and chloroform), एक कांच के बेलन में मिलाये जाते हैं। उसके पश्चात् परीक्ष्य द्रव का एक बूँद उसमें छोड़ा जाता है और उन दो द्रव्यों के मिश्रण की गुरुता एक दूसरे की न्यूनाधिक मात्रा से इस प्रकार व्यवस्थापित की जाती है कि परीक्ष्य द्रव का बूँद मिश्रण के ठीक मध्य में लटका रहे। परीक्ष्य द्रव और मिश्रण की गुरुता एक होने पर ही यह स्थिति होती है। उसके पश्चात्

सूक्ष्म द्रवमापक (Hydrometer) से उस मिश्रण की गुरुता मालूम की जाती है।

गुरुता के संस्कार—(१) ताप के लिए संस्कार—मूत्रमापक विशिष्ट ताप पर ठीक गुरुता बतानेवाला होता है जो ताप उसके ऊपर लिखा रहता है। इसका अर्थ यह होता है कि मूत्रमापक पर लिखे हुए ताप का मूत्र होने से तद् द्वारा प्रदर्शित गुरुता ठीक होती है। यदि परीक्ष्य मूत्र का ताप भिन्न हो तो प्रत्येक ३ शतिक (C.) अंश के पीछे ताप अधिक होने पर गुरुता के अन्तिम अंक में १ मिलाया जाय तथा कम होने पर १ कम कर दिया जाय। साधारणतया ताप वृद्धि का परिणाम गुरुता पर जितना होता है उतना ताप ह्रास का नहीं होता। (६) इसलिए जहाँ पर सूक्ष्म गुरुता की (जैसे संकेन्द्रण कसौटी पृष्ठ१७) आवश्यकता होती है वहाँ पर गुरुता मापन के साथ मूत्र का ताप भी देखना चाहिये और यदि आवश्यक हो तो उपर्युक्त नियमानुसार उसको ठीक भी कर लेना चाहिए।

शुक्लि के लिए संस्कार—मूत्र में शुक्लि उपस्थित रहने से उसकी गुरुता बढ़ती है। अतः यदि गुणात्मक (Qualitative) परीक्षण में उसका पता लग जाय तो उसका प्रतिशत प्रमाण निकालकर तदनुसार १ प्र०श० शुक्लि के पीछे गुरुता के अन्तिम अंक में ३ मिला देने चाहिए।

(३) तलछट के लिए संस्कार—मूत्र में जब थोड़ा या मध्यम अवसाद (Sediment) होता है तब गुरुता पर उसका कोई विशेष असर नहीं होता। परन्तु जब अधिक होता है तब गुरुता के अन्तिम अंक में २ मिला देने चाहिए। इसका अर्थ यह है कि अवसाद बैठने के पश्चात् ली हुई गुरुता से मूत्र को अच्छी तरह हिला कर अवसाद उसके साथ अच्छी तरह मिलाने के पश्चात् ली हुई गुरुता ·००२ से अधिक होती है।

साधारणतया स्वस्थ व्यक्ति के किसी एक समय के मूत्र की गुरुता १००३ से १०३० (तियक् पातितपानी की १०००) हो सकती है, और २४ घण्टे के मूत्र की औसत भारतियों में १०११-१०१५, यूरोपियनों में १०१५-१०२५ और सबके लिए औसत १०१७-१०२० होती है। गुरुता प्रायः मूत्र रंग के सम प्रमाण में (Directly) और राशि के व्यस्त प्रमाण में (Inversely) रहती है। प्रातः जगने के पश्चात् जो मूत्र निकलता

है वह राशि में कम रंग में गहरा और गुरुता में अधिक होता है। उसके पश्चात् प्रातःकाल में होने वाला मूत्र शीत के कारण रंग में हलका, राशि में अधिक और गुरुता में कम होता है। अपराह्न में होने वाला मूत्र ताप के कारण मात्रा में कम रंग में गहरा और गुरुता में अधिक होता है। स्वस्थ मूत्र में हल्का रंग और भारी गुरुता एक दूसरे के विरोधी होती हैं। परन्तु मधुमेह जैसी विकृति में ये विरोधी बातें साथ साथ मिलती हैं। वैसे ही गहरा रंग और अल्प गुरुता स्वस्थ व्यक्ति में एक दूसरे के विरोधी होते हैं। परन्तु मिह और नोरेयों (urea,chlorides) की कमी के और मूत्र रागक (Pigments) की अधिकता होने वाले विकारों में ये विरोधी बातें साथ साथ पायी जाती हैं।

अल्प गुरुता के विकार—मूत्र विकारों में गुरुता की न्यूनाधिक मर्यादा १००१ से १०६० या उससे भी अधिक हो जाती है। (१) उदक मेह (Diabetes insipidus) (२) जीर्ण अन्तरालीय वृक्कशोथ (Chronic interstitial nephritis) (३) मूत्रविषमयता पूर्व (Preuremic) स्थिति—वृक्कशोथ से पीड़ित रोगी में मूत्र की राशि न बढ़ते हुए गुरुता का अकस्मात् घट जाना मूत्रविषमयता का पूर्व सूचक होता है। (४) दुस्स्वास्थ्य (Cachexia), शरीर समवर्त मन्द (Poor metabolism) होने के कारण। (५) तीव्र वृक्कशोथ और ज्वरों की संन्निवृत्ति (Con valescence) (६) दक्षु संमोहन (Ether aneasthesia) (७) अपतन्त्रक के (Hysteria) आवेगोत्तर स्थिति, (८) मद्य सेवन करने पर।

अधिक गुरुता के विकार—(१) मधुमेह—इस रोग में मूत्र की गुरुता जितनी अधिक हो सकती है तथा रहती है उतनी दूसरे किसी भी विकार में नहीं रह सकती। रंग गहरा न होते हुए या राशि बहुत अधिक होते हुए गुरुता अधिक रहने पर सर्व प्रथम इस रोग का ख्याल करना चाहिए। इसके साथ साथ गुरुता १००५ से कम होते हुए भी यह रोग हो सकता है इसको न भूलना चाहिए। (२) तीव्र तथा जीर्ण अन्तःसार गत वृक्कशोथ (३) तीव्र ज्वरों के दारुण मोक्ष (Crisis)(४) प्रवाहिका, वमन और स्वेद की अधिकता। (५) गरिष्ठ और पौष्टिक अन्न सेवन, (६) नमक और मिह की अधिकता।

(५) ठोस द्रव्यों का योग (Total solids)—मूत्र गत ठोस द्रव्यों का योग, आयु, भार, व्यायाम, अन्न मात्रा और प्रकार, समवस्त की सक्रियता तथा वृक्क की कार्यक्षमता पर निर्भर होता है। आहारादि इन बातों में समता रखने से मूत्रगत ठोस द्रव्यों का योग वृक्क कार्यक्षमता के सम्बन्ध में कुछ भीतरी बात बता सकता है। ७५ सेर भार के एक स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र द्वारा २४ घण्टे में ६० धान्य या ४७५ रत्ती (६५० ग्रेन) ठोस द्रव्य उत्सर्गित होते हैं। ४५ वर्ष की अवस्था के पश्चात् इनकी मात्रा कम होने लगती है और ७५ वर्ष के पश्चात् इनका उत्सर्ग केवल आधी मात्रा में ही हुआ करता है।

ठोस योग निकालने की पद्धतियां—मूत्र की गुरुता तद्गत ठोस द्रव्यों की राशि पर निर्भर होने के कारण अनेकों ने गुरुता के आधार पर ठोस योग निकालने के लिए अनेक सूत्र (Formula) बनाये हैं। ये ठोस अनेक प्रकार के, अनेक गुरुता के और विभिन्न मात्रा में मूत्र में रहने के कारण उनकी उपस्थिति से मूत्र की जो गुरुता बनती है उसके आधार पर प्राप्त कुल ठोस की राशि केवल आसन्न (Approximate) होती है और यह बात नीचे दिए हुए विविध सूत्रों से प्राप्त राशि के अन्तर से स्पष्ट हो जाती है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि ये सूत्र उस अवस्था में उपयोगी होते हैं जब कि मूत्र में शर्करा, शुक्लि इत्यादि अस्वाभाविक घटक नहीं होते।

(१) प्रस्थ और धान्य में—चौबीस घण्टे के मूत्र की गुरुता के अन्तिम दो अंकों को २·६ (Longes coeefficient) या २·३३ (Hoeser's coefficient) से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है वह एक प्रस्थ (Litre) में मिलनेवाले ठोस की कुल राशि को धान्य (Grams) में प्रदर्शित करता है। जैसे यदि मूत्र की गुरुता १०२० रही तो उसके एक प्रस्थ में ४६·६ से ५२ धान्य कुल ठोस हो सकते हैं। इससे दिन रात के मूत्र के ठोस निकाले जा सकते हैं।

(२) औंस और ग्रेन में—चौबीस घण्टे के मूत्र की गुरुता के अन्तिम दो अंक (Bird's formula) या दो अंक और उनका दसवाँ अंश मूत्र के प्रति औंस में ठोस की मात्रा ग्रेन में प्रदर्शित करते हैं। जैसे यदि २४ घण्टे के मूत्र की गुरुता १०२० रही तो उस मूत्र के एक औंस (ढाई तोले) में

२० या २२ ग्रेन (१०-११ रत्ती) ठोस द्रव्य होते हैं। इसके आधार पर २४ घण्टे के मूत्र की राशि में होनेवाले ठोस की कुलराशि निकाली जा सकती है। जैसे यदि दिन रात की मूत्र की राशि ५० औंस रही तो कुल ठोस १००० से ११०० ग्रेन होते हैं।

(ऐ) *तलछट या अवसाद* (Deposit या sediment)—मूत्र जब कुछ काल तक अविक्षुब्ध स्थिति में रक्खा जाता है तब उसकी तली में जो दृश्य रूप में बैठ जाता है उसको तलछट या अवसाद कहते हैं। मूत्र रखने का काचक शंखाकार (Conical) रहने से जरा सा भी तलछट हो तो उसका पता लग जाता है और उसके ग्रहण में आसानी होती है। इसलिए मूत्र के काचक हमेशा शंखाकार होते हैं। स्वस्थ मूत्र में प्रायः कोई तलछट नहीं बनता, परन्तु जब मूत्र काफी गाढ़ा या संकेन्द्रित रहता है तब उसमें कुछ मेहीय (Urates) नीचे बैठ जाते हैं। अस्वस्थ मूत्र में प्रायः तलछट बनता है जिसकी मात्रा जरासी से लेकर अत्यधिक हो सकती है। तलछट में मूत्र के स्वाभाविक सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय (Organic and inorganic) संघटक, पूय, तृणाणु (Bacteria), कृमि के अण्डे या भ्रूण, निर्मोक (Casts), अधिच्छदीय (Epithelial) कोशाएं, लालकण, सूत्र इत्यादि वैकारिक और कुछ बाह्य या असंगत (Extreneous) द्रव्य रहते हैं। तलछट में मिलने वाले विविध द्रव्यों का परीक्षण मुख्यतया सूक्ष्मदर्शक के द्वारा किया जाता है। और इसके लिए केन्द्रापसारित्र (Centrifuge) से संकेन्द्रित किया हुआ मूत्र ग्रहण किया जाता है। तलछट के परीक्षण का विशेष विवरण आगे सूक्ष्म परीक्षण में किया गया है। यहाँ पर उनका स्थूल विवरण दिया जाता है।

(१) *सफेद अवसाद*—यह अवसाद मुख्यतया भास्वीय और पूय से बनता है। इसकी राशि अत्यल्प भी हो सकती है तथा अत्यधिक भी हो सकती है। मूत्र में बहुत अधिक राशि में तलछट बनाने वाले दूसरे द्रव्य नहीं होते। कभी कभी ये दोनों द्रव्य साथ साथ होते हैं और कभी कभी अलग अलग भी मिलते हैं। पूय का तलछट अधिक संघनित (Compact) होने से मूत्र पात्र हिलाने पर वह न टूटता है, न मूत्र में मिलकर तैरता हुआ दिखाई देता है। भास्वीय का तलछट उतना संघनित न होकर ऊनी (ऊर्णीमय Flocculent) होने से मूत्र पात्र हिलाने पर

जल्दी टूटता है और मूत्र में मिलकर तैरता हुआ दिखाई देता है। भास्वीय के लवकृट में शुक्तिक अम्ल डालने पर वह घुल जाता है, परन्तु पूय का नहीं घुलता। पूयमें दहातु विलयन (Liquor Potash) डालने से वह गाढ़े गोंद या सिनक (Ropy or gelatinous) के समान हो जाता है।

(२) सुर्ख अवसाद—ईंटों की सुर्खी (Brickdust) के समान यह अवसाद मिहिक अम्ल और मेहीय (Urates) के बैठ जाने से होता है। इसकी मात्रा बहुत नहीं हो सकती और यह अवसाद गाढ़े अम्ल मूत्र में होकर गरम करने पर घुल जाता है।

(३) रक्तवर्ण अवसाद—यह अवसाद शोणितमेह [Haematuria] में लाल कणों के नीचे बैठ जाने से होता है।

(४) श्लेष्माभ (Mucoid)—इस प्रकार का अवसाद स्वस्थ मूत्र में विशेषतया योनिस्राव के मिश्रण के कारण स्त्रियों के मूत्र में अम्ल प्रतिक्रिया रहने पर मिलता है। इसके अतिरिक्त योनि और मूत्रमार्ग के शोथ में भी मिलता है। दहातु [K] के विलयन डालने पर यह अवसाद घुल जाता है।

रसायनिक परीक्षण

दैनिक] मूत्र के स्वाभाविक संघटक [मात्रा

नाम	वास्तविक तोल	% प्रमाण
	सेन्द्रिय	
पानी	१४४०	९६˚०
ठोस द्रव्य	६०˚०	४.०.
मिह (Urea)	३५.०	२.३३
क्रव्यियी (Creatinine)	१.०	०˙०७
मिहिक अम्ल (Uric acid)	०.७५	०.०५
अश्वमेहिक ,, (Hippuric)	०.७०	०.५
गंधश्यामिक ,, (Thiocyanic)	०.१५	०.०१
सुरभिजाराम्ल (Oxyacids)	०.०६	०.००४
तिग्मिक अम्ल (Oxalic)	०.०१५	०.००१
निनीलिन्य (Indican)	०.०१	०.००१

नाम	वास्तविक तोल	प्र०श०प्रमाण
	निरिन्द्रिय	
क्षारातु नीरेय (NaCl)	१६.५	१.१०
क्षारातु (Na^2O)	५.०	०.३०
भास्विक अम्ल (Phosphoric)	२.५	०.१५
गुल्बारिक ,, (Sulphuric)	२.५	०.१५
दहातु (K^2O)	२.५	०.१५
तिक्तातु (Ammonia)	०.६५	०.०४
सैकतिक अम्ल (Silicic)	०.४५	०.०३
भ्राजातु (MgO)	०.३०	०.०२
चूर्णातु (CaO)	०.२५	०.०१५
अयस (Iron)	०.००५	०.०००४

रसायनिक परीक्षण (Chemical examination)—मूत्र में कुछ संघटक स्वभावतः रहते हैं और कुछ विकारतः आते हैं। रसायनिक परीक्षण से इन दोनों का पता लग जाता है। जब परीक्षण केवल इनका पता लगाने की दृष्टि से किया जाता है तब उसको गुणात्मक (Qnalitative) और जब उनकी निश्चित मात्रा मालूम करने की दृष्टि से किया जाता है तब उसको इयत्तात्मक (Quantitative) कहते हैं। स्वाभाविक संघटक मूत्र में सदैव उपस्थित रहते हैं और रुग्णावस्था में उनकी मात्रा न्यूनाधिक होती है। अस्वाभाविक संघटक केवल रुग्णावस्था में मूत्र में पाये जाते हैं इसलिए मूत्र के रसायनिक परीक्षण में प्रथम ध्यान उन पर दिया जाता है और यदि कोई विशेषता रही तो स्वाभाविक संघटकों की जाँच की जाती है। इसमें सन्देह नहीं है कि स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र में भी प्रसंगवशात् अस्वाभाविक संघटकों में से एकाध संघटक अत्यल्प मात्रा में मिल जाता है। परन्तु इस प्रकार लेशमात्र में क्वचित् कदाचित् मिलनेवाले इन अस्वाभाविक संघटकों का कोई महत्त्व नहीं होता। अब नीचे मूत्र के स्वाभाविक संघटकों में से महत्त्व के संघटकों के नैदानिकीय अभिप्राय (Clinical Significance) का विवरण किया जाता है।

(१) मिह (Urea)—शरीरकार्य की दृष्टि से मूत्र के द्रव्यों में मिह सबसे महत्त्व का है। प्रोभूजिन समवर्त (Protean metabolism) का यह प्रमुख अन्तिम उत्पाद (Product) या मल है और मूत्र के कुल ठोस का आधे से अधिक अंश इसी का होता है। इसकी मूत्रगत मात्रा आहारगत प्रोभूजिनो की मात्रा पर (आहारजात, बाह्यजात exogenous) तथा शरीर धातुओं के चयापचय (Endogenous) पर निर्भर होती है। इसमें आहार से आनेवाला अंश धातुओं से आनेवाले अंश की अपेक्षा स्वस्थावस्था में अधिक रहता है इसलिए, मूत्रगत इसकी मात्रा आहारगत प्रोभूजिन मात्रा पर अधिक निर्भर होती है तथा प्रोभूजिन भूयिष्ठ आहार का सेवन करने के पश्चात् तीन घण्टे पर इसका उत्सर्ग अधिक से अधिक हुआ करता है। एक स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र में, जो कि १००–१२० धान्य प्रोभूजिन प्रतिदिन सेवन कर रहा है, प्रतिदिन ३०–३५ धान्य मिह उत्सर्गित होता है और मूत्र में इसकी प्रतिशतता १५०० घ० शि० मा० (सी० सी०) दैनिक मूत्र राशि के आधार पर २ हुआ करती है। जब भोजन में प्रोभूजिनों की राशि कम रहती है तब मूत्र में भी मिह की राशि बहुत कुछ घट जाती (८–१० धान्य) है और मूत्र भूयाति में मिह भूयाति का प्रतिशत ८५ से घटकर ६० तक हो जाता है। स्वस्थावस्था में आहार और धातुनाश से मूत्र द्वारा जो भूयाति (Nitrogen) उत्सर्गित होता है विविध भूयात्य द्रव्यों में उसका प्रतिशत प्रमाण निम्न प्रकार का रहता है—

मिह ८६.६ (८५–९०), तिक्ताति भूयाति ४.४ प्रतिशत, कर्णियर्य भूयाति १.९ प्रतिशत, मिहिक अम्ल भूयाति ०.७५ प्र०श०, मुख्यतया तिक्ताम्लों (aminoacids के रूप में बचा हुआ अनिर्णीत भूयाति (Undermined) Nitrogen) ४.३ प्रतिशत। विकृत अवस्थाओं में भूयाति युक्त विविध द्रव्यों में मिलनेवाले भूयाति के उपर्युक्त प्रतिशत प्रमाण में बहुत अन्तर उत्पन्न होता है

मिह की मात्रा वृद्धि—(१) अधिक मात्रा में पानी या बीअर मद्य सेवन से। [२] भोजन में प्रोभूजिनों की अधिकता होने से। [३] ज्वरों में जिनमें भार घटता है। [४] मधुमेह में जब कि अम्लोत्कर्ष बहुत नहीं होता। [५] गर्भावस्था के पश्चात, प्रसूतावस्था में। [६] श्वेत-

मयताओं में [Leukaemias]। [७] फुफ्फुसपाक [Pneumonia] में उपशमन [Resolution] के समय पर। [८] सर्वांगशोथ तथा द्रव संचय ठीक होने के समय पर। मूत्र में मिह के अधिक उत्सर्ग की विकृति को अजीवातिमिह (Azoturia) कहते हैं।

मूत्रगत मिह की मात्रा शरीर समवर्त क्रियाशीलता पर निर्भर होती है इसका पहले निर्देश किया है। परन्तु यह समवर्त भोजन और धातु इनमें विभक्त अर्थात् बाह्यजात और आन्तरजात होने के कारण मिह की वृद्धि किस समवर्त का परिणाम है इसका निर्णय करना आवश्यक होता है। इस विषय में मूत्रगत मिह और नीरेय (Chlorides) के बीच का अनुपात उपयोगी होता है। मिश्र आहार में मूत्रगत मिह की मात्रा नीरेयों से लगभग दुगुनी होती है। जब शरीर में धातुनाश अधिक होने से मूत्र में मिह अधिक आने लगता है तब इस अनुपात में वृद्धि होती है और इससे शरीरगत धातुनाश का अनुमान किया जा सकता है क्योंकि नीरेय मुख्यतया आहार द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं।

मिह मात्राल्पता—(अ) अल्पोत्पत्ति के कारण—(१) आहार में प्रोभूजिनों की कमी। (२) यकृत् के विकार जैसे यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis) कर्कट (Cancer) और तीव्रपीत क्षय (Acute yellow atrophy), (३) अम्लोत्कर्ष (acidosis), इसमें तिक्ताति (NH_4) जिससे मिह बनता है, अम्लों को घटाने के लिए प्रयुक्त होने के कारण, मिह बनाने के लिए अप्राप्य होता है। (४) रोगनिवृत्तावस्था, धातुवृद्धि और क्षतिपूर्ति के कारण। (५) गर्भावस्था, गर्भ के तथा गर्भाशय के नये धातु बनने के कारण। (६) फुफ्फुसक्षय और पाण्डुरोग।

(आ) विधारण के कारण—इसमें शरीर में मिह बनने का कार्य ठीक तौर पर होता रहता है, परन्तु उत्पन्न हुए मिह का उत्सर्ग ठीक न होकर उसका विधारण (Retention) होता है। इस प्रकार की स्थिति तीव्र और कालिक वृक्कशोथ में, अमूत्रता (Anuria) में, अभिवृद्ध अष्ठीला (Prostate) इत्यादि में होती है। तीव्र वृक्कशोथ में मूत्रगत मिह की राशि बहुत कुछ घट जाती है और उसका पूर्ववत् उत्सर्ग होना रोग के ठीक होने का सूचक होता है। कालिक वृक्कशोथ के प्रारम्भ में मूत्रगत

मिह की मात्रा प्राकृत ही रहती है परन्तु उत्तरकाल में वह घटती है। इसलिए इसके निदान में मूत्रगत मिह मात्रा का ज्ञान उपयोगी नहीं होता। परन्तु एक बार रोग निश्चित हो जाने पर आहार विहार की एकता की स्थिति में २४ घण्टे के मूत्र की मिह की मात्रा के लिए यदि कुछ दिनों के अन्तर पर बराबर परीक्षण किया जाय तो उससे रोग की प्रगति का ज्ञान हो जाता है। मूत्र में दिन प्रतिदिन मिह की मात्रा का धीरे धीरे कम ही होता जाना रोगवृद्धि का और बीच मे यकायक बहुत अधिक घटना मूत्रविषमयता का सूचक होता है। इसलिए वृक्कशोथ में मूत्रगत मिह मात्रा का आगणन बहुत उपयोगी रहता है। परन्तु उसकी अपेक्षा रक्तगत मिह मात्रा अधिक निश्चयार्थक होने से आजकल मूत्र की अपेक्षा रक्त का परीक्षण मिह के लिए अधिक किया जाता है।

अधिक काल तक रक्खे हुए बासी मत्र में मिह-गुच्छगोलाणु (Micrococcus uroe) करके तृणाणु बढ़ते हैं और पानी के साथ मिह का रसायनिक संयोग करके तिक्तातु प्रांगारीय (Ammonium carbonate) उत्पन्न करते हैं। यही कारण है कि पुराने मूत्र में तथा मूत्रागार (Urinals) में सदैव तिक्ताति का गन्ध आया करता है।

मिहमात्रा निर्धारण (Urea estimation) (१) मूत्रगुरुता पद्धति—गुरुता के आधार पर इसकी आसन्न मात्रा का पता लगता है। मूत्र में शर्करा कतई न होनी चाहिए तथा शुक्लि अधिक न होनी चाहिए। मूत्र की गुरुता के दाहिनी ओर के दो अंकों को दस से भाग देने पर जो फल मिलता है वह मूत्र में मिह की प्रतिशतता को प्रदर्शित करता है। जैसे, मूत्र की गुरुता १०२० होने पर मिह का प्रतिशतता (२०/१०) २ होगी।

(२) उपदुरित पद्धति (Hypobromite method)—यह पद्धति इस बात पर निर्भर होती है कि क्षारातु उपदुरित से मिह विघटित होकर भूयाति (Nitrogen) स्वतन्त्र होता है और इसको नापकर उससे मिह की मात्रा मालूम की जाती है। इसके लिए मिह मापक (Ureometer) की आवश्यकता होती है। डोरेमस-हिण्ड(Doremus-Hind) का मिहमापक (पृष्ठ३७४चि० ४)इसके लिए प्रयुक्त होता है। इसमें एक ओर पतली नलिका और दूसरी ओर ऊपर बन्द रहनेवाली बड़ी नलिका और उसके साथ नीचे

की ओर लगा हुआ खुले मुख का गोलाकार चोंगा (Funnel) होकर दो नलिकाओं को जोड़नेवाली नली में एक टोंटी (Cock) होती है। चोंगे के द्वारा बड़ी नलिका में पूरा और गोले में आधे तक उपदुरित का घोल भर दिया है और छोटी नलिका में शून्य अंक तक मूत्र छोड़ा जाता है। उसके पश्चात टोंटी को खोलकर धीरे धीरे ५ मिनिट में १ घ० शि० मा० मूत्र बड़ी नलिका में छोड़ा जाता है। उपदुरित घोल के साथ मूत्र मिलने पर तद्गत मिह विघटित होकर पानी, प्रांगार द्विजारेय (CO_2) और भूयाति उत्पन्न होते हैं। इनमें भूयाति बन्द मुखवाली बड़ी नलिका में ऊपर की ओर इकट्ठा होता है और प्रां० द्विजारेय क्षार के द्वारा प्रचूषित हो जाता है। मूत्र मिलाने पर नलिका को बीच बीच में धीरे से थपथपाते हुए २० मिनिट तक रख देना चाहिए। उसके पश्चात् जिस अंक तक भयाति वायु होगा उसको देखना चाहिए। बड़ी नलिका पर ऊपर से नीचे की ओर ०.०१, ०.०२, ०.०३ अंक लिखे हुए रहते हैं और दो अंकों के बीच में १० विभाग रेखित रहते हैं। बड़े विभाग के अंक मिलाये हुए मूत्र में मिह की मात्रा धान्य में प्रदर्शित करते हैं। मान लीजियेगा कि बड़ी नलिका में तरल का ऊपर का तल ०,०२ पर रहा तो उसका अर्थ १ घ. शि. मा. में $\frac{१}{५०}$ धान्य मिह है। इससे मूत्र में मिह का प्रतिशत प्रमाण मालूम हो जाता है और दिन रात की मूत्र राशि मालूम होने पर मिह की भी मात्रा तदनुसार मालूम की जा सकती है।

इसके लिए निम्न विलयनों की आवश्यकता होती है—

(१) दुराघ्री घोल

दुराघ्री (Bromine)	३१ धान्य
दहातु दुरेय (Pot Bromide)	३१ धान्य
तिर्यक् पातितजल	२५० घ० शि० मा०

(२) क्षारातु उदजारेय (Sodium Hydroxide)	१०० धान्य
तिर्यक् पातितजल	२५० घ० शि० मा०

ये दोनों घोल हवाबन्द कूपियों में रक्खे रहते हैं और परीक्षण के समय सम भाग में मिलाकर काम में लाये जाते हैं। संमिश्र घोल ३० घ० शि० मा० पर्याप्त होता है।

मूत्र में यदि शुक्लि या शर्करा हो तो इससे ठीक फल नहीं मिल सकता और जो मिलता है वह भी अनिश्चित रहता है क्योंकि दुराग्नी के कार्य से जो भूयाति उत्पन्न होता है वह केवल मिह का न होकर मूत्रगत सम्पूर्ण भूयात्य द्रव्यों का होता है। इस यन्त्र का उपयोग शलाका द्वारा प्रत्येक गवीनी से प्राप्त मूत्रगतमिह की मात्रा मालूम करने के लिए बहुत अच्छा होता है क्योंकि उसमें केवल वृक्कों की तुलनात्मक कार्यक्षमता मालूम करने की आवश्यकता होती है।

(३) गेराड का मिहमापक (Gerrard's ureometer)—यह पद्धति अधिक सूक्ष्म फल देती है, परन्तु यन्त्र का प्रयोग करने में डोरेमस-हाइन्ड के समान सरलता नहीं होती। इसलिए उसका उपयोग बहुत कम किया जाता है।

(४) मिहेद (Urease) पद्धति—मिहेद एक अभिषव (Ferment) है जो सोयाबीन (Soya bean) में पाया जाता है। यह अभिषव मिह में अभिषवण उत्पन्न करके उसको तिक्तातु प्रांगारीय (Ammonium carb) में परिवर्तित करता है। उसके पश्चात तिक्तातु प्रांगारीय की मात्रा मालूम करके उसके आधार पर मिह की राशि निश्चित की जाती है। यह पद्धति सबसे अधिक सूक्ष्मवेदी है तथा मूत्र में शर्करा शुक्लि या अन्य कोई द्रव्य रहने पर मिहेद के कार्य म बाधा उत्पन्न नहीं होती। अतः जहाँ मूत्रगत मिह मात्रा का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक होता है वहाँ इसीको काम में लाते हैं।

(२) **मिहिकअम्ल** (Uricacid)—मूत्र में मिहकी द्रव्यों (Purinbodies) का जो एक वर्ग है उसमें मिहिकअम्ल सबसे महत्व का द्रव्य है। यद्यपि इसको अम्ल कहते हैं तथापि यह न पानी में घुलता है न अयनभूत (Ionize) होता है। उत्पत्ति आहार्य द्रव्यों से (आहारजात) तथा शरीर धातुओं की नष्ट कोशाओं की न्यष्टियों (Nuclei) से (Endogenous आन्तरजात) होती है। इसका दैनिक उत्सर्ग .४ से १ धान्य तक होता है। अन्य मिहकी द्रव्यों की मात्रा मिहिकअम्ल का दसवाँ अंश होता है।

मूत्र में मिहिक अम्ल क्षारातु और दहातु के मेहीय (Urates) के रूप में रहता है। क्वचित् मिहिक अम्ल के स्फटिक भी रहते हैं जो अनेक

आकार प्रकार के होते हैं। अम्ल प्रतिक्रिया के गाढ़े मूत्र में मेहीय अव-सादित होकर सूर्खी के समान तलछट बनाते हैं अधिक मात्रा में उत्सर्गित होने का यह परिणाक नहीं है। ये स्वयं रंगहीन होते हैं, परन्तु इनके साथ मूत्ररुधिरि (पृष्ठ ३८१) रागक होने से ये सुर्ख दिखाई देते हैं। मेहीय और मिहिक अम्ल स्फटिक मूत्र गरम रहने पर घुले हुए रहते हैं या गरम करने पर घुल जाते हैं और मूत्र ठण्डा होने पर अवसादित होते हैं। वैसे ही तिक्तातु मेहीय (Ammonium urate) के अतिरिक्त अन्य मेहीय क्षारों में घुल जाते हैं।

मिहिकअम्ल की अधिकता—(१) श्वेतमयता में—इनमें असंख्य श्वेतकायाणुओं (Leucocytes) का नाश होने के कारण। (२) यकृत् तथा अन्य अंगों का नाश होने के विकारों में। (३) ज्वरावस्था में। (४) क्ष-रश्मि (X-ray) चिकित्साकाल में। (५) यकृत्, वृक्क, मस्तिष्क इत्यादि प्राणिज अन्न का अधिक सेवन करने में। (६) वातरक्त में (Gout)-वातरक्त का आक्रमण होने से पहले इसका उत्सर्ग कम होता है, परन्तु उसके पश्चात् अनेक दिनों तक इसका उत्सर्ग अधिक होता रहता है। (७) अत्यधिक शारीरिक परिश्रम। (८) तीव्र संधिगत आमवात (Rheumatism)।

मिहिक अम्ल की अल्पता—निम्न अवस्थाओं में मूत्रगत मिहिक अम्ल की मात्रा घटती है—[१] शुद्ध शाकाहार। [२] वृक्कशोथ। [३] सीसविष (Lead qoisoning)। हरिद्रोग (Chlorosis)।

मिहिक अम्ल का आगणन (Estimation)—मूत्रगत मिहिक अम्ल के आगणनार्थ कुकस्हेमन, बेनेडिक्ट और फ्लांक की पद्धतियाँ हैं। परन्तु ये सब जटिल हैं तथा इनसे ठीक ठीक फल नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त मिहिक अम्ल के आगणन की विशेष आवश्यकता भी नहीं होती। इसलिए इनका विवरण नहीं दिया है।

(३) क्रव्यियी (Creatinine)—मूत्र का यह स्वाभाविक संघटक है जो २४ घण्टे में १–१½ धान्य की मात्रा में उत्सर्गित होता है। अधिक मात्रा में उत्सर्गित होनेवाले भूयात्य द्रव्यों में मिह के पश्चात् इसीका क्रमांक होता है। मूत्र के अन्य संघटकों की दैनिक मात्रा में चाहे जितनी अस्थिरता हो जाय, इसकी मात्रा सदैव स्थिर रहती है क्योंकि

इसकी मात्रा पर आहार मात्रा या व्यायाम का कुछ भी असर नहीं होता। इसकी मात्रा मुख्यतया आन्तरजात भूयाम्य समवर्त (Endogenous nitrogenous metabolism) की न्यूनाधिकता पर निर्भर होती है। प्रोभूजिनों के विघटन से उत्पन्न हुए कुछ द्रव्यों से यकृत् के द्वारा यह द्रव्य बनाया जाता है। पेशियों के व्यायाम के समय मूत्र में इसकी मात्रा बढ़ती है, परन्तु व्यायाम समाप्त होने पर उतनी ही घट जाती है। इसलिए २४ घण्टे की मात्रा पर व्यायाम का कोई असर नहीं होता। वृक्कशोथ का परिणाम इसके उत्सर्ग पर मिह के समान ही होने के कारण वृक्कविकार में इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता। इसका उत्सर्ग तन्द्राभ (Typhoid), तन्द्रिक (Typhus), अपतानक (Tetanus), फुफ्फुसपाक (Pneumonia) इत्यादि में बढ़ता है और पाण्डुरोग, हरिद्रोग, अंगघात (Paralysis), पेशीक्षय, वृक्कशोथ और यकृद्रोग इनमें घटता है।

(४) अश्वमेहिक अम्ल (Hippuric acid)—मनुष्यों के मूत्र में इसकी दैनिक मात्रा ७-२५ ग्रेन तक होती है। शाकाहार से जिसमें धूपिक (Benzoic) अम्लभूयिष्ट खाद्य (जैसे विविध जाति के बेर, Prunes, cranberries, bilberries, Greengages) होते हैं, इसकी मात्रा बढ़ती है। धूपिक अम्ल से भी इसकी मात्रा बढ़ती है। तृणाहारी पशुओं के विशेषतया घोड़ों के मूत्र में इसकी मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसलिए अश्वमेहिक नाम (Hippos अश्व) रक्खा गया है। यह द्रव्य मनुष्यों के रक्त में नहीं होता, परन्तु वृक्कों के द्वारा (पृष्ठ १२) बनाया जाता है। नाड़ी विकारों में इसकी मात्रा घट जाती है।

(५) तिग्मीय (Oxalates)—ये मूत्र में मुख्यतया चूर्णातु तिग्मीय (Calcium oxalate) के रूप में रहते हैं और इनकी दैनिक मात्रा १५-२० सहस्रिधान्य रहती है। ये अम्ल मूत्र में पाये जाते हैं परन्तु कभी कभी क्षारिय मूत्र में भी रहते हैं। चूर्णातु तिग्मीय अत्यन्त अनघुल (५००००० भाग जल में १ भाग) होने के कारण ये बहुत जल्दी अवसादित होते हैं।

तिग्मीय की अधिकता—(१) अत्यशन और व्यायामाभाव। (२) तिम्मिक अम्लयुक्त द्रव्यों का (पृष्ठ १३९) अतिसेवन, जैसे, टोमाटो

गोभी, गाजर, पालक, खट्टा पालक, प्याज, द्राक्षा, सेब इत्यादि। (३) तिग्ममेहिक प्रकृति (Oxaluric Diathesis), अग्निमान्द्य, दुर्बलता, वातरक्त (Gout) नाड्यवसन्नता [Neurasthenia], यकृत् की मन्दता के कारण उत्पन्न होनेवाले पचन के विकार।

(६) शुल्बीय (Sulphates)—दैनिक मूत्र में इनकी मात्रा २-३ धान्य होती है। ये खाद्य से मुख्यतया मांस से और धातुसमवर्त से उत्पन्न होते हैं। मूत्र में ये दो प्रकार के रहते हैं। [१] खनिज, निरिन्द्रिय या स्फटिकाकार। ये क्षारातु, दहातु, चूर्णातु और भ्राजातु [Magnesium] के होते हैं। (२) सेन्द्रिय संयुग्म [Conjugate] या दाहव [Ethereal] शुल्बीय। इस वर्ग का मुख्य प्रतिनिधि निर्मीलजारल दहातु शुल्बीय [Indoxyl potassium sulphate] है जिसको संक्षेप में निनीलिन्य [Indican] कहते हैं क्योंकि कुछ द्रव्यों के प्रयोग से इससे नील [Indigo] उत्पन्न होता है। दैनिक मूत्र में खनिज शुल्बीयों की मात्रा संयुग्म शुल्बीयों से दसगुनी होती है। खनिज शुल्बीय मुख्यतया आहारगत प्रोभुजिनों के शुल्बारि [Sulphur] से यकृत् में बनते हैं। दाहव शुल्बीय कुछ अंश में धातुनाश से और कुछ अंश में आन्त्रगत सड़न [Putrifaction] की क्रिया में उत्पन्न हुए द्रव्यों से बनते हैं। आन्त्रगत सड़ने की क्रिया में उत्पन्न हुए द्रव्य विषैले होते हैं, परन्तु इस परिवर्तन से वे निर्विष हो जाते हैं।

शुल्बीयों की अधिकता—[१] अत्यधिक मांसाहार से। [२] ज्वर की तीव्रावस्था में। [३] तीव्र मज्जाशोथ [Myelitis]। [४] मस्तिष्कावरणशोथ। [५] वर्धनशील पेशीक्षय [Muscular atrophy] [६] मधुमेह। [७] मूत्रविषमयता। [८] उदकमेह, [९] छाजन [Eczema], [१०] मज्जाभ श्वेतमयता [Myeloid leukaemia], [११] शरीरशोषकर रोग [१२] मलावरोध और आन्त्रस्थ पूतिभवन [१३] जठराम्ल की अल्पता।

शुल्बीयों की अल्पता [१] शाकाहार, [२] अनशन, अल्पाशन और रोगनिवृत्तावस्था। (३) शरीर समवर्त की अक्रियाशीलता की सब अवस्थाएँ।

शुल्वीयों के गुणात्मक या इयत्तात्मक आगणन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। निर्नीलिन्य का विवरण आगे निर्नीलिन्यमेह में किया गया है।

(७) **भास्वीय** (Phosphates)—मूत्र में इनकी दैनिक मात्रा ३½ धान्य होती है, परन्तु इनकी न्यूनाधिक मर्यादाएँ १--८ धान्य तक हो सकती है। इनका अधिकांश आहारजात [बाह्यजात Exogenous] होता है और अतिसूक्ष्मांश शरीर समवर्तजात या आन्तरजात [Endogenous] रहता है। इसलिए अनशन की स्थिति में मूत्र में उत्सर्गित होनेवाले आन्तरजात अंश का पता लगाना कठिन होता है। संक्षेप में अनशन की स्थिति में मूत्र से भास्वीय लगभग गायब हो जाते हैं। मूत्र में निम्न दो प्रकार के भास्वीय पाये जाते हैं—

(१) *क्षारय* (Alkaline)—ये क्षारातु [Sodium] या दहातु [Potassium] के लवण होते हैं और कुल राशि का ⅔ अंश इनका रहता है।

(२) *मार्तिक* (Earthy)—ये चूर्णातु (Calcium) या आजातु के होते हैं और कुल राशि का ⅓ अंश इनका होता है।

भास्वीयों के निम्माटन की प्रक्रिया—भास्विक अम्ल के व्यहाणु में उदजन के तीनपरमाणु (H_3PO_4) होते हैं। इन परमाणुओं में प्रत्येक परमाणु क्षारातु [Na] जैसे एक शक्तिक [Monobasic] धातु के द्वारा विस्थापित हो सकता है और उसके अनुसार इसके निम्न ३ प्रकार के लवण बन जाते हैं।

(१) NaH_2PO_4 द्वयुदजन क्षारातु भास्वीय Sodium dihydrogen Ph

(२) Na_2HPO_4 एकोदजन क्षारातु भास्वीय Sodium hydrogen Ph

(३) Na_3PO_4 क्षारातु भास्वीय Sodium phosphate

एक ही मूत्र में ये तीनों लवण उपस्थित रह सकते हैं। केवल उनका प्रमाण क्षारातु इत्यादि धातुओं के उपलभ्य राशि पर निर्भर करेगा। यदि मूत्र में नीरेय [Chloride], शुल्वीय [Sulphates] इत्यादि का प्रमाण अधिक रहा तो धातुओं का अधिकांश उनके साथ मिलकर भास्विक अम्ल के साथ मिलने के लिए अल्पांश रहेगा जिससे मूत्र में

प्रथम प्रकार के लवण की अधिकता होगी। यदि नीरेयादि की अल्पता रही तो भास्विक अम्ल के साथ मिलने के लिए धातुओं की मात्रा बहुत बचेगी जिससे मूत्र में दूसरे और तीसरे प्रकार के लवण अधिक बनेंगे।

ये तीनों लवण विलेयता (Solubility) और शैवालपत्र पर उनकी क्रिया में एक दूसरे से विभिन्न होते हैं। प्रथम लवण नील शैवालपत्र (Blue litmus) को लाल करता है या दूसरे शब्दों में यह अम्ल भास्वीय (Acid phosphate) है। मूत्र की अम्लता इसके कारण हुआ करती है। दूसरे प्रकार का लवण यद्यपि अम्ल ही है तथापि शैवालपत्र की दृष्टि से क्षारिय कह सकते हैं क्योंकि वह लाल पत्र को नीला बनाता है। कभी कभी मूत्र की शैवाल प्रतिक्रिया उभयविध (Amphoteric) होती है। इसका सरल अर्थ यह होता है कि मूत्र में हमेशा के समान प्रथम लवण की अधिकता न होकर दोनों की समानता है।

विलेयता की दृष्टि से ये तीनों लवण विलेय होने पर भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक अल्पविलेय होते जाते हैं। इसका अर्थ प्रथम लवण बहुत विलेय और तीसरा सबसे अल्पविलेय होता है। जब यह कहा जाता है कि भास्वीय क्षारीय की अपेक्षा अम्ल मूत्र में अधिक विलेय होते हैं तब इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रथम प्रकार का लवण क्षारीय की अपेक्षा अम्ल मूत्र में अधिक विलेय होता है। इसका व्यावहारिक अर्थ यह है कि अम्ल मूत्र में अधिक विलेय प्रथम प्रकार का लवण रहता है और क्षारिय मूत्र में अल्पविलेय दूसरे या तीसरे प्रकार के लवण रहा करते हैं। वैसे देखा जाय तो क्षारातु (Na), दहातु (K) और तिक्तातु (Ammonium) के तीनों प्रकार के लवण एक दूसरे से अधिक और अल्पविलेय होते हुए भी मूत्र में अवसादित नहीं होते। अतः इनसे अश्मरी भी नहीं बनती।

चूर्णातु और भ्राजातु भास्वीय भी उपर्युक्त भास्वीयों के समान ३ प्रकार के होते हैं और विलेयता की दृष्टि से उनका क्रम भी उपर्युक्त स्वरूप का ही होता है—

(१) $Ca(H_2PO_4)_2$	अधिक विलेय	चूर्णातु द्वयुदजन भास्वीय
(२) $CaHPO_4$	मध्यम विलेय	चूर्णातु एकोदजन भास्वीय
(३) $Ca_3(PO_4)_2$	लगभग अविलेय	चूर्णातु भास्वीय

मूत्र की प्रतिक्रिया के साथ क्षारिय भास्वीयों का जो सम्बन्ध होता है वह इन मार्तिक भास्वीयों को भी रहता है। इसलिए क्षारिय मूत्र में उपस्थित होनेवाले इनके लवण लगभग अविलेय होने के कारण वे निस्सादित होते हैं। क्षारिय प्रतिक्रिया का इन पर जो परिणाम होता है वही ताप का होता है। इसलिए मूत्र में यदि मार्तिक भास्वीय रहे तो वे मूत्र को गरम करने पर तीसरे प्रकार में परिवर्तित होकर निस्सादित होते हैं और मूत्र में उनके निस्साद का अभ्र दिखाई देता है।

मूत्र में जब तिक्ताति (Ammonia) होता है तब वह मूत्र स्थित आजातु उदजन भास्वीय के साथ मिलकर अविलेय तिक्त आजातु भास्वीय में परिवर्तित होता है। इनका विवरण पीछे (पृष्ठ २७७) भास्वीयमेह में किया गया है। यह तिक्तातु मूत्र त्यागने के पश्चात मेह के विघटन से या बस्ति के भीतर मूत्र के सड़ने से उत्पन्न हो सकता है। प्रथम प्रकार में ताजे मूत्र में भास्वीय का अवसाद नहीं दिखाई देता, परन्तु कुछ काल के पश्चात् बनने लगता है। दूसरे प्रकार में अर्थात् मूत्रणसंस्थान के पूययुक्त विकार में ताजे मूत्र में भास्वायों का अवसाद मिलता है। इन दो अवस्थाओं में पार्थक्य करने का दूसरा साधन यह है कि प्रथम प्रकार में अर्थात् शरीर के बाहर के विघटन में मूत्र में केवल इसके स्फटिक मिलते हैं, परन्तु दूसरे प्रकारमें स्फटिकों के साथ प्रायः पूयकोशाएँ स्वाभाविक से अधिक संख्या में पायी जाती हैं।

संक्षेप में मूत्र में भास्वीयों का जो तलछट (Deposit) पाया जाता है वह प्रायः उसके अधिक मात्रा में उत्सर्गित होने का परिणाम न होकर मूत्र की प्रतिक्रिया क्लीब या क्षारिय होने का फल होता है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि क्षारिय भास्वीयों का तलछट प्रायः बनता नहीं। यदि तलछट अनाकारी (Amorphous) रहा तो वह शुद्ध मार्तिक भास्वीयों का होता है और यदि स्फटिकाकारी रहा तो तारकाकृति (Stellar) स्फटिक चूर्णातु भास्वीय का और त्रिपक्षाकृति (Triple) या पंखाकार (Feathery) तिक्त आजातु भास्वीय (Am. mag. phosphate) का होता हैं।

वृक्कजन्य अम्लोत्कर्ष में वृक्कों द्वारा भास्वीयों का उत्सर्ग घटकर रक्त में

उनका संचय होता है। रक्त में इनका अधिक मात्रा में और अति-स्थायी (Persistant) संचय रोग की चिन्ताजनक स्थिति का निदर्शक होता है।

(८) तिक्ताति (Ammonia)—शरीर में प्रोभूजिनों के तिक्ती अम्लों से तिक्ताति बनता है। यकृत् में इसका अधिकांश मिह में परिवर्तित होकर उस रूप में और उसका कुछ अंश रक्तगत अम्लों के साथ मिलकर लवणों के रूप में भी उत्सर्गित होता है। दिन रात में इस प्रकार उत्सर्गित होनेवाली तिक्ताति की मात्रा ·३ से १·२ धान्य (औसत ·७ धान्य) होती है। स्वस्थावस्था में मिह और तिक्ताति का मूत्रगत पारस्परिक प्रमाण ५०:१ होता है। जब शरीर में अम्ल अधिक मात्रा में उत्पन्न होने लगते हैं तब तिक्ताति प्रथम उनके निराकरणार्थ प्रयुक्त किया जाता है और उतने अंश में मिह कम बनता है। केवल यही नहीं जब तिक्ताति की आवश्यकता बहुत अधिक होती है तब मूत्र में आये हुए मिह को मूत्र नलिकाएँ विघटित करके तिक्ताति को बनाती (पृष्ट १४) हैं जो अम्ल निराकरणार्थ प्रयुक्त किया जाता है। संक्षेप में मूत्रगत तिक्ताति के लवण रक्तगत अम्लोत्कर्ष की स्थिति के निदेशक होते हैं और उस स्थिति में मिह तिक्ताति के मूत्रगत पारस्परिक प्रमाण में फर्क हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि तिक्ताति अम्लान्तर्विषता (Acid intoxication) से शरीर की रक्षा करने का एक महत्व का साधन है।

तिक्ताति का अधिक उत्सर्जन—(१) उदर्नारिक अम्ल (HCl) तथा अन्य खनिज अम्लों के सेवन से। (२) मधुमेह—इसमें शरीर में जारघृतिक अम्ल (Oxybutric acid), द्विशुक्तिक अम्ल [Diacetic acid] इत्यादि अम्ल बनकर रक्त में अम्लों की अधिकता [Acidosis] होने लगती है। इसका निराकरण तिक्ताति के द्वारा होने से मूत्र में उसके लवण अधिक आने लगते हैं और मिह की मात्रा कम होती है। मधुमेह में रक्तगत अम्लोत्कर्ष का अनुमान मूत्रगत तिक्ताति लवणों की मात्रा से किया जा सकता है। सौम्य अम्लोत्कर्ष में तिक्ताति का दैनिक उत्सर्ग १--१·५ धान्य, मध्यम में ४—५ धान्य और तीव्र में ८—१० धान्य तक हो सकता है। [३] गर्भवती का वैनाशिक वमन [Pernicious vomitting of pregnancy]। [४] यकृदाल्युदर [Cirrhosis

of liver] तथा यकृत् के अन्य विकार। तिक्ताति को मिह में परिवर्तित करने का काम यकृत का होता है। इसलिए यकृत के विकारों में तथा गर्भवती के वमन में यकृत खराब होने के कारण मिह की मात्रा कम बनती है और तिक्ताति उत्सर्गित होता है। वातिक या मस्तिष्क विकार-जन्य वमन में [Nervous vomitting] तथा वृक्कविकार जन्य अम्लोत्कर्ष में इसकी मात्रा नहीं बढ़ती।

इससे यह स्पष्ट होगा कि यकृत् की अकार्यक्षमता और मधुमेह जन्य अम्लोत्कर्ष का ज्ञान मूत्रगत तिक्ताति के आगणन से हो सकता है। इसके लिए मूत्रगत तिक्ताति के भूयाति की मात्रा मालूम की जाती है और मूत्रगत कुल भूयाति के साथ उसकी प्रतिशतता देखी जाती है। स्वस्थावस्था में यह प्रमाण ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होता। उपर्युक्त विकार होने पर विकारों की तीव्रता के अनुसार इसका प्रमाण बढ़ता है। परीक्षण के लिए मूत्र सद्योत्सृष्ट होना आवश्यक है। मूत्र अधिक काल रखने पर मिह के विघटन से तिक्ताति उत्पन्न होता है। इसका उपर्युक्त तिक्ताति से सम्बन्ध नहीं है। वह स्थिर रहता है और विघटनजन्य उड्डनशील होता है।

(६) **नीरेय** (Chlorides)—मूत्र में नीरेयों की दैनिक मात्रा १०–१५ धान्य होती है। इसका अधिकांश नमक तथा अन्य खाद्य द्रव्यों से और बहुत अल्प अंश धातुनाश से उत्पन्न होता है। सेवन किया हुआ नमक प्रायः उसी दिन और अल्पांश में दूसरे दिन उत्सर्गित होता है। नीरेयों में प्रधान क्षारातुनीरेय (NaCl) होता है। मात्रा की दृष्टि से मूत्र में मिह के पश्चात् नीरेयों का क्रमांक आता (पृष्ठ १४) है।

मूत्र में नीरेयों की अधिकता—(१) पानी नमक और इतर धातु नीरेयों के अतिसेवन से। (२) शरीरगतशोथ तथा द्रव संचय के अपहरण या प्रचूषण (Absorption) के समय। (३) उदकमेह में। (४) ज्वर निवृत्तावस्था में। (५) खण्डीय फुफ्फुसपाक के ज्वरमोक्ष के पश्चात्। (६) अपस्मार के आवेगों के पश्चात्। (७) नीरवम्रल (Chloroform) संमोहन के पश्चात्। (८) विसर्गीज्वर (Intermittent) की निर्ज्वरावस्था में। (९) अस्थिवक्रता में। (१०) यकृदाल्युदर में।

मूत्र में नीरेयों की अल्पता—(१) फुफ्फुसपाक में इनकी अल्पता या अभाव बहुत ही सूचक होता है। मध्यवर्ति (Central) फुफ्फुसपाक में जब कि शारीरिक चिन्ह मिलते नहीं या संदेहास्पद होते हैं तब मूत्र में इनकी कमी या अभाव निदान में बहुत सहायक होता है। (२) जलोदर, सद्रव फुफ्फुसावरणशोथ तथा शोथयुक्त अन्य विकार जिनमें शरीर के भीतर सूजन और जल का संचय होता है। इनमें शोथ और द्रव में नीरेय अटक जाते हैं। (३) जीर्ण अन्तःसारीय (Interstitial) वृक्कशोथ में गुत्सकों में से निस्यन्दन ठीक न होने के कारण शरीर में नीरेय इकट्ठा होने लगते हैं और मूत्र में कम होते हैं। शरीर में सूजन उत्पन्न होने का कारण इकट्ठा हुए नीरेय ही होते हैं क्योंकि ये अपनी ओर पानी खींच लेते हैं। नीरेयों का ठीक उत्सर्ग न होने के कारण इस रोग में नमक का सेवन शोथवृद्धिकर होता है। (४) विषमज्वर को छोड़कर अन्य ज्वरावस्थाएँ। इनमें नीरेयों की अल्पता मुख्यतया खाद्य की अल्पता के कारण और कुछ अंश में वृक्क की खराबी के कारण होती है। ज्वरों में धीरे धीरे मूत्र में नीरेयों का बढ़ना सुधार का निदर्शक होता है। (५) अनशन और अत्यधिक शारीरिक परिश्रम। (६) विसूचिका प्रवाहिका, जठर कर्कट (Cancer), तीव्र पाण्डुरोग, दुस्स्वास्थ्य (Cachexia), तीव्र यकृत् क्षय (Atrophy) इत्यादि। निर्ज्वर विकारों में मूत्र में नीरेयों की अल्पता चिन्ताजनक होती है।

पहचान—मूत्रगत नीरेयों की परीक्षा करने से पहले यदि मूत्र में शुक्लि (Albumin) या शुक्लधु (Albumose) रहें तो उबाल करके तथा पश्चात् निस्यन्दन (Filter) करके निकाल देने चाहिए। उसके पश्चात् एक नलिका में ५ घ० शि० मा० मूत्र लेकर तद्गत भास्वीयों और शल्वीयों को विलीन रखने के लिए भूयिक (Nitric) अम्ल के कुछ बूँद उसमें छोड़ने चाहिएँ। उसके पश्चात् ३ प्रतिशत रजत भूयीय (Silver nitrate) के कुछ बूंद उसमें मिलाने चाहिएं। (१) यदि मूत्र में नीरेय स्वाभाविक मात्रा में रहें तो नलिका में दही के समान सफेद रज्जू के आकार का उर्णीमय (Flocculent) निस्साद बनता है जो शीघ्र ही नीचे की तली में बैठ जाता है। (२) जब नीरेय कम होते हैं तब सम्पूर्ण मूत्र दुधिया रंग का पारभास होता है। (३) जब नीरेयों का अभाव रहता है तब मूत्र

साफ रहता है। [४] नीरेय जब बहुत अधिक रहते हैं तब सम्पूर्ण मूत्र में उपर्युक्त स्वरूप का गाढ़ा सफेद उर्णीमय निस्साद बनकर वैसा ही रह जाता है।

(१० मण्डेद या विभेद (Amylase or diastase)— स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र में अग्न्याशय से आया हुआ यह मण्ड-पाचक अभिषव [starch digesting ferment] अल्प मात्रा में उपस्थित रहता है। इसकी मात्रा पर आहार का बहुत कम परिणाम होता है।

वृक्क विकारों में, विशेषतया जीर्ण अन्तःसारीय वृक्कशोथ में, उत्सर्जन की शक्ति कम हो जाने से मूत्र में इसकी मात्रा कम हो जाती है। अग्न्याशय के विकारों में इसकी मात्रा घटती नहीं, बढ़ती है क्योंकि यह अभिषव अग्न्याशय मे नहीं बनता है, यकृत् म बनकर अग्न्याशय के द्वारा उत्सर्गित होता है। स्वस्थ व्यक्ति के मूत्र के १ घ० शि० मा० में १०-३० एकक [एक एकक अभिषव की उस मात्रा को कहते हैं जो ३८° श० [C] ताप पर १ प्रतिशत मण्ड के घोल के १ घ० शि० मा० का पाचन कर सकता है] होते हैं। तीव्र अग्न्याशयशोथ, जीर्ण अग्न्याशयशोथ की प्रकोपावस्था अग्न्याशय प्रणाली का मार्गावरोध, अग्न्याशय शीर्ष का अर्बुद इत्यादि विकारों में इसकी मात्रा बढ़ती है। अतः ५० से अधिक एकक की उपस्थिति अग्न्याशय विकृति की सूचक, १०० या उससे अधिक एककों की उपस्थिति उसकी निश्चिति दर्शक तथा २०० से अधिक की उपस्थिति तीव्र विकार की निदेशक होती है।

मूत्र के अस्वाभाविक संघटक

१ प्रो०
- शुक्लि [Albumin]
- आवर्तुलि [Globulin]
- प्रोभूजधु [Proteose]
- बेन्सजोन्स प्रोभूजिन
- श्लेष्मि [Mucin]

२ शर्करा
- मधुम [Glucose]
- फलधु [Fructose]
- यव्यधु [Maltose]
- दुग्धधु [Lactose]
- पंचधु [Pentose]

३ शुक्ता [Acetone]
४ द्विशुक्तिकअम्ल [Diacetic]
५ पित्तरागक और लवण
६ रक्त और उसके तद्भव द्रव्य
७ मूत्र पित्तिजन और मूत्रपित्ति
८ द्वयजद्रव्य (Diazo substances)
९ पूय
१० पयोलस
११ मलीमसि (Melanin)
१२ निनीलिन्य (Indican)

प्रोभूजिन (Proteins)

रक्त में अनेक प्रोभूजिन होते हैं परन्तु मूत्र की दृष्टि से शुक्लि और आवर्तुलि ही महत्व के हैं। ये दोनों प्रायः साथ-साथ रहने से दोनों के उत्सर्ग का अभिप्राय एकही होने से तथा दोनों के पहचान की कसौटियाँ एकही होने से ये दोनों प्रोभूजिन मुत्रीय शुक्लि (Urinary albumin) कहलाते हैं और मूत्र में इनके उत्सर्ग को शुक्लिमेह (Albuminuria) कहते हैं।

परन्तु शुक्लि का व्यूहाणु [Molecule] छोटा होने के कारण उसका उत्सर्ग वृक्कों के विकारों में प्रथम तथा अधिक मात्रा में होता है। वृक्क के सेन्द्रिय [Organic] शुक्लिमेह में शुक्लि और आवर्तुलि का अनुपात ६:१ का होता है। इससे अधिक अनुपात में आवर्तुलि [Globulin] का उत्सर्ग वृक्क की अधिक विकृति का अतएव चिन्ताजनक माना जाता है। चिन्ता का दूसरा कारण यह भी है कि वह मूत्र नलिकाओं में निस्सादित [Precipitate] होकर मूत्र मार्गावरोध भी किया करता है।

परन्तु आश्चर्य की बात यह होती है कि कार्यिक [Functional] शुक्लिमेह में मूत्र में शुक्लि और आवर्तुलि का अनुपात समसमान रहता है। फिर भी उसमें चिन्ता की कोई बात नहीं होती।

उपलम्भन का सिद्धान्त (Detection)—मूत्र में जो शुक्लि रहती है वह पूर्णतया अदृश्य होती है। उसकी उपस्थिति का कुछ पता यदि अधिक मात्रा में हो तो गुरुता बढ़ने से और उससे भी अधिक अच्छी तरह से मूत्र हिलाने पर उस पर बननेवाले स्थायी स्वरूप के सफेद झाग से चल सकता है। शुक्लि अम्ल से या ताप से जम जाती है और उसके

उपलम्भन के लिए जो कसौटियाँ प्रयुक्त होती है वे इन दो साधनों पर निर्भर होती हैं।

सावधानता—शुक्लि के लिए जाँच करने से पहले निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। [१] प्रातःकालीन या उससे अच्छा भोजनोत्तर मूत्र का ग्रहण करें। (२) परीक्षणार्थ मूत्र बहुत निर्मल होना जरूरी है। अतः यदि श्लेष्मा अधिच्छदीय कोशाएं, पूय इत्यादि के कारण मूत्र मटियाला हो तो उसको निस्यन्दित (Filter) करके अथवा केन्द्रापसारित्र [Centrifuge] से निर्मल करके लिया जावें। (३) शुक्लि के परीक्षण में श्लेष्मि (Mucin) से बाधा उत्पन्न होती है। अतः यदि श्लेष्मि अधिक मात्रा में उपस्थित हो तो शुक्तिकअम्ल (Acetic acid) के कुछ बूंद डालकर और फिर निस्यन्दित कराकर उसको लिया जावे। [४] जब मूत्र निस्यन्दन से निर्मल नहीं होता तब उसका मटियालापन प्रायः जीवाणुजन्य समझकर चूर्णातु प्रांगारीय ·(Calcium carbonate) या तालक (Talc) से उसको खूब अच्छी तरह हिलाकर और छानकर ग्रहण करें। (५) मूत्र यदि क्षारिय हो या हो गया हो तो प्रथम उसको शुक्तिक अम्ल से अम्लकृत करके तब काम में लावें। (६) मूत्र जब बहुत गाढ़ा रहता है तब तद्गत लवण शुक्लि के परीक्षण में बाधा डालते हैं। अतः गाढ़े मूत्र का पानी से पतला करके उसका परीक्षण किया जावे। [७] अम्लीकरणार्थ भूयिक (Nitric) या शुल्बारिक [Sulphuric] जैसे तीव्र अम्ल का उपयोग न किया जाय।

स्वस्थ मूत्र में शुक्लि उपस्थित रहती है। परन्तु उसकी मात्रा इतनी अल्प होती है कि उसका पता लगाने के लिए विशेष सूक्ष्मग्राही कसौटियों का उपयोग करना पड़ता है। परिपाटी के तौर पर ताप और भूयिक अम्ल की जो कसौटियाँ प्रयोगशाला में प्रयुक्त होती हैं उनसे उसका पता नहीं चलता न पता चलने की कोई आवश्यकता होती है क्योंकि इतनी अत्यल्प मात्रा में उत्सर्गित हुई शुक्लि का नैदानिकीय [Clinically] कोई महत्व नहीं होता।

(१) *तापकसौटी* (Heat test)—एक लम्बी पतली नलिका में उसका ⅔ भाग मूत्र लिया जाय। फिर उसका ऊपर का तिहाई भाग बत्ती

पर उबाला जाय, परन्तु खाली नलिका को गरम न करें। अन्यथा उसके चिटकने का डर रहता है। नीचे का दो तिहाई भाग ठण्डा ही रहना चाहिए इसका उपयोग गरम किए हुए मूत्र में होनेवाले परिवर्तनों के साथ तुलना करने के लिए किया जाता है। उबालते समय नलिका को बराबर घुमाते और हिलाते रहना चाहिए तथा उसका मुख अपने विरुद्ध दिशा में रखना चाहिए ताकि मूत्र जोश में आकर बाहर न निकल सके और यदि बाहर निकलें तो अपने ऊपर न आवें। यदि गरम किये गये मूत्र में कोई परिवर्तन न हुआ और वह जैसे कि तैसे निर्मल रहा तो उसमें शुक्लि नहीं है ऐसा अनुमान किया जाता है।

यदि उबाला हुआ मूत्र पारान्ध या अभ्रिन [Opaque or cloudy] हो जाता है तो शुक्लि, भास्वीय, प्रांगारीय [Carbonate] श्लेष्म या न्यष्टि प्रोभूजिन [Nucleo-protein] इनमें से किसी एक के होने की सम्भावना होती है।

[१] यदि मूत्रगत अभ्र या धुंधलापन [Cloudiness] शुक्तिक अम्ल डालने पर पूर्णतया नष्ट होता है तो वह भास्वीय है ऐसा समझना चाहिए।

[२] यदि अभ्र नष्ट होने के साथ मूत्र में से छोटे छोटे वायु के बुलबुले निकलने लगें तो प्रांगारीय हैं ऐसा समझना चाहिए।

[३] यदि अभ्र अंशतः नष्ट हो जाय तो भास्वीय और शुक्लि दोनों हैं ऐसा समझ सकते हैं।

(४) यदि अभ्र ज्यों का त्यों रहे या अधिक हो जाय तो शुक्लि श्लेष्मि या न्यष्टि प्रोभूजिन है ऐसा समझना चाहिए। उसमें फिर भूयिक [Nitric] अम्ल के एक दो बूंद डाल दिये जाँय। यदि मूत्र निर्मल हुआ तो श्लेष्मि या न्यष्टि-प्रोभूजिन और यदि निर्मल न हुआ तो शुक्लि है ऐसा समझना चाहिए। शुक्लि की मात्रा जब लेशमात्र (Trace) होती है तब उसको मालूम करने में कठिनाई होती है। ऐसी अवस्था में नलिकाओं को इस प्रकार सामने रखकर देखी जाय कि उसके पीछे अंधेरा या काला पृष्ठभाग रहे और एक ओर से उस पर प्रकाश आवे।

(२) *वलय या सपर्क कसौटियाँ* (Ring or contact tests)—आगे वर्णन की हुई तीनों कसौटियाँ इस प्रकार की हैं। अतः उनका सामान्य विवरण यहाँ पर दिया जाता है। इसके लिए काँच के मूत्रपात्र में या नलिका में एक ऐसा भारी रसायनिक द्रव लिया जाता है जिस पर मूत्र आसानी से तैरता रहे तथा जिससे मूत्रगत परीक्ष्य द्रव्य उसके सम्पर्क में आने पर निस्सादित होकर वलय के रूप में दिखाई दे। इसलिए इसको सम्पर्क या वलय कसौटिया कहते है। यह वलय सफेद या रंगहीन हो सकता है और जिस प्रकार का होगा उसके अनुसार वह कांच पात्र काली (सफेद के लिए) या सफेद (रंगीन के लिए) पृष्टभूमि (Background) के सामने लेकर देखा जाता है जिससे वह वलय भलीभांति दिखाई दे। मूत्र और भारी द्रव मिलाने का कार्य (१) नलिका में, जैसे की नीचे बताया गया है, किया जा सकता है। (२) यही कार्य शंकाकार काचक में मूत्र लेकर और कांचक कुछ तिरछा करके और नाड़क से धीरे से मूत्र छोड़करके किया जा सकता है। (३) अथवा नाडक (Pipette) में दोनों का संगम करके (Boston's modification) देखा जाता है। इसके लिए एक नाडक में १ इञ्च तक मूत्र लिया जाता है। फिर ऊपर का मुख अंगुली से बन्द करके और बाहर से नाडक अच्छी तरह पोंछ करके भारी द्रव में [जैसे भूयिक अम्ल] डुबोया जाता है। जब उस द्रव का पृष्ठ भाग मूत्र से ऊपर आता है तब अंगुली निकाली जाती है। जिससे कि वह द्रव नाडक के भीतर प्रविष्ट हो जाय फिर अंगुलि से ऊपर का मुख बन्द करके नाडक बाहर निकालकर दो द्रवों के संगम का परीक्षण किया जाता है। [४] ऊर्ध्व बाहु दो नलिकाओं का एक विशेष यन्त्र (Horismascope) भी होता है। इसका एक बाहु चौड़ा और एक पतला होकर पतले का मुख चौड़ा रहता है। प्रथम चौड़ी नलिका में मूत्र आधे तक भर दिया जाता है। पश्चात् पतले बाहु के चौड़े मुख से भूयिक अम्ल जैसा भारी द्रव इतना भर दिया जाता है कि चौड़ी नलिका में नीचे इसकी तह बन जाय। फिर दोनों के संयोग पर वलय देखा जाता है। यह यन्त्र प्रयोगशाला के लिए बहुत अच्छा है।

शुक्लि की कसौटियाँ शुक्लि और आवर्तुलि में कोई भेद नहीं कर सकती। इनमें कुछ बहुत ही सूक्ष्मवेदी होती है। परन्तु नैदानिकोप-

अभिप्राय (Clinical purpose) की दृष्टि से वे बहुत अच्छी नहीं होती। परिपाटी के तौर पर सदैव ताप और हेलर की कसौटियाँ प्रयुक्त होती हैं। २४ घण्टे में स्वस्थ मूत्र में ५० सहस्रिधान्य (mg) शुक्लि का उत्सर्ग होता है। परन्तु ताप और वलय कसौटियों से इसका पता नहीं लगता।

हेलर की वलय कसौटी (Heller's Ring test)—इसमें एक नलिका में आधा इञ्च शुद्ध भूयिक (Nitric) अम्ल लिया जाता है। उसके पश्चात् नलिका को टेढ़ा करके नाड़क (Pipette) से मूत्र इस प्रकार धीरे धीरे उसमें छोड़ा जाता है कि मूत्र अम्ल के भीतर न जाकर उस पर तैरता रहे। धूमायमान (Fuming) भूयिक अम्ल का उपयोग इस कसौटी के लिए न किया जाय, क्योंकि उसका उपयोग करने से मूत्र के साथ वह मिल जाता है।

जब मूत्र में शुक्लि नहीं होती तब अम्ल-मूत्र के संगम पर पारदर्शक वलय या मूत्रवर्ण के कारण किंचित् भूरा [Brownish] वलय बन जाता है। इसका कोई महत्व नहीं होता परन्तु शुक्लि की अनुपस्थिति का निर्णय ३ मिनिट के पहले न करना चाहिए। मूत्र में जब शुक्लि होती तब दोनों के संगम पर सफेद या पारान्ध तह बन जाती है जो वलय [Ring] के रूप में दिखाई देती है।

अन्य द्रव्यों के कारण भी इन दोनों के संगम पर भिन्न भिन्न वर्ण के वलय बनते हैं।

मूत्रपित्ति अधिक होने पर	—	गुलाबी [Violet]
पित्त	—	नीला या हरा
निनीलिन्य [Indican]	—	नीलवर्ण या गुलाबी
रक्त	—	लाली लिए भूरा

(आ) ताप और भूयिक अम्ल कसौटी—एक नलिका में निस्यन्दित किया हुआ (Filtered) ५ घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसको उबाला जाय। पश्चात् उसमें सकेन्द्रित [Concentrated] भूयिक अम्ल के १-२ बूंद डाले जाँय। सफेद बादल के समान या ऊर्णामय [Flocculent]

निस्साद शुक्ल का निदर्शक होता है। यह निस्साद मूत्र उबालने पर ही बनता हैं। परन्तु जब शुक्लि की मात्रा बहुत कम होती है तब अम्ल छोड़ने पर ही बनता है। जो निस्साद अम्ल छोड़ने पर घुल जाता है वह भास्वीयों का होता है। इसमें अम्ल सदैव मूत्र उबालने पर और उचित मात्रा में डालना चाहिए। अन्यथा शुक्लि निस्सादित ही नहीं होती या निस्सादित हुई फिरसे घुल जाती है। रालयुक्त [Resinous] औषधियों के सेवन करने पर इस कसौटी में सफेद निस्साद बनता है, परन्तु उस पर सुषव [Alcohol] डालने से वह घुल जाता है। गुणात्मक परीक्षण के अतिरिक्त इस कसौटी से शुक्लि की आसन्न मात्रा का भी ज्ञान हो सकता है यदि उस नलिका को २८ घण्टे रक्खा जाय और तद्गत निस्साद की मात्रा देखी जाय। यदि मूत्र का समूचा भाग निस्साद से गाढ़ा हो गया हो तो शुक्लि २--३ प्रतिशत, यदि निस्साद आधा हो तो १ प्रतिशत, यदि तिहाई हो तो ०'५ प्रतिशत, यदि चौथाई हो तो ०'२५ प्रतिशत यदि दसवाँ हिस्सा हो तो ०'१ प्रतिशत और यदि किंचित् अभ्रसम निस्साद हो तो ०'०१ प्रतिशत समझ सकते हैं।

[४] त्रिनीर-शुक्तिक अम्ल कसौटी [Trichloracetic acid test]—इसके लिए त्रिनीर शुक्तिकअम्ल का संतृप्त [Saturated] जलीय घोल प्रयुक्त होता है। इसमें संतृप्ति तक आजातु शुल्वीय [Mag. sulphate] भी डाला जाता है। इससे आवर्तुलि का निस्साद होने में तथा अम्ल की गुरुता बढ़ने में वलय अच्छा बनने में सहायता होती है। यह कसौटी भूयिक कसौटी के समान [२ देखो] की जाती है। मूत्र में शुक्लि होने पर दोनों के संगम पर सफेद वलय बन जाता है। यह कसौटी बहुत ही सूक्ष्मवेदी अतएव विश्वसनीय है। परन्तु इसका उपयोग परिपाटी के तौर पर नहीं किया जाता, आवश्यकता पड़ने पर अल्प सूक्ष्मवेदी कसौटियों की पुष्टि के लिए किया जाता है।

[५] शुल्वा नम्रलिकअम्ल कसौटी [Sulphosalicylic acid test]—इसमें शुल्वा नम्रलिक अम्ल का २० प्रतिशत घोल उपर्युक्त पद्धति के अनुसार प्रयुक्त होता है। यह कसौटी उपर्युक्त कसौटी से भी अधिक सूक्ष्मवेदी है तथा अधिक विश्वसनीय है क्योंकि उपर्युक्त कसौटी के समान मूत्र में मेहीय अधिक होने पर तथा रालयुक्त द्रव्य रहने पर वे इसमें

निस्सादित नहीं होते। केवल यही नहीं, नलिकागत मूत्र में इस अभिकर्त्ता [Reagent] के कुछ बूंद डाल के या यह अम्ल घन स्थिति में जरा सा डाल के सफेद अभ्र (Cloud) मिलने पर शुक्लि की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है। चिकित्सक की दृष्टि से रोगी के पास बैठे बैठे उसके मूत्रगत शुक्लि का पता लगाने के लिए घन अम्ल का उपयोग बहुत ही सुविधाजनक होता है।

कसौटी फल निर्देश की योजना (Scheme for recording-results)—गुणात्मक परीक्षण से इयत्ता का भी कुछ अनुमान हो इस दृष्टि से यह योजना बनायी है। यह बहुत उपयोगी है इसमें सन्देह नहीं परन्तु यदि मूत्र में लवणों की मात्रा अधिक रही तो उसका परिणाम निस्साद के स्वरूप और राशि पर होता है इसको ध्यान में रखना चाहिए। यह योजना ताप और भूयिक अम्ल कसौटियाँ (जो परिपाटी के तौर पर सदैव काम में लायी जाती हैं) पर अधिष्ठित है।

(१) लेशमात्र (Trace)—वलय या अभ्रता काली पृष्ठ भूमि पर देखने से दिखाई देते हैं।

(२) अल्पमात्रा (Small amount)—ताप कसौटी में दानेदार (Granular) अभ्र स्पष्टतया दिखाई देता है, परन्तु उसमें ऊर्णिकाएँ (Floccules) नहीं दिखाई देतीं तथा २४ घण्टे रखने पर अवसाद मूत्र राशि का दसवाँ हिस्सा नीचे बैठा हुआ दिखाई देता है। वलय कसौटी में वलय घना जरूर रहता है परन्तु ऊपर से देखने पर पूर्णतया पारान्ध नहीं होता। मात्रा ०·१ प्रतिशत।

(३) अनतिमात्र (Moderate amount)—ताप कसौटी में अभ्र काफी घना और ऊर्णीमय। वलय कसौटी में वलय काफी मोटा और पूर्ण पारान्ध, कभी कभी दधिसम [Curdy]। मात्रा ०·२–०·३ प्रतिशत।

(४) अतिमात्र (Large amount)—ताप कसौटी में निस्साद बहुत भारी दही के समान और क्वचित् गाढ़ा। वलय कसौटी में वलय बहुत घना। मात्रा ०·५ प्रतिशत या इससे अधिक।

इनका उल्लेख शुक्लि १, २, ३, ४ इस प्रकार भी किया जाता है।

हेत्वाभास (Fallacies)—शुक्लि के लिए मूत्र की जाँच करते समय यदि मूत्र में निम्न द्रव्य उपस्थित रहे तो हेत्वाभास उत्पन्न होकर अस्त्यात्मक निर्णय देने में कठिनाई उत्पन्न होती है। परन्तु प्रत्येक कसौटी के हेत्वाभास भिन्न होने के कारण दोनों का प्रयोग करने पर अस्त्यात्मक निर्णय देने में कठिनाई नहीं होती।

(१) उद्यास या राल (Resins)—इस वर्ग के द्रव्यों का (जैसे Copaiba) सेवन करनेवालों के मूत्र में इनका काफी अंश उत्सर्गित होता है, जो भूयिक अम्ल की कसौटी में फैला हुआ सफेद अभ्र उत्पन्न करता है। यदि इसकी आशंका हो तो सुपत्र का प्रयोग (पृष्ठ) करना चाहिए या ताप कसौटी से भी देखना चाहिए, क्योंकि उसमें इससे कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती।

(२) प्रोभूजधु (Proteoses)—ये प्रायः शुक्लि के साथ उत्सर्गित होते हैं और कभी कभी स्वतन्त्रतया भी। प्राथमिक और द्वितीयक करके इनके दो प्रकार होते हैं। ताप कसौटी में इन दोनों से भी अभ्र पैदा नहीं होता। प्राथमिक (Primary) प्रोभूजधु तिक्कातु शुल्वीय (Ammon sulphate) से अर्धसंतृप्त होने पर निस्सादित होता है तथा भूयिक अम्ल कसौटी में वलय उत्पन्न करता है जो गरम करने पर अदृश्य होता है और ठण्ढा करने पर फिर से दृश्य होता है। द्वितीयक प्रोभूजधु तिक्कातु शुल्वीय से पूर्ण संतृप्त होने पर ही निस्सादित होता है तथा भूयिक अम्ल में वलय नहीं बनाता। यदि इनके लिए जाँच करना हो तो मूत्र को शुक्तिक (Acetic) अम्ल से अम्ल करके और उबाल के निस्यन्दित किया जाय जिससे शुक्लि, श्लेष्मि और आवर्तुलि मूत्र से हट जाय। पश्चात् त्रिनीर शुक्तिक अम्ल से इनकी जाँच की जाय।

(३) बेन्सजोन्स प्रोभूजिन—भूयिक अम्ल के साथ यह द्रव्य सफेद वलय बनाता है जो गरम करने पर घुल जाता है और ठण्ढा होने पर फिर से बनता है। ताप कसौटी में जब ताप ६०° श (C) होता है तब इसका घना निस्साद बनता है जो उबालने पर नष्ट होता है। शुक्लि के परीक्षण में मूत्र उबाल करके जाँच करने पर दोनों में भ्रम नहीं हो सकता। नैत्यिक परीक्षण में मूत्र गरम होने पर आया हुआ निस्साद यदि अधिक गरम होने पर अंशतः या पूर्णतः घुल जाय तो इसका ख्याल रखना चाहिए और अन्य विशेष पद्धतियों से इसका निर्णय कर लेना चाहिए। दोनों

साथ रहने पर मूत्र को शुक्तिक अम्ल से अम्ल बनाकर उबाला जाय और उस समय जब कि मूत्र उस उबालने के ताप पर हो निस्यन्दित (Filter) करें। इससे निस्यन्द (Filtrate) में बेन्सजोन्स प्रोभूजिन आ जायगा। फिर उसको उपर्युक्त ताप पद्धति से जान लें।

(४) श्लेष्मि (Mucin)—इसमें श्लेषाभ (Mucoid) न्यष्टि प्रोभूजिन इत्यादि द्रव्य समाविष्ट किये जाते हैं। ये द्रव्य स्वस्थ मूत्र में अल्पांश में रहते हैं और ज्वर तथा मूत्र संस्थान के प्रकोप और शोथ में विशेषतया स्त्रियों में अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं। ये क्षारिय मूत्र में घुले हुए रहते हैं और अम्ल मूत्र में अनघुल होने के कारण सफेद ऊर्णा निस्साद बनाते हैं। भूयिक अम्ल कसौटी में इनसे जो वलय बनता है वह शुक्लि के समान दोनों के संगम पर न होकर कुछ ऊँचाई पर तथा फैला हुआ (Diffuse) रहता है। श्लेष्म युक्त मूत्र पानी से मिश्रित करके बिना गरम किये शुक्तिक (Acetic) से अम्ल करने पर उसमें सफेद अभ्र बनता है। इस प्रकार कुछ भेद होते हुए भी ताप कसौटी में इससे भी कुछ निस्साद उत्पन्न होने के कारण शुक्लि की जाँच में कठिनाई उत्पन्न होती है।

(५) मेहूत (Urates)—मूत्र बहुत गाढ़ा होने पर भूयिक अम्ल के सम्पर्क में ये भी अभ्र बनाते हैं जो गरम करने पर अदृश्य होता है और ठण्डा होने पर फिर से दिखाई देने लगता है जिससे प्रोभूजधु का भ्रम हो सकता है। इसके लिए मूत्र पानी से सर्वामिश्रित करके फिर भूयिक अम्ल कसौटी से देखना चाहिए।

(६) मिह (Urea)—मूत्र में जब मिह की मात्रा अधिक होती है तब भूयिक अम्ल मिह के संगम पर मिहभूयीय (Nitrate) का स्फटिकाकार निस्साद बन जाता है। विशेष सूक्ष्मता से देखने पर इस निस्साद का स्फटिकाकार स्वरूप स्पष्ट मालूम होता है। परन्तु यदि सन्देह हो तो मूत्र को पानी से पतला करके फिर से कसौटी प्रयुक्त की जाय।

संक्षेप में उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शुक्लि की जाँच में नास्त्यात्मक निर्णय देने की दृष्टि से प्रत्येक कसौटी पूर्ण विश्वसनीय होती है। अतः ताप या भूयिक अम्ल कसौटी का फल नास्त्यात्मक मिलनेपर दूसरी

कसौटी का उपयोग करने का कोई विशेष कारण नहीं होता। परन्तु जब निर्णय अस्त्यात्मक देना होता है तब दोनों ताप और भूयिक अम्ल कसौटियों का प्रयोग करके दोनों अस्त्यात्मक मिलने पर ही शुक्लि उपस्थित है ऐसा निर्णय देना चाहिए, अन्यथा नहीं। फिर भी यदि सन्देह हो तो अनेक बार जाँच करनी चाहिए।

इयत्तात्मक परीक्षण (Quantitative examination)—मूत्र के नैत्यिक परीक्षण में शुक्लि के इयत्तात्मक आगणन की कोई आवश्यकता नहीं होती, गुणात्मक परीक्षण से जो अनुमान निकलता है उतना पर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त इयत्तात्मक आगणन की जो पद्धतियाँ होती हैं वे पूर्णतया शुक्लि की निश्चित मात्रा बताने में समर्थ नहीं होती हैं। फिर भी वृक्कशोथ की चिकित्सा में रोग की प्रगति या परागति मालूम करने के लिए आगणन किया जाता है। इसके लिए मूत्र स्वच्छ तथा प्रतिक्रिया में अम्ल होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो उसको निस्यन्दित करके तथा शुक्तिक अम्ल के कुछ बूँद मिला के ले लिया जाय। जब रोग की प्रगति की दृष्टि से नियत दिनों पर बराबर आगणन करना होता है तब नियत समय के मूत्र का ही उपयोग करें।

(१) एस्बाक की पद्धति (Esbach's method)—यह पद्धति अत्यल्प मात्रा में शुक्लि होने पर उपयोगी नहीं होती। शुक्लि की मात्रा ०·०५ प्रतिशत से अधिक जरूर होनी चाहिए। वैसे ही १००- अधिक गुरुता होने पर इसका उपयोग ठीक नहीं होता। इसलिए यदि मू' की गुरुता अधिक हो तो उसको निर्यक् पातित पानी से दुगुना या तिगुना अवमिश्रित करके ले लिया जाय और जो फल मिले उसको उतने गुना बढ़ाया जाय।

इसके लिए एस्बाक का शुक्लि मापक (Albuminimeter पृष्ठ २७४ चि०नं० ५)प्रयुक्त होता है। उसके ऊपर एक स्थान पर यू (U) लिखा रहता है। वहाँ तक मूत्र भर दिया जाता है। ऊपर आर (R) लिखा हुआ रहता वहाँ तक एस्बाक का प्रतिकर्ता (Reagent) भर दिया जाता है। तत्पश्चात् डाँट लगाकर कई बार वह मापक उलट पुलट दिया जाता है जिससे मूत्र और प्रतिकर्ता भलीभांति आपस में मिल जाय। उसके पश्चात् २४ घण्टे तक वह मापक ठण्डे स्थान में रख दिया जाता है। दूसरे दिन निस्साद की ऊंचाई गिनी जाती है। इस मापक पर जो अंक

लिखे रहते हैं वे एक प्रस्थ (१००० घ० शि० मा०) में शुक्लि की मात्रा धान्य में प्रदर्शित करते हैं। अतः प्रतिशतता निकालने के लिए जिस अंक तक निस्साद रहता है उसको १० से भाग देना पड़ता है। मान लीजिएगा कि २ तक निस्साद रहा तो मूत्रगत शुक्लि की प्रतिशतता ·२ होगी। इसमें दोष यह है कि फल मालूम करने के लिए २४ घण्टे तक रुकना पड़ता है। यह दोष एस्बाक का प्रतिकर्ता डालने के पश्चात् कोयला, झावाँ (Pumice) प्रमृद् (Kaolin) या हर्यातु शुल्बीय (Barium Sulphate) की तिनका भर बुकनी उसमें छोड़ने से दूर होता है, क्योंकि ये द्रव्य शुक्लि के अवसादन में सहायता करके १०-३० मिनिट में शुक्लि को नीचे भलीभांति बैठा देते हैं।

एस्बाक का प्रतिकर्ता—

(१)	कटुविक अम्ल (Picric acid)	१ धान्य (Gram)
	निम्बविक अम्ल (Citric acid)	२ ,,
	तिर्यक्पातित जल (Distilled water)	१०० घ० शि०मा० (C.C.)
(२)	त्रिनीरशुक्तिक अम्ल(Trichloracetic acid)	१० घ० शि० मा०
	पानी	१०० ,,

एस्बाक की पद्धति में इन दोनों में से कोई एक प्रतिकर्ता (Reagent) प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम प्रतिकर्ता से मिलनेवाले फल पर मूत्र के ताप और गुरुता का (Sp. Gr,) विशेष परिणाम होता है। दूसरा प्रतिकर्ता इस दोष से कुछ अंश तक निर्मुक्त रहता है। इस लिए उससे मिलनेवाला फल पहले की अपेक्षा सूक्ष्मदर्शी होता है। अतः इयत्तात्मक परीक्षण में दूसरा प्रतिकर्ता ही अधिक अच्छा होता है।

(२) सुचिया की पद्धति (Tsuchiya's method)—

भास्वचण्डिक अम्ल (Phosphotungstic acid)	१·५ धान्य
सुषव (Alcohol 96 %)	९५ घ० शि० मा०
सकेन्द्रित उदनीरिकअम्ल (Concentrated HCl	५ घ० शि० मा०

यह पद्धति एस्बाक के समान ही होती है। केवल इसमें एस्बाक के प्रतिकर्ता के स्थान में सुचिया का प्रतिकर्ता प्रयुक्त होता है। यह प्रतिकर्ता एस्बाक के दूसरे प्रतिकर्ता से भी अधिक सूक्ष्म फल देनेवाला

होता है इसलिए अल्पमात्रा में शुक्लि होने पर उसके मानगणन के लिए इसी का उपयोग करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

(३) पर्डी की केन्द्रापसारी पद्धति (Purdy's centrifugal method)—इसमें एक अंकित केन्द्रापसारिका (Graduated centrifuge tube) में १० घ० शि० मा० मूत्र २ घ० शि० मा० ५० प्रतिशत शुक्तिक अम्ल का घोल और ३ घ० शि० मा० १० प्रतिशत दहातु अयस्यश्यामेय (Pot ferrocynide) का घोल लेकर वे भलीभांति मिलाकर वह नलिका १० मिनिट रख दी जाती है। उसके पश्चात् केन्द्रापसारित्र (Centrifuge) में वह नलिका प्रति मिनिट १५०० परिक्रमण की गति से ३ मिनिट या निस्साद स्थिर होने तक घुमायी जाती है। उसके पश्चात् निस्साद की राशि देखकर नीचे की सारणी के अनुसार शुक्लि का प्रतिशत मात्रा निकाली जाती है। जब शुक्लि की मात्रा बहुत अधिक होती है तब मूत्र को पानी से अवमिश्रित करके प्रयुक्त किया जाय और आये हुए फल को उतने गुना बढ़ावें।

निस्साद की राशि घ० शि० मा० में	प्रतिशत प्रमाण तोल में	निस्साद की राशि घ० शि० मा० में	प्रतिशत प्रमाण तोल में
०·१०	१·०२१	१·५	०·३१३
०·५०	०·१०४	२·०	०·४१७
१·००	०·२०८	२·५	०·५२१

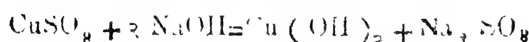
दिये हुए अंकों के बीच में निस्साद की राशि होने पर जिस अंक के ऊपर निस्साद होगा उसकी प्रतिशत राशि में प्रति $\frac{1}{10}$ घ० शि० मा० के पीछे ·०२१ मिलाना चाहिए। जैसे मान लीजिएगा कि निस्साद १·३ घ० शि० मा० पर है तो एक घ० शि० मा० की ०·२०८ प्रतिशत राशि में ·३ की (·०२१ × ३) ·०६३ मिलाना चाहिए जिससे कुल प्रतिशत राशि ०·२७१ (·२०८ + ·६३) होगी।

शर्कराएँ Sugars

मधूम (Glucose)— मूत्र में अनेक शर्कराएं मिल सकती हैं। परन्तु उनमें द्राक्षधु (Dextrose) या मधुम सबसे महत्व की तथा अधिक मिलनेवाली शर्करा है।

परीक्षण करने से पहले यदि मूत्र क्षारिय हो तो उसको अम्ल बनाया जाय। वैसे ही यदि उसमें शुक्लि की मात्रा अधिक हो तो उसको उबालकर तथा छानकर निकाल दिया जाय। क्योंकि वह प्रतिक्रिया में बाधा उत्पन्न करती है। यदि शुक्लि की मात्रा अत्यल्प हो तो निकालने की आवश्यकता नहीं होती।

उपलम्भन का सिद्धान्त (Principle of detection)— मूत्र में शर्कराओं का अस्तित्व उनके प्रह्रासक गुणधर्म (Reducing property) के आधार पर मालूम किया जाता है। प्रह्रसन के लिए नीले तूतिया ($CuSO_4$) का उपयोग किया जाता है। नीला तूतिया दाहक क्षार के साथ मिलाने पर निम्न सूत्र के अनुसार ताम्रिक जलीयित ($Cu(OH)_2$) में परिवर्तित होता है।



$$CuSO_4 + 2NaOH = Cu(OH)_2 + Na_2SO_4$$

ताम्रिक जलीयित वैसे अनघुल रहता है परन्तु राशेली लवण (Sodium potassium tartrate) की उपस्थिति में घुलनशील होकर गहरा नीला बनता है और पानी में घुल जाता है। फेलिंग के १ और २ वीं घोल मिलाने पर यही क्रिया होती है। शर्करा की उपस्थिति में जब यह ताम्रिक जलीयित गरम किया जाता है तब वह ताम्रयजलीयित में ($Cu_2(OH)_2$) प्रथम प्रह्रसित होता है जिसका रंग पीला होता है।



$$Cu(OH)_2 + C_6H_{12}O_6 = Cu_2(OH)_2 + H^2O$$

अधिक गरम करने पर ताम्र जलीयित से पानी का एक व्यूहाणु (Molecule) निकल जाता है और सुर्खी के रंग का अजल (Anhydrous) ताम्र्य जारेय बनता है—



$$Cu^2(HO)_2 = 2CuO + H_2O$$

ताम्र के ये दोनों योग रंगीन तथा अनघुल होने के कारण नलिकागत तरल को रंगीन बनाते हैं तथा उसमे छोटे छोटे कणों के रूप में दिखाई देते हैं। जब नलिका कुछ काल तक रक्खी जाती है तब ये सब कण तलछट के रूप में बैठ जाते हैं और ऊपर स्वच्छ तरल रह जाता है।

शर्कराओं के इस प्रकार के प्रह्रसन के गुण के आधार पर जो अनेक कसौटियाँ उनकी जाँच के लिए प्रयुक्त होती हैं उनमें निम्न दो प्रधान तथा विशेष रूप से प्रचलित हैं।

(१) **फेलिङ्ग की कसौटी** (Fehling's test)—इसके लिए निम्न दो विलयनों की आवश्यकता होती है—

(१)	फेलिंग ए.	स्फटिकाकार शुद्ध नीला तूतिया ($CuSO_4$)	३४.५ धान्य
		त्रियंक् पातितजल	५०० घ. शि. मा.
(२)	,, बी.	रोशेली लवण (Rochelle Salt)	१७३ धान्य
		दाहक सर्जि या क्षार (Caustic Soda)	५० धान्य
		त्रियंक् पातितजल	५०० घ. शि. मा.

ये दोनों विलयन स्वतन्त्र शीशियों में रक्खे जाते हैं और आवश्यकता के समय सम प्रमाण में प्रयुक्त होते हैं। दोनों के मिलने से गहरे नीले रंग का घोल बन जाता है और यदि मूल विलयनों में कोई खराबी न हुई हो तो यह मिश्र घोल उबालने पर भी जैसे के तैसे नीला रह जाता है। यदि उनमें कोई खराबी हुई हो तो गरम करने पर उसका नीला रंग फीका होने लगता है तथा उसमें कुछ निस्साद बनने लगता है। फिर ऐसे घोल शर्करा परीक्षण के लिए न प्रयुक्त करने चाहिए, क्योंकि ये जो परिवर्तन दिखाई देते हैं वे शर्करा द्वारा होनेवाले परिवर्तनों के समान, अर्थात् प्रह्रासन जन्य होने के कारण धोखा हो जाता है।

कसौटी की पद्धति—एक नलिका में फेलिंग ए और बी सम प्रमाण में मिलाकर (५ घ० शि० मा०) उबालें। दूसरी नलिका में उतना ही मूत्र लेकर दोनों को स्वतन्त्रतया उबालें और पश्चात् दोनों को मिश्र करें, परन्तु फिर से न उबालें। यदि मूत्र में .५ प्रतिशत से अधिक शर्करा होगी तो लाल निस्साद तुरन्त बन जायगा। यदि इससे कम रही तो दो तीन मिनिट के बाद या द्रव ठण्डा होने पर निस्साद दिखाई देगा।

इसलिए यदि तुरन्त 'ीला निस्साद न मिला तो नलिका कुछ देर तक रखके या उसको पानी से ठण्डा करके पश्चात् देखा जाय।

दोष—(१) मधुम (Glucose) के समान फलशर्करा (Fructose) और यव्यधु (Maltose) मूत्र में होने पर फेलिंग का प्रह्रासन होता है। दुग्धधु (Lactose) यह कार्य मन्दता से और पंचधु (Pentose) अधिक मन्दता से करता है।

(२) मूत्र के कुछ स्वाभाविक संघटक भी अल्पांश में इसका प्रह्रासन या केवल विरंजन करते हैं जब वे अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं—जैसे, श्लेष्मि, मेहिक अम्ल तथा मिहेय (Urates), क्रिय्ययी, अश्वमेहिक अम्ल इत्यादि।

(३) रोगी को दी हुई कुछ औषधियाँ भी यह कार्य करती हैं—जैसे, कपूर अफीम और उसके क्षाराभ (Alkaloid), प्रांगविक (Carbolic अम्ल, नम्रर्लाय (Salicylates) और नम्रलिक अम्ल, नीरसु (Chloral) इत्यादि।

(४) मूत्रपरिरक्षणार्थ प्रयुक्त द्रव्य—जैसे वम्रि (Formalin), नीरवम्रल (Chloroform) पृष्ठ ३७९ देखिए।

सावधानता—इन दोषों को दूर करने की दृष्टि से फेलिंग कसौटी को काम में लाते समय निम्न बातों पर ध्यान दें। फेलिंग का घोल छोड़ने से पहले मूत्र को भी फेलिंग के समान अच्छी तरह उबाल लें। इससे नीरवम्रल तथा मूत्रगत कुछ द्रव्य नष्ट होकर प्रह्रासन कम हो जाता है। यदि मूत्र गाढ़ा या संकेन्द्रित हो तो उसको प्रथम एक या दुगुने पानी से अवमिश्रित करके पश्चात् काम में लावें। मूत्र फेलिंग से कभी भी अधिक मात्रा में न मिलावें आधा या कुछ कम ही रक्खें। इस दृष्टि से उबालते हुए फेलिंग के घोल में बूंद बूंद करके मूत्र छोड़ने की पद्धति अधिक अच्छी है।

बेनिडिक्ट की कसौटी (Benidict's test)—इसके लिए निम्न घोल की आवश्यकता होती है।

तुत्थ शुद्ध ($Cu\ SO_4$)	१७·३ धान्य
क्षारातु या दहातु निम्बवीय (Sodium or Potassium citrate)	१७३ धान्य
क्षारातु प्रांगारीय (स्फटिकाकार)	२०० धान्य
तिर्यक्पातित अम्ब	१००० घ० शि० मा० तक

क्षारातु प्रांगारीय स्फटिकाकार (Crystaline Sodium carbonate) न हो तो अजलीय (Anhydrous) क्षारातु प्रांगारीय १०० धान्य ले सकते हैं। प्रथम निम्बबीय और प्रांगारीय ७०० घ० शि० मा० जल में ताप से विलीन करके तत्पश्चात् उस विलयन को निस्यन्दित करें। फिर तुत्थ १०० घ० शि० मा० जल में विलीन करके वह विलयन धीरे धीरे प्रथम विलयन में मिला दें और मिलाते समय उसको अच्छी तरह बराबर हिलाते रहें। फिर यह मिश्रण ठण्ढा होने पर उसमें उतना जल छोड़े जिससे सब मिलकर ठीक १००० घ. शि. मा. हो जाय।

कसौटी की प्रक्रिया—एक नलिका में ५ घ० शि० मा० उपर्युक्त बेनीडिक्ट का घोल लेकर उसको प्रथम उबालें इसलिए कि यदि घोल में कोई दोष हो तो उसका पता लग जाय। पश्चात् उसमें ५ १० बूंद (इससे अधिक कदापि नहीं) मूत्र छोड़कर १-२ मिनिट तक अच्छी तरह उबाले और फिर उसको ठण्ढा होने दें। शर्करा की अनुपस्थिति का निर्णय करने से पहले इसका ठण्ढा होना बहुत आवश्यक है। शर्करा न होने पर घोल जैसे के तैसे नीला रह जाता है। जब मेहियों (Urates) की अधिकता मूत्र में होती है तब गहरा नीला रंग हलका नीला होता है। जब भास्वीय मूत्र में होते हैं तब सफेद ऊनी (Flocculent) निस्साद बनता है। जब शर्करा होती है तब हरा, पीला या लाल रंग उत्पन्न होकर लाल या पीला निस्साद उत्पन्न होता है।

जब शर्करा अधिक होती है तब तप्त स्थिति में भी, परन्तु जब शर्करा $\frac{1}{10}$ प्रतिशत या इससे कम होती है तब द्रव ठण्ढा होने पर ही उपर्युक्त स्वरूप का लाल या पीला निस्साद अल्प मात्रा में दिखाई देता है। इसलिए तप्तावस्था में परिवर्तन न दिखाई देने पर नलिका को ठण्ढा होने के लिए रखदें और ठण्ढा होने पर देखें। जब अनेक मूत्रों की जाँच शर्करा के लिए करनी होती है तब पानी में दो तिहाई भरे चंचुकी (Beaker) में क्रमांक देकर सब नलिकाओं को रखकर ५ मिनिट तक वह पानी उबाला जाय। पश्चात् उनका परीक्षण करें।

तुलनात्मक गुणदोष—मूत्रगत शर्करा के उपलम्भन के लिए फेलिंग और बेनिडिक्ट दोनों भी प्रयुक्त होती हैं। परन्तु दोनों में निम्न भेद है—(१) शर्कराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक मूत्रगत स्वाभाविक तथा औषधि रूप

प्रयुक्त द्रव्यों से फेलिंग प्रह्रासित होता है; परन्तु बेनिडिक्ट पर मिहिक अम्ल, कपियर्ी, नीरवम्रल (क्लोरोफार्म) वस्रि (फार्मालिन) तथा अन्य औषधियाँ इनका प्रह्रासक परिणाम नगण्य होता है। (२) फेलिंग के लिए दो घोल स्वतन्त्रतया रखने पड़ते हैं। बेनिडिक्ट कसौटी लगभग दसगुना अधिक सूक्ष्मवेदी (Sensitive) होती है जो मूत्रगत .०१% तक शर्करा या अन्य प्रह्रासक द्रव्यों का पता लगा सकती है। इस कारण से फेलिंग की अपेक्षा बेनिडिक्ट अधिक लोकप्रिय तथा अधिक प्रचलित भी हुई है। परन्तु कुछ लोगों का बेनिडिक्ट की अधिक सूक्ष्मवेदिता के विरुद्ध यह आक्षेप है कि उसका प्रयोग करने से स्वस्थ मूत्र में जो शर्करा तथा अन्य प्रह्रासक द्रव्य अल्प मात्रा में (.१ प्रतिशत से कम) उपस्थित रहते हैं वे वैकारिक समझने की भूल हो सकती है। इसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि मूत्र परीक्षण के प्राप्त फल का उचित अर्थ किया जाय तो सूक्ष्मवेदिता इसका अवगुण न होकर गुण ही होता है। (४) फेलिंग की अपेक्षा बेनिडिक्ट की अस्त्यात्मक प्रतिक्रिया (नीले रंग का अदृश्य होना) अधिक सरलता से तथा निश्चित से मालूम होती है। (५) फेलिंग का नास्त्यात्मक फल (अर्थात प्रतिक्रिया का न मिलना) शर्करा की अनुपस्थिति की दृष्टि से विश्वसनीय होता है, परन्तु अस्त्यात्मक (विशेषतः अल्प मात्रा) अधिक सन्देहास्पद रहता है, क्योंकि उससे शर्करा और अशर्करा दोनों का बोध होता है। इसलिए बीमा कम्पनी के परीक्षक फेलिंग को अधिक पसन्द करते हैं। बेनिडिक्ट में नास्त्यात्मक प्रतिक्रिया मिल सकती है, परन्तु सूक्ष्मवेदिता के कारण मिलने की सम्भावना कम रहती और जब अल्प मात्र अस्त्यात्मक रहती है तब यह भी सन्देहास्पद होती है, परन्तु फेलिंग के समान सन्देह शर्करा या अशर्करा के बीच में न होकर (Homogentisic acid जैसे एकाध अपवाद को छोड़कर) शर्करा की मात्रा स्वाभाविक है या वैकारिक इसके बीच में होता है।

फलनिर्णय की पद्धति—जब साथ साथ इयत्तात्मक आगणन नहीं किया जाता तब बेनिडिक्ट कसौटी का फल निम्न प्रकार से लिखा जाता है जिससे मूत्रगत शर्करा की मात्रा का कुछ अनुमान हो सके—

(१) + लेशमात्र—जब ८–१० बूंद मूत्र डालकर २ मिनिट उबालने पर कोई फर्क नहीं होता, परन्तु द्रव ठण्डा होने पर हरापन दिखाई देता है।

(२) + + अल्पमात्र—एक मिनिट उबालने पर प्रतिक्रिया मिलती है।

(३) + + + अनतिमात्र—१५ सेकन्ड उबालने पर प्रतिक्रिया मिलती है।

(४) + + + + अतिमात्र—उबलते हुए प्रतिकर्ता में मूत्र डालते ही प्रतिक्रिया मिलती है।

(३) अभिषवण कसौटी (Fermentation test)—किण्व या खमीर (yeast) मधुम में अभिषवण उत्पन्न करके अंगार द्विजारेय (CO_2) बनाता है। इसकी उत्पत्ति को देखकर मूत्रगत मधुम की उपस्थिति का तथा उसकी राशि को नापकर उसकी मात्रा का ज्ञान किया जाता है। परिपाटी के तौर पर इस कसौटी का उपयोग शर्करा की जाँच करने के लिए नहीं किया जाता, क्योंकि इसका फल मालूम करने के लिए अधिक समय लगता है। इसका उपयोग मुख्यतया प्रकासक द्रव्यों में मधुशर्करा है कि नहीं इसका पता लगाने के लिए किया जाता है जब कि मधुम की उपस्थिति के सम्बन्ध में सन्देह रहता है। इसके परीक्षणार्थ मूत्र में कोई भी परिरक्षक द्रव्य न होना चाहिये। वैसे ही जिस मूत्र में तिक्तातिक्त (Ammoniacal) अभिषवण आरम्भ हो गया है वह मूत्र भी इसके लिए योग्य नहीं होता है।

एक नलिका में १५–२० घ० शि० मा० सद्योत्सृष्ट मूत्र लेकर तृणाणुजन्य अभिषवण (Bacterial fermentation) रोकने के लिए उसमें किञ्चित् भर तिन्तिडिक (Tartaric) अम्ल डाला जाय। इसके पश्चात् उसमें ताजे किण्व रोटी (yeast-cake) का मटर के बराबर टुकड़ा डालकर उसको धीरे धीरे हिलाकर अच्छी तरह मिला देना चाहिए। फिर एक छोटी नलिका में उस मूत्र को भरकर उसको इस प्रकार डॉट लगा दे कि उसमें अल्पमात्र भी वायु न रहे। दूसरी उसी प्रकार की नलिका में किण्व न डाला हुआ परन्तु तिन्तिडिक अम्ल से अम्ल किया हुआ मूत्र भरकर और डॉट लगाकर दोनों नलिकाएं पानी भरे हुए चषकी (Beaker) में इस प्रकार रखें कि उनका डॉट लगा हुआ मुंह नीचे पानी

में डुबा रहे। दूसरी नलिका नियन्त्रणार्थ रक्खी रहती है। फिर वह नलिकायुक्त चक्रकी उष्मपोषक (Incubator) में २–३ घण्टे तक रक्खी जाती हैं। जिसमें शर्करा होती है उस मूत्र की नलिका में किण्व के कारण काफी प्रां० द्वि० वायु इकट्ठा होता है और जिसमें किण्व नहीं होता उसमें नहीं बनता। इस वायु के बनने से मधु शर्करा की उपस्थिति मालूम की जाती है।

(४) दर्शल उदाजीवी कसौटी (Phenyl hydrazine test)—एक चौड़ी नलिका में दर्शल उदाजीवी के पाँच बूंद, हिम्य शुक्तिक (Glacial acetic) अम्ल के १० बूंद और नमक के संतृप्त घोल (Saturated) का १ घ० शि० मा० लिया जाता है। फिर उसमें ३–४ घ० शि० मा० मूत्र और ४–५ घ० शि० मा० पानी मिलाया जाता है। पश्चात २-३ मिनिट तक बहुत जोर से उसको उबाला जाता है। उबालते समय नलिका को बराबर हिलाते रहना चाहिए ताकि भीतर का तरल बाहर न फेंका जाय। उबालने पर मात्रा ३ घ० शि० मा० के करीब रहना चाहिए। फिर उसको ठण्डा होने के लिए रख दिया जाय जब तर्लो में मधुध्वजीवा (Glucosazone) के स्फटिक बनते हैं। जब तरल धीरे धीरे शीत होता है तथा शीत होते समय उसमें प्रक्षोभ नहीं होता तब स्फटिक बहुत उत्तम बनते हैं। ये स्फटिक सूक्ष्मदर्शक से देखे जाते है। ये रंग में पीले, आकार में सुई के समान और पहिये के आरे के समान गुच्छे में (In clusters or in sheaves) रहते हैं।

यह कसौटी ०·०२५ प्रतिशत मधुम को भी मालूम करती है तथा फलशर्करा (Fruit Sugar, Levulose) को छोड़कर अन्य किसी भी शर्करा में नहीं पायी जाती। अतः अत्यन्त विश्वसनीय है। इसलिए परिपाटी के तौर यद्यपि इसका उपयोग करने की आवश्यकता नहीं होती तथापि जब प्रह्रासक द्रव्य मधुम है या नहीं इस विषय में सन्देह हो जाता है तब इसका उपयोग जरूर किया जाय।

इयत्तात्मक आगणन (Quantitative estimation)— इसके लिए मूत्र अम्ल प्रतिक्रिया का होना चाहिए तथा यदि उसमें शुक्लि रही तो उसको शुक्तिकअम्ल और ताप से निस्सादित करके निस्यन्दन के (Filter) के द्वारा निकाल देना चाहिए। इसके लिए भी फर्लिंग,

बेनिडिक्ट और अभिषवण तीनों पद्धतियाँ प्रयुक्त होती है। फेलिंग के लिए अलग प्रतिकर्ता की आवश्यकता नहीं होती, गुणात्मक परीक्षणार्थ प्रयुक्त घोल ही काम में लाया जाता है, परन्तु उसका फल शर्करा की ठीक ठीक मात्रा नहीं बता सकता। अर्थात् इसमें सरलता है, यथार्थता नहीं है। बेनिडिक्ट के लिए अलग घोल की आवश्यकता होती है, गुणात्मक परीक्षण का घोल काम में नहीं ला सकते। इस प्रकार की कठिनाई होती है, उत्पन्न उसका फल ठीक ठीक मात्रा बताता है। अतः उसी का ही उपयोग आजकल अधिक होता है। अभिषवण पद्धति का उपयोग मन्दता के कारण नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्तः अब यह भी मालूम हुआ है कि मूत्रगत तिक्ति अम्लों (Amino acids) पर भी किण्व का असर होकर उनसे प्रां० द्विजारेय (CO_2) बनत है। इसका उपयोग अतः केवल उस अवस्था में किया जाता है जब कि उपर्युक्त पद्धतियों से शर्करा की जिस मात्रा का पता न लग जाता हो उसका पता लगाना हो।

(१) *फेलिंग की पद्धति*— एक चीनी मिट्टी की तश्तरी में फेलिंग का १० घ० शि० मा० घोल (५ ए और ५ बी) लेकर उसमें ३० या ४० घ. शि. मा. पानी मिलाया जाय। फिर उसको जाली रक्खी हुई तिपाई (Tripod with wire gauze) पर रखकर नीचे की बत्ती से उबालें और ऊपर द्रवमि (Burette) से धीरे धीरे मूत्र छोड़ते जाय जब तक की फेलिंग का द्रव विरंजित न हो। शंका उत्पन्न होने पर नीचे की बत्ती निकालकर निस्साद को नीचे बैठने दे और ऊपर के स्वच्छ द्रव को देखें। जब वह द्रव पानी के समान रंगहीन हो जाय तब मूत्र छोड़ना बन्द करदें। द्रवमि में भरने के लिए शुद्ध या १० गुना पानी से मिश्रित मूत्र प्रयुक्त किया जाता है।

मात्रा निर्णय की पद्धति—१० घ. शि. मा. फेलिंग ०·०५ धान्य शर्करा से प्रह्रासित होता है अर्थात् इसका अर्थ यह होता है कि १० घ. शि. मा. को प्रह्रासित करने के लिए जितना मूत्र लगा है उसमें ·०५ धान्य शर्करा होती है। मान लीजियेगा १० घ. शि. मा. जलाबमिश्रित या १ घ. शि. मा. अमिश्र मूत्र से फेलिंग पूर्णतया प्रह्रसित हुआ। इसका अर्थ १ घ. शि. मा. मूत्र में ·०५ धान्य शर्करा है। इसलिए—

शर्करा की प्रतिशतता $\frac{0.05 \times 100}{1} = 5\%$

नलिका पद्धति—उपर्युक्त पद्धति के लिए बहुत साधन सामग्री की आवश्यकता होती है। अतः जहाँ पर यह न हो तथा बहुत सूक्ष्मता की आवश्यकता न हो वहाँ पर इसका उपयोग किया सकता है। इसमें एक चौड़ी नलिका में ½ घ. शि. मा. फेलिंग ए और बी लेकर उसमें ५ घ. शि मा. पानी मिलाया जाता है। फिर इसको उबालकर उसमें नाड़क (Pipette) से एक एक बूंद मूत्र छोड़ा जाता है। जब अन्त होता है तब निस्साद शीघ्र बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ रंगहीन जल रहता है। इसमें बूंदों के परिमाण पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। बूंद इतने मोटे हों कि एक घ. शि. मा. में २० रहें। यह कार्य नाड़क की नोक और उसको पकड़ने का कोण इसको ठीक करने से होता है। प्रतिशत मात्रा फल जितने बूंद लगते हैं उनसे १० को भाग देने से मिलता है। जैसे यदि १० बूंद से फेलिंग का नीला रंग चला गया हो तो $\frac{10}{10} = 1$ प्रतिशत शर्करा हो यदि बूंद छोड़ने के लिए १ घ. शि. मा. का दशांश में अंकित किया हुआ नाड़क हो तो ५ को जितने दशांश लगे (एक दशांश में २ बूंद रहने के कारण) उससे भाग देने पर प्रतिशत प्रमाण निकल आता है।

(२) *बेनिडिक्ट की पद्धति*—इसके लिए स्वतन्त्र घोल की आवश्यकता होती है। यह घोल इस प्रकार का होता है कि २५ घ. शि. मा. ०·०५ ग्राम्य शर्करा से प्रह्रासित होते हैं। इसमें फेलिंग की प्रथम पद्धति के समान चीनी मिट्टी के बर्तन में २५ घ. शि. मा. बेनिडिक्ट का घोल लिया जाता है। फिर उसमें १०-२० ग्राम्य क्षारातु प्रांगारीय (Na_2CO_3) के स्फटिक या उससे आधी मात्रा में अजलीय क्षारातु प्रांगारीय (Anhydrous) और अल्प मात्रा में तलक (Talcum) या झाँवा का चूर्ण मिलाया जाता है। फिर बत्ती पर उसको उबाला जाता है और उबलने पर ऊपर से मूत्र प्रत्येक समय अल्प मात्रा में तुरन्त तेजी से उसमें छोड़ा जाता है। चूने के समान सफेद निस्साद और नीले रंग का फीकापन उत्पन्न होने पर मूत्र बूंद बूंद करके छोड़ना चाहिए। जब नीलापन पूर्णतया अदृश्य हो जाय तब मूत्र छोड़ना बन्द करें। जब तक यह प्रतिक्रिया पूर्ण न हो तब तक प्रारम्भ से अन्त तक तश्तरी के भीतर

कि तरल बराबर उबलता रहे। मूत्र दसगुना जल मिश्रित या अमिश्र प्रयुक्त कर सकते हैं। मूत्र की राशि के आधार पर फेलिंग के अनुसार (पृष्ठ ४३०) प्रतिशत प्रमाण निकालना चाहिए।

नलिका पद्धति—फेलिंग की नलिका पद्धति के समान यह पद्धति है। एक नलिका में बेनिडिक्ट का २५ घ. शि. मा. इयत्तात्मक घोल लेकर उसमें १ धान्य क्षारातु प्रांगरीय ($Na_2 CO_3$) डालकर वह उबाला जाता है और ऊपर बूंद बूंद करके मूत्र छोड़ा जाता है। उबालते समय द्रव ऊपर न फेंका जाय। इसलिए द्रव में थोड़ा सा रुई मिला सकते हैं। प्रतिक्रिया पूर्ण होने पर मूत्र की मात्रा के अनुसार फेलिंग की पद्धति से प्रतिशत प्रमाण निकाला जाता है।

फलधु, फलशर्करा या वामधु (Fructose, Fruitsugar, Lævulose)—यह शर्करा मधुम के साथ मूत्र में पाया जाता है, अकेली बहुत क्वचित् मिलती है। इसकी उपस्थिति चिन्ताजनक होने से निम्न पद्धतियों से इसका ज्ञान किया जा सकता है :

(१) बेनिडिक्ट पद्धति—यह शर्करा मधुम के समान ताम्र प्रह्रासक (Copper reducing) है परन्तु विशेषता यह होती है कि यह शीत में भी उसका प्रह्रासन कर सकती है। मधुम को जानने के लिए जैसे मूत्र और बेनिडिक्ट तपाने की जरूरत पड़ती है वैसे इसके लिए नहीं पड़ती अतः बेनिडिक्ट से शर्करा की उपस्थिति मालूम होने पर यदि इसको देखना हो तो फिर से नलिका में शर्करायुक्त मूत्र और बेनिडिक्ट का घोल लेकर उसको गरम न करके रातभर वैसे ही रखा जाय। यदि फलशर्करा मूत्र में हो तो बेनिडिक्ट का प्रह्रासन हो जायगा।

(२) दर्शील उदाजीवी (Phenyl hydrazine) से बननेवाले मधुम और वामधु के स्फटिक समान होते हैं परन्तु मादूल (Methyl) दर्शील उदाजीवी के स्फटिक दोनों में भिन्न होते हैं।

(३) अभिस्यन्दमान (Polarimeter)—वामधु में अभिस्यन्दन बाईं ओर और मधुम में दाईं ओर होता है।

(४) सेलिवनाफ की कसौटी—(आगे ४३३ पृष्ठ पर देखिये)।

दुग्धशर्करा या दुग्धधु (Milksugar, Lactose)—यह शर्करा फेलिंग को प्रह्रासित करती है परन्तु मन्दता से। इसके अतिरिक्त इसकी निम्न विशेषताएँ हैं। (१) किण्व से अभिपवण नहीं होता। (२) दर्शल उदार्जार्वी के विशिष्ट स्फटिक। (३) रुब्नर की कसौटी—एक नलिका में १० घ. शि. मा. मूत्र लेकर उसमें ३ धान्य सीस शुक्तीय (Lead acetate) डालकर उसको अच्छी तरह मिलाकर निस्यन्दित किया जाय। फिर उस निस्यन्द (Filtrate) को उबालकर उसमें २ घ. शि. मा तीव्र तिक्ताति (Ammonia) डाला जाय और फिर से गरम करें। दुग्धशर्करा होने पर द्रव सुर्खी के समान (Brickred) होकर लाल निस्साद अलग हो जाता है जो इसकी खास पहचान है। मधुम से द्रव लाल होकर पीला निस्साद बनता है।

यव्यधु और इक्षुशर्करा (Maltose and Cane sugar)–इन दोनों का कोई महत्व नहीं है। यव्यधु कभी कभी मधुमेह में मधुम के साथ मिलती है। इक्षु शर्करा कभी कभी छद्मचर (Malingerer) रोगियों से या व्यक्तियों से धोखा देने के लिए मूत्र में मिलायी जाती है। परन्तु उनका यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसमें ताम्र प्रह्रासक गुण न होने के कारण फेलिंग या बेनिडिक्ट द्वारा परीक्षण में उसका अस्तित्व मालूम नहीं हो सकता। ये दोनों शर्कराएँ किण्व से अभिपवणशील (Fermentable) हैं।

पंचधु (Pentose)–इनके रसायनिक सूत्र में प्रांगार के ५ परमाणु (5 Carbon atoms) होने के कारण इनको पंचधु नाम रक्खा है। वानस्पतिक निर्यासों (गोंद gums) में ये शर्कराएं होती हैं। इनमें ताम्र के प्रह्रासन का गुण बहुत है, परन्तु वह कार्य धीरे धीरे होता है। दर्शल उदाजार्वी से इसके विशिष्ट स्फटिक बनते हैं। किण्व से इनमें अभिषवण नहीं होता।

बायल की शैव कसौटी (Bial's orcinol test)—प्रथम मूत्रगत मधुम अभिषवण से नष्ट किया जाता है। फिर एक नलिका में बायल का प्रतिकर्ता ५ घ० शि० मा० लेकर उसको बत्ती पर गरम किया जाता है। उसके पश्चात् बत्ती से नलिका को हटाकर उसमें मूत्र बूंद बूंद

करके छोड़ा जाता है। मूत्र की कुल राशि २० बूंद से अधिक न होनी चाहिए। पंचधु होने पर हरा रंग उत्पन्न होता है।

बायल का प्रतिकर्ता—

उदर्नीरिक अम्ल (HCl ३० प्रतिशत) ५०० घ. शि. मा.

अयसिक नीरेय (Ferric chloride १० प्र० श०) २५ बूंद

शेव (Orcinol) १ धान्य

सेलिवनाफ कसौटी (Seliwanoff test)—एक नलिका में सेलिवनाफ का प्रतिकर्ता ५ घ० शि० मा० लेकर उसमें मूत्र के ५ बूंद डाले जाँय और उसको उबालें। यदि फलशर्करा उपस्थित हो तो लाल रंग उत्पन्न होकर लाल रंग का निस्साद भी बनता है जो सुपव (Alcohol) में घुल जाता है। यदि मूत्र में मधुम बहुत अधिक हो तो उसको पानी से इतना अवमिश्रित करें कि उसकी मात्रा २ प्रतिशत से अधिक न हो सके।

सेलिवनाफ का प्रतिकर्ता—शैयाम (Resorcin) के ५० सहस्रिधान्य (Mg) लेकर वे ७० घ. शि. मा. पानी में विद्रुत करें। पश्चात् उसमें ३० घ. शि. मा. संकेन्द्रित उदर्नीरिक अम्ल (HCl) मिलावें।

शर्कराओं की पार्थक्य दर्शक सारणी

नाम	ताम्र प्रह्रासन	अभिपवण	अभिस्यन्द	विशेष कसौटियाँ
(१) मधुम	+	+	दक्षिणावर्ति	अभिपवणसे नाश
(२) वामधु	+	+	वामावर्ति	सेलिवनाफ
(३) दुग्धधु	मन्दता से	०	दक्षिणावर्ति	रूडनर
(४) इक्षुशर्करा	०	+	—	—
(५) पंचधु	अति-मंदता से	०	दक्षिणावर्ति	बायल०

शुक्ता या शौक्ता द्रव्य (Acetone or ketone bodies)—ये द्रव्य शरीर में स्नेह तथा स्नेह जातीय द्रव्यों का ठीक समवर्तन (Metabolism) न होने से मूत्र में आते हैं। शरीर में इनके उत्पन्न होने का निम्न क्रम होता है—(१) घृतिक अम्ल (Butric acid) (२) आ० जार घृतिक अम्ल (B oxy butric acid) (३) द्विशुक्तिक अम्ल (Diacetic acid) (४) शुक्ता (Acetone)।

नैदानिकीय (Clinical) दृष्टि से शुक्ता और द्विशुक्तिक अम्ल ये द्रव्य विशेष महत्त्व के होते हैं। जब ये द्रव्य अधिक मात्रा में उपस्थित रहते हैं तब आजारघृतिक अम्ल भी अत्यल्प मात्रा में मिल सकता है। इसकी और घृतिक अम्ल की उपस्थिति सदैव चिन्ताजनक होती है। इनके सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिएं।

(१) ये द्रव्य प्रायः शर्करा के साथ मूत्र में मिलते हैं, परन्तु शर्करा की मात्रा का और इनकी उपस्थिति का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। अनेक बार शर्करा की मात्रा अत्यल्प होते हुए ये मिल जाते हैं और आगामी (Impending) मधुमेह जन्य सन्न्यास (coma) में मूत्र में शर्करा न होते हुए भी शुक्ता द्रव्य प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहते हैं। अतः जहाँ पर इनके मिलने की संभावना हो वहाँ पर मूत्र में शर्करा न होने पर भी इनकी जाँच करनी चाहिए।

(२) उड़नशील द्रव्य होने के कारण मूत्र गरम करने पर तथा अधिक काल तक मूत्र खुला रखने पर ये मूत्र से निकल जा सकते हैं।

(३) यदि मूत्राशय में मूत्र अधिक काल तक रह जाय तो तद्गत द्विशुक्तिक अम्ल शुक्ता में परिवर्तित हो जाता है।

(४) उड़नशील होने के कारण विशेष करके शुक्ता का श्वसन से भी उत्सर्ग होने के कारण इन द्रव्यों का इयत्तात्मक परीक्षण नहीं किया जाता है।

शुक्ता (Acetone)–द्विशुक्तिक अम्ल (Diacetic acid)–मूत्र में ये दोनों द्रव्य साथ साथ प्रायः मिलते हैं। शुक्ता अकेली भी मिल जाती है परन्तु द्विशुक्तिक अम्ल अकेला नहीं मिलता। ताजे मूत्र में उसके रहने की अधिक आशा रहती है। दोनों का नैदानिकीय महत्व प्रायः एक सा ही होता है। निम्नोक्त कसौटियाँ प्रायः दोनों की उपस्थिति दिग्दर्शित

करती हैं और शुक्ता के परीक्षणार्थ जब मूत्र तिर्यक् पातित करके लिया जाता है तब उसमें केवल मूत्रगत शुक्ता ही नहीं आता परन्तु द्विशुक्तिक अम्ल शुक्ता बनकर आ जाता है।

फ्रामर की कसौटी (Frommer's test)—शुक्ता के लिए यह कसौटी बहुत सूक्ष्म वेदी (Sensitive) है। इसलिए मूत्र को तिर्यक् पातित करके न लेने से भी चल जाता है। तथा यद्यपि इससे शुक्ता और द्विशुक्तिक अम्ल दोनों का पता चल जाता है तथापि यदि द्रव अधिक गरम न किया जाय तो यह केवल शुक्ता को ही बतानेवाली होती है।

एक नलिका में १० घ. शि. मा. मूत्र लेकर उसमें २—३ घ. शि. मा. ४० प्र० श० दाहक विक्षार (Caustic soda) का घोल मिलाया जाय। पश्चात् उसमें नम्रल सुव्युद (Salicylaldehyde) के १० प्रतिशत सुरवीय (Alcholic) घोल के १०—१२ बूंद डाल दें। फिर ऊपर का तरल ७०° श. (C) तक गरम करके नलिका को ५-१० मिनिट रख दे। शुक्ता होने पर तप्त तरल में प्रथम नारंगी (Orange) और पश्चात् गहरा लाल रंग उत्पन्न होता है। शुक्ता न होने पर पीला से भूरा रंग हो सकता है।

रोथेरा की कसौटी (Rothera's test)—यह कसौटी दोनों को प्रदर्शित करती है परन्तु शुक्ता की अपेक्षा द्विशुक्तिक के लिए अधिक सूक्ष्मवेदी है। इसका उपयोग इसलिए द्विशुक्तिक के लिए अधिक होता है।

नलिका में ५ घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसमें तिक्तातु शुल्वीय (Amm sulphate) इतनी अधिक मात्रा में मिलावें तथा साथ साथ नलिका को बराबर हिलाते रक्खें कि मूत्र उससे संतृप्त होकर उसका कुछ अंश नीचे तली में अनघुल रह जाय। फिर क्षारातु भूयोदश्यामेय (Sodium nitro prusside) का सद्यस्क (ताजा) संकेन्द्रित घोल बनाकर उसके २-४ बूँद उसमें मिलाये जाँय। अन्त में सबसे ऊपर तीव्र तिक्तालि (Strong ammonia) की मोटी तह बनायी जाय। शुक्ता होने पर दोनों के संगम पर नीलारुण (Purple) रंग का वलय बन जाता है और धीरे धीरे वह रंग नीचे की ओर फैलता है। जब रंग त्वरित उत्पन्न होकर अधिक गहरा भी हो जाय तो समझना चाहिए कि द्विशुक्तिक अम्ल भी विद्यमान् है। रंग ५ मिनट तक गहरा हो सकता है।

लंग की कसौटी (Lange's test)—इससे शुक्ता की अपेक्षा द्विशुक्तिक का अधिक पता लगता है। नलिका में १-२ घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसमें २-२ बूँद हिम्य (Glacial) शुक्तिक अम्ल के और क्षारातु मूयोदश्यामेय के सद्यस्क संकेन्द्रित घोल के कुछ बूँद मिलाकर ऊपर तिक्तातु की तह बनायी जाय। शुक्ता द्रव्य होने पर नीलारुण वलय बनता है।

गेर हार्डटस् की कसौटी (Gerhardt's test)—शुक्ता के लिए यह कसौटी न होकर केवल द्विशुक्तिक अम्ल के लिए है। एक नलिका में चौथाई अंश तक १० प्र० श० अयसिक नीरेय (Ferric chloride) का घोल लेकर उस पर उससे कुछ अधिक राशि में मूत्र छोड़ा जाय। द्विशुक्तिक अम्ल होने पर दोनों के संगम पर भास्वीयों के निस्साद के साथ साथ नीलारुण रंग उत्पन्न होता है। यह रंग अम्ल की मात्रा के अनुसार फीके से लेकर गहरा काला तक हो जाता है।

किंवा एक नलिका में २ घ० शि० मा० मूत्र लेकर १० प्र० श० अयसिक नीरेय उसमें बूँद बूँद करके डाला जाँय। पश्चात् केन्द्रापसारित्र से भास्वीयों (Phosphates) को पूर्णतया अवसादित करके ऊपर जो निर्मल तरल रहता है उसमें अयसिक नीरेय के एक दो बूँद फिर से छोड़े जाँय।

हेत्वाभास—यह कसौटी अलकतरे से बनायी हुई औषधियों से भी (Coal tar derivatives as aspirin salicylates) प्राप्त होती है। यद्यपि उनसे मिलने वाला रंग कुछ दूसरे प्रकार का होता है तथापि इसके कारण कुछ भ्रम हो सकता है। ऐसी अवस्था में मूत्र कुछ मिनिटों तक उबाल कर ठण्डा किया जाय और पश्चात् उपर्युक्त पद्धति से उसका परीक्षण करें। यदि रंग औषधिजन्य रहा तो उबालने पर भी वह वैसा ही मिलेगा। परन्तु यदि द्विशुक्तिक अम्ल जन्य रहा तो उबालने पर उसके निकल जाने से प्रतिक्रिया रंगहीन होगी।

बा-जार घृतिक अम्ल (Beta-oxy butric acid)—इसका नैदानिकीय महत्व द्विशुक्तिक अम्ल के समान ही होता है, परन्तु अधिक चिन्ताजनक रहता है। यह अम्ल अकेला नहीं रहता, शुक्ता और द्विशुक्तिक अम्ल के साथ ही रहता है। इसलिये स्वतन्त्रतया इसको प्रायः नहीं देखा जाता। इसके लिए हार्ट की कसौटी प्रयुक्त होती है।

तुलनात्मक विवरण—शुक्ता द्रव्य रक्तगत अम्लोत्कर्ष (Acidosis) या शौक्तोत्कर्ष (Ketosis) के निदर्शक होते हैं। इनमें द्विशुक्तिक अम्ल इस स्थितिको औरों से अधिक अच्छी तरह प्रदर्शित करता है तथा उसका पता भी आसानी से लग जाता है। इसके उपलम्भनार्थ प्रयुक्त कसौटियाँ समान रूपेण सूक्ष्मवेदी न होने के कारण उनका प्रयोग अम्लोत्कर्ष की स्थिति, प्रगति या परागति का स्थूल ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत उपयोगी होता है। जैसे क्षारातु भूयोदश्यामेय कसौटी से २०००० भाग में एक भाग भी द्विशुक्तिक अम्ल हो तो उसका पता लगता है, परन्तु गेरहार्टस कसौटी से केवल ८००० में एक भाग होने पर पता लग सकता है। अतः भूयोदश्यामेय (Nitro prusside) प्रतिक्रिया काफी अच्छी मिलने पर भी यदि गेर हार्टस की प्रतिक्रिया बहुत फीकी या नगण्य रही तो अनुमान कर सकते हैं कि अम्लोत्कर्ष बहुत अधिक नहीं हुआ है। संक्षेप में गेरहार्टस की अधिक तीव्र प्रतिक्रिया का मिलना तीव्र अम्लोत्कर्ष का, उसके न मिलते हुए भूयोदश्यामेय का मिलना मध्यम या अल्प अम्लोत्कर्ष का और भूयोदश्यामेय की प्रतिक्रिया का अभाव अम्लोत्कर्ष के न रहने का सूचक समझना चाहिए। अतः अम्लोत्कर्ष की चिकित्सा इस प्रकार होनी चाहिए कि मूत्र की रोथेरा या लङ्ग की कसौटी बराबर नास्त्यात्मक हो।

हार्ट की कसौटी (Hart's test)—आजार घृतिक अम्ल को देखने से पहले मूत्रगत शुक्ता और द्विशुक्तिक अम्ल उबाल कर निकाल दिये जाते हैं। फिर बचे हुए अम्ल को उदजन अतिजारेय (H_2O_2) से शुक्ता में परिवर्तित किया जाता है और तत्पश्चात् शुक्ता की कसौटियों से देखा जाता है। एक तश्तरी में २० घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसमें उतना ही पानी और शुक्तिक अम्ल के कुछ बूँद मिलाये जाँय। पश्चात् बत्ती पर उसको दो नलिकाओं में विभक्त करके एक में १ घ० शि० मा० उदजन अति जारेय डाल कर और धीरे से गरम करके फिर ठण्ढा किया जाय। अन्त में दोनों नलिकाओं के मूत्र की लंग की कसौटी से जाँच की जाय। यदि आजार घृतिक अम्ल मूत्र में हो तो उदजन अतिजारेय डाली हुई नलिका में प्रतिक्रिया मिल जायगी।

पित्त और पित्तजन्य द्रव्य (Bile and its derivatives)—पित्त

युक्त मूत्र रंग में हरापन लिए पीला होता है तथा उसमें झाग अधिक होकर वह रंगीन तथा स्थिर रहता है। यदि सन्देह हो तो एक बोतल में मूत्र भर कर और डाट लगाकर खूब अच्छी तरह उसको हिलाया जाय। वह बोतल हरापन लिए पीले झाग से भर जायगी। पित्त में रागक (Pigments) और लवण (Salts) दोनों होते हैं। पित्तरागकों में पित्तरक्ति (Bilirubin) पित्तहरिकि (Biliverdin), पित्तकपिशि (Bili fuscin) इत्यादि अनेक रागक हो सकते हैं। परन्तु उनमें पित्तरक्ति प्रधान और प्रथम होती है, जो मूत्र कुछ काल रहने पर औरों में परिवर्तित होती है। पित्त के लवण क्षारातु (Na) के होते हैं। ये सदैव पित्त रागक के साथ मिलते हैं, अकेले नहीं मिलते तथा पित्तरागक के साथ सदैव भी नहीं रहते। इसका अर्थ यह है कि जब पित्तलवण मिलते हैं तब मूत्र में उनके साथ पित्तरागक जरूर उपस्थित रहते हैं, परन्तु जब पित्तरागक रहते हैं तब उनके साथ पित्तलवणों का मिलना सदैव जरूरी नहीं है। कामला के प्रारम्भिक कुछ दिनों में मूत्र में रागक और लवण दोनों उत्सर्गित होते हैं, परन्तु आगे चलकर लवणों का उत्सर्जन बन्द होकर केवल रागकों का जारी रहता है।

पित्त रागक (Bile pigments)--इनके उपलम्भन की कसौटियाँ इस सिद्धान्त पर निर्भर होती हैं कि अम्ल के साथ संयोग होने पर पित्तरक्ति जारित (Oxidized) होकर वह पित्तहरिकि (Biliverdin रंग हरा) पित्तश्यामी (Bilicyanine रंग नीला), पित्तपीत (Bili-xanthin, Choletelin रंग पीला) इत्यादि विविध रंगीन द्रव्यों में परिणत होती जाती है जिससे संयोग स्थान पर विविध रंग दर्शन (Play of colours) या इन्द्रधनु रंगदर्शन (Rainbow colours) हो जाता है।

(१) *मेलिन की कसौटी* (Gmelin's test)—एक नलिका में १ घ. शि. मा. तीव्र भूयिक (Nitric) अम्ल लेकर उस पर नाडक से धीरे धीरे २ घ. शि. मा. मूत्र छोड़ा जाय जिससे अम्ल के ऊपर उसकी एक तह बने। यदि मूत्र में पित्तरागक हो तो दोनों के संगम पर एक रंगीन वलय बनता है जिसमें हरा रंग मूत्र की ओर रहता है और नीला, पीला लाल इत्यादि रंग अम्ल की ओर होते हैं। इन विविध रङ्गों में

हरा रंग सबसे महत्व का है जो मूत्रस्थित पित्तरक्ति के पित्तहरिकि में परिवर्तन बताता है। यह कसौटी ८०००० भाग में एक भाग पित्तरागक होने पर उसका पता लगा सकती है।

रोज़ेनबाक का सम्परिवर्तन (Rosenbach's modification)—यह मेलिन की संपरिवर्तित कसौटी है। इसमें एक छोटे निस्यन्दन पत्र (Filter paper) में से १०० घ.शि.मा. या इससे अधिक मूत्र निस्यन्दित किया जाता है। यदि मूत्र कम हो तो यही कार्य वही मूत्र बार बार निस्यन्दित करने से हो सकता है। फिर मूत्र को निकालकर थोड़ा सा सुखाना चाहिए। तत्पश्चात् उस पत्र को तीव्र भूयिक अम्ल के बूंद से स्पर्श करें। मूत्र में पित्तरागक होने पर अम्ल बिन्दु के स्थान पर विविध रंगों के वलय बनते हैं जिनमें हरा रंग सबसे बाहर रहता है और भीतर की ओर क्रम से नीला, नीललोहित, लाल और पीला ये रंग रहते हैं। यही कार्य चीनी मिट्टी की तश्तरी में थोड़ा सा मूत्र सुखाकर उसमें बचे हुए निस्साद पर भूयिक अम्ल का बूंद छोड़कर किया जा सकता है।

हेत्वाभास—पर्णासीव (Thymol) से इस प्रकार का विविध रंग दर्शन होता है परन्तु उसमें हरा रंग मूत्र की ओर न होकर अम्ल की ओर रहता है। वस्त्रि से पीला वलय बनता है। निर्नीलिन्य (Indican) और मूत्रपित्त (Urobilin) नीला और लाल वलय बनाते हैं। दहातु जम्बेय (KI) बैंगनी रंग का वलय बनाता है।

जम्बुकी कसौटी (Iodine tast)—मेलिन के समान इसमें हेत्वाभास नहीं पाये जाते। यह कसौटी बिल्कुल विशिष्ट है। परन्तु उसकी अपेक्षा इसकी सूक्ष्मवेदिता आठगुणा कम है क्योंकि यह कसौटी १०००० भाग में एक भाग पित्त होने पर ही उसका पता लगा सकती है।

एक नलिका में मूत्र लेकर उस पर लूगोल का जम्बुकी का घोल (Lugol's Iodine) सुषव (Alcohol) से १० गुना अवमिश्रित किया हुआ जम्बुकी निष्कर्ष (Tincture iodine) को छोड़ो। दोनों के संयोग पर मरकतहरित् (Emerald green) रंग उत्पन्न होता है जो मूत्र में धीरे धीरे फैलता है।

पित्तलवण (Bile salts)—ये मुख्यतया मधुपित्तिक

(Glycocholic) और वृषपित्तिक (Tauro cholic) अम्ल के धातु के लवण (Sodium salts) होते हैं। इन लवणों में द्रवों की तलातति (Surface tension) घटाने का गुण होता है। इसका अर्थ यह होता है कि जिस द्रव में ये घुल जाते हैं उस द्रव पर इनके घुलने से पहले जो द्रव्य तैर जाते थे वे द्रव्य नहीं तैर सकते। हे की कसौटी का यह सिद्धान्त है।

हे की कसौटी (Hay's test)—इसके लिए मूत्र ठण्डा होना चाहिए। प्रशीतक (Refrigerator) में रक्खा हुआ मूत्र इसके लिए उत्तम होता है। ऐसा मूत्र एक नलिका में लेकर उस पर गन्धक (Flowers of sulphur) के कण छिड़को। यदि गन्धक के कण तुरन्त ऊपर से नीचे डूबने लगे तो समझना चाहिए कि पित्त लवण उपस्थित हैं और उनकी मात्रा ०·०१ प्रतिशत या इससे अधिक है। यदि जरा सा हिलाने पर वे नीचे डूबने लगते हों तो समझें कि उनकी मात्रा ०·००२५ से अधिक है। यदि हिलाने पर भी न डूबते हों और ज्यों का त्यों मूत्र के ऊपर तैरते रहते हों तो समझना चाहिए कि पित्त लवण नहीं है।

हेत्वाभास—मूत्र में नीरवमल (Chloro form) तार्पिन तैल और अधिक मात्रा में मूत्रपित्ति (uro bilin) होने पर इस प्रकार की खोटी प्रतिक्रिया मिलती है।

मूत्र पित्तिजन और मूत्रपित्ति (Uro bilinogen and urobilin)—स्वस्थ मूत्र में मूत्रपित्ति उपस्थित रहती है। परन्तु उसकी मात्रा इतनी अल्प होती है कि साधारण कसौटियों से उसका पता नहीं लगता। मल का रंगद्रव्य (Colouring matter) और यह द्रव्य एक ही है। मूत्रपित्ति उत्सर्ग के समय वर्णजन (Chromogen) के रूप में होती है और प्रकाश के प्रभाव से कुछ घण्टों में मूत्रपित्ति में परिवर्तित हो जाती है। इसकी अल्प मात्रा से मूत्र के रंग रूप में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। परन्तु मात्रा अधिक रहने पर मूत्र का रंग पित्त की उपस्थिति के समान कुछ भूरा हो जाता है, यद्यपि इससे झाग उतने गहरे रंग का नहीं होता।

एहर लिक की कसौटी (Ehrlich's test)—एक नलिका में

५ घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसमें परा-द्विप्रोदल-तिक्ती-धूर सुब्युद (Para dimethyl amino benzaldehyde) के कुछ स्फटिक डालकर उद्नीरिक (HCl) अम्ल से उसको ठीक अम्ल बना दें। यदि मूत्र में पित्तिजन अस्वाभाविक मात्रा में उपस्थित हो तो मूत्र का रंग लाल बेर के समान (Cherry red) हो जायगा। सफेद कागज पर नलिका रख कर ऊपर से देखने पर यह रंग भली भाँति दिखाई देता है। अब मूत्र पित्तिजन स्वाभाविक मात्रा में होता है तब इस प्रकार का लाल रंग मूत्र गरम करने पर बनता है।

शेलेसिगर की कसौटी (Schlesinger's test)—यह कसौटी केवल मूत्रपित्ति की है। इसलिए प्रथम जम्बुकी द्वारा मूत्रगत अपरिवर्तित मूत्रपित्तिजन मूत्रपित्ति में परिवर्तित किया जाता है। एक नलिका में २ घ. शि. मा. मूत्र लेकर उसमें लूगोल के जम्बुकी (Lugol's iodine) के कुछेक बूंद डालें। पश्चात् उसमें मूत्र के बराबर जसद शुक्तीय (Zinc acetate) का संतृप्त सुराविक विलयन (Saturated alcoholic solution) मिलावें और नलिका को केन्द्रापसारित्र में घुमावें जिससे निस्साद बैठकर ऊपर साफ तरल रह जाय। पश्चात् नलिका में साफ तरल को प्रत्यक्ष सूर्य प्रकाश में या तीव्र प्रकाश में देखें। मूत्रपित्ति होने पर तरल में हलका हरे रंग का प्रभाश (Fluorescence) दिखाई देता है। एक घण्टे के पश्चात यह अधिक दिखाई देता है।

सूचनाएं—मूत्रपित्ति की कसौटियों से कुछ अनुमान निकालने से पहले उनको कुछ दिनों तक लगातार देखना जरूरी होता है, क्योंकि पता नहीं क्यों, वह बीच बीच में एकाध दिन मूत्र में उत्सर्गित नहीं होती। मूत्र में जब पित्त रहता है तब वह इसमें बाधा डालता है। इसलिए यदि कामला में मूत्रपित्ति को देखना हो तो प्रथम पित्त रागकों को निकाल देना चाहिए। यह कार्य मूत्र में १० प्रतिशत चूर्णातु नीरेय (Cal chloride) घोल के २ घ. शि. मा. डालने से और पश्चात् उसको छानने से होता है। वस्त्रि (Formalin) भी इस कसौटी में बाधा डालती है। वैसे शुल्बा-तिक्तेय (Sulphonamides) भी भ्रम उत्पन्न करते हैं क्योंकि उनसे हरापन लिए पीला रंग उत्पन्न होता है।

रक्त Blood

मूत्र में रक्त लाल कणों के रूप में या रागक के रूप में पाया जाता है। प्रथम अवस्था को शोणितमेह या रक्तमेह (Hematuria) और दूसरी को शोणवर्तुलिमेह (Hemoglo binuria) कहते हैं। रसायनिक परीक्षण से दोनों में भेद नहीं किया जा सकता। मूत्र में जब रक्त अधिक रहता है तब उसका पता मूत्र के लाल या धुंधले (Smoky) रंग से चल जाता है। परन्तु जब उसकी मात्रा बहुत कम रहती है तब रसायनिक परीक्षण से ही उसका पता लग जाता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार के रक्त को गुढ या गुप्त (Occult) रक्त कहते हैं।

धूपेयी कसौटी (Benzidine test)—इस कसौटी के लिए रक्तपरीक्षणार्थ धूपेयी (Benzidine for blood) करके जो धूपेयी मिलती है केवल उसी का उपयोग करना चाहिए। एक नलिका में चक्कू के नोक पर जितनी धूपेयी रह सकती है उतनी लेकर उसको २ घ० शि० मा० हिम्यशुक्तिक [Glacial acetic] अम्ल में विद्रुत करें जिससे उसका संतृप्त घोल बन जाय। यदि आवश्यक हो तो उसको थोड़ा सा गरम किया जाय। फिर उसमें उतनी ही मूत्र की राशि छोड़कर सबसे ऊपर उद्‌जन अतिजारेय (H_2O_2) मिलावें। रक्त उपस्थित होने पर नीला रंग उत्पन्न होता है। रक्त की मात्रा कम होने पर इस रग के उत्पन्न होने में १-२ मिनिट लग जाते हैं। इस कसौटी का उपयोग मल, वमन तथा अन्य द्रव्यों में रक्त का उपस्थिति मालूम करने के लिए भी किया जाता है।

संपरिवर्तित धूपेयी कसौटी (Modified test)—मूत्र को उबालकर ठण्डा करने के पश्चात् उसमें से आधी नलिका मूत्र लिया जाय। फिर उसमें १० बूँद हिम्य शुक्तिक अम्ल डालकर और भली भाँति मिलाकर कुछ मिनिट तक उसको रख दिया जाय। पश्चात् १२ घ० शि० मा० दक्षु (Ether) उसमें धीरे से अच्छी तरह मिलाकर फिर उसको पृथक् छान दें। यदि यह दक्षु अधिक गाढ़ा हो गया हो तो उसमें सुषव के (Alcohol) कुछ बूंद डालकर और धीरे से मिलाकर उसको पतला बना सकते हैं। एक निस्यन्दन पत्र पर (Filter paper) पूर्वोक्त धूपेयी के घोल के

५-१० बूंद रख कर उस पर नलिकागत दक्षु के कुछ बूंद डाल दिये जाँय और दक्षु उड़ जाने पर उस स्थान पर उदजन अतिजारेय के बूंद रक्खे जाँय। मूत्र में रक्त होने पर उस स्थान पर नीला या हरा रंग उत्पन्न होगा। प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक निर्दिष्ट करने से पहले ५ मिनिट तक उनको देखना चाहिए।

धूपेयी कसौटी बहुत सूक्ष्मवेदी है उसमें दक्षु निस्सार (Etheral extract) की दूसरी कसौटी प्रथम की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म वेदी होती है जिससे १००००० भाग में एक भाग रक्त होने पर भी उसका पता लग जाता है। दूसरी दृष्टि से इसकी सूक्ष्मवेदिता इस प्रकार बयान कर सकते हैं कि यदि मूत्र के केन्द्रापसारित (Centrifuged) अंश को सूक्ष्म दर्शक से देखने पर प्रत्येक क्षेत्र में ५ या इससे अधिक लाल कण दिखाई देते हों तो यह दक्षु निस्सार कसौटी अस्त्यात्मक (Positive) होती है। ५ से कम संख्या में लाल कण रहने पर यह नास्त्यात्मक रहती है।

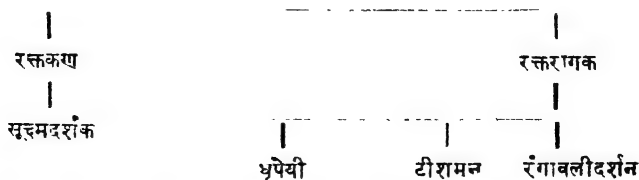
हेत्वाभास—मूत्र में पूय रहने पर, औषधियों में दूरेय (Bromides) जम्बेय (Iodides), वम्रि (Formalin), भूयिक (Nitric) अम्ल तथा ताम्र रहने पर रक्त की खोटी प्रति क्रिया मिल जाती है। इसलिए शर्करा के लिए फेलिंग से देखने पर नलिकाओं की ठीक सफाई न करने से उनमें ताम्र का यदि कोई अंश रह जाय तो धोखा हो सकता है। इन हेत्वाभासों के कारण अत्यधिक सूक्ष्मवेदी होते हुए भी रक्त की उपस्थिति का ठीक निर्णय करने की दृष्टि से धूपेयी कसौटी की अस्त्यात्मकता (Positevity) पूर्णतया विश्वसनीय नहीं हो सकती, परन्तु उसकी नास्त्यात्मिकता उसी कारण से रक्तकी अनुपस्थिति का निर्णय करने की दृष्टि से पूर्णतया विश्वसनीय होती है। साथ ही साथ यदि हेत्वाभासों को उत्पन्न करने वाले कारणों को दूर करने का अधिक से प्रयत्न करके धूपेयी कसौटी को काम में लाया जाय, जैसे कि संपरिवर्तित कसौटी में किया गया है, तो यद्यपि विधिवैद्यकीय (Medico legally) दृष्ट्या नहीं स्वीकृत हो सकती तथापि नैदानिकीय (Clinical) दृष्ट्या इसकी अस्त्यात्मकता (Positivity) रक्त की उपस्थिति का निदर्शक मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती।

आसिलहीय कसौटी (Guaiac test)—एक नलिका में आसिलहका निष्कर्ष (Tinct of guaiacum) २ घ. शि. मा. लेकर उसमें उतना ही उदजन अतिजारेय [H_2O_2] डालकर उसको अच्छी तरह हिलाया जाय। उसके पश्चात् शुक्तिक अम्ल डालकर काफी अम्ल बनाया हुआ मूत्र उस पर छोड़ा जाय। मूत्र में रक्त होने पर दोनों के संगम पर नीला वलय बन जायगा।

आसिलह का निष्कर्ष ताजा होना जरूरी है। अन्यथा वह खराब हो जाता है और कसौटी में धोखा होता है। उत्तम मार्ग तो यह है कि परीक्षण के समय आसिलह की थोड़ी सी बुकनी लेकर ५ घ. शि. मा. संशोधित सुषव (Rectified Spirit) में उसका निष्कर्ष बनाया जाय। इस कसौटी में वे ही हेत्वाभास पाये जाते हैं जो धूपेयी में रहते हैं तथा इसका उपयोग भी मलवमनगत रक्त मालूम करने के लिए किया जाता है।

रक्तपरीक्षण कसौटियों का तारतम्य—किसी वस्तु में रक्त की उपस्थिति का ज्ञान लालकणों को प्रत्यक्ष देखने से और यदि यह न हो सके तो रक्त के रागक और उसके तद्भवों (Derivatives) का अस्तित्व सिद्ध करने से हो जाता है। इसके लिए अनेक कसौटियाँ प्रयुक्त होती हैं और प्रत्येक की अपनी कुछ विशेषता तथा कुछ मर्यादा हुआ करती है। अतः नीचे संक्षेप में उनका उल्लेख और विवरण दिया जाता है।

रक्तपरीक्षण



सूक्ष्म दर्शक से परीक्ष्य द्रव्यगत लाल कणों को देखना यह रक्त की उपस्थिति मालूम करने का सरल, सर्वोत्तम और विश्वसनीय मार्ग है। यदि यह न हो सका तो दूसरे विभाग के साधनों का उपयोग करें। इनमें

पूर्वोक्त रसायनिक कसौटियाँ सबसे महत्त्व की है। हेत्वाभास अधिक होने के कारण बहुत अधिक सूक्ष्मवेदिता होते हुए भी रक्त की उपस्थिति की अपेक्षा अनुपस्थिति सिद्ध करने के लिए ये अधिक विश्वसनीय होती है। टीशमन (Teichmann) की कसौटी में रक्त रागक का परिवर्तन शोणि (Hemin) स्फटिकों में किया जाता है और पश्चात् वे स्फटिक सूक्ष्मदर्शक से देखे जाते हैं। इन शोणि स्फटिकों का मिलना रक्त की उपस्थिति का निश्चित निदेशक होता है। इन स्फटिकों की उत्पत्ति में चूना, महीन बालू, लोहकिट्ट इत्यादि द्रव्य बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए स्फटिकों के न मिलने से रक्त की अनुपस्थिति का अनुमान न करना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि रक्त की उपस्थिति को मालूम करने के लिए यह कसौटी अत्यन्त विश्वसनीय होती है तथापि यह बहुत स्थूल स्वरूप की होने के कारण प्रयोगशाला में आनेवाले परीक्ष्य द्रव्यों में प्रायः मिलने वाली रक्त की सूक्ष्म मात्रा को जाँचने के लिए इसका उपयोग नहीं किया जाता है। रंगावलिदर्शक (Spectroscope) से रक्त की जाँच करने की पद्धति बहुत सरल तथा विश्वसनीय होती है इसमें संदेह नहीं है। परन्तु यह पद्धति भी सूक्ष्म रक्त के लिए उपयोगी नहीं होती। इस लिए परिपाटी के तौर पर रक्त की जाँच के लिए इसका भी उपयोग नहीं किया जाता। यह पद्धति मुख्यतया रक्त रागकके विविध तद्भव द्रव्यों का आपस में भेद मालूम करने के लिए प्रयुक्त होती है।

शोणितराजीवि (Hematoporphyrin)—यह द्रव्य शोणितवर्तुलि का अयस हीन (Iron free) तद्भव है। जो रक्त रागक का पित्त रागक (पित्तरक्ति) में परिवर्तन होने की क्रिया में बीच में बनता है। स्वस्थ मूत्र में इसका अल्पांश उपस्थित रहता है। इसकी मात्रा अधिक होने पर मूत्र का रंग गहरा लाल मद्य (Port wine) के समान हो जाता है। इसका पता धूपेयी या टीशमन कसौटी से नहीं लगता, केवल रंगावलिदर्शक से मिलता है।

क्षारासित पिण्ड (Alkapton bodies)—

प्रोभूजिनों का ठीक समवर्तन (Imperfect protean metabolism) न होने से ये द्रव्य बनते हैं। इनमें अनेक द्रव्य (प्रधान

Homogentisic acid) होते हैं। इनके होने से मूत्र लाली लिए भूरे से काला तक हो जाता है और यह परिवर्तन मूत्र क्षारिय बनाने से तुरन्त होता है। इसलिए इनको क्षारामित नाम दिया गया है। ये द्रव्य शर्करा के समान फेलिंग या बेनिडिक्ट को प्रह्रासित करते हैं, परन्तु किण्व से इनमें अभिपवण नहीं होता तथा भिद्रातु (Bismuth इसके लिए नीलायडर की कसौटी प्रयुक्त होती है) को प्रह्रासित नहीं करते।

मलिमसि (Melanin)—

यह द्रव्य उत्सर्ग के समय मलीमसिजन (Melanogen) के रूप में रहता है। पश्चात् मलीमसी में परिवर्तित होता है। इसकी उपस्थिति से भी मूत्र काला बनता है। इसके होने पर मूत्र में अयसिक नीरेय (Ferric Chloride) डालने से हरा निस्साद बनता है जो धीरे धीरे काला हो जाता है तथा जो अधिक अयसिक डालने पर घुलाकर संपूर्ण द्रव काला बना देता है। भूयिक (Nitric) अम्ल डालने पर भी ऐसे मूत्र में तुरन्त कालापन उत्पन्न होता है। दुर्गंधी जल (Bromine water) डालने से पीला निस्साद बनता है जो पश्चात् काला होता है। इससे ताम्र का प्रह्रासन नहीं होता।

निर्नीलिन्य (Indican)—शरीर में कहीं जब जीवाणुओं द्वारा प्रोभूजिनों का पूतिभवन होने लगता है तब उसमें निर्नीलजना (Indole) नामक द्रव्य बनता है जो वहाँ से प्रचूषित होने के पश्चात् निर्नीलजारल [Indoxyl] में परिवर्तित होता है। उसके पश्चात् दहातु और शुल्बारिक अम्ल से संयुक्त होकर वह निर्नील जारल दहातु शुल्बीय [Indoxyl Potassium Sulphate] के रूप में मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है। कुछ रसायनिक द्रव्यों का उस पर संस्कार करने से वह नील [Indigo] में परिवर्तित होता है इसलिए इसको निर्नीलिन्य नाम रक्खा गया है। इसी प्रतिक्रिया पर इसका उपलम्भन [Detection] होता है। इस प्रकार का परिवर्तन कभी कभी आपसे आप या सड़नेवाले मूत्र में होकर उसका रंग मटमैला नीला हो जाता है और उस समय मूत्र के तलछट में नील के स्फटिक दिखाई देते हैं। निर्नीलिन्य की जाँच के लिए निम्न कसौटियाँ प्रयुक्त होती हैं।

(१) एक नलिका में २ घ. शि. मा. मूत्र लेकर उसमें फेलिंग के ताम्र विलयन के ६–८ बूंद, नीरवम्रल (Chloroform) उतनी ही मात्रा में और उतनी ही मात्रा में उदनीरिक (Hcl) अम्ल डालकर नलिका का मुख अंगूठे से बन्द करके उसको अच्छी तरह हिलाया जाय और पश्चात उसको थोड़ी देर तक रखदे ताकि नीरवम्रल नीचे तली में बैठ जाय। यदि मूत्र में निर्नीलिन्य हो तो नीरवम्रल निर्नीलिन्य की मात्रा के अनुसार न्यूनाधिक नीला हो जाता है और यदि न हो तो रंगहीन रहता है।

(२) एक नलिका में थोड़ा सा मूत्र लेकर उतनी ही मात्रा में उसमें उदनीरिक (HCl) अम्ल और भूयिक (Nitric) अम्ल का एक बूंद डालकर २-३ घ. शि. मा. नीरवम्रल (Chloroform) मिलाया जाय। पश्चात उस नलिका को पूर्वोक्त पद्धति से हिलाकर रख दिया जाय और नीचे तली में इकट्ठा हुआ नीरवम्रल को देखकर पूर्वोक्त पद्धति से निर्नीलिन्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति का अनुमान करें।

[३] ओबरमायर की कसौटी [Obermyer's test]—एक नलिका में ५ घ. शि. मा. ओबरमायर का प्रतिकर्ता लेकर उसमें उतना ही मूत्र मिलाया जाय। पश्चात् उसको गरम करके उसमें २ घ. शि. मा. नीरवम्रल मिलाकर मुख बन्द करके कई बार उस नलिका को उलट पुलट करके सबको भलीभांति मिलाया जाय। उसके पश्चात् नलिका को रखकर नीरवम्रल का पूर्वोक्त नियमानुसार परीक्षण करके निर्नीलिन्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति तथा न्यूनाधिकता का अनुमान किया जाय।

सावधानता और हेत्वाभास—निर्नीलिन्य के लिए मूत्र परीक्षा करने से पहले दो दिन रोगी मांसाहार न सेवन करे। मूत्र में परिरक्षणार्थ त्रित्रि [Formalin] का उपयोग न करें। यदि रोगी जम्बेय [Iodides] सेवन करता हो तो वे ओबरमायर के प्रतिकर्ता के साथ लाली लिए हुए नील लोहित रंग उत्पन्न करते हैं जिससे निर्नीलिन्य से उत्पन्न होनेवाली प्रतिक्रिया के पहचानने में काफी कठिनाई उत्पन्न होती है। ऐसी अवस्था में उसमें यदि क्षारातु उपशुल्वित [Sodium Hyposulphite] के प्रबल विलयन के कुछ बूंद डालकर वह नलिका अच्छी तरह हिलायी जाय तो वह नील लोहित रंग अदृश्य होता है और निर्नीलिन्य होने पर उसका

नीला रंग प्रकट होता है। रोगी यदि षट्तिक्ति [Hexamine] सेवन करता हो तो उससे भी प्रतिक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है।

ओबरमायर का प्रतिकर्ता—अयसिक नीरेय २ धान्य
तीव्र उद्नीरिक अम्ल १००० घ. शि. मा.

पूय (Pus)—

इसमें मूत्र के भीतर अपजनित, नए श्वेतकायाणु [Leucocytes] रहते हैं। जब पूय कम रहता है तब मूत्र किंचित् आविल [Turbid] हो जाता है और जब पूय अधिक रहता है तब वह नीचे तलछट के रूप में बैठ जाता है। जिस मूत्र में पूय होता है उसमें शुक्लि लेशमात्र में पायी जाती है जो श्वेतकायाणुओं के न्यष्टि प्रोभूजिनों [Nucleo proteins] से आती है। इसको मिथ्याशुक्लि [Spurious] कहते हैं।

पूय जब थोड़ा होता है तब उसकी जाँच सूक्ष्मदर्शक से ही हो सकती है। परन्तु जब कुछ अधिक रहता है तब उसमें दहातु उद्जारेय विलयन [Liquor potash] डालने पर वह सिनक के समान लासदार [Gelatinous, ropy] हो जाता है। गरम करके शुक्तिक अम्ल डालने पर भास्वियों में [Phosphates] समान वह घुलता नहीं। यदि श्लेष्मा रहा तो वह दहातु विलयन डालने पर घुल जाता है।

पयोलस (Chyle)—

[१] जिस मूत्र में पयोलस होता है उसका रंग और स्वरूप दूध के समान होता है यहाँ तक कि बच्चा उसको दूध समझकर ले भी सकता है। पयोलस के अस्तित्व का यह प्रथम लक्षण है। जब इस प्रकार का मूत्र कुछ काल मूत्र पात्र में रक्खा रहता है तब वह तीन स्तरों में विभक्त होता है। नीचे कुछ तलछट बनता है उसमें कुछ लाल कण, लालकायाणु, अपजनित अधिच्छदीय कोशाएं [Degenerating epithelium], मूत्र लवण और कभी कभी सूक्ष्मश्लीपदी (Microfilaria) होते हैं। मध्य स्तर में दानेदार स्निग्ध द्रव्य होता है। सबसे ऊपर कुछ थक्का सा (Pellicle) जम जाता है जिसमें चरबी की बड़ी बड़ी गोलियाँ और तन्त्वि [Fibrin] फंसी रहती हैं। [३] जब पयोलस युक्त मूत्र दक्षु [Ether] या काष्ठव [Xylol] के साथ भलीभांति मिलाया जाता

है तब प्रायः मूत्रगत चरबी के कण दक्षु या कोहव में घुलकर मूत्र पहले की अपेक्षा साफ हो जाता है और उस पर दक्षु की तह बन जाती है। (४) सूक्ष्म दर्शक से देखने पर पयोलसयुक्त मूत्र में दूध के समान सूक्ष्म चरबी के कण दिखाई देते हैं जो गृविक (Osmic) अम्ल सुडान III या कुंकुमी (Saffranine) से रंजित करने पर बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। (५) अनेक बार मूत्र के तलछट में सूक्ष्मश्लीपदी (Microfilaria) पाये जाते हैं।

हेत्वाभास—कभी कभी दक्षु से मूत्र स्वच्छ न होकर जैसे के तैसे दुधिया रंग का रह जाता है। यह रंग चरबी के कारण न होकर आवर्तुलि [Globulins], श्लेष्मि [Mucin], विमेदाभ [Lipoids] इत्यादि के कारण होता है। इस प्रकार के द्रव्य को कूटपयोलस [Pseudochyle] कहते हैं। भास्वीयों की अधिकता रहने पर भी मूत्र दुधियाँ दिखाई देता है, परन्तु शुक्तिक अम्ल डालने पर वे घुल जाते हैं, पयोलसी मूत्र जैसे के तैसे रहता है।

द्वयजद्रव्य (Diazo substances)—

इन द्रव्यों का ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। तथापि मूत्रवर्णजन [Urochromogen], अपरजार प्रोभूजिक अम्ल [Alloxy proteic acid], जारप्रोभूजिक [Oxyproteic] अम्ल अथवा मूत्रअयसिक [Uroferric] अम्ल द्रव्य इसमें आते हैं और इनके कारण विशेष करके मूत्रवर्णजन के कारण द्वयज प्रतिकर्ता के साथ प्रतिक्रिया मिल जाती है। यह प्रतिक्रिया अनेक ज्वरों में धातुनाश से उपर्युक्त द्रव्य बनकर मूत्र द्वारा उत्सर्गित होने के कारण मिलती है।

एहरलिक की द्वयज प्रतिक्रिया (Ehrlich's diazo reaction)—

प्रतिकर्ताएं—(१) शुल्बनीलिक अम्ल (Sulphanilic acid) १ धान्य
संकेन्द्रित उदनीरिक अम्ल (HCl) १० घ. शि. मा.
पानी २०० घ. शि. मा.
(२) क्षारातु भूयित (Sodium nitrite) ½ धान्य
पानी १०० घ. शि. मा.
(३) प्रबल तिक्तालि [Ammonia]

एक नलिका में ३ घ. शि. मा. शुल्वर्नोलिक अम्ल का घोल लेकर उसमें क्षारातु भूयित घोल के १-२ बूंद डालकर उतनी ही मात्रा में मूत्र मिलाकर उस पर एक दो घ० शि० मा० प्रबल निक्राति घोल डालकर उस सबको अच्छी तरह हिलाया जाय ताकि नलिका में तरल के ऊपर झाग की तह बन सके। यदि मूत्र में द्वयज द्रव्य हों तो झाग का रंग गुलाबी [Pink] हो जाता है। यह रंग ऊषावण गुलाबी [Eosin pink] से लेकर गहरा किरमिजी [Deep crimson] तक रहता है। हिलाने से पहले यह रंग मूत्र और निक्राति के संयोग पर दिखाई देता है। परन्तु झाग का रंगीन होना इस प्रतिक्रिया की विशेषता होती है। पीला या नारंगी रंग तथा सन्देहास्पद प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक समझना चाहिए। यह प्रतिक्रिया तन्द्राभज्वर (Enteric), रोमान्तिका, राजयक्ष्मा, तन्द्रिक (Typhus), फुफ्फुसपाक (Pneumonia), तीव्र आमवात, तथा मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) इत्यादि अनेक ज्वरों में पायी जाती है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया रोगी को अफीम तथा उसके क्षाराभ (Alkaloid), नम्रव (Salol), दर्शव [Phenol], जम्बेय [Iodides], उत्तैलि [Naphthalin], शुल्किकअम्ल [Tannic acid] इत्यादि द्रव्य देने पर भी मिल जाती है। रोगों के निदान की दृष्टि से यह प्रतिक्रिया तन्द्राभ, रोमान्तिका और राजयक्ष्मा में बहुत उपयोगी है। जहाँ इन रोगों के निदान की जटिल परीक्षाओं के काम में लाने की सुविधा नहीं होती वहाँ पर इसका उपयोग करने से सहायता होती है।

आन्त्रिक या तन्द्राभज्वर [Enteric or typhoid]—इस रोग में यह प्रतिक्रिया ४ थे दिन से १४ वें दिन तक पायी जाती है। प्रतिक्रिया उसके पश्चात् पूर्णतया नास्त्यात्मक हो जाती है। आन्त्रिक का संदेह होने पर प्रतिक्रिया यदि नास्त्यात्मक मिले तो अनेक दिन लगातार इसको देखें और यदि पाँच चार दिन लगातार प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक रहे तो रोग आन्त्रिक नहीं है ऐसा मानलें। सौम्य आन्त्रिक में निम्नोक्त जलमिश्रित प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक मिल सकती है। इसमें यह प्रतिक्रिया इतनी प्रबल होती है कि मूत्र को पचास गुना जलमिश्रित करके उसको पा सकते हैं। इस जलमिश्रण से अन्य रोगों का सन्देह भी दूर हो जाता है। इसका उपयोग साध्यासाध्यता जानने के लिए और उपद्रव तथा पुनरावर्तन

में भेद करने के लिए भी किया जा सकता है। यदि यह प्रतिक्रिया जल्दी ही नास्त्यात्मक हो तो रोग सुसाध्य समझ सकते हैं तथा नास्त्यात्मक होने के पश्चात फिर से अस्त्यात्मक हो जाय तो रोग का पुनरावर्तन हो गया है ऐसा समझे, क्योंकि उपद्रवों में प्रतिक्रिया नास्त्यात्मक ही रहती है।

रोमान्तिका (Measles)—इस रोगमें विस्फोट निकलने से एक दिन पहले यह प्रतिक्रिया मिलने लगती है और चार पाँच दिन मिला करती है। जर्मन रोमान्तिका में यह प्रतिक्रिया नहीं मिलती। इसलिए दोनों में भेद करने के लिए इसका उपयोग कर सकते हैं।

क्षय (Tuberculosis)—इसके अनेक प्रकारों में यह प्रतिक्रिया मिलती है। निदान की दृष्टि से क्षय में इसका कोई महत्व नहीं माना जाता है। क्षयी में इसका बराबर मिलना असाध्यता का सूचक माना जाता है, फिर रोगी में भौतिक चिन्ह कितने ही क्षुद्र स्वरूप के क्यों न हों। इसके उत्पन्न होने पर तथा बराबर जारी रहने पर रोगी प्रायः ६ मास में मर जाता है। सौम्य रोग में ज्वरादि उपद्रव बढ़ने पर यह प्रतिक्रिया अल्पकाल के लिए व्यक्त मिलती है परन्तु उसका कोई विशेष महत्व नहीं होता।

औषधियां—

रोगी से सेवन हुई अनेक औषधियाँ वृक्कों द्वारा मूत्र में उत्सर्जित होती हैं। और अनेक बार उनका उत्सर्जन हो रहा है कि नहीं इस बात का ज्ञान रोगी औषधि सेवन कर रहा है कि नहीं तथा वृक्क अपना कार्य ठीक कर रहे हैं कि नहीं इसलिए आवश्यक होता है। इन सब औषधियों का विचार मुख्यतया विषविज्ञान (Toxicology) में होता है। यहाँ पर केवल शुल्बौषधियों का ही विचार किया जायगा। आगे सूक्ष्म परीक्षण में भी देखो।

शुल्बौषधियां (Sulpha drugs)—मूत्रपित्तजन (urobilinogen) के उपलम्भनार्थ एहरलिक का जो प्रतिकर्ता (पृष्ठ ४४९) प्रयुक्त होता है उसके साथ शुल्बौषधियाँ इरावन लिए पीला रंग उत्पन्न करती हैं। अतः उसी का उपयोग इनकी पहचान के लिए किया जाता है।

एक नलिका में ५ घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसमें एहरलिक का प्रतिकर्ता १ घ० शि० मा० डाला जाय। यदि शुल्वौषधियाँ हों तो पीला रंग उत्पन्न होगा। मूत्र में यदि मूत्रपित्तिजन हो तो उसका लाल रंग इनके पहचान में बाधा उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में मूत्र में प्रथम ओबर मायरके (पृष्ठ ४४७) प्रतिकर्ता के कुछ बूंद डालकर मूत्रपित्तिजन का नाश किया जाय और पश्चात् एहरलिक के प्रतिकर्ता से देखा जाय।

मूत्र में मिह या नोवोकेन (Novocaine) होने से इनके पहचान में बाधा उत्पन्न होती है क्योंकि वे भी वैसा ही रंग उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में एहरलिक का प्रतिकर्ता डालने के पश्चात् उसमें २ घ० शि० मा० नीरवम्रल (Chloroform) डालकर नलिका को उलट-पुलट कर अच्छी तरह मिलाया जाय। यदि रंग शुल्वौषधिजन्य हो तो नीरव म्रल में घुल जायगा, दूसरों का न घुलेगा। पश्चात् क्षारातु शुल्कीय (Sodium acetate) के सन्तृप्त घोल का २ घ० शि० मा० उसमें डालें। इससे नीरवम्रल अलग होने में सहायता होकर तद्गत रंग देखा जा सकता है।

सूक्ष्म परीक्षण

Microscopic examination

सामान्य विवरण—सूक्ष्म परीक्षणार्थ मूत्र सद्यःसृष्ट होना जरूरी है, अधिक से अधिक ६ घण्टे के भीतर का ही मूत्र इस योग्य होता है अन्यथा लालकण, निर्मोक (Casts) इत्यादि उपस्थित होने वाले द्रव्य नष्ट होने की संभावना होती है। यदि अधिक काल तक रखना हो तो शीत स्थान में परिरक्षी द्रव्य डालकर (पृष्ठ ३७८) रक्खा जाय।

मूत्र की नैत्यिक परीक्षा में उसका सूक्ष्म परीक्षण एक आवश्यकीय अंग होता है क्योंकि कई बार बाह्यतः निर्मल तथा दृश्य अवसाद (Sediment) न होने वाले मूत्र में सूक्ष्म परीक्षण करने पर निदान की दृष्टि से महत्व के द्रव्य पाये जाते हैं। इसके विपरीत बाह्यतः मटमैले अधिक अवसाद युक्त मूत्र में निदान की दृष्टि से महत्व के द्रव्य नहीं मिलते

सूक्ष्म परीक्षणार्थ मूत्र का अवसाद प्रयुक्त किया जाता है। इस दृष्टि से मूत्र रखने के लिए शंक्वाकार काचक ही उत्तम (पृष्ठ ३७५ नं० ३) होता है क्योंकि मूत्र में जो भी वस्तुएँ अवसादित हो सकती हैं वे गुरुत्वाकर्षण से नीचे के थोड़े से स्थान में इकट्ठा हो जाती हैं। यदि केन्द्रापसारित्र (Centrifuge) न हो तो मूत्र को शंक्वाकार पात्र में ३-१२ घण्टे तक रखने से तली में जो अवसाद बनता है उसका ग्रहण किया जाय।

जब मूत्र में तलछट बहुत अधिक इकट्ठा होता है तब उसके ऊपर के तथा उसके नीचे के अंश का स्वतन्त्रतया परीक्षण किया जाय, क्योंकि इन स्थानों में भिन्न भिन्न द्रव्य मिलने की संभावना होती है। सूक्ष्म परीक्षणार्थ मूत्र का केन्द्रापसारित अंश सर्वोत्तम होता है। इसके परीक्षण

के साथ यदि तद्गत द्रव्यों का संख्यात्मक कुछ दिग्दर्शन किया जाय तो उस परीक्षण का महत्व और भी अधिक हो जाता है। ये दोनों कार्य एक ही समय पर निम्न पद्धति से सिद्ध होते हैं।

परीक्षणार्थ आये हुए संपूर्ण मूत्र को भली भाँति मिश्र करके उसके १५ घ० शि० मा० मूत्र को एक अंकित केन्द्रापसारिका (Graduated Centrifuge tube) में लेकर उसको लगभग ३ मिनिट तक मध्यम गति से घुमाया जाय। पश्चात नाडक से ऊपर का सब मूत्र धीरे से निकाल कर केवल १ घ० शि० मा० उसमें रक्खा जाय। फिर वह १ घ० शि० मा० मूत्र तद्गत अवसाद के साथ अच्छी तरह मिश्र करके उसमें का एक बूंद पटरी पर लेकर उसका परीक्षण किया जाय और उच्च शक्ति (High power) के एक क्षेत्र (Field) में जितने भी और जिस प्रकार के द्रव्य मिलते हैं उनकी संख्या उनके नामों के साथ बतायी जाय। यह संख्या मूत्र के १ : १५ संकेन्द्रण की होगी। इसके साथ साथ यदि प्रमापीकृत (Standard) आहार विहार के साथ रात के १२ घण्टे का मूत्र इकट्टा करके उसका परीक्षण उपर्युक्त पद्धति से किया जाय तो उसका महत्व और अधिक होगा।

(१) मूत्र के अवसाद का परीक्षण प्रथम नीचशक्ति (Low power) से किया जाय। इसके लिए मूत्र बिन्दु पर ढकना रखने की आवश्यकता नहीं होती वह वैसा ही देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त थोड़े क्षेत्र में अवसादगत सब द्रव्य इकट्ठा होने के कारण अप्रचुरता से होनेवाले द्रव्य भी उसमें आसानी से देखे जा सकते हैं। उसके पश्चात् ढकना लगाकर उच्चशक्ति से (High power) देखा जा सकता है। इस प्रकार यद्यपि प्रथम बिना ढकने के अवसाद को देख सकते हैं तथापि उसमें दोष यह होता है कि वह धक्का लगने पर बराबर अस्थिर या हिलता रहता है जिससे उसका परीक्षण स्थिरता के साथ नहीं हो सकता। अतः प्रारम्भ से ही ढकना लगाकर प्रथम नीच तथा पश्चात उच्चशक्ति से देखना अच्छा होता है। बूंद पर ढकना इस प्रकार रक्खा जाय कि उसके नीचे वायु के बबूले (Bubbles) न रह जाय। अन्यथा अवसादगत द्रव्यों को देखने में बाधा उत्पन्न होती है। परीक्षण के समय उचित प्रकाश (Illumination) के ऊपर ध्यान दिया जाय। प्रायः अधिक प्रकाश के कारण वस्तुएं ठीक नहीं दिखाई देतीं।

(२) कभी कभी समान रचना के द्रव्यों का आपस में भेद करने के लिए या दिखाई देनेवाले द्रव्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिए सूक्ष्मदर्शक के मंच (Platform) पर अनेक प्रतिकर्ताओं (Reagents) का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। उस अवस्था में ढकने के एक ओर उस प्रतिकर्ता का एक बूंद रखकर दूसरी ओर सोख्ते से उसको खींचा जाता है। इससे वह प्रतिकर्ता ढकने के नीचे से अवसाद के साथ मिलकर जाता है और उसका परिणाम ऊपर से उन द्रव्यों पर देखा जाता है।

(३) कभी कभी विशिष्ट कोशाओं को तथा जीवाणुओं को देखने के लिए पटरी पर अवसाद का प्रलेप बनाकर तथा सुखाकर उसको रंजन करके भी देखने की आवश्यकता होती है।

पटरी पर रखकर अवसाद को तुरन्त देखना चाहिए। विलम्ब करने पर मूत्र के सूख जाने का डर रहता है और मूत्र सूखने पर विविध द्रव्यों को पहचानना कठिन होता है।

सूक्ष्मदर्शक से देखने पर जो द्रव्य मिलते हैं उनके केवल नाम का उल्लेख पर्याप्त नहीं होता, उसके साथ उनकी संख्या का भी कुछ उल्लेख 'अत्यल्प', 'अल्प', 'अधिक', 'अत्यधिक', इत्यादि शब्दों के द्वारा किया जाय, जिससे पढ़नेवाले को उसकी मात्रा का कुछ अनुमान हो सके। इसके अतिरिक्त इसका उपयोग चिकित्सा का परिणाम तथा रोग की गति या परागति की जानकारी के लिए भी होता है।

मूत्र के अवसाद

(१) अनंगभूत Unorganized	(२) अंगभूत Organized	(३) बाह्यागत Extraneous
स्फटिकाकारी और अनाकारी विविध द्रव्य	अंगों और धातुओं की कोशाएं तथा जीवाणु	किण्व कोशाएं, रूई आदि के तन्तु, बाल, पंख स्नेह बिन्दु इत्यादि

अनंगभूत अवसाद (Unorganized sediment)

साधारणतया इस अवसाद में पाये जानेवाले द्रव्य रोगनिदान या प्राग्ज्ञान (Prognosis) की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखते क्योंकि ये द्रव्य स्वस्थ मूत्र में विद्यमान होते हैं और आहार विहार जन्य मूत्र के (प्रतिक्रिया, सकेन्द्रण इत्यादि) परिवर्तनों के कारण अत्यधिक मात्रा में उत्सर्गित होने के कारण या शरीर के भीतर या बाहर मूत्र अधिक काल तक संचित हो जाने के या सड़ जाने के कारण निस्सादित होते हैं। प्रायः अन्तिम कारण से ही मूत्र में यह पाया जाता है।

ये द्रव्य अनाकारी (Amorphous) या स्फटिककारी (Crystalline) दो स्वरूपों में पाये जाते हैं। अनाकारी अवसाद सद्योत्सृष्ट मूत्र में हो सकते हैं परन्तु स्फटिकाकारी प्रायः उत्सृष्ट मूत्र कुछ काल रहकर ठण्डा होने पर पाये जाते हैं क्योंकि नीच ताप पर तथा मूत्र की प्रतिक्रिया बदलने पर अनेक द्रव्यों की विलेयता (Solubility) घट जाती है। इसके लिए कुछ अपवाद हो सकते हैं। शुक्लि तथा कुछ इतर द्रव्य स्फटिकीभवन में बाधा डालते हैं। विशिष्ट परिस्थिति के अनुसार स्फटिक बनते हैं। इसलिए प्रत्येक मूत्र में प्रायः एक ही प्रकार के स्फटिक दिखाई देते हैं, परन्तु कभी कभी दो प्रकार के भी होते हैं। मूत्र की प्रतिक्रिया का (पृष्ठ १२०) स्फटिकोत्पत्ति के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है। साधारणतया अम्ल मूत्रों में मिहिक अम्ल और चूर्णातु तिग्मीय (Cal oxalate) तथा क्षारिय मूत्रों में भास्वीय (Phosphates) और द्विमेहीय (Biurates) स्फटिक पाये जाते हैं। सद्योत्सृष्ट मूत्र में स्फटिकों का मिलना या तो मिहिक अम्ल, चूर्णातु तिग्मीय, शुल्व नीलतिक्तेय (Sulphamilamide) तथा उसके तद्भव की अश्मरी का, या बस्ति में मूत्र के उपसृष्ट और अवशिष्ट (Residual) रहने का या गन्धक के अनुचित समवर्तन (Faulty metabolism) का निदर्शक होता है।

अनङ्गभूत अवसाद जिस प्रकार की प्रतिक्रिया के मूत्र में पाये जाते हैं उसके अनुसार निम्न विभागों में विभक्त किये जाते हैं। ये विभाग व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त जरूर है परन्तु यथार्थ नहीं हैं, क्योंकि अम्ल मूत्र में बने हुए अवसाद मूत्र क्षारिय होने पर भी वैसे ही मिल सकते हैं

चित्र नं० ५



२ चरण, क्षारीय मूत्र के अवसाद
१ भास्वीय स्फटिक Phosphate
२ चूर्णातु भास्वीय Cal. phos.
३ तिक्तातु मेहीय Ammo. urate

१ चरण, अम्ल मूत्र के अवसाद
४ मिहिक अम्ल Uric acid
५ चूर्णातु तिग्मीय Cal oxalate

३ चरण, मूत्र के विरलदृष्ट स्फटिक
६ चूर्णातु शुल्बीय Calcium sulphate
७ पैत्तव Cholesterol
८ अश्वमेहिक अम्ल Hippuric acid
९ नील Indigo
१० क्षारातु मेहीय Sodium urate
११ स्नैहिक अम्ल Fatty acids
१२ शोणाभि Hematoidin

४ चरण, १३ विविध अधिच्छदीय कोशाएं Epithelial cells

तथा कभी कभी मूत्र अम्ल रहते हुए भी क्षारिय मूत्र में मिलनेवाले अवसाद बन सकते हैं। अब नीचे मूत्र प्रतिक्रियानुसार उसमें मिलने वाले प्रायिक (Common) तथा विरल (Rare) एवं स्फटिकाकारी तथा अनाकारी सब स्फटिकों का पहाड़ा दिया जाता है।

मूत्र प्रतिक्रिया

अम्ल	क्लीब	क्षारिय
प्रायिक		प्रायिक
[१] मिहिक अम्ल	[१] द्विचूर्णातुभास्वीय	[१] भास्वीय स्फटिकाकारी तथा अनाकारी
[२] मेहीय	[२] अम्ल और क्षारिय	[२] तिक्तातु द्विमेहीय
		विरल
[३) चूर्णातु तिग्मीय	मूत्र के सब द्रव्य	[३] चूर्णातु प्रांगारीय
विरल		
[४] श्वित		[४] चूर्णातु भास्वीय
[५ [दधिकी		[५] पैत्तव
[६] विषाणी		
[७] पीति		

अम्ल मूत्रगत अवसाद

Sediment in acid urine

अम्ल मूत्र में जिनका तलछट बनता है उनके नाम ऊपर दिये हैं। इनमें मिहिक अम्ल और मेहीय प्रधान हैं। मूत्र अत्यधिक अम्ल होने पर ही इनका अवसाद बनता है। परन्तु इनके तलछट की राशि बहुत अधिक हो नहीं सकती। चित्र ५ मे चरण २ देखिये।

(१) मिहिक अम्ल(Uric acid)—यह अम्ल अम्ल मूत्र में प्रायः स्फटिकाकारी रूप में पाया जाता है। मत्ररूधिरी (Uro erythrin पृष्ठ ३८१) के कारण स्फटिक पीलापन या लाली लिए हुए भूरे होते हैं और मूत्र में सुर्खी (Brickdust) के समान मूत्रपात्र के किनारे

पर चिपके हुए या तलों में इकट्ठा हुए दिखाई देते हैं। क्वचित् इसके स्फटिक रंगहीन भी बनते हैं। उस समय उनको पहचानना कठिन होता है क्योंकि उस समय में स्फटिक विपाणि (Cystin) के स्फटिकों के समान दिखाई देते हैं। रंगीन स्फटिक पटकोणाकृति तिर्यग्वर्गीय (Rhombic), प्रायः शाणाश्म आकृति (Whetstone shaped), षड्पार्श्विक (Sixsided) पट्ट (Plates) होते हैं और कई बार कदम्ब पुष्प सदृश (Rosette like) गुच्छे में मिलते हैं। इनकी पहचान किन्तु आकृति की अपेक्षा रंग पर होती है। अम्ल मूत्र में मिलने वाले स्फटिक यदि रंगीन हो तो उनकी आकृति का विचार न करते हुए निस्संदिग्धतया मिहिक अम्ल समझ सकते हैं। क्वचित् मिहिक अम्ल रंगहीन अनाकार रूप में भी अवसादित होता है। उस समय उसको अनाकारी भास्वीय (Phosphates) समझने की भूल हो सकती है। मिहिक अम्ल क्षारातु उद्जारेय (Sodium hydroxide) में घुल जाता है, परन्तु उद्नीरक (HCl) या शुक्तिक अम्ल में नहीं घुलता। तिक्ताति मिलाने पर मिहिक अम्ल के स्फटिक घुलकर उसके स्थान में तिक्तातु मेहीय (Ammonium urate) के स्फटिक दिखाई देते हैं।

स्वस्थ सद्योत्सृष्ट मूत्र में मिहिक अम्ल के स्फटिक नहीं पाये जाते हैं। कुछ काल रहने पर तथा मूत्र ठण्डा होने पर वे दिखाई देते हैं। अतः असद्यस्क (not fresh) मूत्र में उनके मिलने का कोई महत्त्व नहीं होता। मूत्र की अत्यम्लता, मूत्रीय रागकों (Pigments) की अल्पता और मिहिक अम्ल के उत्सर्जन की अधिकता होने पर इनका अवसाद सद्योत्सृष्ट मूत्र में भी होता है। इसके स्फटिकों में आपस में मिलकर अश्मरी बनाने की प्रवृत्ति होने के कारण सद्योत्सृष्ट मूत्र में गुच्छे में इनका मिलना वृक्क या बस्ति में अश्मरी होने की संभावना को सूचित करता है। उस समय मूत्र में कुछ अंश में रक्त भी रहता है।

(२) मेहीय (urates)—ये क्षारातु और दहातु के लवण होते हैं और प्रायः अनाकारी रूप में पाये जाते हैं। रंग में ये पीले या लाल होते हैं और सुर्खी के समान अवसाद बनाते हैं। फीके रंग के मूत्र में ये सफेद से दिखाई देते हैं और उस समय अनाकारी भास्वीय समझने की भूल हो सकती है। मेहीय संकेन्द्रित और प्रबल अम्ल मूत्रों में तथा

शीत काल में अवसादित होते हैं । उपर्युक्त अवस्थाओं में भी ये अवसादित होते हैं । इनके अवसादित होने से मूत्र कभी सफेद और कभी किंचित रक्तवर्ण दिखाई देता है । प्रथम में पूय का और द्वितीय में रक्त का भ्रम हो जाता है । अनाकारी मेहीय गरम करने पर तथा क्षारातु उदजारेय (Caustic Soda) में घुल जाते हैं । उदनीरिक या शुक्तिक अम्ल डालने पर ये धीरे धीरे घुलकर १०-२० मिनिट में मिहिक अम्ल के तिर्यग्वर्गीय (Rhombic) स्फटिकों में परिवर्तित होते हैं । क्वचित मूत्र में क्षारातु मेहीय (Sodium urates) के स्फटिक दिखाई देते हैं । ये लम्बे पतली पट्टी के समान होकर पंखे के आकार के या गट्ठों में मिलते हैं । अथवा ये तिक्तातु मेहीय के समान गोल भी होते हैं । परन्तु उनसे ये कम काले और पारान्ध (Opaque) होकर उनके समान त्रिभास्वीयों के (Triple phosphates) साथ नहीं पाये जाते । ये नवजात बालकों के मूत्र में अधिक पाये जाते हैं और उनके कारण उनके जांघियाँ तथा अन्य वस्त्र पीले होते हैं ।

(३) चूर्णातु तिग्मीय (Cal oxalate)—यह सदैव स्फटिकाकार होता है प्रायः अल्पांश में अवसादित होता है और क्वचित् क्षारीय मूत्र में भी तद्गत स्फटिकों के साथ पाया जाता है । इसके स्फटिक रंगहीन तारका के समान चमकने वाले, अष्टानीक [Octahedral] होकर इनके बीच में एक दूसरे को काटने वाली दो विकर्ण रेखाएं [Diagonal lines] दिखाई देती हैं जिसके कारण ये लिफाफे के समान [Envelope crystals] दिखाई देते हैं । ये परिमाण में छोटे बड़े होते हैं और कभी कभी इतने छोटे होते हैं कि केवल एक चमकीले बिन्दू के समान दिखाई देते हैं । जब स्फटिकीभवन ठीक नहीं हो पाता तब ये गोल द्विमुण्ड [Dumb-bell] बालुघड़ी (Hour glass) के समान बनते हैं और उस समय इनको चरबी के गोले, लाल कण या मेहीय समझने की भूल हो सकती है । परन्तु ये चाहे जिस आकार के हों, रंगहीन रहते हैं । ये स्फटिक प्रबल उदनीरिक अम्ल में घुल जाते हैं, परन्तु शुक्तिक अम्ल या दाहक सर्जी (Caustic soda) में नहीं घुलते ।

मूत्र में इनकी उपस्थिति किसी विशेष विकृति की द्योतक नहीं होती । परन्तु मूत्रमार्ग के प्रकोप के लक्षणों के साथ सद्योत्सृष्ट मूत्र में इनका

अधिक संख्या में और पुञ्जों में मिलना मूत्रण संस्थानगत अश्मरी का द्योतक होता है, क्योंकि इनमें आपस में मिलकर अश्मरी बनाने की प्रवृत्ति होती है और अश्मरियों का परीक्षण करने पर यह भी सिद्ध हुआ है कि अधिक संख्य (पृष्ठ १२५) अश्मरियाँ चूर्णातु निर्माय की होती हैं।

इनकी अश्मरियाँ खरखरी होने के कारण मूत्र में अल्पांश में श्लेष्मा, शुक्रकीटाणु और लाल कण भी रहते हैं।

जिस मूत्र में विषाणी घुली हुई रहती है उसमें थोड़ा सा शुक्तिक अम्ल डालने से इसका अवसाद बन जाता है।

(४) **विषाणी** (Cystine) –स्वस्थ मूत्र में इसकी अत्यल्प मात्रा उपस्थित होने से इसका अवसाद नही होता। परन्तु जब यह द्रव्य अत्यधिक मात्रा में होता है तब इसके स्फटिक बनते हैं। रंगहीन अत्यन्त प्रकाशपरावर्तक [Highly refractive], स्थूल, षट्भुज और स्पष्ट किनारे के होते हैं। कभी ये अकेले और कभी एक दूसरे के ऊपर समाचित [Superimposed] मिलते हैं। मिहिक अम्ल के स्फटिक इस प्रकार के होते हैं, परन्तु ये शुक्तिक अम्ल मे न घुलते हुए उदनीरिक में घुल जाते हैं जिससे ये मिहिक अम्ल स्फटिकों से अलग पहचाने जाते हैं।

मूत्र में विषाणी के स्फटिक विरलदृष्ट वस्तु हैं और मिलने पर इनका कोई नैदानिकीय महत्त्व नहीं होता। परन्तु अश्मरी उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होने के कारण उनके मिलने पर अश्मरी का ख्याल करना चाहिए।

(५–६) **श्विति और दधिक** (Leucin and Tyrosin)––ये भी द्रव्य विषाणी के स्फटिकों के समान मूत्र में क्वचित् कदाचित मिलने वाले हैं। मूत्र में जब इनकी मात्रा अधिक होती है तब इनके स्फटिक बनते हैं। अतः इनको प्राप्त करने के लिए मूत्र को संकेन्द्रित या गाढ़ा करने की आवश्यकता होती है। ये दोनों द्रव्य मूत्र में प्रायः साथ साथ रहते हैं। परन्तु दधिकी कभी कभी स्वतन्त्र भी मिल जाती है। श्विति के स्फटिक जो मूत्र में पाये जाते हैं शुद्ध नहीं होते। ये रंग में किञ्चित् पीले, तैल स्वरूप (Oily looking) प्रकाशपरावर्तक गोल (Spheres) होते हैं और इनमें अरीय तथा संकेन्द्रीय (Radial and Concentric) धारियाँ होती हैं। इनमें कुछ गुच्छे भी पाये जाते

हैं। क्षार में तथा उबलते हुए शुक्तिक अम्ल में घुल जाते हैं परन्तु मन्द शुक्तिक या उदनीरिक (HCl) अम्ल में नहीं घुलते।

दधिकी (Tyrosine)- के स्फटिक सुई के समान पतले देखने में काले और किरणवत विन्यस्त (Arranged in radiating sheaves) होते हैं। ये तिक्तातित या उदनारिक अम्ल में घुल जाते हैं परन्तु शुक्तिक अम्ल में नहीं।

मूत्र में इनकी उपस्थिति इनके स्फटिकों के स्वरूप से सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि इनके साथ चूर्णातु भास्वीय (Cal phos) तथा तिक्तातु द्विमेहीय (Ammon biurate) के स्फटिक बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं। अतः परीक्षण के आधार पर ही इनको पृथक् करना पड़ता है। तिक्तातु द्विमेहीय भास्वियों के साथ क्षारिय मूत्र में पाये जाते तथा शुक्तिक अम्ल में घुल जाते हैं। चूर्णातु भास्वीय भी शुक्तिक अम्ल में घुल जाते हैं। परन्तु श्वेति और दधिकी दोनों शुक्तिक अम्ल में अनघुल होते हैं।

यदि मूत्र में इनकी उपस्थिति सिद्ध करना हो तो प्रथम ताप, शुक्तिक अम्ल और निस्यन्दन से ततगत शुक्ति को निकाल दें। पश्चात बचे हुए मूत्र को जलावगाह में संकेन्द्रित करलें। पश्चात मूत्र के एक अंश (श्विति के लिए) की प्रतिक्रिया को ५'८ (pH) पर और दूसरे अंश की प्रतिक्रिया को (दधिकी के लिए) ६'८ (pH) पर समायोजित (Adjust) करके प्रशीतक (Refrigerator) में रख दें। पश्चात निम्न प्रकार से उनका रसायनिक परीक्षण करें।

मोर्नर की कसौटी (Morner's test)—मोर्नर के प्रतिकर्ता (वम्रि Formalin १; पानी ४५ शुल्बारिक अम्ल ५५) के कुछ घ० शि० मा० नलिका में लेकर ६'८ प्रतिक्रिया पर रक्खे हुए मूत्र का स्फटिकीय निस्साद उसमें डालकर उसको उबाल तक गरम किया जाय। दधिकी होने पर हरा रंग उत्पन्न होता है।

सल्कोवस्की की कसौटी (Salkowski's test)—५'८ (pH) पर रक्खे हुए मूत्र का स्फटिकीय निस्साद लेकर उसको पानी में विलीन कर उसमें १०% ताम्र शुल्बीय (Sulphate) का एक छोटा सा बूंद डाला

जाय। स्थिति होने पर नीला रंग उत्पन्न होता है जो उबालने पर भी नष्ट नहीं होता।

(७) पीति (Xanthin)-- यह विरल दृष्ट द्रव्य है। इसके स्फटिक मिहिक अम्ल के समान शाणाश्माकृति (Whetstone) होते हैं। परन्तु ये तिक्तानि (Ammonia), द्रव उदनीरिक अम्ल तथा भूयिक अम्ल (HCl and Nitric) में घुल जाते हैं।

निष्प्रतिक्रिय मूत्रगत अवसाद

Crystals in Neutral urine

जिस मूत्र की प्रतिक्रिया न अम्ल न क्षारिय है ऐसे क्लीब मूत्र में अम्ल और क्षारिय मूत्र में मिलनेवाले सब स्फटिक मिल सकते हैं। परन्तु इस प्रकार के मूत्र में मिलनेवाला मुख्य द्रव्य द्विचूर्णातु भास्वीय है।

द्विचूर्णातु भास्वीय (Dicalcium phosphate)— यह द्रव्य अनाकारी तथा स्फटिकाकारी दोनों अवस्थाओं में मूत्र में पाया जाता है। अनाकारी चूने के भास्वीयों का क्षारिय मूत्रों में दानेदार तलछट बनता है। मिहिक अम्ल के समान इनमें मूत्र रागकों की ओर बन्धुता न होने के कारण (Affinity) इनका तलछट (Deposit) सफेद तथा फुल्लांश (Flocculent) होता है। गरम करने पर इनका तलछट बढ़ता है। स्फटिकाकारी चूने के भास्वीय अनाकारी भास्वीयों के समान प्रायिक नहीं होते क्वचित कदाचित् बनते हैं। ये ईषदम्ल, क्लीब या ईषत् क्षारिय मूत्र में पाये जाते हैं। ये रंगहीन प्रिज्म के आकार के पतले चौड़े या सुई के आकार के अकेले दुकेले प्रायः सूर्य रश्मिवत् विन्यस्त गुच्छों में पाये जाते हैं। इसलिए इनको तारकोपम (Stellar) भास्वीय भी कहते हैं। इस अवस्था में ये कभी कभी दधिकी के समान दिखाई देते हैं।

क्षारिय मूत्र के अवसाद

Crystals in alkaline urine

क्षारिय मूत्र में अनेक द्रव्यों के तलछट बनते हैं। इनमें भास्वीय सबसे महत्त्व के हैं और इनके तलछट की राशि जितनी अधिक पायी जा सकती

है उतनी अनंगभूत द्रव्यों में और किसी की भी नहीं पायी जा सकती है। कभी कभी इनका तलछट तिहाई या आधे मूत्र के बराबर मिला करता है। क्षारिय मूत्र में मिलने वाले सब अवसाद शुक्तिक अम्ल में घुल जाते हैं। चित्र ५ में न्वरण १ देखिये।

(६) **भास्वीय** (Phosphates)—यद्यपि भास्वीयों का अवसाद प्रायः क्षारिय मूत्र में मिला करता है तथापि कभी कभी यह उभयविध (Amphoteric) या ईषदम्ल मूत्र में भी पाया जाता है। ये भास्वीय भास्विक [Phosphoric] अम्ल के चूर्णातु या तिक्तातु आजातु (Ammonium magnesium) के लवण होते हैं और स्फटिकाकारी तथा अनाकारी दोनों अवस्थाओं में पाये जाते हैं। चूर्णातु भास्वीय का विवरण ऊपर हो चुका है। मूत्र में भास्वीयों के विविध प्रकार प्रायः साथ साथ रहा करते हैं। इनकी उपस्थिति भास्विक अम्ल का अतिशय उत्सर्ग होने से तथा मूत्र का क्षारिय बनने से होती है। मूत्र में भास्वीयों की अश्मरी स्फटिकाकारी भास्वीयों से बनती है, न कि अनाकारी।

(अ) *तिक्त आजातु भास्वीय* (Ammonio magnesium phosphate)— इनके स्फटिकाकारी रूप त्रिभास्वीय (Triple phosphates) कहलाते हैं। क्षारिय मूत्र में भास्वीयों का यही प्रायिक रूप होता है। देखने में इनका अवसाद सफेद होता है और इसके स्फटिक काफी बड़े होते हैं तब वे अवसाद में अनेक चमकीले सूक्ष्म बिन्दू के समान दिखाई देते हैं। मूत्र में पित्त होने पर ये पित्त से रंजित होते हैं। भास्वीयों का जैसा तली में अवसाद बनता है वैसा मूत्र पात्र के पार्श्वों पर (Sides) भी उनका कुछ अंश चिपकता है तथा कुछ भास्वीयों की मूत्र के ऊपर भी पतली सफेद तह बनती है। इसके स्फटिक त्रिभुज के समान रंगहीन अत्यन्त प्रकाश परावर्तक (Refractile), परिमाण में बहुत छोटे मोटे ३-४ या छ पार्श्वों के बने हुए और देखने में शवपेटिका के दोनों ओर ढालदार ढकने समान (Coffin-lid) या दोनों ओर ढालदार रहनेवाले परन्तु बीच में मिले हुए खपड़ेल के समान (Hip roof) होते हैं। प्रकाश परावर्तन की अधिकता के कारण इनके किनारे (Edges) रंगीन मालूम होते हैं। इनमें जो स्फटिक चौखूंटे होते हैं वे चूर्णातु तिग्मीय स्फटिकों के समान दिखाई देते हैं, परन्तु इनमें चू० ति० स्फटिकों के समान

चमक (Luster) नहीं होती तथा ये शुक्तिकअम्ल में घुलजाते हैं। जब मूत्र में तिक्तातिभवन यकायक और बहुत अधिक होता है तब या जब मूत्र में तिक्ताति डालकर इनका निस्साद यकायक किया जाता है तब इनका स्वरूप पक्षियों के पंखों के समान, तारकाओं के समान, पपोते के या ताड के पत्तों के समान या कैंची के समान दिखाई देता है। इनको पंखवत (Feathery) भास्वीय कहते हैं।

अनाकारी भास्वीय (Amorphous phosphates)— अम्ल मूत्र में जो मार्तिक भास्वीय (पृष्ठ ४०३) घुले हुए रहते हैं वे मूत्र निष्प्रतिक्रिय उभयविध या क्षारिय होने पर स्फटिकाकारी (पृष्ठ ४०५) या अनाकारी रूप में अवसादित होते हैं। बाह्यतः यह अवसाद पूय के समान दिखाई देता है परन्तु सूक्ष्मदर्शक से देखने पर इनका स्वरूप स्पष्ट होता है। पीछे द्विचूर्णातु भास्वीय (पृष्ठ ४६३) देखो।

(२) *तिक्तानु द्विमेहीय* (Ammon biurate)—क्षारिय मूत्र में मिलनेवाला यही अकेला मेहीय है। मूत्र में जब स्वतन्त्र तिक्ताति होता है तब इसके स्फटिक बनते हैं। इसलिए ये स्फटिक सदैव भास्वीयों के साथ पाये जाते हैं। आकार में ये क्षारातु मेहीय (पृष्ठ ४४८) के समान गोले (Spheres) होते हैं। कभी कभी ये गोले द्विमुण्ड (Dumbell) का आकार धारण करते हैं, कभी ये शिफावृन्त (Rhizome) के समान होते हैं और कभी इनके ऊपर काँटे बनते हैं। ऐसे स्फटिकों को धत्तूरफल स्फटिक (Thornapple crystals) कहते हैं। शुक्तिक अम्ल मिलाने पर ये घुल जाते हैं और पश्चात् उनसे मिहिकअम्ल के तिर्यग्वर्तिक (Rhombic) पट्ट बन जाते हैं। नैदानिकीय दृष्ट्या इनका कोई महत्त्व नहीं होता।

(३) *प्रांगारीय* (Carbonates)—ये चूने के लवण होते हैं। कभी भास्वीयों के साथ ये अनाकारी कणिकाओं के रूप में अवसादित होते हैं। क्वचित् ये रंगहीन गोले या द्विमुण्ड के रूप में भी मिलते हैं। शुक्तिक अम्ल से प्रांगारीय घुल जाते हैं और प्रां० द्विजारेय (CO_2) के छोटे छोटे बबूले निकलते हैं।

(४) पैत्तव (Cholesterol)—कभी कभी यह द्रव्य भी मूत्र में उत्सर्गित होता है । इसके स्फटिक रंगहीन, तिर्यगायताकार (Rhomboidal) पतले पट्टक (Plates) के रूप में होते हैं और उनके एक कोने में खाचा (Notch) रहता है । कभी कभी ये पट्टक एक दूसरे के ऊपर समाचित (Overlapping) भी मिलते हैं । चित्र ५ देखो ।

उपर्युक्त द्रव्यों के अतिरिक्त और भी कुछ द्रव्यों के स्फटिक अवसाद के रूप में मूत्र में पाये जा सकते हैं । परन्तु स्वस्थ और सद्यस्क मूत्र में केवल चूर्णातु तिग्मीय के ही स्फटिक मिल सकते हैं । अन्यों के स्फटिक मूत्र कुछ काल रहने पर बनते हैं । इनमें मिहिक अम्ल, मेहीय, तिग्मीय और भास्वीय महत्त्व के तथा प्रायिक मिलनेवाले होते हैं । अतः नीचे इन चारों को पहचानने की सरल पद्धति बतायी जाती है ।

(१) मूत्र के साथ कुछ अवसाद को लेकर गरम किया जाय । यदि वह घुल जाय तो मेहीय (Urates) का है ऐसा समझें । यदि न घुले जाय तो मिहिकअम्ल, भास्वीय या तिग्मीय का अवसाद है, ऐसा समझें ।

(२) फिर कुछ मूत्र के साथ अवसाद को लेकर उसमें थोड़ा सा शुक्तिक (Acetic) अम्ल डालकर गरम करें । यदि वह घुल जाय तो भास्वीय का है ऐसा समझें । यदि न घुले तो मिहिक अम्ल या तिग्मीय का है ऐसा समझें ।

(३) उसी नलिका में अवसाद पर कुछ उदनीरिक (HCl) अम्ल डाल कर गरम करें । (Oxalate) और यदि न घुले तो मिहिक अम्ल का अवसाद है ऐसा समझें ।

औषधियों के अवसाद—अनेक औषधियाँ सेवन करने पर मूल रूप में या परिवर्तित रूप में मूत्र के साथ वृक्कों द्वारा उत्सर्गित होकर उसके रंग में, गन्ध में, प्रतिक्रिया में परिवर्तन कर देती हैं तथा स्फटिकों के अवसाद भी बनाती हैं । जैसे धूपिक (Benzoic) अम्ल या उसके लवण सेवन करने पर मूत्र में अश्वमेहिक (Hippuric) अम्ल अधिक मात्रा में उत्सर्गित होकर स्फटिकों के रूप में अवसादित होता है । परन्तु

इनका कोई विशेष महत्व नहीं होता। महत्व की दृष्टि से शुल्बौषधियाँ निर्देश करने योग्य हैं।

शुल्बौषधियाँ (Sulpha-drugs)—ये औषधियाँ अपने स्वाभाविक विषता तथा रोगी की असहनशीलता (Hypersensitiveness) के कारण पचन संस्थान, रक्तोत्पादन संस्थान, मूत्र संस्थान के ऊपर विषला प्रभाव डालकर हृल्लास, वमन, प्रवाहिका, पाण्डुरोग, अकणिककायाणूत्कर्ष, रक्तमेह, इत्यादि विकार उत्पन्न करती हैं।

स्फटिकमेह (Crystaluria)—ये औषधियाँ पर्याप्त मात्रा में पानी और क्षार के साथ सेवन करने से मूत्रनलिकाओं में (Renal tubules), वृक्कालिन्द (Pelvis), गवीनी में स्फटिकों के रूप में निस्सादित होती हैं। ये स्फटिक प्रायः इनके शुक्तिलित (Acetylated) संयोग होते हैं। पानी की मात्रा और क्षार सेवन पर ध्यान न देने से कभी कभी इनका स्फटिकी भवन इतना अधिक होता है कि मूत्रोत्पत्ति तथा मूत्र प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त ये स्फटिक मूत्रण संस्थान में प्रकोप भी पैदा करते हैं। परिणाम यह होता है कि स्फटिकमेह, मूत्रकृच्छ्र, अमूत्रमेह, रक्तमेह इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। अतः इनका सेवन कराते समय दैनिक जल की तथा मूत्र की राशि पर ध्यान देना चाहिए। किसी भी अवस्था में इनके सेवन के समय मूत्र की दैनिक राशि १२०० घ० शि० मा० से कम न रहनी चाहिए। मूत्र की राशि कम होनेपर उपर्युक्त उपद्रव उत्पन्न होते हैं। मूत्र उत्सर्गित होने पर कुछ काल के पश्चात् इनके स्फटिक बन जाते हैं, परन्तु उससे उपर्युक्त उपद्रव उत्पन्न होने की आशंका नहीं होती। मूत्र शरीर के भीतर होने पर स्फटिकों का बनना उपद्रव जनक होता है। अतः सद्यस्क मूत्र में इनके स्फटिकों का मिलना महत्व का है।

शुल्बौषधियाँ अनेक हैं। शरीर के भीतर स्फटिक उत्पन्न करने की प्रवृत्ति सबमें एक सी नहीं है। शुल्बनीलतिक्तेय (Sulphanilamide), शुल्बनीशुष्मेयी [Sulpha pyridine] इनमें स्फटिकमेह तथा तज्जन्य उपद्रव उत्पन्न करने की अधिक प्रवृत्ति होती है। शुल्बनी-गन्धाजवा (Sulphathiazole), शुल्बनी-द्व्यजीवी [Sulpha diazine] शुल्बनी वेष्टेयी

[Sulpha-guanidine], तृणक्षशुल्बर्वा गन्धाजवा [Succinyl Sulphathiazole] इनमें यह प्रवृत्ति कम होती है।

प्रत्येक शुल्बौषधि के स्फटिक आकार प्रकार में भिन्न होते हैं जिससे उनका आपस में पार्थक्य किया जा सकता है और किस औषधि का सेवन किया जा रहा है उसका अनुमान उनके देखकर भी किया जा सकता है। परन्तु यह काम उतना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त इनके स्फटिक देखने में द्विचूर्णातु भास्वीय [Cal phosphate], मिहिक अम्ल और दधिकि [Tyrosin] इनके स्फटिकों से भी बहुत कुछ मिलते जुलते होते हैं जिससे केवल स्फटिकों को देखकर इनमें से किसी का ठीक निश्चय करना कठिन होता है और अन्त में रसायनिक परीक्षण से ही उनको पहचानने की आवश्यकता होती है। अतः मूत्र में इनके स्फटिक मिलने की सम्भावना होने पर मूत्र को केन्द्रापसारित्र से घुमाकर उपर का मूत्र फेंक कर नीचे इकट्ठे हुए स्फटिकों को शुक्तिक [Acetic] अम्ल से अम्लीकृत हिमशीत जल से दो तीन बार धोया जाय। तत्पश्चात् १ घ. शि. मा. पानी में उनको निलम्बित (Suspend) करके उसमें १० प्र० श० क्षारातु उदजारेय (NaOH) के २--३ बूँद उसमें मिलाये जाँय जिससे शुद्ध शुल्बातिवतेय (Sulphonamide) स्वतन्त्र हो जाँय। उसके पश्चात् एहरलिक का प्रतिकर्ता (पृष्ठ ४४६) प्रत्येक समय कुछ बूंदों की मात्रा में डालते जाय जब तक उसके कारण उत्पन्न हुआ अभ्र (Cloud) निरभ्र न हो। यदि स्फटिक शुल्बातिवतेय के हो तो हरापन लिए पीला रंग उत्पन्न होगा।

ऐन्द्रियक या अंगभूत अवसाद

रक्त	मूत्रप्रजनन संस्थान	उपसर्ग
(१) लालकण	(१) अधिच्छद कोशाएं	(१) विविध तृणाणु
(२) श्वेतकण	(२) विविध निर्मोक	(२) विविध कीटाणु
(३) तन्त्विशकल	(३) शुक्रकीटाणु	(३) विविध कृमि
(४) शोणवतुलि निर्मोक	(४) श्लेष्म सूत्र	

नैदानिकीय दृष्ट्या अनंगभूत अवसाद की अपेक्षा अंगभूत अवसाद अधिक महत्व के होते हैं। मूत्र अधिक काल रहने पर इनकी राशि अनंगभूत अवसाद के समान बढ़ती नहीं। फिर भी इनके परीक्षणार्थ मूत्र सद्यस्क ही होना चाहिए, क्योंकि इनमें से कुछ द्रव्य समय व्यतीत होने पर अपजनित [Degenerate] या नष्ट होते हैं।

अंगभूत अवसादों में मिलनेवाले विविध द्रव्यों के रक्तगत, मूत्रप्रजनन संस्थानगत तथा उपसर्गकारी करके तीन विभाग कर सकते हैं। इनमें स्वस्थ मूत्र में उपसर्गकारी कोई जीव उपस्थित नहीं रहता। अन्य दो विभागों के कुछ द्रव्य स्वस्थ मूत्र में भी पाये जाते हैं।

एडिस की गणना (Addis count)--प्रातःकालीन जलपान के पश्चात् ८ बजे मूत्राशय खाली किया जाता है। उसके पश्चात् रात के ८ बजे तक जितना मूत्र बनता है उतना सब रात के ८ बजे के मूत्र के साथ एक स्वच्छ व मिश्र से (Formalin) शुद्ध की हुई शीशी में इकट्ठा किया जाता है। स्त्रियों में इस १२ घण्टे का मूत्र सलाई से निकालकर लेना चाहिए। इसके पश्चात् सब मूत्र को भलीभांति मिलाकर मेहियों को घुलाने के लिए गरम करके तथा भास्वीयों को घुलाने के लिए थोड़ा सा मन्द शुक्तिकअम्ल डाल के लिया जाता है। तदनन्तर इडिस की केन्द्रापसारिका (Centrifuge tube) में १० घ० शि० मा० मूत्र लेकर उसको ५ मिनिट तक प्रति मिनिट १८०० परिक्रमण की गति में घुमाया जाय। उसके पश्चात् अवसाद की राशि के अनुसार ½ या १ घ० शि० मा० नीचे का हिस्सा रखकर ऊपर का मूत्र फेंक दिया जाय। फिर उसको अच्छी तरह मिलाकर उसमें मिलनेवाली वस्तुओं का गिनती शोणकायाणुमान (Hemocytometer) से की जाय। यदि अवसाद अधिक रहा तो उसको दुगुना या तिगुना पानी से अवमिश्रित करके गणनार्थ लिया जाय।

इस प्रकार मिलनेवाले द्रव्यों की जाँच और गिनती करने पर यह मालूम हुआ है कि स्वस्थ व्यक्ति के १२ घण्टे के मूत्र में १००० निर्मोक (Casts), ७०००० लालकण (R. B. C.) और ३००००० श्वेतकण (W. B. C.) होते हैं। ५००० से अधिक निर्मोक ५००००० से अधिक

लालकण और १०००००० से अधिक श्वेतकण यदि १२ घण्टे के मूत्र में मिलें तो वे विकृति दर्शक समझने चाहिएँ। कुछ लोगों का यह कथन है कि बच्चों में विकृति दर्शक मर्यादा निर्मोकों के लिए १०००० और श्वेतकणों के लिए २०००००० होता है। सीमाप्रान्त पर जब किसी वस्तु की संख्या मिलती है तब उसका अर्थ लक्षणों और चिन्हों के अनुसार करना चाहिए। इस गणना का उपयोग केवल वृक्कशोथ के विभिन्न प्रकारों में पार्थक्य करने के लिए किया जाता है, अन्यथा नहीं।

(१) **लालकण**—स्वस्थ मूत्र में इनकी जो संख्या होती है उससे सूक्ष्मदर्शक के उच्चशक्ति (High power) के एक क्षेत्र में एकाध से अधिक लालकण नहीं दिखाई दे सकते हैं। अत्यधिक कठिन परिश्रम करने पर मूत्र में इनकी संख्या कुछ अधिक हो सकती है। परन्तु किसी भी अवस्था में उपर्युक्त मर्यादा से अधिक संख्या में इनकी उपस्थिति विकृति सूचक होती है। पुरुषों के मूत्र में सलाई से मूत्र निकालने पर और स्त्रियों के मूत्र में मासिकधर्म काल के समय सलाई से मूत्र निकालने पर कुछ अधिक लालकण मिला करते हैं इसका ध्यान रखना चाहिए। स्वाभाविक मर्यादा से अधिक लालकण मिलनेवाले मूत्र विकार को शोणितमेह या रक्तमेह Hematuria) कहते हैं। मूत्र में मिलनेवाले लालकण मूत्र के गाढ़े या पतले होने के अनुसार सिकुड़े हुए (Shrunken) या फूले हुए रहते हैं। सिकुड़े हुए कोंटेदार होने से कण्टकित (Crenated) कहलाते (चित्र ६ न.३) हैं। क्षारिय मूत्र में तथा बहुत पतले मूत्र में (अम्ल गुरुता के) ये नष्ट हो जाते हैं। इसलिए लाल कणों के परीक्षण का कार्य ताजे केन्द्रा-पसारित मूत्र में करना चाहिए। इस अवस्था में वे नष्ट भी नहीं होते तथा उनके आकार और स्वरूप में कोई परिवर्तन भी नहीं होता। वे लाल रंग के और समान परिमाण के निन्युब्ज (Biconcave) गोले दिखाई देते हैं। मूत्र में जब लाल कण कुछ काल रहते हैं तब उनमें से कुछ गल जाते हैं, कुछ सिकुड़ते या फूलते हैं और कुछ भीतर का रागक बाहर निकल जाने के कारण खाली गोले रह जाते हैं। इनको प्रतिच्छाय कोशाएं (Shadow cells) कहते हैं। ये यद्यपि अधिक संख्य गोल ही रहती हैं तथापि अण्डाकृति छोटी मोटी तथा बहीरेखा (Out line) में विषम भी होती हैं और आसानी से नहीं दिखाई देतीं। पृष्ठ ४८० चित्र ८ नं० २

सूक्ष्मदर्शक से लाल कणों को पहचानने में वैसे कोई कठिनाई नहीं परन्तु कभी कभी तैलबिन्दु (Oil droplets चित्र ६ नं० १) कठिनाई उत्पन्न करते हैं। किन्तु ये अधिक प्रकाश परावर्तक (Refractile) अधिक गोल तथा परिमाण में एक से न होकर बहुत न्यूनाधिक रहते हैं। सन्देह होने पर मूत्र के प्रलेप को सुखाकर और लीशमन से रंजित करके देखना चाहिए। अथवा पटरी पर ढकने के एक ओर से थोड़ा मन्द शुक्तिक अम्ल डालकर (पृष्ठ ४५५) देखा जाय। लाल कण होने पर वे घुल जायँगे। अथवा पटरी पर धूपेर्या (Benzidine) प्रतिकर्ता के दो बूँद शुक्तिक अम्ल के समान डाल कर देखा जाय। लालकण होने पर पटरी पर नीला रंग (पृष्ठ ४४२) उत्पन्न होगा।

मूत्रगत रक्त का पता रसायनिक परीक्षण में धूपेर्या कसौटी (पृष्ठ ४४२) से लग जाता है। परन्तु उससे इस बात का पता नहीं लग सकता कि मूत्र में रक्तकण (शोणितमेह) हैं या रक्त रागक (शोणवर्तुलिमेह Hemoglobinuria) है। इनमें पार्थक्य करने का कार्य केवल सूक्ष्म दर्शक से ही हो सकता है। जब मूत्र में रसायनिक परीक्षण में रक्त मिलता है परन्तु सूक्ष्म दर्शक से लालकण नहीं दिखाई देते उस समय विकार शोणवर्तुलिमेह समझना चाहिए। वैसे जब रसायनिक परीक्षण में रक्त नहीं मिलता, परन्तु सूक्ष्म परीक्षण में लालकण मिलते हैं तब शोणित मेह है ऐसा समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूक्ष्म दर्शक की परीक्षा रसायनिक परीक्षा से अधिक सूक्ष्मवेदी होती है। जब मूत्र में लालकण अधिक होते हैं तब सूक्ष्म दर्शक में लालकण मिलते हैं और रसायनिक परीक्षण में भी रक्त का पता लग जाता है। संक्षेप में शोणित मेह की कसौटी सूक्ष्मदर्शक है फिर रसायनिक कसौटी में रक्त मिले या न मिले।

मूत्र में जब लालकण अल्प संख्या में रहते हैं तब मूत्र के बाह्य स्वरूप पर उसका कोई असर नहीं होता, परन्तु जब उनकी संख्या अधिक रहती है तब मूत्र में उनका तलछट बन जाता है तथा उसका रंग भूरापन लिए लाल या धूमल (Smoky) रहता (पृष्ठ २५४) है। जिस मूत्र में रक्त होता है वह मूत्र सदैव शुक्लीय (Albuminous) होता है और रसायनिक परीक्षण से उसमें शुक्लि मिलती है। इसके अतिरिक्त

तन्त्रिव के पीले रंग के छोटे मोटे अनेक टुकड़े या शकल (Shreds) भी इसमें सूक्ष्म दर्शक से दिखाई देते हैं।

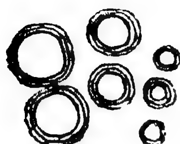
(२) सफेद कण और पूय कोशाएँ (W. B. C and puscells)—स्वस्थ मूत्र में सफेद कण उपस्थित रहते हैं, परन्तु उनकी संख्या प्रत्येक उच्च शक्ति के क्षेत्र में एक दो से अधिक नहीं होती। स्त्रियों में तथा बच्चों में यह संख्या अधिक होने के कारण प्रत्येक क्षेत्र में वे ५ तक दिखाई दे सकते हैं। अकेन्द्रापसारित तथा अच्छी तरह समिश्र मूत्र परीक्षण में एक उच्च शक्तिक क्षेत्र में (Per high powerfield) इससे अधिक संख्या में इनका बराबर उपस्थित रहना नैदानिकीय दृष्टया महत्व का समझना चाहिए।

सफेद कण या श्वेतकायाणु (Leucocyte) और पूयकोशा दोनों एक ही वस्तु है। जीवित स्थिति में श्वेतकायाणु और मृत स्थिति में उसको पूय कोशा कहते हैं। मृतावस्था के कोई विशेष चिन्ह नहीं होते परन्तु प्रायः उस अवस्था में उनके शरीर में अपजनन (Degeneration) तथा वियोजन (Disintegration) हो जाता है तथा उनमें इकट्ठा होने की प्रवृत्ति रहती है जिससे सूक्ष्म दर्शक के नीचे वे अकेले दुकेले न दिखाई देकर छोटे मोटे पुंजों में पाये जाते हैं। पूय कोशाओं के पुंजीभवन का कोई विशेष महत्व नहीं होता न उससे उनके प्रकार या संख्या का अनुमान किया जा सकता है। पुंजी भवन मुख्यतया मूत्र की प्रतिक्रिया पर निर्भर होता है (आगे देखो)। व्यवहारिक दृष्टया जब सफेद कण स्वाभाविक संख्या के आस पास रहते हैं तब उनको सफद कण या श्वेतकायाणु और जब अधिक संख्या में मिलते हैं तब वे पूयकोशाएं कह लाते हैं।

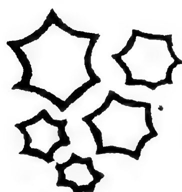
मूत्र में मिलने वाले सफेदकण मुख्यतया बहुकारी (Polymorph) प्रकार के होते हैं। कभी कभी उनके साथ प्ररस कोशाएं (Plasma Cells) भी रहती हैं। सूक्ष्म दर्शक के नीचे बहुकारी दानेदार (granular) गोले दिखाई देते हैं जो लाल कणों से कुछ अधिक बड़े रहते हैं। सद्यस्क मूत्र में सजीव श्वेतकायाणु कुछ गति करते हुए भी दिखाई देते हैं। इस अवस्था में उनका आकार विषम रहता है। प्रत्येक पूय कोशा में एक विषमाकृति न्यष्टि (Nucleus) और अनेक छोटी छोटी गोल न्यष्टियाँ

रहती हैं। ये न्यष्टियाँ दानों के कारण बहुत अस्पष्ट दिखाई देती हैं। ये दाने कुछ तो स्वाभाविक होते हैं और कुछ अपजननजन्य रहते हैं। इनके

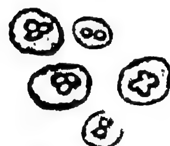
चित्र नं० ६











१ तैल बिन्दु
२ वातबिन्दु
३ कण्टकित लालकण
४ पूयकोशाएं
५ शुक्तिक अम्ल प्रयोग के पश्चात् पूय कोशाशाएं

के नीचे मन्द शुक्तिक (Acetic) अम्ल का एक बूंद छोड़ने से इनकी न्यष्टियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। परीक्षण के समय इसका प्रयोग करना चाहिए। इससे श्वेतकायाणु गोल अधिच्छदीय (Epithelial) कोशाओं से पृथक किये जा सकते हैं क्योंकि कोशाओं की न्यष्टि केवल एक, बहुत बड़ी तथा गोल होती है।

मध्यमअम्ल प्रतिक्रिया के मूत्रमें सफेद कण प्रायः जैसे के तैसे रह जाते हैं, परन्तु प्रबल अम्ल मूत्र में वे सिकुड़ कर विषमाकारी कन्टकित (Crenated) बनते हैं। क्षारिय मूत्र में वे फूलते हैं, दानेदार बनते हैं चिथड़े के समान फटे हुए (Ragged) होते हैं और पुंज पुञ्ज में इकट्ठा होते हैं। सड़ने वाले मूत्र में अत्यधिक क्षारियता के कारण वे नष्ट भ्रष्ट होकर श्लिष्विवत् (Gelatinous) बनते हैं जिससे मूत्र गोंद के समान (Mucilaginous) चिपचिपा हो जाता है।

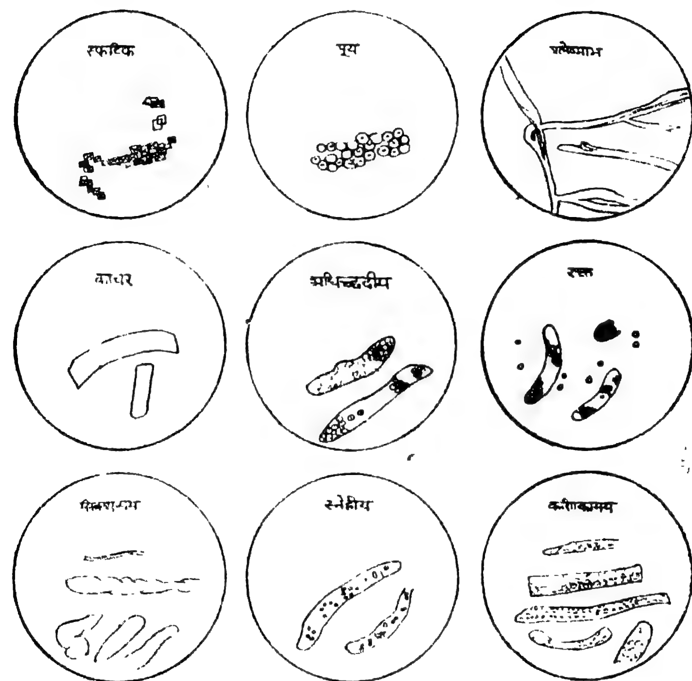
जिस विकार में मूत्र में पूय का उत्सर्ग होता है उसको पूयमेह (Pyuria) कहते हैं। पूयमेह में रोग की प्रगति का ज्ञान प्रतिदिन कितना पूय निकल रहा है इसकी गिनती से हो जाता है। इसके लिए बारह घण्टे का मूत्र अच्छी तरह संमिश्र करके तद्गत पूयकोशाओं का गणन शोणित कायाणुमान (Hemocytometer) से किया जाता है। जब तक प्रति घनसहस्रिमान (C. mm) में श्वेतकायाणु २०००० से अधिक नहीं होते तब तक मूत्र को जलाविमिश्रित करने की आवश्यकता नहीं होती। इस गणना के लिए मूत्र क्षारिय न होना चाहिए, अन्यथा सफेद कण पुंजों में इकट्ठा रहते हैं। मूत्राशयशोथ में पूय सबसे अधिक रहता है और पूय कोशाओं की संख्या सौम्य विकार में प्रतिघन सहस्रिमान में ५००० से तीव्र प्रकार में १ से डेढ़ लाख तक होती है। मूत्र में जब पूय रहता है तब भास्वीयों के (Phosphates) समान उसका सफेद तलछट बनता (पृष्ठ ४६५) है।

पूय कोशाओं के न्यष्टिप्रोभूजनों (Nucleoprotein) से मूत्र में शुक्लि (Albumin) भी आ जाती है। इसके सबन्ध में यह अनुमान किया गया है कि प्रतिघन सहस्रिमान में (C.mm) पूयकोशाएं ८०००० से १००००० होने पर तज्जन्य शुक्लि की मात्रा ·१ प्रतिशत होती है। यदि पूय के होते हुए मूत्रगत शुक्लि की मात्रा उपर्युक्त प्रमाण के अनुसार रही तो अनुमान कर सकते हैं कि वह पूर्णतया पूय जन्य है। यदि पूय कोशाओं की संख्या के अनुपात में शुक्लि की मात्रा अधिक रही तो अतिरिक्त (Excess) मात्रा वृक्कजन्य है ऐसा समझ सकते हैं। पूय के कारण उत्पन्न होनेवाले शुक्लिमेह को अयथार्थ (Spurious) शुक्लिमेह कहते हैं। मूत्र में पूय होने पर उनके साथ प्रायः विकारी जीवाणु, मुख्यतया पूयजनक

(Pyogenic) जीवाणु, गुह्यगोलाणु (Gonococci) और यक्ष्मदण्डाणु [B. Tuberculosis], मिलने की सम्भावना रहती है। अतः मूत्र का परीक्षण इनके लिए भी होना जरूरी होता है।

(३) **शुक्रकीटाणु** (Spermatozoa)—ये स्त्री और पुरुष दोनों के मूत्र मे मैथुन के पश्चात् मिल सकते हैं। पुरुषों में ये अनेक बार अनेक कारणों से मिल जाते हैं। मूत्र में इनका बराबर मिलना शुक्रमेह [Spermaturia] कहलाता है। ये अपने विशिष्ट आकृति से आसानी से पहचाने जाते हैं। ये १/६०० इंच लम्बे होते हैं। इनका सिर अण्डाकृति और चपटा होता है तथा उसके नोकीले भाग को अग्रकाय [Acrosome] कहते हैं। उसके पीछे संकुचित ग्रीवा होती है। उसके पीछे ग्रीवा से कुछ चौड़ा लम्बा मध्यखण्ड [Middle piece] होता है। उसके पश्चात् पूंछ की आखिरी में केवल एक छोटा सा तन्तु रहता है उसको अन्तखण्ड [End piece] कहते हैं। अनेक आगन्तुक तन्तु उनके समान दिखाई देते हैं, परन्तु ये अपने सिर और ग्रीवा से पहचाने जाते हैं। कभी कभी सद्यस्क मूत्र में हिलते हुए भी दिखाई दे सकते हैं। उस अवस्था में इनके पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती है। मत्रण के साथ जिनमें शुक्रस्खलन होता है उनके मूत्र में ये बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं तथा मूत्र में शुक्लि [Albumin] भी मिलती है। मैथुन, स्वप्नदोष [Nocturnal emission] तथा अपस्मारावेग के पश्चात भी ये मूत्र में मिलते हैं, परन्तु उस अवस्था में इनकी संख्या अल्प होती है तथा मूत्र मे शुक्लि नहीं मिलती। पृष्ठ ४८० चित्र ८ नं० ?

(४) **अधिच्छदीय कोशाएं** (Epithelial Cells)—प्रत्येक मूत्र में मूत्र मार्ग कला की कुछ न कुछ कोशाएं जरूर उपस्थित रहती हैं। परन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं होती। स्त्रियों में योनिकला की कोशाएं मूत्र में रहने के कारण इनकी कुल संख्या पुरुषों से अधिक रहती है। बहुत अधिक संख्या में इनका मिलना मूत्रण संस्थान की विकृति का निदर्शक होता है और जिस प्रकार की कोशाओं का प्राचुर्य होता है उसके अनुसार विकृति स्थान का अनुमान किया जा सकता। परन्तु नैदानिकीय दृष्ट्या इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता तथा न सामान्य परीक्षक द्वारा इस दृष्टि से किये गये अनुमान पर विशेष विश्वास किया जा सकता।



चित्र नं० ७

स्फटिक Crystal	cast	रक्त Blood	cast
पूय Pus	,,	सिक्थसम Waxy	,,
श्लेष्माभ Mucoid	,,	स्नेहीय Fatty	,,
काचर Hyaline	,,	कणिकामय Granular	,,
अधिच्छदीय Epithelial	,,		

है, क्योंकि मूत्र में मिलने वाली कोशाओं का ठीक ठीक वर्गीकरण करने के लिए विशेष अनुभव तथा बुद्धि की आवश्यकता होती है और अधिक संख्य कोशाओं की मूल आकृति बदल जाने के कारण, तद्गत अपजनक (Degenerative) परिवर्तनों से उनका स्वरूप दानेदार होकर उनकी न्यष्टि (Nucleus) अस्पष्ट या अदृश्य हो जाने के कारण उनमें स्नेह बिन्दु उत्पन्न होने के कारण अनेक बार उनको पहचानना असंभव हो जाता है। फिर भी यदि हो सके तो ये निम्नोक्त तीन वर्गों में से किस वर्ग की हैं इसका उल्लेख उनके साथ करना उचित है। चित्र ५ चरण ४

(अ) *लघुवृत्त या बहुननीक कोशाएं* (Small round or polyhedral cells)—ये कोशाएं पूय कोशाओं के बराबर या उनसे तिहाई बड़ी होकर एक गोल न्यष्टि (Nucleus) की होती हैं। साधारण तया मूत्र में ये कोशाएं नहीं पायी जाती। ये वृक्कों की मूत्र नलिकाओं (urinary tubules) से या वैसे ही गहरे भाग से आती हैं। परन्तु जब ये बहुभुज [Polygonal], किञ्चित् काली, बहुत दानेदार [Granular] और बड़ी न्यष्टि युक्त मिलती हैं तब मूत्र नलिकाओं से उनके आने की संभावना होती है और जब ये निर्मोकों के साथ फंसी [Embeded] रहती हैं तब इनको वृक्कसभूत जरूर समझ सकते हैं। वृक्क की जीर्ण निष्क्रिय अधिरक्तता [Congestion] में, तद्गत अन्तः स्फानता [Infarction] में तथा शोणवर्णीयोत्कर्ष [Hemochromatosis] में इनके भीतर परिवर्तित रक्त रागक के पीली कणिकाएं दिखाई देती हैं। हृदयातिपात [Heart failure] में थूक में मिलने वाली हृदयातिपात कोशाओं [Heart failure cells] के सदृश ये कोशाएं होती हैं। अन्तः सारीय [Paren chymatous] वृक्कशोथ में में विशेषतया उसके तीव्र प्रकार में ये कोशाएं अधिक संख्या में मिलती हैं। अपवृक्कता [Nephrosis] में अन्तःसारीय वृक्क शोथ के जीर्ण [Chronic] प्रकार में इनमें स्नेहापजनन [Fatty degeneration] होकर स्नेह बिन्दु (Fat droplets) भरे रहते हैं। इनको संयुक्त कणिका कोशाएं (Compound granule cells) कहते हैं।

(आ) *सपुच्छ कोशाएँ* (Caudate cells)—ये कोशाएं

पूर्वोक्त कोशाओं से दुगुनी से चौगुनी बड़ी होकर अनेक आकार प्रकार की होती है। प्रायः ये रुचिफलाकृति [Pearshaped] तर्क्वाकृति [Spindle] या गोल होती है। प्रत्येक में गोल या दीर्घवृत्त न्यष्टि होती है जो बहुत स्पष्टतया दिखाई देती है तथा कोशाओं की मोटाई के मुकाबले में छोटी होती है। ये कोशाएं वृक्कालिन्द [Pelvis] गवीनी और बस्ति इसके अन्तर्वर्ती अधिच्छद [Transitional epithelium] से आती है। इसलिए इन सबों को अन्तर्वर्ती कोशाएं भी कह सकते हैं। इस प्रकार की कोशाएं अष्ठीला और वीर्याशय से भी आ जाती हैं। सपुच्छ कोशाएं प्रायः वृक्कालिन्द से आती हैं परन्तु कभी कभी बस्ति ग्रीवा [Neck of the bladder] से भी निकलती हैं।

(इ) *शल्क या कुट्टिम कोशाएं* (Squamous or Pavement cells)—ये बहुत बड़ी, चपटी, विषमाकृति कोषाएं होती हैं। इनकी न्यष्टि गोल या दीर्घवृत्त होकर बहुत छोटी रहती हैं। ये मुख्यतया मूत्र मार्ग और योनिमार्ग के उत्तान [Superficial] स्तरों से आती हैं और जब विशल्कीभवन [Desquamation] होता है तब ये स्तृतमय पुञ्जों [Stratified masses] में निकलती हैं। स्त्रियों के मूत्र में शल्क कोशाएं पुरुषों की अपेक्षा अधिक रहती हैं और जब वे श्वेतप्रदर [Leucorrhoea] और योनिशोथ [Vaginitis] से पीडित रहती हैं तब ये बहुत अधिक संख्या में पायी जाती हैं। स्त्रियों में इस प्रकार ये कोशाएं मूत्राशय तथा योनि दोनों से आने के कारण इनके अधिक मिलने से मूत्राशयशोथ और श्वेतप्रदर इनमें भेद करने में कठिनाई हो सकती है। यह कठिनाई कोशाओं के स्वरूप से कुछ कुछ दूर हो सकती है। योनि की कोशाएं बहुत बड़ी, पतली तथा कोणीय [Angular] होकर कभी कभी बीड़ी की पत्ती के समान मुड़ी हुई (वेल्लित Rolled) रहती हैं। दूसरा मार्ग मूत्रद्वार को अच्छी तरह स्वच्छ करके सलाई से मूत्र को निकालकर उसका परीक्षण करने का है। इससे योनि की कोशाएं मूत्र में न आ सकेंगी।

(५) *मूत्र निर्मोक* (Casts चित्र नं० ७)—मूत्र नलिका निर्मोक शुक्लिय [Albuminous] द्रव्य के जम जाने से बनते हैं। इस द्रव्य का वास्तविक स्वरूप क्या है इसका अभी तक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है।

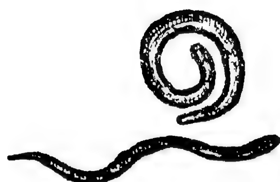
परन्तु बहुधा यह रक्तगत का निर्यास [Exudate], वृक्कय कोशाओं का विकृतस्राव या अधिच्छदीय अपजनन का उत्पाद [Product of epithelial degeneration] हो सकता है। यह द्रव्य तरल रूप में मूत्र नलिका रूप सांचे में आकर वहाँ पर जम जाता है। इसलिए वह बेलनाकार [Cylindrical] बनता है और वही निर्मोक होता है। जब मूत्र नलिकाओं में से मूत्र द्वारा ये नीचे निकाले जाते हैं तब उत्सृष्ट मूत्र में पाये जाते हैं। यदि मूत्र नलिका पतली रही तो उसमें बननेवाले निर्मोक पतले होंगे और यदि अधिक चौड़ी रही तो निर्मोक भी काफी चौड़े हो जायंगे। इससे यह स्पष्ट होगा कि निर्मोकों से मूत्रनलिकाओं की स्थिति का जितना ज्ञान होता है उतना वृक्क की स्थिति का नहीं हो सकता। अत्यन्त चौड़े निर्मोक जो बड़ी बड़ी कणिकाओं से युक्त रहते हैं, वे जिनी की संग्रहण नलिकाओं में (पृष्ठ ५) बनते हैं और वृक्कातिपात निर्मोक (Renal failure casts) कहलाते हैं। ये चिन्ताजनक होते हैं और केवल वृक्कविकार की अन्तिम अवस्थाओं में मिला करते हैं। स्वस्थ मूत्र में लालकण, सफेदकण, अधिच्छदीय कोशाएं इनके मुकाबले में निर्मोकों की संख्या बहुत कम होती है। अतः स्वस्थ मूत्र के परीक्षण में इनका दर्शन प्रायः नहीं हुआ करता। ये मुख्यतया वृक्क के विविध तीव्र तथा कालिक विकारों में मिलते हैं। इनके अनेक आकार और प्रकार होते हैं। किसी वृक्क विकारों में इनके अनेक या सब प्रकार मिल सकते हैं। उनकी संख्या और विशिष्ट प्रकार के प्राधान्य से वृक्क विकृति के स्वरूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है। परन्तु इससे अधिक निश्चिति दर्शक कुछ भी नहीं बताया जा सकता। मूत्र में इनकी उपस्थिति वृक्क विकार दर्शक जरूर होती है। परन्तु वह विकार क्षणिक, अल्पकालिक या चिरकालिक है इस का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अल्पकालिक वृक्क प्रकोप [Irritation] या अधिरक्तता [Congestion] में भी ये बहुत अधिक संख्या में मूत्र में मिल सकते हैं। इसलिए केवल इनकी उपस्थिति वृक्क के अङ्गभूत विकार [organic disease] की निदर्शक नहीं होती। जिस मूत्र में शुक्लि उपस्थित नहीं होती या कुछ काल पहले न रही थी उस मूत्र में ये प्रायः नहीं मिलते। इसका अर्थ यह होता है कि इनकी उपस्थिति का नैदानिकीय [Clinical] महत्त्व वृक्कय शुक्लिमेह [Renal albuminuria] के समान होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये दोनों एक समय में

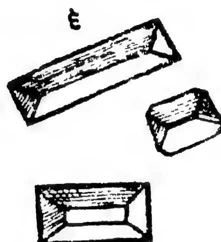
मूत्र में विद्यमान हों। अनेक बार मूत्र में शुक्ल उपस्थित रहने पर ये नहीं मिलते। मूत्र में इनकी उपस्थिति के विकार को रम्भमेह या निर्मोकमेह [Cylindruria] कहते हैं।

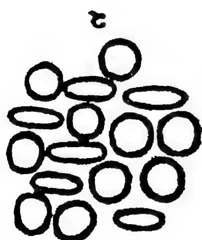
निर्मोक

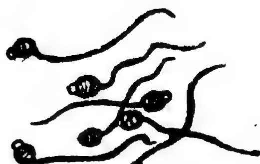
अनाकार	कणिकामय	कोशिकीय	आगन्तुक
(१) काचर	(१) कणिकामय	(१) अधिच्छदीय	(१) तृणाणवीय
(२) सिक्थसम	(२) स्नेहीय	(२) रक्तक	(२) स्फटिकमय
(३) रक्तरागक		(३) पूय	(३) रम्भिकाम

चित्र नं० ८









१ शुक्रकीटाणु

२ लालकण

३ भास्वीय

४ सूक्ष्म श्लीपदकृमि

मूत्र में विविध निर्मोक मिलते हैं। व्यावहारिक और संप्राप्तिक दृष्ट्या उपयोगी वर्गीकरण ऊपर दिया है। सब निर्मोकों का आधार काचर द्रव्य [Hyaline matrix] होता है और इतर प्रकार के द्रव्य या तो उसके अपजनन (Degeneration) से या उसमें मग्नगत या बाह्य द्रव्यों के फंस जाने से बनते हैं। तन्त्विमय (Fibrinous) करके निर्मोकों का एक प्रकार किया जाता है। परन्तु यह नाम अयथार्थ है क्योंकि तन्त्वि से बनने वाला कोई निर्मोक नहीं होता या जितने प्रकार के निर्मोक मिलते हैं उनमें तन्त्वि कहीं नहीं मिलती है। केवल रक्त (Bloody) निर्मोक इसके लिए अंशतः अपवाद हो सकते हैं। क्योंकि उनमें लाल कणों को चिपकाने में तन्त्वि का कुछ अंश प्रयुक्त होता है। कभी कभी मूत्र में मिलने वाले निर्मोक किसी एक वर्ग के न होकर संमिश्र स्वरूप के या अवस्थान्तरवर्ति (Transitional) भी होते हैं। जैसे कोई निर्मोक अंशतः काचर और अंशतः अधिच्छदीय रहता है। यद्यपि अधिकसंख्य निर्मोक सरल तथा नलिकाकार होते हैं तथापि कुछ टेढ़े संवेल्लित (Convoluted), एक सिरमें नुकीले या द्विशाखायुक्त [Bifurcated भी रहते हैं। सब निर्मोक एक परिमाण के नहीं होते। कुछ बहुत पतले पतले और कुछ बहुत छोटे और कुछ बहुत लम्बे रहते हैं यहाँ तक कि एक निर्मोक अनेक क्षेत्रों में फैला हुआ पाया जाता है।

(१) *काचर निर्मोक* (Hyaline casts)—ये मूत्र में प्रायः पाये जानेवाले वाले: निर्मोक हैं; स्वस्थ मनुष्यों के मूत्र में भी पाये जाते हैं, विशेष करके परिश्रम के पश्चात् तथा वृक्कों को टटोलने या दबाने पर इनके मिलने की सम्भावना बढ़ती है। ये प्रायः रंगहीन, फीके, अर्ध पारदर्शक और एकजिंसी [Homogeneous] होते हैं। आकार में ये सरल रम्भाकार होकर इनके दोनों सिरे गोल होते हैं। क्वचित् वक्र और संवेल्लित (Convoluted) प्रकार भी दिखाई देते हैं। क्वचित् इनका एक सिरा नोकीला भी रहता है जिससे ये रम्भाकाराभ (Cylindroid) भी मालूम होते हैं। इनकी रूपरेखा (Contour) बहुत ही अस्पष्ट रहने से इनको देखने के लिए प्रकाश बहुत कुछ कम करना पड़ता है। मूत्र में जब पित्त होता है तब ये रंगीन हो जाते हैं। शुक्तिक अम्ल में ये शीघ्र घुल जाते हैं। किञ्चित जम्बुकी का घोल छोड़ने से ये स्पष्ट हो

जाते हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों का यह मत है कि ये काचर अपजनन (Hyaline degeneration) हुए नलिकाओं के अधिच्छद से या उसके जमनेवाले स्राव से उत्पन्न होते हैं। कभी कभी ये निर्मोक बहुत चौड़े रहते हैं। इतने चौड़े निर्मोक या तो प्राकृत संग्रहण नलिकाओं से (Collecting tubules) आते हैं या तो मूत्रवह नलिकाओं का सम्पूर्ण विशल्कीभवन (Desquamation) जो कि वृक्कशोथ की अन्तिम अवस्था में हुआ करता है, होने पर बन सकते हैं। पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७

निर्मोको के प्रकारों में वृक्कविकार की सूचना देनेवाला यह बहुत सामान्य प्रकार है। परन्तु नैदानिकीय दृष्टया इसका महत्व सबसे न्यून रहता है क्योंकि एक तो यह स्वस्थावस्था में भी पाया जाता है, वृक्क में अत्यल्प विकृति होने पर भी मिलता है और वृक्क विकृति का किसी भी विशिष्ट प्रकार का बोधक नहीं होता। फिर भी इनका बराबर मिलना कालिक अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ का विशेष सूचक माना जाता है। जीवन के उत्तरकाल में वृक्कों में स्थान स्थान पर कालिक अन्तरालीय शोथसम परिवर्तन हो जाने के कारण वयातीत स्वस्थ मनुष्यों के मूत्र में ये निर्मोक वारंवार दिखाई देते हैं।

(२) *सिक्थसम* (Waxy)—काचर निर्मोकों के समान ये भी एकजिंसी होते हैं। परन्तु कभी कभी इन पर कुछ दाने और कचित् एकाध कोशा दिखाई देते हैं। ये काचर की अपेक्षा अधिक पारान्ध (Opaque), चौड़े, छोटे और विषम कटे हुए सिरे के (Irregular broken ends) होते हैं। कभी कभी ये खण्डित (Segmented) भी दिखाई देते हैं। काचर की अपेक्षा ये अधिक प्रकाश परावर्तक होते (Refractile) हैं। देखने में ये मोम के समान मन्द, सफेद या हरे होते हैं। इसलिए सिक्थसम कहलाते है। परन्तु सदैव ये मोम सदृश द्रव्य के होते हैं यह बात नहीं है। कभी कभी ये ऐसे द्रव्य के बनते हैं कि जो मण्डाभ प्रतिक्रिया (Amyloid reaction) देते हैं। कभी कभी ये काचर निर्मोक ही होते हैं जो मूत्रवह नलिकाओं में दीर्घकाल रहे हों। काचर और सिक्थसम निर्मोक सदैव स्वतन्त्र होते हैं यह बात नहीं। इनके संमिश्रण के भी अनेक प्रकार दिखाई देते हैं। सिक्थसम निर्मोक बहुत

विरल दृष्ट होते हैं। ये प्रायः वृक्कशोथ की अन्तिम अवस्था में पाये जाते हैं और सदैव चिन्ताजनक होते हैं। वृक्क के मण्डाभ विकार (Amyloid) में प्रचुरता से पाये जाते हैं। पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७

(३) *कणिकामय* (Granular)—ये वास्तव में काचर निर्मोक ही होते हैं जिनके ऊपर कणिकाएं दिखाई देती हैं। ये कणिकाएं अपजनन (Degeneration) के कारण उत्पन्न होती है। कभी ये बहुत महीन होती है उस समय इनको श्लक्ष्ण कणिकावान् (Finely granular) और कभी काफी बड़ी होती है तब स्थूल कणिकावान् (Coursely granular) कहते हैं। श्लक्ष्ण कणिकावान् काचर की अपेक्षा अधिक चौड़े तथा छोटे होकर ईषत् पीत या हरित् तथा अधिक पारान्ध होते। स्थूल कणिकावान् परिवर्तित रक्तरागक (Altered blood pigment) के कारण अधिक काले या कालापन लिए भूरे होकर रूपरेखा में अधिक विषम तथा नाटे होते हैं। कणिकावान् निर्मोक काचर की अपेक्षा अधिक प्रगल्भ विकृति के सूचक होते हैं और उनमें भी स्थूल कणिकावान् जो प्रायः संग्रहण नलिकाओं में बनते हैं, वृक्कातिपात (Renal failure) के सूचक रहते हैं। ये कालिक अन्तःसारीय (Parenchymatous) और अन्तरालीय (Interstitial) वृक्कशोथ में तथा धमनीजरठ वृक्क (Arterio sclerotic kidney) में पाये जाते हैं। नीचे भी देखो।

(४) *स्नेहीय निर्मोक* (Fatty casts)—इनमें वृक्क-नलिका अधिच्छद के स्नेहीय अपजनन से उत्पन्न हुए चरबी के बिन्दु रहते हैं। चरबी के बहुत सूक्ष्म बिन्दु किसी प्रकार के निर्मोक में मिल सकते हैं क्योंकि सब निर्मोक अपजनन का ही परिणाम होता है। परन्तु जब ये बिन्दु बड़े होते हैं तब उन निर्मोकों को स्नेहीय निर्मोक कहते हैं। स्नेह बिन्दु सूक्ष्मदर्शक के नीचे अधिक प्रकाश परावर्तक (Refractile) दिखाई देते हैं और गुर्विक [osmic] अम्ल या सुडान III से रंजित करने पर उसका निर्णय हो जाता है। काचर निर्मोकों के समान ये शुक्तिक (Acetic) अम्ल में घुलते नहीं (पृष्ठ ४८१) है। विकृति विकास की दृष्टि से श्लक्ष्ण कणिकावान्, स्थूल कणिकावान् और स्नेहीय निर्मोक एक ही श्रेणि के होते हैं और अधिकाधिक विकृति के निदर्शक रहते हैं। स्नेहीय निर्मोक वृक्कशोथ के प्रारम्भिक आक्रमण में

नहीं पाये जाते । परन्तु चिरकालिक की प्रत्यावृत्ति (Recrudescence) में दिखाई देते हैं । स्थूल कणिकावान् और स्नेहीय निर्मोक जब अधिक संख्या में पाये जाते हैं तब अन्तःसारीय वृक्कशोथ की चिन्ताजनक स्थिति के निदर्शक समझे जा सकते हैं । भूरे रंग के (Brown) कणिकावान् निर्मोक तीव्र वृक्कशोथ में मिलते हैं । पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७

(५) *अधिच्छदीय निर्मोक* (Epithelial casts)—इनके ऊपर मूत्रवाही नलिकाओं की अधिच्छदीय कोशाएं लगी रहती हैं । कभी कभी ये इतनी अधिक और इस प्रकार लगी रहती हैं कि मालूम होता है नलिका का पूरा अधिच्छद सांप की कैंचली की तरह निकल आया है । कभी कभी ये अलग अलग लगी हुई मालूम होती हैं । कोशाओं की आकृति से इनकी पहचान हो जाती है और सन्देह होने पर केन्द्रापसारित करने से पहले मूत्र में थोड़ा सा शुक्तिक अम्ल डालने से न्यष्टि स्पष्टतया दिखाई देती है । परन्तु जब इनमें कणिकामय या स्नेहीय अपजनन होता है तब इनकी न्यष्टि स्पष्ट नहीं दिखाई दे सकती । ये निर्मोक बहुत कम दिखाई देते हैं । ये प्रायः अन्तःसारीय (Parenchy, matous) वृक्कशोथ में पाये जाते हैं । जब कोशाओं में कोई विशेष फर्क नहीं दिखाई देता तब ये तीव्र प्रकार के निदर्शक समझ सकते हैं । जब उनमें कुछ कुछ अपजनन दिखाई देता है तब ये चिरकालिक के निदर्शक माने जा सकते हैं । जब चिरकालीन वृक्कशोथ में ये यकायक अधिक दिखाई देने लगते हैं तब चिरकालीन की अध्यारोपित (Superim posed) तीव्र अवस्था समझ सकते हैं । पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७.

(६) *रक्त निर्मोक* (Blood casts)—इन निर्मोकों में रक्त के लाल कण ऊपर की ओर लगे रहते हैं । ये लाल कण काफी अपजनित (Degenerated) रहते हैं । इनकी उपस्थिति रक्तस्राव की निदर्शक होती है । तीव्र रक्तस्रावी गुच्छकीय वृक्कशोथ (Acute hemorrhagic glomerular nephritis) में, जीर्ण वृक्कशोथ के तीव्र प्रकोप (Exacerbation) में तथा वृक्क की अधिरक्तता (Congestion) में हुआ करती है । ये निर्मोक इसलिए इन विकारों में पाये जाते हैं । इनकी पहचान इनके स्वरूप से हो जाती है और इसकी पुष्टि मूत्र में रक्त मिलने से होती है । पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७

(७) *पूय निर्मोक* (Pus casts)—केवल श्वेतकायाणुओं (Leucocytes) से बने हुए निर्मोकों को पूय निर्मोक कहते हैं। श्वेत कायाणुओं में निर्मोक बनाने की प्रवृत्ति बहुत कम होने से ये निर्मोक विरल दृष्ट होते हैं और कभी कभी वृक्कालिन्द शोथ (Pyelonephritis) में पाये जाते हैं और उनके साथ मूत्र में पूय कोशाएं भी मिलती हैं। अधिच्छदीय कोशाएं, लालकण इनके साथ कुछ पूय कोशाएं होने वाले निर्मोक तीव्र वृक्कशोथ में मिलते हैं। परन्तु उनमें पूय कोशाओं के मिलने का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं होता। पृष्ठ ४७६ चित्र नं० ७

(८) *तृणाणवीय निर्मोक* (Bacterial cast)—शुद्ध तृणाणुओं के निर्मोक विरलदृष्ट होते हैं। इनका मिलना वृक्क की दूषित स्थिति का (Septic condition) निदर्शक होता है।

(९) *स्फटिक निर्मोक* (Crystal casts)—कभी कभी भास्वीय (Phosphate) मेहीय (urates) और तिग्मीय के स्फटिक आपस में मिलकर निर्मोकों का स्वरूप धारण करते हैं। शोणवर्तुलिमेह (Hemoglobinuria) में कभी कभी शोणवर्तुलि की कणिकाओं के निर्मोक बन जाते हैं। चित्र नं० ७ पृष्ठ ४७६

सावधानता—मूत्र में निर्मोकों को ढूंढते समय निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिए। परीक्षणार्थ मूत्र सद्यस्क हो। क्षारिय मूत्र में निर्मोक विशेष तया काचर जल्दी घुल जाते हैं। अतः मूत्र यदि क्षारिय हो तो उसमें थोड़ा सा शुक्तिक अम्ल डालकर उसको अम्ल बना लिया जाय या रोगी को टांकिक अम्ल (Boric) या अन्य औषधि देकर मूत्र को अम्ल बनाया जाय। मूत्र के स्वाभाविक अवसाद की अपेक्षा केन्द्रापसारित मूत्र का अवसाद अच्छा होता है। जब मूत्र में बहुत अवसाद बनता है तब निर्मोक स्फटिकों की अपेक्षा हल्के होने के कारण अवसाद के ऊपरी तह में मिलते हैं। अतः यदि अवसाद का परीक्षण करना हो तो निर्मोक देखने के लिए उसका ऊपरी भाग ले लिया जाय। मूत्राशय शोथ में पूय की अधिकता के कारण मूत्र में निर्मोकों को ढूंढना दुष्कर होता है। उस समय प्रथम मूत्राशय को अच्छी तरह प्रक्षालित करके पश्चात् संचित हुए मूत्र का परीक्षण किया जाय। योनि

की अधिच्छद कोशाएं, रक्त और मेहीय इनकी उपस्थिति भी निर्मोकों के ढूंढने में बाधा डालती है। प्रथम की बाधा सफाई से मूत्र निकालने पर दूर हो जाती है। मेहीयों (urates) की कठिनाई मूत्र गरम करने के पश्चात् मूत्र केन्द्रापसारित करने से दूर हो जाती हैं, क्योंकि वे ताप से घुल जाते हैं। रक्त की कठिनाई दूर करने के लिए अवसाद लेकर उसमें थोड़ा सा शुक्तिक अम्ल और पानी डालकर केन्द्रापसारित किया जाय। इससे रक्त गल जायगा और अवसाद में उसका कोई अंश न रहेगा। यदि रक्त अधिक हो तो दो तीन बार इस प्रकार से करके अन्त में केन्द्रापसारित अवसाद परीक्षण के लिए लिया जाय।

निर्मोकों के परीक्षण में प्रथम नीचशक्ति (Low power) से ही देखना चाहिए। पश्चात् उनके विविध प्रकारों की पहचान के लिए उच्चशक्ति का उपयोग करें। निर्मोक प्रायः ढकने के किनारों के पास रहते हैं अतः उनकी ओर मध्य की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाय। उनके नलिकाकार का परीक्षण पटरी के ढकने (Coverglass) को थोड़ा सा इधर उधर करके करना चाहिए। निर्मोकों को देखने के लिए रंजन की कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु यदि करना हो तो लुगोल के जम्बुकी घोल (Lugol's iodine) का उपयोग कर सकते हैं। इससे निर्मोक रंजित होते हैं। दूसरी पद्धति ऋणरंजन (Negative staining) की है। इसमें एकाध बूंद स्याही पटरी पर मिलायी जाती है। इससे निर्मोक कोशाएं तथा इतर वस्तुएं अरंजित रहकर काली पृष्ठभूमि पर (Dark background) स्पष्ट दिखाई देती हैं।

मूत्र में अनेक बार ऐसी वस्तुएं मिलती हैं जो बाह्यतः निर्मोकों के समान मालूम होती है। परन्तु वस्तुतः वे निर्मोक नहीं होती हैं अतः निर्मोकों की पहचान करते समय निम्नोक्त वस्तुओं का ख्याल रखकर निर्णय करना चाहिए।

(अ) कूट निर्मोक (Pseudo-casts)—ये निर्मोक की आकृति के ज़रूर होते हैं। परन्तु वस्तुतः निर्मोक नहीं होते, क्योंकि उनका आधार निर्मोकों के समान काचर द्रव्य (Hyaline matrix) न होकर अन्य द्रव्य होता है जिनमें विविध स्फटिक, तृणाणु, श्वेतकायाणु, रक्तरागक इत्यादि द्रव्य प्रधान है। स्फटिकों में भास्वीय (Phosphate), मेहीय

(Urates) और तिग्मीय (Oxalates) महत्व के होते हैं। ये कभी कभी आपस में मिलकर निर्मोक का स्वरूप धारण करते हैं और देखने में कणिकामय निर्मोकों के समान दिखाई देते हैं। परन्तु उनका वास्तविक स्वरूप उष्णता का या उचित रसायनिक द्रव्यों का प्रयोग करने से स्पष्ट होता है। कभी कभी जीवाणुओं के पुञ्जों के भी निर्मोक बनते हैं। शोणवर्तुलिमेह में (Hemoglobinuria) कभी कभी शोणवर्तुलि की कणिकाओं के निर्मोक बनते हैं। कभी कभी पूय कोशाएं फूलकर (Swollen) निर्मोक बनाती हैं। ये कूट निर्मोक आकार और परिमाण (Shape and size) में बहुत विषम होकर गरम करने से या दबाने से बहुत जल्दी व्याकृत (Distort) हो जाते हैं। निर्मोकों के समान कूट निर्मोक नैदानिकीय दृष्ट्या महत्व के नहीं होते।

(आ) रश्मिकाभ (Cylindroids)—ये काचर निर्मोकों के समान दिखाई देते हैं। परंतु ये उनसे अधिक लंबे, पतले, फीते के या पट्ट के समान कुछ चपटे होते हैं तथा उनका एक सिरा शुण्डाकार नोकीला (Tapering) होकर कई बार परिवेल्लित (Twisted or curled) भी रहता है। ये प्रायः काचर निर्मोकों के साथ मूत्र में पाये जाते हैं। इनकी उत्पत्ति और नैदानिकीय महत्व के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इनको कुछ भी महत्व नहीं देते। अन्य लोग इनको वही महत्व देते हैं जो काचर निर्मोकों का होता है। उनकी दृष्टि से ये वृक्क के बहुत ही सौम्य प्रकोप के निदर्शक होते हैं। इसलिए अप्रगल्भ [Abortive] निर्मोक ही माने जाते हैं। इसमें कुछ तथ्य भी है क्योंकि निर्मोक मिलने से पहले ये मूत्र में निकलने लगते हैं और निर्मोक मिलने का बन्द होने के पश्चात् भी कुछ काल तक निकलते रहते हैं।

(३) *श्लेष्म सूत्र* (Mucous threads)—स्वस्थ मूत्र में श्लेष्मसूत्र अल्प संख्या में उपस्थित रहते हैं। ये काचर निर्मोकों के समान दिखाई देते हैं। इनका रश्मिकाभ या निर्मोकों से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथा ये वृक्कों से भी नहीं बनते। ये मूत्राशय और मूत्रमार्ग के प्रकोप और शोथ में उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन विकारों में तथा जब चूर्णातु तिग्मीय के स्फटिक अधिक संख्या में मूत्र में उत्सर्गित होते हैं तब उनकी रगड़ के कारण मूत्र में अधिकता से मिलते हैं। ये केवल आंखों

में दिखाई नहीं देते। ये काफी लम्बे, टेढ़े और बल खाये हुए [Curled] लम्बाई में धारियाँ होने वाले, फीते के समान चपटे होते हैं और इनके दोनों सिरे निर्मोकों के समान गोल न होकर नोकीले तथा बल खाये हुए रहते हैं।

अष्ठीला सूत्र (Prostatic threads)—मूत्र में ये भी मिलते हैं। परन्तु इनका उपर्युक्त सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। ये बहुत लम्बे ($\frac{1}{3}$–$\frac{1}{3}$ इन्च) होते हैं और केवल आँखों से दिखाई देते हैं। ये गुह्य गोलाणुजन्य जीर्ण अष्ठीलाशोथ [Gonorrhoeal chronic inflamation of the prostate] में मूत्र मार्ग से आते हैं, मूत्र के प्रथम भाग में निकलते हैं और मूत्र के भीतर लटके हुए रहते हैं या उसके पृष्ठ भाग पर [Surface] तैरते रहते हैं। ये सूत्र श्लेष्मा में अधिच्छदीय तथा पूय कोशाओं के फंस जाने से बनते हैं। गुह्यगोलाणु [Gonococcus] जन्य उपसर्ग में मिलने के कारण इनको गुह्यगोलाणवीय [Gonococcal] भी कहते हैं।

लचकीले तन्तु (Elastic fibres)—ये व्रणित मूत्राशय से आते हैं। और मूत्राशय के नाश को दिग्दर्शित करते हैं।

(४) निर्मोकों की पहचान में बाधा उत्पन्न करने वाले कुछ बाह्यागत (Extraneous) द्रव्य भी होते हैं जिनमें रूई के सूत्र तथा फफुन्दियों के जाल सूत्र (Hyphae of moulds) महत्व के हैं।

तृणाणु (Bacteria)—स्वस्थ मूत्र में विशेषतया मूत्राशयगत मूत्र में कोई तृणाणु नहीं मिलते। परन्तु मूत्र मार्ग से योनि से और बाहर उसमें अनेक प्रकार के तृणाणु मिल जाते हैं। मूत्र उनके वर्धन के लिए अच्छा वर्धनक (culture media) होने से अल्पकाल में वे अगणित वृद्धि करके मूत्र को विघटित [Decomposition] करते हैं। ऐसे मूत्र का परीक्षण करने पर उसमें अनन्त तृणाणु दिखाई देंगे, परन्तु नैदानिकीय दृष्टया उनका कोई महत्व नहीं होता। जीवाणुओं की वृद्धि से विशेषतया चर [Motile] तृणाणुओं से मूत्र में काफी आविलता (Turbidity) या अभ्रता (Cloudiness) उत्पन्न हो

आता है जो निस्यन्दन से भी दूर नहीं हो सकता। मूत्र में अविकारी तथा विकारी दोनों प्रकार के तृणाणु उपस्थित रह सकते हैं। अविकारी-मिह मूत्रगुच्छगोलाणु (Micrococcus urea), मिह घनगोलाणु (Sarcinae urea), कुछ मालागोलाणु और शेफमल दण्डाणु (B. Smegma) महत्व के हैं।

विकारी—यक्ष्मदण्डाणु (B. Tuberculosis), गुह्यगोलाणु (Gonococcus), तन्द्राभदण्डाणु (B. Typhoid), स्थूलान्त्रदण्डाणु (B. Coli) मालागोलाणु (Streptococcus), स्तबकगोलाणु (Staphylo coccus, सामान्य नानारूप दण्डाणु (B. Proteus vulgaris), नीलपूय दण्डाणु (B. pyocyaneus) । जीवाणुओं की दृष्टि से परीक्षण करने के लिए मूत्र द्वार को उपसर्गनाशक [Disinfectant] घोल से स्वच्छ करके विशोधित (Sterile) सलाई से विशोधित पात्र में मूत्र को ग्रहण करें। यदि अपरिहार्य कारण से सलाई का प्रयोग न कर सकते हों तो उपसर्गनाशक घोल से मूत्र द्वार को स्वच्छ करने पर रोगी को मूत्र करने के लिए कहा जाय और प्रथम मूत्र का त्याग करके पीछे का मूत्र विशोधित पात्र में ग्रहण करें। विकारी तृणाणुओं में गुह्यगोलाणु, स्तबकगोलाणु, मालागोलाणु, यक्ष्मदण्डाणु इनका उपलम्भन (Detection) उचित रंजन करने पर सूक्ष्मदर्शक से हो जाता है, परन्तु तन्द्राभ और स्थूलान्त्र दण्डाणुओं का उपलम्भन रंजन से न होकर संवर्धन द्वारा करना पड़ता है। संवर्धन [Culture] मूत्र ग्रहण करने पश्चात् तुरन्त किया जाय। तृणाणुओं की दृष्टि से मूत्र का परीक्षण करने से पहले २४-४८ घंटे रोगी को कोई भी मूत्रोपसर्गनाशक (Urinary antiseptic) न दिया जाय।

गुह्यगोलाणु [Gonococcus]—तीव्र और जीर्ण सोजाख में मूत्र के अवसाद में मिलनेवाले पूयकोशाओं के भीतर कभी कभी गुह्यगोलाणु पाये जाते हैं। परन्तु उसकी अपेक्षा अष्ठीला सूत्रों में [पृष्ठ ४७७] इनके मिलने की अधिक संभावना होती है। ये सूत्र यद्यपि सोजाख में पाये जाते हैं तथापि ये सोजाख के निदानार्थकर नहीं समझे जा सकते। मूत्र में ये प्रातः तथा अष्ठीला मर्दन करने के पश्चात् पाये जाते हैं। मूत्र के ऐसे सूत्र को लेकर प्रथम लवणजल [दैहिक Phy-

siological] से मिह को निकलवाने के लिए उसको धोया जाय। मिह रंजन में बाधा उत्पन्न करता है। उसके पश्चात् दो पटरियों के बीच में उसको दबाकर प्रलेप (Film) बनाया जाय उसके पश्चात् उस प्रलेप को सुखाकर ग्राम से रंगा जाय। यदि मूत्र में सूत्र न मिले तो केन्द्रापसारित अवसाद से प्रलेप बनाकर उसको रंजनार्थ काम में लावें। प्रलेप में यदि ग्रामत्यागी [Gram negative लाल रंग के] कोशान्तर्य [Intracellular] द्वितयगोलाणु [Diplococci] मिल जाय तो उनको गुह्यगोलाणु समझना चाहिए।

यक्ष्मदण्डाणु (B. Tuberculosis)—मूत्रण संस्थान के क्षय में तथा सार्वदैहिक क्षय [General miliary tuberculosis] में मूत्र में यक्ष्मदण्डाणु उत्सर्गित होते हैं। परन्तु मूत्र से उनको प्राप्त करना बहुत कठिन काम है, विशेष करके जब कि मूत्र में पूय का अभाव रहता है। वृक्कक्षय में मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है, उसमें अल्पांश में शुक्लि रहती है, कुछ पूय और कुछ लालकण भी होते है।

गुह्येन्द्रिय पर स्वभावतः रहने वाले शेफमल दण्डाणु यक्ष्म दण्डाणु के वर्ग के अर्थात् अम्लसह (Acidfast) ही होते हैं। यक्ष्मदण्डाणु परीक्षणार्थ मूत्र ग्रहण करते समय ये मूत्र में न मिलने पावे इस बात पर ध्यान देने की बहुत आवश्यकता होती है। यह कार्य पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार सलाई से मूत्र निकाल कर या मूत्र करते समय प्रारम्भिक भाग का त्याग करके अन्तिम भाग ग्रहण कर संपन्न किया जाता है। मूत्रगत यक्ष्म दण्डाणुओं को देखने के लिए केन्द्रापसारित्र से उसके संकेन्द्रित अवसाद को लेना चाहिए। यदि मूत्र में पूय अधिक हो तो एन्टीफार्मिन पद्धति से (Anti formin method) अवसाद को पाचित करके ग्रहण किया जाय।

पेट्रॉफ की सकेन्द्रण पद्धति (Petroff's method)—१०० घ० शि० मा० मूत्र को ३० प्र० श० शुक्तिक अम्ल से अम्ल करके उसमें ५ प्र० श० शल्किक (Tannic) अम्ल के २ घ० शि० मा० डालकर अच्छी तरह दोनों को संमिश्र किया जाय। उसके पश्चात् प्रशीतक (Refrigerator)

में २४ घण्टे उसको रक्खें। फिर ऊपर का मूत्र निकाल कर नीचे के मूत्र को केन्द्रापसारित्र से संकेन्द्रित किया जाय। फिर ऊपर के मूत्र को निकाल कर अवसाद को शुक्तिक अम्ल से विलीन (Dissolve) करें। फिर केन्द्रापसारित्र से संकेन्द्रित करके ऊपर के द्रव को फेंक कर नीचे के अवसाद को पटरी पर प्रलेप बनाने के लिए ग्रहण करें। प्रलेप दृढ (Fix) करने के लिए अवसाद के साथ थोड़ा सा अण्डे का सफेदा मिलादे और पश्चात ऊष्मपोषक में (Incubator) प्रलेप को सुखादें। अन्त में ज़ीलनीलसेन के रंजक से रंजित करके देखें। अम्ल से विरंजित कर पानी से धोने के पश्चात् प्रलेप को १५ मिनिट सुषव [Alcohol] में रक्खें। शेफमल दण्डाणु यक्ष्म दण्डाणुओं के समान अम्लसह [Acidfast] होते हुए सुषवसह [Alcoholfast] नहीं होता। इसलिए सुषव में प्रलेप रखने से यदि मूत्र में शेफमल दण्डाणु आ गया हो तो वह विरंजित हो जायगा और निदान में भूल न होगी। यक्ष्म दण्डाणुओं का पाने के लिए अनेक प्रलेपों को देखने की आवश्यकता होती है। ये प्रायः दो चार के पुञ्ज में पाये जाते हैं। यदि ये मूत्र में न मिले तो संवर्धन (Culture) और प्राणी रोपण (Animal inoculation) पद्धतियों का भी उपयोग करना चाहिए।

तन्द्राभ दण्डाणु (Typhoid bacilli)—आन्त्रिक ज्वर से पीड़ितों में ३० प्रतिशत रोगियों में प्रथम सप्ताह के पश्चात मूत्र में इनका उत्सर्ग होने लगता है और कभी कभी इनका उत्सर्ग रोगनिवृत्ति के पश्चात् महीनों या बरसों तक जारी रहता है। मूत्र में इनकी उपस्थिति का ज्ञान मुख्यतया आन्त्रिक वाहकों की पहचान के लिए किया जाता है। आन्त्रिक के निदान में यद्यपि इसका उपयोग हो सकता है तथापि प्रायः नहीं किया जाता। परन्तु आन्त्रिक ज्वर जन्य वृक्कालिन्द शोथ (Pyelonephritis) के निदान में इसका बहुत उपयोग होता है। इनकी उपस्थिति सदैव संवर्धन पद्धतियों से मालूम करनी पड़ती है। पृष्ठ ६६ देखो

स्थूलान्त्र दण्डाणु (B. Coli)—इनका मूल स्थान स्थूल आन्त्र होता है। वहाँ से ये सीधे मूत्रस्रोत के द्वारा या रक्तवाहिनी या लसवाहिनी द्वारा मूत्र संस्थान में पहुंच सकते हैं। स्त्रियों में गुदद्वार और

मूत्र स्रोत द्वार बहुत नजदीक रहने से मूत्रण संस्थान में इनका उपसर्ग अधिक हुआ करता है। मूत्र में इनका उत्सर्ग मूत्रण संस्थान का उपसर्ग न होते हुए रक्तोपसर्ग में [Blood infection] हो सकता है, जिसमें मूत्र में पूय नहीं पाया जाता। वृक्कोपसर्ग या मूत्रण संस्थान समीपवर्ति अंगों के उपसर्ग में मूत्र में इनका उत्सर्ग हो सकता है। वस्तुतः मूत्र मार्ग, बस्ति, वृक्कालिन्द इनके उपसर्ग में हो सकता है। इनके उपसर्ग में मूत्र में मत्स्य (Fishy) गन्ध आता है, पूय और लालकण (रक्तको मिला करते हैं और मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है। मूत्र में इनकी संख्या अल्प से लेकर बहुत अधिक हो सकती है। अनेक अविज्ञात (Obscure) शोणितमेह का कारण स्थूलान्त्र दण्डाणु उपसर्ग होता है। मूत्र में जब पूय और रक्त न होकर केवल दण्डाणु ही रहते हैं तब उस विकृति को स्थूलान्त्र दण्डाणुमेह (Bacilluria) कहते हैं। मूत्र में इनकी पहचान सूक्ष्मदर्शक से न होकर विशिष्ट सवर्धन पद्धतियों से ही हो सकती है। परन्तु इनकी उपस्थिति का अनुमान अम्ल प्रतिक्रिया युक्त, मत्स्य गन्धी मूत्र, जिसमें कुछ पूय कोशाएं मिल रही हैं, मिलने से किया जा सकता है। पीछे पृष्ठ ६६ पर वृक्कालिन्दशोथ देखिये।

स्तवक गोलाणु और माला गोलाणु (Staphylo cocci, Streptococci)—इन को देखने के लिए अवसाद का प्रलेप प्रोदिलेन्यर्नील (Methylene blue) से रंजित किया जाता है। स्तबक गोलाणु छोटे मोटे पुञ्जों में और मालागोलाणु छोटी मोटी मालाओं में पाये जाते हैं। ग्राम से रंजन करने पर ये दोनों ग्राम ग्राही (Gram positive बैगनी रंग के) होते हैं। सद्यस्क या सलाई से निकाले हुए मूत्र में यदि ये मिलें तो उसको महत्व देना चाहिए। इनके साथ प्रायः पूय रहता है। ये मूत्राशयशोथ (Cystitis) और वृक्कालिन्द शोथ (Pyelitis) में पाये जाते हैं।

माल्टा ज्वर के दण्डाणु—माल्टा या भूमध्य समुद्र ज्वर से पीड़ित रोगियों में अनेक बार १५ दिन के पश्चात् मूत्र में उसके विविध दण्डाणु उत्सर्गित होने लगते हैं। यह स्थिति केवल १० प्र० श० रोगियों में ही पायी जाती है। ये जीवाणु सूक्ष्म दर्शक से नहीं दिखाई देते। परन्तु संवर्ध (Culture) से मालूम किये जा सकते हैं।

परिवर्ति सुकुन्तलाणु (Borrelia recurrentis)—परिवर्ति ज्वर के सुकुन्तलाणु भी मूत्र के द्वारा उत्सर्गित होते हैं। इनकी उपस्थिति सूक्ष्म दर्शक से नहीं मालूम होती परन्तु प्राण्यारोपण से हो जाती है। इसके लिए केन्द्रापसारित मूत्र लेना चाहिए।

कामलास्रस्रावी अतिकुन्तलाणु (Leptospira ictero hemarrhagica)—यह औपसर्गिक कामला (Infections jaundice) या वील के रोग का कुन्तलाणु है। रोगी के मूत्र में १० दिन के पश्चात् इसका उत्सर्ग होने लगता है। सलाई से मूत्र निकाल कर केन्द्रापरिसारित्र का अवसाद लेकर उसका परीक्षण करने से ये दिखाई देते हैं। परन्तु इनके स्वरूप में कुछ अन्तर हो जाने के कारण पहचानने में कठिनाई होती है। यदि वराटमूष (Guinea pig) में इस अवसाद को रोपित किया जाय तो उसमें ये मिल जाते हैं।

कीटाणु (Protozoa)—कीटाणुओं से मूत्रण संस्थान का कोई उपसर्ग नहीं होता। इसलिए नैदानिकीय दृष्ट्या मूत्र में मिलनेवाले कीटाणुओं का कोई महत्व नहीं होता। मूत्र में कभी कभी आन्त्रामरूपी धातुनाशी [Entamoeba Histolytica], आन्त्रशिखी (Trichomons hominis) तथा योनिशिखी (Trichomonas Vaginalis) मिल जाते हैं। प्रथम दो आन्त्र में और तीसरा योनि में रहता है और वहाँ से ये मूत्राशय में, विशेषतया स्त्रियों के, या मूत्र में पहुँचते हैं। कालज्वरी में कभी कभी उसके कीटाणु [L. D. body] मूत्र द्वारा उत्सर्गित होते हैं।

कृमि (Helminths)—मूत्र में कभी कभी कुछ कृमियों की अण्डिकाएं [Ovas] या इल्लियाँ [Larva] मिलती हैं। इनमें श्लीपदकृमि [Filaria] की इल्लियाँ, जिनको सूक्ष्मश्लीपदी [Microfilaria] कहते हैं, विशेष महत्व की तथा भारतवर्ष में साधारणतया पायी जानेवाली हैं। पयोलसमेह [Chyluria] में ये प्रायः मूत्र के तलछट में [पृष्ठ २६४ तत्काल देखे जाँय तो ये रेंगते हुए अन्यथा मृत अवस्था में दिखाई देते हैं। ये लम्बाई में २००–४०० णु [म्यू] होते हैं। इनके ऊपर एक आवरण [Sheath] रहता है जिसके भीतर इनका पारदर्शक शरीर रहता है।

श्लीपदकृमि जब रसप्रपा [Cysterna chylae], रसकुल्या [Lymph-duct] इत्यादि में अवस्थान करके रससंचार में बाधा उत्पन्न करते हैं तब बस्तिगत रसायनियाँ फूलकर कुटिल [लसकुटिलता Lymph varix] होती हैं और बीच बीच में विदीर्ण [Rupture] होकर उनके भीतर का पयोलस [Chyle] और सूक्ष्मश्लीपदी बस्ति में आते हैं और मूत्र के साथ उत्सर्गित होते हैं। यही पयोलसमेह है। पृष्ठ ४८० चित्र नं० ४

कोष्ठपुञ्ज स्फीतकृमि के कोष्ठ (Echinococcus cysts)—इस कृमि का उपसर्ग मनुष्यों में कुत्तों से होता है। इस कृमि के अण्डे सेवन करने पर आन्त्र में उनसे षड्ंकुशी भ्रूण (Sixhooked embryo) निकलता है जो आन्त्र से रक्त में पहुंचकर शरीर के विविध अंगों में मुख्यतया यकृत् में अवस्थान करके कोष्ठ (Cyst) बनाता है। कभी कभी वृक्क (१३०, १४८ पृष्ठ) में भी कोष्ठ बनते हैं। उस समय मूत्र में इसके अंकुशक [Hooklets] तथा शीर्ष (Scolices) पाये जाते हैं। भारतवर्ष में यह कृमि बहुत नहीं मिलता है।

सुभक्तकाय शोणितवासी (Schistosoma hematobium)—इस कृमि से शोणितमेह [Hematuria] उत्पन्न होता है। यह कृमि मूत्राशय की श्लेष्मकला (Mucous) उपश्लेष्मकला (Submucous) में अवस्थान करके अण्डे देता है जो कभी कभी मूत्र के साथ बाहर निकलते हैं। ये आकार में दीर्घवृत्त १२०–२०० गु लम्बे और ५०–७५ गु चौड़े होकर इनके एक सिरे पर एक अणिका (Spicule) होती है। यह कृमि भारतवर्ष में नहीं पाया जाता, आफ्रिका विशेषतया ईजिप्त मिश्र में बहुत होता है। इसलिए इसके कारण होने वाले शोणितमेह को मिश्र देशीय शोणितमेह (Egyptian hematuria) कहते हैं।

———

बाह्यागत वस्तुएं

Extraneous structures

अनावृत रहने से या अस्वच्छ पात्रों का उपयोग करने से मूत्र मे अनेक बार अनेक आगन्तुक वस्तुएं पहुंच जाती हैं। नैदानिकीय दृष्टया इनका कुछ भी महत्व नहीं होता परन्तु मूत्रगत वास्तविक वस्तुओं के परीक्षण में बाधा उत्पन्न करने की दृष्टि से इनका काफी महत्व होता है। अतः साधारणतया मूत्र में मिलने वाले उन बाह्यागत वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान प्रत्येक परीक्षक को होना आवश्यक है।

(१) *किण्व कोशाएँ* (yeast cells)—ये रंगहीन, मसृण (·Smooth) अधिक प्रकाश परावर्तक (Refractive) गोल या अण्डाकार होती हैं। परिमाण में ये बहुत छोटी होती हैं परन्तु कभी कभी श्वेतकायाणुओं के बराबर बड़ी भी रहती हैं। अननुभवी परीक्षक इनको लालकण, स्नेह, बिन्दु या चूर्णातु तिग्मीय [oxalate] के गोल स्फटिक समझने की भूल कर सकता है। परन्तु एकरूपता (uniformity) के न होने से अण्डाकृति आकार से, दो दो चार चार की माला में मिलने से तथा 'गण्डस्योपरिपिटका' के समान अनेक कोशाओं के ऊपर छोटी कोशाओं के लगे रहने से इनके पहचान में कोई कठिनाई नहीं होती। ये अम्ल या क्षार में घुलती नहीं, रक्त की प्रतिक्रिया नहीं देती तथा गर्विक (osmic) अम्ल या सुडान III से रंजित नहीं होती। कुछ काल मूत्र रहने पर विशेषतया शकरा युक्त मूत्र में ये तेजी से प्रगुणित होती है। कभी कभी ये मूत्राशय में पहुंच कर वहाँ पर भी वृद्धि करती हैं।

(२) *फफुन्दी* (Mold-fungi)—ये शाखा : प्रशाखा युक्त कवके (Hyphae) होते हैं और प्रायः इनकी जाली भी बन जाती है।

अनेक बार उनके क्षुल्लकों (Spores) से शाखाएं निकलती हैं तब ये शुक्रकीटाणुओं के समान दिखाई देते हैं। कभी कभी इनके क्षुल्लकमाला भी बनाते हैं। फफून्दी कुछ काल तक पड़े रहे मूत्र में पाया जाता है।

(३) *तन्तु* (Fibers)—इसमें रूई, ऊन, रेशम इत्यादि के सूत्र आते हैं, ये रोगी के कपड़ों से तथा हवा से मूत्र में पहुंचते हैं।

(४) *वातबुद्बुद* Air bubbles)—ये ढकना ठीक न रखने से उत्पन्न होते हैं। ये छोटे बड़े होते हैं और वैसे भी ढकने की ओर देखने से मालूम पड़ते हैं। ढकने पर जरा सा दबाव डालने से ये प्रायः नष्ट होते हैं। पृष्ठ ४७३ चित्र नं० २ देखिये।

(५) *तैलबिन्दु* (Oil droplets)—ये तैलपात्र में मूत्र रखने या सलाई के लिए प्रयुक्त तैल से आते हैं। वात बुद्बुदों के समान ये भी परिमाण में बहुत छोटे बड़े रहकर बहुत अधिक प्रकाश परावर्तक होते हैं। इनके अतिरिक्त पानी के युक्ताण्य (Diatoms जो कभी कभी निर्मोक के समान दिखाई देते हैं), पुष्पों के पराग, धूलि के कण, पटरी तथा ढकने के खरोंच [Scratch] इत्यादि अनेक वस्तुएँ रहती हैं। कभी कभी गुदबस्ति नाड़ीव्रण (Rectovesical fistula) बनने पर मूत्र में मल का भी अंश आने लगता है। इसकी पुष्टि मल गन्ध से तथा मूत्र में मूत्रपित्ति (Urobilin)की कसौटी बहुत अधिक अभिव्यक्त मिलने से होती है। पृष्ठ ४७३ चित्र ६ नं० १ देखिये।

मूत्र के रोग

विषय सूची

मूत्र के रोग

पारिभाषिक शब्दकोष

अक्रिय Inert
अक्षधरा Subclavian
अक्षिवीक्षणयन्त्र Ophthalmoscope
अग्न्याशय Pancreas
अघातक Benign
अंकुरार्बुद Papilloma
अंकुशकृमि Hookworm
अंगभूत Organized
अंगरसचिकित्सा Organotherapy
अजलीय Anhydrous
अजीवातिमयता Azoteamia
अजीवातिमेह Azoturia
अतिनिस्यन्दन Ultrafilteration
अतिपात Failure
अतिरिक्त Extra
अतिस्तन्यता Overlactation
अतिस्थायी Persistent
अतीसार Dysentery
अधिचर्म Epidermis
अधिच्छदं Epithelium
अधिच्छदीय Epithelial
अधिरक्तता Congestion
अनाकारी Amorphous
अनिच्छिद्र Imperforate
अनुगामी विकार sequalae
अनुतीव्र Subacute
अनुपात Ratio
अनूर्जता Allergy
अनूर्जिक Allergic
अनंगभूत Unorganized
अन्तःपूयता Empyema
अन्तराभरण Infiltration
अन्तरालीय Interstitial
अन्तरित Intermittent
अन्तर्धमनीशोथ Endarteritis
अन्तरोप Implant
—अन्तर्य Intra—
अन्तर्हृच्छोथ Endocarditis

अन्तःशल्य Embolus
अन्तःशल्यता Embolism
अन्तस्तापन Diathermy
अन्तःसार Parenchyma
अन्तःसारीय Parenchymatous
अन्तस्तनिका Internal mammary
अन्तस्फान Infarct
अन्तस्फानता Infarction
अपजनन Degeneration
अपजनित Degenerated
अपतन्त्रक Hysteria
अपतानक Tetanus
अपतानिका Tetany
अपवर्जन Exclusion
अपवाही Efferent
अपवृक्कता Nephrosis
अपवृक्कय Nephrotic
अपसंज्ञता Apoplexy
अपित्तमेहिक Acholuric
अप्रतिवर्त्य Irreversible
अप्रांगार Inorganic
अप्रोभूजिन Nonprotein
अभिलग्नता Adhesions
अभिवाही Afferent
अभिवृद्ध Enlarged
अभिवृद्धि Enlargement
अभिषव Ferment
अभिषवण Fermentation
अभिस्तीर्ण Dilated
अभिस्तीर्णता Dilatation
अभिस्पन्दमान Polarimeter
अभ्र Cloud
अभ्रता Cloudiness
अभ्रित Cloudy
अमूत्रता Anuria
अमूत्रमेह ,,
अम्लसह Acidfast
अर्धदृष्टि Hemianopia
अर्ध प्रवेश्य Semi permeable
अर्बुद Tumor
—अर्बुद -oma
अलिन्द (हृदय) Auricle
,, (वृक्क) Pylus
अल्पमूत्रता Oliguresis
अल्पमूत्रमेह Oliguria
अल्प स्थायी Transient
अल्पातातिकर Hypotensive
अवटुका Thyroid
अवमिश्रण Dilution
अवरोध Obstruction
अवशिष्ट Residual
अवसाद Sediment
अवसादन Sedimentation
अविलेय Insoluble
अश्मरी Stone
अश्वसन Apnea
अश्वमेहिक Hippuric
अष्टानिक Octehedral
अष्ठीला Prostate
असंभूयता Ataxia
असंयोज्य Incompatible
असंयोज्यता Incompatibility

अस्त्यात्मक Positive
अस्थिमृदुता Osteomalacia
अस्थिवक्रता Rickets
अस्थिसौषिर्य Osteoporosis
आक्षेप Convulsions
आक्षेपहर Anticonvulsive
आगणन Estimation
आचूषण Aspiration
आटोपिका Capsule
आटोपिकीय Capsular
आत्मवृक्कोच्छेदन Autonephrectomy
आत्मशोणित चिकित्सा Autohemotherapy
आधिव्याधिक Psychosomatic
आन्तरजात Endogenous
आन्त्रावरोध Intestinal obstruction
आन्त्रिक Enteric
आमरूपी Amoeba
आमवात Rheumatism
आलवाल Calyx
आवर्तुलि Globulin
आवस्थिकी Symptamatic
आविल Turbid
आविलता Turbidity
आशुकारी Rapid
आसृतीय Osmotic
इयत्तात्मक Quantitative
उच्चशक्ति High power
उच्चावचन Fluctuation

उण्डुक Caecum
उण्डुक पुच्छ Appendix
उण्डुक पुच्छशोथ Appendicitis
उत्तेजनशीलता Irritability
उत्पत Volatile
उत्पाद Product
उत्पादन Production
उत्पीडन Oppression
उत्सर्जन Excretion
उत्सर्जक Excretory
उदक मूत्रता Hydruria
उदकमेह Diabetes insipidus
उदमेह ,,
उदकिल Hydropic
उदन्वत " Hydatid
उदरावरण Peritoneum
उदात्त Accentuated
उद्गीरण Regurgitation
उद्याम Resin
उन्मार्गी Vicarious
उपगुल्मकीय Juxtaglomerular
उपघात Palsy
उपयोजन Utilization
उपलम्भन Detection
उपवृक्क Adrenal body
उपवृक्कि Adrenalin
उपशम Resolution
उपसर्ग Infection
उपसंकोच Constriction
उभयविध Amphoteric

उर्वरित Residual
ऊर्णामय Flocculent
उर:पारवेधन Paracentesis thoracis
उल्लाघ Convalscence
उष Calory
उषंकरी Calorific
उष्णीष Pons
उष्मपोषण Incubation
उष्मपोषक Incubator
ऊर्जस्वल Energetic
ऊर्जा Energy
ऊर्ध्वस्थितिक Orthostatic
एकलकोष्ठ Solitary cyst
एकशर्करेय Monosaccharide
ऐन्द्रियक Organic
ऐंठन Cramps
औपसर्गिक Infectious
कटुविकाम्ल Picric acid
कणिका Granule
कणिकामय (वान्) Granular
कणिकार्बुद Granuloma
कण्टकित Crenated
कनपटी Temples
कपाट Valve
कापाटिक Valvular
कर्कट Cancer
कर्कार्बुद Carcinoma
कर्णनाद Tinnitus aurium
कर्णक्ष्वेड "
कशेरुका Vertebra
कसौटी Test
काचर Hyaline
काचरीभवन Hyalinization
कातर Nervous
कातरता Nervousness
कामला Jaundice, Icterus
कारक Factor
कार्यक्षमता Efficiency
कार्यक्षम Efficient
कांस्य Bronzed
किरणातु Uranium
किलाटी भवन Caseation
कीटाणु Protozoa
कुट्टिम Pavement
कुण्डलित Convoluted
कुलज Heridatory
कुलजता Heridity
कूट Pseudo-
कूर्चिक Penicillin
केन्द्रापसारक Centrifuge
केशिका Capillary
केशिकान्तः Intracapillary
कोथ Gangrene
कोष्ठ Cyst
कौटुम्बिक Familial
क्रवियी Creatinine
क्लान्ति Languor
क्षय Atrophy
क्ष-रश्मि X-ray
" परान्ध X-ray opaque
क्षारातु Sodium

क्षारासित Alkapton
क्षारासितमेह Alkaptonuria
क्षारिय Alkaline
क्षारोत्कर्ष Alkalosis
क्षुधाधिक्य Polyphagia
क्षीरधु Galactose
क्षौद्रमेह Diabetes Mellitus
खनिज Mineral
खात Trench
खान Mine
गर्भापस्मार Eclampsia
गर्भविषमयता ,,
गर्भाशय Uterus
गलक्षत Sore throat
गलगण्ड Goitre
गवीनी Ureter
गुणात्मक Qualitative
गुल्मक Glomeruli
गुल्मकीय Glomerular
गुरुता Gravity
गुह्यगोलाणु Gonococcus
गुह्यांगकण्डु Pruritus Pudendi
गृध्रिका Sciatic
ग्रन्थि मांसार्बुद Adenosarcoma
घनास्र Thrombus
घनास्रकायाणु Thrombocyte
घनास्रता Thrombosis
घ० शि० मा० C. C.
घातचक्र vicious circle
घृतिक Butric
चक्री Cyclic
चषकी Beaker
चर्मशोथ Dermatitis
चलवृक्क Movable kidney
चिप्य Onychia
चुमचुमायन Tingling
चूर्णातु Calcium
छत्रक Mushroom
छद्मचर Malingerer
छन्द Hobby
छाजन Eczema
जठर Stomach
जन संमर्द Crowding
जम्बेय Iodide
जरठ Sclerotic
जरठता Sclerosis
जराजन्य Senile
जलमय Hydraemic
जलमयता Hydreamia
जलांशन Hydrolysis
जलोदर Ascitis
जलोरस Hydrothorax
जलोल्बता Hydramnios
जीवद्वीक्षण Biopsy
जौ का यूष Barley water
ज्वर Fever
ज्वरज Febrile
ज्वरहर Febrifuge
झिल्ली Mucous membrane
टपक Throbbing
तनुमूत्रमेह Diabetes tenuifluus
तन्त्वि Fibrin
तन्तुकम्पन Fibrillation

तन्तूत्कर्ष Fibrosis
तन्द्राभ Typhoid
तन्द्रिक Typhus
तमस्विता Amaurosis
तर्क्वाकार Spindleshaped
तलछट Sediment, deposit
तारकोपम Stellar
तिक्ताति Ammonia
तिक्तातु Ammonium
तिक्तीअम्ल Amino acids
तिग्मीय Oxalate
तिग्मीयमेह Oxaluria
तिर्यग्वर्गीय Rhombic
तीव्र Acute
तीव्रपीतक्षय ,, yellow atrophy
तुण्डिका Tonsill
तुण्डिकोच्छेदन Tonsillectomy
तुन्दिकरोग Coelic disease
तृणाणु Bacteria
तृषाधिक्य Polydipsia
तोम्बी Dry cupping
त्रिधारा Trigeminal
त्रिनीरशुक्तिक Trichloracetic
त्रिभारवीय Triplephosphate
दक्षधु Dextrose
दण्डकपेशी Rectus muscle
दण्डाणु Bacillus
दण्डाणवीय Bacillary
दण्डाणुमेह Bacilluria
दधिकि Tyrosin
दधिकिमेह Tyrosinuria
दर्शव Phenol
दर्शलशीक्तामेह Phenylketonuria
दहातु Potassium
दारुण्य Crisis
दिग्भ्रम Disorientation
दीर्घवृत्ताभ Ellipsoid
दुग्ध Milk
दुग्धधु Lactose
दुग्धधुमेह Lactosuria
दुधिया Milky
दुस्स्वास्थ्य Cachexia
दृष्टिपटल Retina
देहली Threshold
द्रवापहरण Dehydration
द्विपार्श्विक Bilateral
द्विमुण्ड Dumbbell
द्विशर्करेय Disaccharide
द्विशाखाभवन Bifurcation
द्विशुक्तिक Diacetic
द्वयजद्रव्य Diazo body
धमनी Artery
धमनीजरठता Arteriosclerosis
धमन्युद्वेष्टन Arteriospasm
धातुगैरिकता Ochronosis
धुंधला Smoky
धूमल ,,
धूपेयी Benzidine
नक्तमूत्रता Nocturia
नक्तमेह ,,
नाड़ी Nerve, pulse
नाड़ीकन्दाणु Neuron

नाडीनिपीड़ Pulse pressure
नाड्यवसन्नता Neurasthenia
नानारूपदण्डाणु B. proteus
नास्त्यात्मिक Negative
निनादित Resonant
निनीलिन्य Indican
निनीलिन्यमेह Indicanuria
निपीड़ Pressure
निपीड़हर Depressor
निपीड़कर Pressor
निरिन्द्रिय Inorganic
निरुद्ध प्रकश Phimosis
निर्बल Atonic
निर्मोक Cast
निर्मोकमेह Cylindruria
निर्यास Exudate
निर्यासन Exudation
निर्विषीकरण Detoxication
निष्कासन Clearance
निष्क्रिय Inert
निस्यन्द Filtrate
निस्यन्दन Filtration
निस्यन्दित Filtered
निस्साद Precipitate
निस्सादन Precipitation
निस्सार Extract
नीचशक्ति Low power
नीरिय Chloride
नीलारुण Purple
नीलोहा Purpura
नीलोहांक Petechae
नैदानिकी Clinics
नैदानिकीय Clinical
नैश Nocturnal
नौसादर Ammon chloride
न्यष्टि Nucleus
न्युद्वेष्टन Twist
न्यूनोपवृक्कि Noradrenalin
पल्लवत Feathery
पल्लाकार ,,
पञ्चधु Pentose
पञ्चधुमेह Pentosuria
पयरिवनी Lacteal
पयोलस Chyle
पयोलसमेह Chyluria
परमकार्यता Hyperactivity
परमनिपीड़ता Hyperpiesis
परमपुष्ट Hypertrophied
परमपुष्टि Hypertrophy
परमपरावटुकता Hyperparathyroidism
परमपैत्तवसमयता Hypercholesterolaemia
परममधुमयता Hyperglycemia
परमाततनि Hypertension
परमाततीय Hypertensive
परमावटुकता Hyperthyroidism
परमश्वसन Hyperapnea
परिरक्षण Preservation
परिरक्षी Preservative

परिवृक्कीय Perinephric
परिवेल्लित Curled
परिसर Periphery
परिसरीय Peripheral
परिस्थिति Circumstances
परिहृच्छोथ Pericarditis
पर्यावरण Environment
पर्युदर Peritoneum
पर्युदरशोथ Peritonitis
पश्चवहन Reflux
पारच्छेदन Transsection
पारभास Transluscent
पारयास Transudate
पिच्चितसंरूप Crush syndrome
पित्त Bile
पित्तमेह Choluria
पित्तरक्ति Bilirubin
पित्तविषमयता Cholamiae
पित्तहरिकी Biliverdin
पिनद्धता Tightness
पिलपिला Soft
पीडननिम्नता Pitting on pressure
पीडनासह Tender
पीडनासहता Tenderness
पीतार्बुद Xanthoma
पीती Xanthine
पुनरावर्तन Relapse
पूयमेह Pyuria
पूयजनक Pyogenic
पूयापवृक्कता Pyonephrosis
पूर्वघनाश्रि Prothrombin
पूर्वमधुमेह Prediabetes
पैत्तव Cholesterol
पैत्तवमयता Cholesterolaemia
पोषणिका Pituitary
पोषणिकि Pituitrin
प्रकाशपरावर्तन Refraction
प्रकिण्व Yeast
प्रकृति Diathesis
प्रकोप Irritation
प्रजनग्रंथि Gonad
प्रतिकर्ता Reagent
प्रतिजीवी Antibiotic
प्रतिक्षेप Reflex
प्रतिच्छाय कोशाएं Shadow cells
प्रतीपवर्तन Retroversion
प्रत्याघात Recoil
प्रत्यावृत्ति Recrudescence
प्रफलन Proliferation
प्रभूत मज्जार्बुद Multiple myeloma
प्रमाप Standard
प्रमापीकृत Standardized
प्रवृत्ति Diathesis
प्रवाहिका Diarrhoea
प्रविसृत जरठता Disseminated Sclerosis
प्रशीतक Refrigerator
प्रशीताद Scurvy
प्रशोथ Inflamation

प्रस्रवण Secretion
प्रसृत Diffuse
प्रस्थ Litre
प्रह्रासक Reducing
प्रांगवमेह Carboluria
प्रांगार Carbon
प्रांगार द्विजारेय CO_2
प्रांगोदीय Carbohydrate
प्राचीर Wall
प्राणदा Vagus
प्राणीरोपण Animal inoculation
प्रामलक Ascorbic
प्रावेगिक Paroxysmal
प्राशोत्तर Postprandial
प्रोभूजधु Proteose
प्रोभूजधुमेह Proteinuria
प्लुतगति Gallop Rhythm
प्रोभूजिन Protein
प्रोभूजिनमेह Proteosuria
फिरंग Syphilis
फिरंगी Syphilitic
फुफ्फुसपाक Pneumonia
फेनकोशा Foamcell
फेनमेह Pneumaturia
बस्ति Bladder
बस्तिवीक्षणयन्त्र Cystoscope
बहिर्वाहिनीभवन Extravasation
बहुकोशीय Polycyste
बहुमूत्रमेह Polyuria
बहुशर्करेय Polysaccharide
बहुनीक Polyhedral
बाह्यजात Exogenous
बाह्यागत Extraneous
बिन्दुमूत्रता strangury
भारमेह Baruria
भास्वर Phosphorus
भास्वीय Phosphate
भास्वीयिक Phosphatic
भिदातु Bismuth
भिदुरता Fragility
भूयाति Nitrogen
भूयात्य Nitrogenous
भ्रूणार्बुद Embryoma
मज्जक Medulla
मञ्च Platform,stage
मण्ड Starch
मण्डेद Amylase
मण्डाभ Amyloid
मण्डाभता Amyloidosis
मधुजन Glycogen
मधुजनव्यशन Glycolysis
मधुनवजनन Gluconeogenesis
मधुजननवजनन Glyconeogenesis
मधुनिषूदनि Insulin
मधुमेह Diabetes Mellitus
मधुम Glucose
मधुममेह Glycosuria
मधुरी Glycerine
मन्दश्वसन Bradypnea
मन्याकोटर Carotid sinus

मस्तिष्क विकृति Encephalopathy
महाधमनी कोटर Aortic sinus
मारकता Malignancy
मारात्मकता ,,
मार्तिक Earthy
मालाकर्विक Streptomycin
मालागोलाणु Streptococci
मांसार्बुद Sarcoma
मितली Nausea
मिह Urea
मिहकी Purine
मिहतुषार Urea frost
मिहमापक Ureameter
मिहविपाटक Ureasplitting
मिहिक अम्ल Uric acid
मुखावरुद्ध Muffled
मूत्र Urine
मूत्रकृच्छ्र Dysuria
मूत्रगुरुतामापक Urinometer
मूत्रचित्रण Urography
मूत्रणसंस्थान Urinary System
मूत्रपित्ति Urobilin
मूत्रपित्तिजन Urobilinogen
मूत्ररुधिरि Uroerythrin
मूत्रवर्ण Urochrome
मूत्रवह Uriniferous
मूत्रविबन्ध Retention of urine
मूत्रविषमयता Ureamia
मूत्रविषमय Ureamic
मूत्रसंवर्ध Urine culture
मूत्रस्रोत Urethra
मूत्राध्मान Dislended bladder
मूत्राशय Bladder
मृतजन्म Stillborn
मेदःक्षीण Lipo-atrophic
मेदोवृद्ध Lipoplethoric
यकृत Liver
यकृदाल्युदर Cirrhosis of
यकृद्वृक्कय Hepatorenal
यक्ष्मा T. B.
यक्ष्मदण्डाणु B. Tuberculosis
यक्ष्मि Tuberculin
यावनीजल Aqua Ptychotis
युक्ताप्य Diatom
रक्त Blood
रक्तचाप Blood pressure
रक्तदाब ,,
रक्तनिपीड ,,
रक्तवाहिनी Blood vessel
रक्ताल्पता Anaemia
रङ्कमान (मापक) Calorimeter
रङ्गावलिदर्शक Spectroscope
रम्भ Cylinder
रम्भमेह Cylindruria
रम्भिकाभ Cylindroid
रागक Pigment
रागकाभरण Pigmentation
राजीवि Porphyrin
राजीविमेह Porphyrinuria
राल Resin
रुधिरकायाणु Erythrocyte

रुधिरवर्णता Erythema
रूपान्तरण Metamorphosis
लक्षण Symptom
लचकीलापन Elasticity
लसिका Serum
लसिकय Serous
लोहितज्वर Scarlet fever
वपा Omentum
वर्गीकरण Classification
वर्णजन Chromogen
वर्णबस्तिनिरीक्षण Chromocysto-scopy
वातरक्त Gout
वाताशना Air hunger
वातोत्फुल्लता Emphesema
वामधु Laevulose
वामधुमेह Laevulosuria
वायुमेह Pneumaturia
बारम्बारता Frequency
वाहिनी Vessel
विकिरण Radiation
विकेन्द्र Focus
विकेन्द्रीय Focal
वितनशीलता Distensibility
विदार Rupture
विधारण Retension
विनिमय Exchange
विपथिका Aberrant
विमेदमयता Lipaemia
विमेददुष्पुष्टि Lipodystrophy
विलेपीजरठता Atherosclerosis
विलेप्यर्बुद Atheroma
विलेय Soluble
विलोप Obliteration
विशाल Broad
विषमज्वर Malaria
विषमज्वरज Malarial
विषाक्तता Poisoning
विषाणी Cystine
विषाणीमेह Cystinuria
विष्ठापित्त Stercobilin
विसर्प Erysepelas
विसूचिका Cholera
वृक्क Kidney
वृक्कजरठता Nephrosclerosis
वृक्कच्छेदन Nephrotomy
वृक्कप्रतिवाह Renal backflow
वृक्कपूर्व Prerenal
वृक्कभ्रंश Nephroptosis
वृक्काकृति Kidneyshaped
वृक्काणु Nephron
वृक्कानिपात Renal failure
वृक्कालिन्द Pylus of the Kiduey
वृक्कालिन्दचित्रण Pylography
वृक्काश्मरता Nephroli thiasis
वृक्कोच्छेदन Nephrectomy
वृक्कोत्तर Postrenal
वृक्कय Renal
वृषणसिरावृद्धि Vericocele
व्याल Viper

व्यास्लेषण Dialysis
व्यूहाणु Molecule
व्रण Ulcer
व्रणवस्तु Scartissue
व्रणवस्तु भवन Scarring
शयालु Drowsy
शयालुता Drowsiness
शय्यामूत्र Enuresis
शर्करा Sugar
शर्करामेह Sugar in urine
शर्करासहिष्णुता Sugar tolerance
शलाकाकरण Catheterzation
शाखावृद्धता Acromegaly
शीतपित्त Urticaria
शुक्रकीटाणु Spermatozoa
शुक्लि Albumin
शुक्लिमेह Albuminuria
शुल्वौषधियां Sulphadrugs
शुक्ता Acetone
शूनगात्र Oedematous
शूल Colic
शोणितमेह Hematuria
शोणित स्रवता Hemophilia
शोणितवासी Hemato bium
शोणितराजीवि Hematopor-phyrin
शोणायस्वि Hemosiderin
शोणांशन Hemolysis
शोणांशिक Hemolytic
शौक्ता Ketone
शौक्ताजनक Ketogenic
शौक्तामेह Ketonuria
श्याव Cyanosed
श्यावता Cyanosis
श्लेषाभ Mucoid
श्लेष्मशोफ Myxoedema
श्लेष्मि Mucin
श्वसनिकाविस्तीर्णता Bronchiectasis
श्वेतकायाणु Leucocyte
श्वेतकायाणूत्कर्ष Leucocytosis
श्वेतप्रदर Leucorrhoea
श्वेतमयता Leukaemia
षट्पार्श्विक Hexagonal
संकेन्द्रण Concentration
संघट्टन Concussion
संचितशक्ति Reserve power
संन्यास Coma
संपीडन Compression
संरूप Syndrome
संवरण Selection
समवर्त Metabolism
समवर्तित Metabolite
समस्थाय Metastasis
समापीडन Coarctation
सर्वांगशोफ Generalized oedema
सहज Congenital
सहस्रिधान्य Mg.
सांकोचिक Systolic
सापेक्ष Differential
सिकता Gravel in urine
सिक्थसम Waxy

सिरा Vein
सिरिका Venule
सिरान्तर्य Intravenous
सिराश्मरी Phlebolith
सीत्कार Hissing
सुषवसह Alcoholfast
सुषि Lumen
सूक्ष्मवेदी Sensitive
सूक्ष्मश्लीपदी Microfilaria
स्तूप Pyramid
स्थूलान्त्र Colon
स्थूलान्त्रदण्डाणु B. coli
स्थूल Obese
स्थूलता Obesity
स्थूलगर्भता Macroinfantia
स्नेह Fat
स्नेहीय Fatty
स्फटिक Crystal
स्फटिकमेह Crystaluria
स्फटिकाकार Crystalline
स्फूर्जक Fulminant
स्वनित्र Sound
स्वेदल Diphoretic
हरिद्रोग Chlorosis
हरिभृंग्य Cantharidine
हृत्स्तम्भ Heartblock
हृत्प्रसारिक Diastolic
हैतुकी Etiology

लेखक के अन्य ग्रन्थ

१ सुश्रुतसंहिता—सूत्रस्थान-यह ग्रंथ प्रथमावृत्ति का पुनर्मुद्रण न होकर संशोधित परिवर्धित नया संस्करण है। इसमें प्रथम आवृत्ति की अपेक्षा सौ पृष्ठ के नये विषय समाविष्ट किये गये हैं और पुरानी आवृत्ति के अक्षर-अक्षर का पूर्ण संशोधन किया गया है जिससे आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह एक प्रमाणभूत ग्रन्थ हो गया है। पृष्ठ ४५० मूल्य ६)

२ सुश्रुतसंहिता—शारीरस्थान-आयुर्वेदीय दर्शन, शारीर, प्रसूति और बालरोग इनके लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। यह भी संशोधित परिवर्धित नया संस्करण है। मूल्य ८)

३ औपसर्गिकरोग—प्रथम भाग-संशोधित परिवर्धित तृतीयावृत्ति। बढ़िया कागज पर सुन्दर छोटे अक्षरोंमें छपी हुई यह सचित्र आवृत्ति है। पृष्ठ ७५० मूल्य १०)

४ औपसर्गिकरोग—द्वितीय भाग-द्वितीयावृत्ति पृष्ठ ७०० मूल्य १०)

५ जीवाणुविज्ञान—संशोधित परिवर्धित तृतीयावृत्ति। पृष्ठ ६०० मूल्य १०)

६ स्वास्थ्यविज्ञान—संशोधित परिवर्धित तृतीयावृत्ति। पृष्ठ ६५० मूल्य ६)

७ रक्त के रोग—प्रथमावृत्ति समाप्त।

८ आयुर्वेद शिक्षा पर कुछ विचार—मूल्य ।)

९ हाथी मरा भी तो नौ लाख का—आयुर्वेद और एलोपाथी के कुछ विषयों का तुलनात्मक विवरण। मूल्य ।)

१० Comparative Survey of Ayurvedic nosology—हेत्वादिपञ्चविधानदान और चिकित्सा की दृष्टि से तुलनात्मक विवरण। पृष्ठ १००। मूल्य १)

११ Ayurvedic conception about urine formation in the human body मूल्य =)

१२ स्वास्थ्यशिक्षा पाठावलि—आयुर्वेद तथा संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों से विषयानुसार एकत्र किया हुआ यह स्वास्थ्यसुभाषित भाण्डागार है। पृष्ठ १००। मूल्य ॥)